Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

130428

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्णांक 1

संचेतन

सृजन, संवाद एवं विचार का मा

Vol. 33 – 2002–03
1–4
05/6/03
186
C
130428

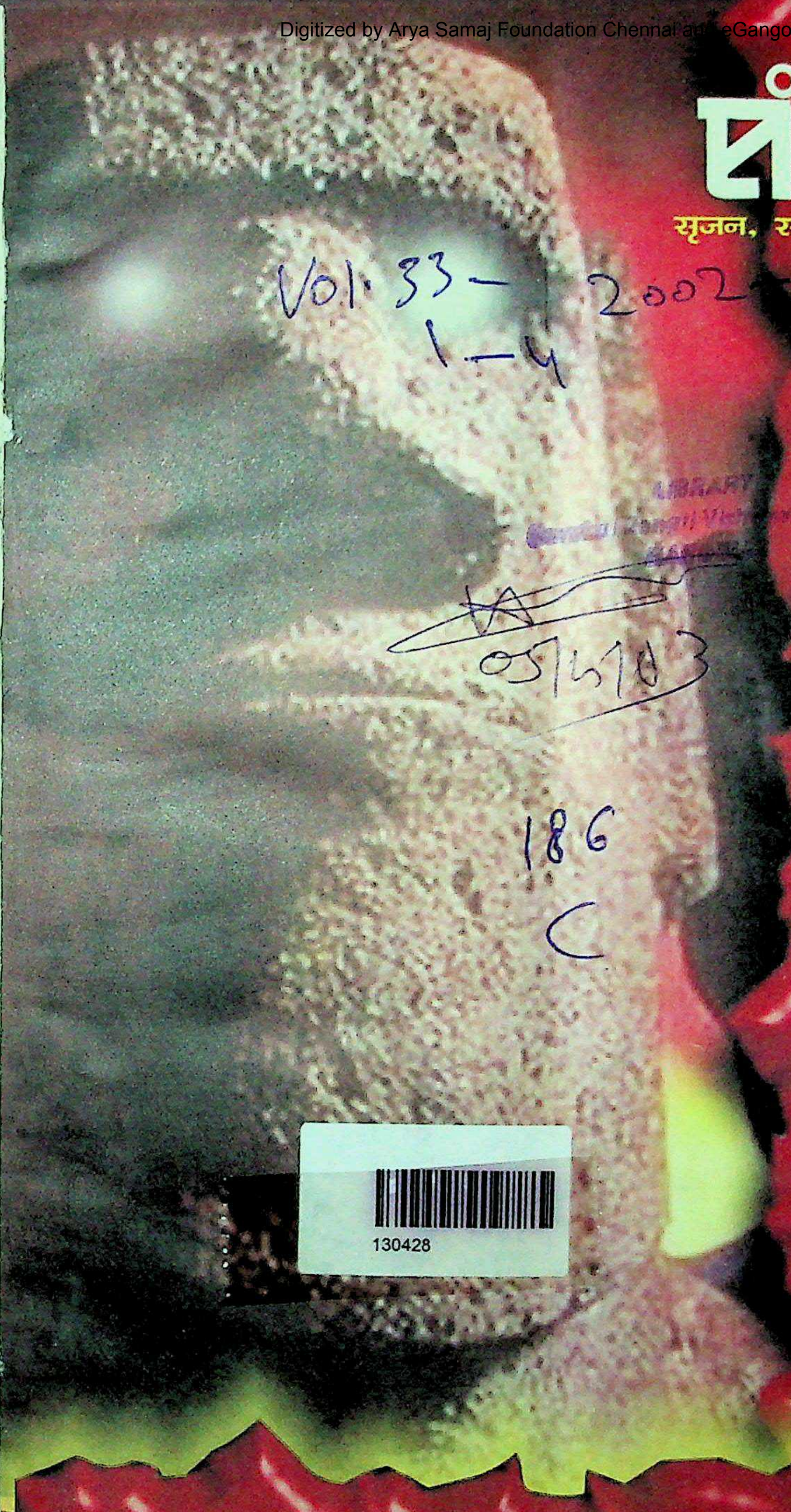

कन्हैयालाल नं
विनोद शाही,
तारक नाथ बा
रामदरश मिश्र,
नरेन्द्र मोहन,
शैलेश जैदी,
प्रताप सहगल,
चाँद खाँ रहमा
शामा

क्यों भड़कते हैं दंगे ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फिक्सड ऑपशन के अन्तर्गत ब्याज दर :

अदायगी अवधि	ब्याज दर प्रति वर्ष (%)
7 वर्ष तक	11.25
7 वर्ष से अधिक और 20 वर्ष तक	12.00
20 वर्ष से अधिक और 25 वर्ष तक	13.00

फ्लोटिंग ऑपशन के अन्तर्गत ब्याज दर :

अदायगी अवधि	ब्याज दर प्रति वर्ष (%)
20 वर्ष तक	11.50
20 वर्ष से अधिक और 25 वर्ष तक	12.50

विशिष्टताएं

फिक्सड ऑपशन के अंतर्गत न्यूनतम 11.25% ब्याज दर तथा फ्लोटिंग ऑपशन के अंतर्गत प्रतिदिन घटती शेष राशि पर 11.50% ब्याज दर पर 50 लाख रूपये तक का ऋण।*

यह ऋण निर्माण/घर या फ्लैट खरीदने/प्लाट खरीदने और मरम्मत/पुनरूद्धार/वृद्धि/परिवर्तन करने और आपके वर्तमान घर/फ्लैट की सजावट के लिए उपलब्ध है।

अदायगी अधिकतम 300 मासिक किश्तों (EMI) में।

समय से पहले भुगतान करने का दंड नहीं।

ऋण पहली पावर ऑफ अटार्नी के आधार पर भी उपलब्ध है।

*लागू शर्तें

आप अन्य किसी बैंक/वित्तीय संस्था से लिए गए आवास ऋण को भी स्थानांतरित करवा सकते हैं।

आकर्षक पेशकश

पीएनबी फैस्टिवल सीज़न बोनान्ज़ा

31 मार्च, 2002 तक लिये गये निम्नलिखित ऋणों के लिये

ब्याज दर पर 0.5% छूट :
- उपभोक्ता ऋण • व्यक्तिगत ऋण

कोई प्रोसेसिंग शुल्क और अन्य प्रभार नहीं :
- आवास ऋण • कार ऋण • उपभोक्ता ऋण
- व्यक्तिगत ऋण • पेंशनभोगियों के लिए ऋण

अधिक जानकारी के लिए हमारी नजदीकी शाखा से संपर्क करें।

www.pnbindia.com

PERFECT-10/1351/2002

पंजाब नैशनल बैंक
...भरोसे का प्रतीक!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संचेतना

पूर्णांक 159, वर्ष 33, अंक 1

मार्च-2002

(प्रकाशित जुलाई-२००२)

संपादक
महीप सिंह

प्रबंध संपादक
जयदीप सिंह
संदीप सिंह

संयुक्त संपादक
कमलेश सचदेव
गुरचरण सिंह

शब्द-संयोजक
सुनील कुमार

कार्यालय सहयोगी
मनजीत कौर, परमजीत सिंह

कला
मनदीप डिम्पी

क्षेत्रीय प्रतिनिधि
कीर्ति केसर (जालन्धर), कमलेश बख्शी (मुंबई), जसबीर चावला (इंदौर), रमेश सोनी (इंदौर), सुभाष रस्तोगी (चंडीगढ़), गोविंद अक्षय (हैदराबाद), सरोज वशिष्ठ (शिमला)

मूल्य
एक प्रति : 15 रुपये
वार्षिक : 60 रुपये
संस्थाओं-पुस्तकालयों के लिए : 100 रुपये
विदेशों में : 20 डालर, आजीवन : 1000 रुपये

सम्पर्क
एच-108, शिवाजी पार्क, पंजाबी बाग
नई दिल्ली-110026
फोन-5191287, 5932888

मुद्रक एवं प्रकाशक
संदीप सिंह
अमृत एंटरप्राइजेज़
लारेंस रोड, दिल्ली-110035
फोन-7154586-87 में मुद्रित तथा
एच-108, शिवाजी पार्क, पंजाबी बाग,
नई दिल्ली-110026 से प्रकाशित

मुद्दा : दंगे क्यों भड़क उठते हैं?	
कन्हैयालाल नन्दन, विनोद शाही, तारकनाथ बाली, रामदरश मिश्र, नरेन्द्र मोहन, शैलेश जैदी, प्रताप सहगल, चाँद खाँ रहमानी, शामा	6
आकलन	
डा. उमाकांत : सहजता में विपर्यय के रचनाकार हरदर्शन सहगल	24
संस्मरण	
डा. वीरेन्द्र सक्सेना : ऐसी थीं शशि प्रभा शास्त्री	26
स्वगत	
डा. कृष्ण चन्द्र गुप्त : कैसे जानूँ पीर पराई	29
आधी दुनिया	
अनीता वर्मा : नारी तुम देह नहीं हो	31
कहानियाँ	
सुषमा प्रियदर्शिनी : आवाज़ के घेरे	32
चारुता सागर : प्रतीक्षा	34
मधु सन्धु : शोधतंत्र	38
समीक्षा	
द्रोणवीर कोहली : नासिरा शर्मा का कथा-संसार	40
अलका सिन्हा : बदलते सरोकारों की खोज	43
पवन माथुर : सघन आत्ममंथन के ज्योति-पुंज	46
रूप सिंह चंदेल : गाँव की त्रासद स्थितियों का त्रासद दस्तावेज़	47
डा. पुष्पा गर्ग : यथासंभव कविता से मनुष्य का रिश्ता	49
केवल गोस्वामी : एक गुटनिरपेक्ष का बयान	50
कविताएँ	
कीर्ति केसर, पलाश विश्वास, मधु शर्मा, सरोज वशिष्ठ, सुशान्त सुप्रिय, राजकुमार कुम्भज	52
व्यंग्य	
चक्राचक्र : परमात्मा की खुंदक से बचो	54
पत्रिकाएँ	
सुरेन्द्र तिवारी : कुछ पत्रिकाओं के नये अंक	56
गतिविधियाँ	58
प्रतिक्रियाएँ	4
अपनी ओर से	5

130428

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिव्यंजना द्वारा प्रकाशित महत्वपूर्ण आलोचना ग्रंथ

- **महीप सिंह का कथा-संसार**

डॉ. कमलेश सचदेव द्वारा प्रख्यात कथाकार महीप सिंह के कथा-संसार के सृजन का समग्र मूल्यांकन (पृष्ठ 208 मूल्य 200 रु.)

- **कथाकार महीप सिंह**

डॉ. गुरचरण सिंह द्वारा संपादित महीप सिंह के कथा साहित्य के समग्र मूल्यांकन पर 26 सुधी लेखकों/आलोचकों के महत्वपूर्ण लेख (पृष्ठ 232 मूल्य 150 रु.)

- **आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में महानगर**

डॉ. कुसुम अंसल द्वारा रचित महत्वपूर्ण आलोचना ग्रंथ जिसमें देश के महानगरों की पृष्ठभूमि पर लिखे गये आधुनिक उपन्यासों का विविध पक्षों से मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है। (पृष्ठ 240 मूल्य 200 रु.)

- **कुसुम अंसल का कथा साहित्य**

प्रख्यात लेखिका कुसुम अंसल के सम्पूर्ण कथा साहित्य, विशेष रूप से उनके बहुचर्चित उपन्यास 'एक और पंचवटी' के कथ्य और शिल्प की सूक्ष्म परख प्रस्तुत करने वाली प्रो. नग़मा जावेद मलिक की विशिष्ट कृति (पृष्ठ 116 मूल्य 90 रु.)

- **हिन्दी उपन्यासों में प्रशासन**

डॉ. सुधाकर अदीब द्वारा रचित आलोचनात्मक कृति जिसमें हिन्दी उपन्यासों में चित्रित प्रशासन तन्त्र का प्रामाणिक चित्रण प्रस्तुत किया गया है। (पृष्ठ 288 मूल्य 250 रु.)

- **कबीर ग्रंथावली में प्रेम भक्ति**

संत कबीर के काव्य में चित्रित प्रेम भक्ति-तत्व पर डॉ. कुसुम श्रीवास्तव का महत्वपूर्ण शोध ग्रंथ (पृष्ठ 300 मूल्य 150 रु.)

- **सुदर्शन मजीठिया : सृजन के धरातल**

डॉ. गुरचरण सिंह द्वारा संपादित डॉ. सुदर्शन मज़ीठिया के समग्र साहित्य एवं व्यक्तित्व का मूल्यांकन करने वाली महत्वपूर्ण कृति (पृष्ठ 200 मूल्य 200 रु.)

- **समकालीन हिन्दी कहानी : स्त्री पुरुष सम्बन्ध**

समकालीन हिन्दी कहानी में स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को विविध कोणों से चित्रित करती डॉ. सुनन्त कौर ने इस पुस्तक में हिन्दी कहानी के इस पक्ष का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। (पृष्ठ 178 मूल्य 80 रु.)

- **साहित्य और दलित चेतना**

डॉ. महीप सिंह और डॉ. चंद्रकांत बांदिवडेकर द्वारा संपादित दलित साहित्य की पृष्ठ-भूमि और कुछ प्रतिनिधि रचनाओं का संग्रह जिसने हिन्दी में दलित साहित्य की विषद चर्चा को जन्म दिया।(पृष्ठ 216 मूल्य 200 रु.)

- **हिन्दी कहानी समकालीन परिदृश्य**

हिन्दी के सुप्रसिद्ध कहानीकारों के अवदान पर डॉ. सुखबीर सिंह द्वारा संपादित महत्वपूर्ण पुस्तक (पृष्ठ 142 मूल्य 80 रु.)

- **लेखक और अभिव्यक्ति की स्वाधीनता**

लेखक के सम्मुख अभिव्यक्ति की स्वाधीनता का प्रश्न सदैव महत्वपूर्ण रहा है। इस प्रश्न पर विविध कोणों से लिखे गये सुधी लेखकों के विचारों पर हिन्दी में अपने ढंग की अनूठी पुस्तक।संपादक डॉ. महीप सिंह (पृष्ठ 144 मूल्य 60 रु.)

संचेतना के साहित्य रसिक पाठकों के लिए सभी पुस्तकें आधे मूल्य पर।

अभिव्यंजना

बी-70/72, लारेंस रोड, दिल्ली-110035

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संचेतना

पूर्णांक 160, वर्ष 33, अंक 2
जून–2002
(प्रकाशित अक्टूबर–2002)

संपादक
महीप सिंह

प्रबंध संपादक
जयदीप सिंह
संदीप सिंह

संयुक्त संपादक
कमलेश सचदेव
गुरचरण सिंह

शब्द-संयोजक
सुनील कुमार

कार्यालय सहयोगी
मनजीत कौर, परमजीत सिंह

आवरण सज्जा
संदीप

कला
मनदीप डिम्पी

क्षेत्रीय प्रतिनिधि
कीर्ति केसर(जालन्धर), कमलेश बख्शी(मुंबई), जसबीर चावला(इंदौर), सुभाष रस्तोगी(चंडीगढ़), गोविंद अक्षय(हैदराबाद), सरोज वशिष्ठ(शिमला), हरनाम सिंह भट्टी (छिंदवाड़ा)

मूल्य
एक प्रति : 15 रुपये
वार्षिक : 60 रुपये
संस्थाओं–पुस्तकालयों के लिए : 100 रुपये
विदेशों में : 20 डालर, आजीवन : 1000 रुपये

सम्पर्क
एच–108, शिवाजी पार्क, पंजाबी बाग,
नई दिल्ली–110026, फोन–5191287, 5932888

मुद्रक एवं प्रकाशक
संदीप सिंह
अमृत एंटरप्राइजेज़
लारेंस रोड, दिल्ली–110035
फोन–7154586,87 में मुद्रित तथा
एच–108, शिवाजी पार्क, पंजाबी बाग,
नई दिल्ली–110026 से प्रकाशित

मुद्दा : संवादहीनता कैसे टूटेगी?	
माता प्रसाद, नासिरा शर्मा, बलदेव वंशी, शोभनाथ यादव, कमलकिशोर गोयनका, हबीब कैफ़ी, वीरेन्द्र सक्सेना, मजीद अहमद, अशोक गुप्ता	7
यात्रा संस्मरण	
मीरा सीकरी : एक सवाल	23
आत्मकथा-अंश	
शरण कुमार लिम्बाले : मेरा यह इतिहास	26
कहानी	
जसवन्त सिंह विरदी : कफ़न की जेबें	28
राजेश लाल : एक अलग वजह	33
समीक्षा	
सुरेन्द्र तिवारी : जंग जारी : किसके विरुद्ध?	36
डॉ. वीरेन्द्र सिंह : यथार्थ की अभिव्यक्ति में विलोम का द्वन्द्व	37
वडवराव विजय नागनाथ : दलित समाज का एक और आत्मवृत्त	38
डॉ. मीना साकल्ले : पौराणिक चरित्रों से उपजी सामाजिक प्रवृत्तियों का खुला दस्तावेज	40
कविताएँ	
जगतार, राजेन्द्र नागदेव, सच्चिदानन्द विशाख, हेमन्त गुप्ता 'पंकज', वीरेन्द्र सिंह गूम्बर	42
व्यंग्य	
चक्राचक्र : देने वाला जब भी देता...	44
पत्रिकाएँ	
सुरेन्द्र तिवारी : लघु पत्रिकाओं के कुछ विशिष्ट अंक	47
मैंने पढ़ा	
डॉ. कमलेश सचदेव : मैं जसदेव सिंह बोल रहा हूँ	49
रंगमंच	
सरोज वशिष्ठ : 'चरणदास चोर' शिमला में	52
डॉ. नरेन्द्र मोहन : देवेन्द्र इस्सर की कहानियों की रंग-प्रस्तुति	53
गतिविधियाँ	54
अपनी ओर से	6

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिव्यंजना द्वारा प्रकाशित महत्वपूर्ण आलोचना ग्रंथ

- **महीप सिंह का कथा-संसार**

डॉ. कमलेश सचदेव द्वारा प्रख्यात कथाकार महीप सिंह के कथा-संसार के सृजन का समग्र मूल्यांकन (पृष्ठ 208 मूल्य 200 रु.)

- **कथाकार महीप सिंह**

डॉ. गुरचरण सिंह द्वारा संपादित महीप सिंह के कथा साहित्य के समग्र मूल्यांकन पर 26 सुधी लेखकों/आलोचकों के महत्वपूर्ण लेख (पृष्ठ 232 मूल्य 150 रु.)

- **आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में महानगर**

डॉ. कुसुम अंसल द्वारा रचित महत्वपूर्ण आलोचना ग्रंथ जिसमें देश के महानगरों की पृष्ठभूमि पर लिखे गये आधुनिक उपन्यासों का विविध पक्षों से मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है। (पृष्ठ 240 मूल्य 200 रु.)

- **कुसुम अंसल का कथा साहित्य**

प्रख्यात लेखिका कुसुम अंसल के सम्पूर्ण कथा साहित्य, विशेष रूप से उनके बहुचर्चित उपन्यास 'एक और पंचवटी' के कथ्य और शिल्प की सूक्ष्म परख प्रस्तुत करने वाली प्रो. नग़मा जावेद मलिक की विशिष्ट कृति (पृष्ठ 116 मूल्य 90 रु.)

- **हिन्दी उपन्यासों में प्रशासन**

डॉ. सुधाकर अदीब द्वारा रचित आलोचनात्मक कृति जिसमें हिन्दी उपन्यासों में चित्रित प्रशासन तन्त्र का प्रामाणिक चित्रण प्रस्तुत किया गया है। (पृष्ठ 288 मूल्य 250 रु.)

- **कबीर ग्रंथावली में प्रेम भक्ति**

संत कबीर के काव्य में चित्रित प्रेम भक्ति-तत्व पर डॉ. कुसुम श्रीवास्तव का महत्वपूर्ण शोध ग्रंथ (पृष्ठ 300 मूल्य 150 रु.)

- **सुदर्शन मजीठिया : सृजन के धरातल**

डॉ. गुरचरण सिंह द्वारा संपादित डॉ. सुदर्शन मजीठिया के समग्र साहित्य एवं व्यक्तित्व का मूल्यांकन करने वाली महत्वपूर्ण कृति (पृष्ठ 200 मूल्य 200 रु.)

- **समकालीन हिन्दी कहानी : स्त्री पुरुष सम्बन्ध**

समकालीन हिन्दी कहानी में स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को विविध कोणों से चित्रित करती डॉ. सुनन्त कौर ने इस पुस्तक में हिन्दी कहानी के इस पक्ष का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। (पृष्ठ 178 मूल्य 80 रु.)

- **साहित्य और दलित चेतना**

डॉ. महीप सिंह और डॉ. चंद्रकांत बांदिवडेकर द्वारा संपादित दलित साहित्य की पृष्ठ-भूमि और कुछ प्रतिनिधि रचनाओं का संग्रह जिसने हिन्दी में दलित साहित्य की विषद चर्चा को जन्म दिया।(पृष्ठ 216 मूल्य 200 रु.)

- **हिन्दी कहानी समकालीन परिदृश्य**

हिन्दी के सुप्रसिद्ध कहानीकारों के अवदान पर डॉ. सुखबीर सिंह द्वारा संपादित महत्वपूर्ण पुस्तक (पृष्ठ 142 मूल्य 80 रु.)

- **लेखक और अभिव्यक्ति की स्वाधीनता**

लेखक के सम्मुख अभिव्यक्ति की स्वाधीनता का प्रश्न सदैव महत्वपूर्ण रहा है। इस प्रश्न पर विविध कोणों से लिखे गये सुधी लेखकों के विचारों पर हिन्दी में अपने ढंग की अनूठी पुस्तक।संपादक डॉ. महीप सिंह (पृष्ठ 144 मूल्य 60 रु.)

संचेतना के साहित्य रसिक पाठकों के लिए सभी पुस्तकें आधे मूल्य पर।

अभिव्यंजना

बी-70/72, लारेंस रोड, दिल्ली-110035

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संचेतना

पूर्णांक 165, वर्ष 33, अंक 3
सितम्बर-2003
(प्रकाशित फरवरी-2004)

संपादक
महीप सिंह

प्रबंध संपादक
जयदीप सिंह
संदीप सिंह

संयुक्त संपादक
कमलेश सचदेव
गुरचरण सिंह

शब्द-संयोजक
राजेश सिंह

कार्यालय सहयोगी
मनजीत कौर, परमजीत सिंह

आवरण सज्जा
संदीप

कला
मनदीप डिम्पी

क्षेत्रीय प्रतिनिधि
कीर्ति केसर(जालन्धर), कमलेश बख्शी(मुंबई), जसबीर चावला(इंदौर), सुभाष रस्तोगी(चंडीगढ़), गोविंद अक्षय(हैदराबाद), सरोज वशिष्ठ(शिमला), हरनाम सिंह भट्टी(छिंदवाड़ा), वीरेन्द्र कुमार दुबे (जबलपुर)

मूल्य
एक प्रति : 15 रुपये, वार्षिक : 60 रुपये
संस्थाओं-पुस्तकालयों के लिए : 100 रुपये
विदेशों में : 20 डालर, आजीवन : 1000 रुपये

सम्पर्क
एच-108, शिवाजी पार्क, पंजाबी बाग, नई दिल्ली-110026, फोन-25932888, 25449029

मुद्रक एवं प्रकाशक
संदीप सिंह
अमृत एंटरप्राइजेज़
लारेंस रोड, दिल्ली-110035
फोन-27154586 में मुद्रित तथा
एच-108, शिवाजी पार्क, पंजाबी बाग, नई दिल्ली-110026 से प्रकाशित

मुद्दा : क्या कोई भी प्रश्न न्यायपालिका की परिधि से बाहर है?
डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी, कैलाश चन्द्र पन्त, डॉ. सीतेश आलोक, डॉ. राजकुमार मलिक, राधाकांत भारती 7

बहस
डॉ. सुमन शाह : राजेन्द्र भाई से साक्षात्कार के बहाने 14

स्मरण
डॉ. प्रभा दीक्षित : एडवर्ड सईद : उत्तर-औपनिवेशिक विमर्श में प्रतिरोधी चिन्तन 17

चिन्तन
डॉ. कृष्णचन्द्र गुप्त : कितनी धार्मिकता है इस मानसिकता में? 19

साक्षात्कार
डॉ. बूला कार : कलम ही जिद ठानकर बैठ जाती है
कथाकार सूर्यबाला से बातचीत 21

संस्मरण
डॉ. हरदर्शन सहगल : मैंने बंदूक अच्छी चलाई थी न? 23

कहानियाँ
जसवन्त सिंह विरदी : भयभीत 25
गुरचरण सिंह : प्रक्रिया 29
विपिन बिहारी : थूकदान 33

कविताएँ
कन्हैया लाल नंदन, सुनीता जैन, आनंद अस्थाना, श्रीमती धारा, वीना बंसल, रामानुज त्रिपाठी, (सुश्री) विपिन चौधरी, सुशान्त सुप्रिय 38

समीक्षा
डॉ. हरदयाल : खण्डित विश्वास की व्यथा 41
डॉ. कीर्ति केसर : नया सत्य रचने की जरूरत है 42
डॉ. जगन : पी.सी.के. प्रेम की कहानियाँ 44
अनिल कुमार : सामाजिक सरोकारों से जुड़े नाटक 46

पत्रिकाएँ
सुरेन्द्र तिवारी : कुछ पत्रिकाओं के महत्वपूर्ण विशेषांक 48

मैंने पढ़ा
कमलेश सचदेव : डायरी में स्पन्दित होता लेखक 50

व्यंग्य
चक्राचक्र : ...हम आ गए हैं 52

गतिविधियाँ 54

अपनी ओर से 6

प्रतिक्रियाएँ 4

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी अकादमी, दिल्ली

(राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र, दिल्ली सरकार)
समुदाय भवन, पदम नगर, किशनगंज, दिल्ली-7
की रोजगारोन्मुखी योजनाएँ

हिन्दी भाषा एवं साहित्य के प्रचार-प्रसार हेतु राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र के विभिन्न भागों में हिन्दी प्रसार केन्द्र संचालित किये जा रहे हैं। इन हिन्दी प्रसार केन्द्रों में हिन्दी टंकण (अवधि छः माह)। आशुलिपि (एक वर्षीय) प्रशिक्षण, एक वर्षीय कम्प्यूटर प्रशिक्षण (बारहवीं तथा स्नातक उत्तीर्ण बेरोजगार युवाओं के लिए, अधिकतम आयु 30 वर्ष), संचार माध्यम हिन्दी में एक वर्षीय स्नातकोत्तर डिप्लोमा पाठ्यक्रम, व्यावहारिक अनुवाद का एक वर्षीय स्नातकोत्तर प्रशिक्षण पाठ्यक्रम, पुस्तकालय/वाचनालय तथा अकादमी के प्रकाशनों की बिक्री की जाती है। यदि आप इन योजनाओं का लाभ उठाना चाहते हैं तो कृपया सम्पर्क करें :-

1. हिन्दी अकादमी मुख्यालय, पदम नगर, दिल्ली (हिन्दी टंकण/आशुलिपि/कम्प्यूटर प्रशिक्षण केन्द्र एवं पं. मदन मोहन मालवीय संदर्भ पुस्तकालय/वाचनालय तथा पुस्तक विक्रय)।
2. हिन्दी प्रसार केन्द्र, आर्ष कन्या गुरुकुल महाविद्यालय नरेला, दिल्ली (पुस्तकालय/वाचनालय/आशुलिपि/ कम्प्यूटर प्रशिक्षण)।
3. हिन्दी प्रसार केन्द्र, सी-57, कृष्णा नगर, दिल्ली (हिन्दी टंकण /आशुलिपि/कम्प्यूटर प्रशिक्षण एवं पुस्तकालय/वाचनालय तथा पुस्तक विक्रय)।
4. हिन्दी प्रसार केन्द्र, लखनऊ रोड, मंडल कार्यालय, शिक्षा विभाग, दिल्ली सरकार (हिन्दी पुस्तकालय /वाचनालय तथा पुस्तक विक्रय)।
5. हिन्दी प्रसार केन्द्र, गांधी भवन, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली (हिन्दी टंकण / आशुलिपि प्रशिक्षण एवं पुस्तकालय/वाचनालय तथा पुस्तक विक्रय)।
6. हिन्दी प्रसार केन्द्र, आर्य समाज मंदिर, नरेला, दिल्ली (हिन्दी टंकण प्रशिक्षण एवं पुस्तकालय/वाचनालय तथा पुस्तक विक्रय)
7. हिन्दी प्रसार केन्द्र, सनातन धर्म मंदिर, विवेकानंद नगर, नीमड़ी कालोनी दिल्ली (हिन्दी टंकण प्रशिक्षण)।
8. हिन्दी प्रसार केन्द्र, सतगुरु जगजीत सिंह गुरुद्वारा, नामधारी कॉलोनी, रमेश नगर, दिल्ली (हिन्दी पुस्तकालय एवं वाचनालय तथा पुस्तक विक्रय)
9. हिन्दी प्रसार केन्द्र, महाराजा हरिसिंह पार्क, न्यू मुल्तान नगर, दिल्ली (हिन्दी पुस्तकालय एवं वाचनालय तथा पुस्तक विक्रय)।
10. हिन्दी प्रसार केन्द्र, मुबारक पुर डबास, दिल्ली (पुस्तकालय/वाचनालय तथा पुस्तक विक्रय)
11. हिन्दी प्रसार केन्द्र, नगर निगम प्राथमिक विद्यालय, महिपालपुर, दिल्ली (हिन्दी टंकण एवं पुस्तकालय/वाचनालय तथा पुस्तक विक्रय)।
12. हिन्दी प्रसार केन्द्र, बस्ती विकास केन्द्र, शास्त्री मोहल्ला, नजदीक पाण्डव नगर, थाना पटपड़गंज, दिल्ली (हिन्दी टंकण प्रशिक्षण केन्द्र पुस्तकालय/वाचनालय तथा पुस्तक विक्रय)।
13. हिन्दी प्रसार केन्द्र, गगन भारती स्कूल परिसर, ओम विहार, उत्तम नगर, दिल्ली (महाकवि निराला संदर्भ पुस्तकालय/वाचनालय)।
14. हिन्दी प्रसार केन्द्र, कॉनवेंट गगन भारती स्कूल के समीप, मोहन गार्डन, उत्तम नगर, दिल्ली (महादेवी वर्मा पुस्तकालय/वाचनालय)।
15. हिन्दी प्रसार केन्द्र, जिला न्यायालय, तीस हजारी, दिल्ली (पुस्तकालय एवं वाचनालय)।
16. हिन्दी प्रसार केन्द्र, विकास भवन, आई.टी.ओ., नयी दिल्ली (पुस्तकालय एवं वाचनालय)।
17. अकादमी मुख्यालय, पदम नगर, किशनगंज, दिल्ली : संचार माध्यम हिन्दी में एक वर्षीय स्नातकोत्तर डिप्लोमा पाठ्यक्रम (माखनलाल चतुर्वेदी, राष्ट्रीय पत्रकारिता विश्वविद्यालय, भोपाल से मान्यता प्राप्त)
18. समुदाय भवन, पदम नगर, किशनगंज, दिल्ली : व्यावहारिक अनुवाद का एक वर्षीय स्नातकोत्तर प्रशिक्षण पाठ्यक्रम (माखनलाल चतुर्वेदी, राष्ट्रीय पत्रकारिता विश्वविद्यालय, भोपाल से मान्यता प्राप्त)।

नानक चंद
सचिव

दूरभाष : 23621889, 23533448, 23550274, 23533950 फैक्स : 2353689
E-Mail : hindiacademy-delhi@vsnl.net

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संचेतना

पूर्णांक 162, वर्ष 33, अंक 4
दिसम्बर-2002
(प्रकाशित मार्च-2003)

संपादक
महीप सिंह

प्रबंध संपादक
जयदीप सिंह
संदीप सिंह

संयुक्त संपादक
कमलेश सचदेव
गुरचरण सिंह

शब्द-संयोजक
सुनील कुमार

कार्यालय सहयोगी
मनजीत कौर, परमजीत सिंह

आवरण सज्जा
संदीप

कला
मनदीप डिम्पी

क्षेत्रीय प्रतिनिधि
कीर्ति केसर(जालन्धर), कमलेश बख्शी(मुंबई), जसबीर चावला(इंदौर), सुभाष रस्तोगी(चंडीगढ़), गोविंद अक्षय(हैदराबाद), सरोज वशिष्ठ(शिमला), हरनाम सिंह भट्टी(छिंदवाड़ा), वीरेन्द्र कुमार दुबे(जबलपुर)

मूल्य
एक प्रति : 15 रुपये, वार्षिक : 60 रुपये
संस्थाओं-पुस्तकालयों के लिए : 100 रुपये
विदेशों में : 20 डालर, आजीवन : 1000 रुपये

सम्पर्क
एच-108, शिवाजी पार्क, पंजाबी बाग,
नई दिल्ली-110026, फोन-25932888, 25449029
मुद्रक एवं प्रकाशक
संदीप सिंह
अमृत एंटरप्राइजेज़
लारेंस रोड, दिल्ली-110035
फोन-27154586 में मुद्रित तथा
एच-108, शिवाजी पार्क, पंजाबी बाग,
नई दिल्ली-110026 से प्रकाशित

मुद्दा : क्या पढ़ा आपने?
देवेन्द्र इस्सर, डॉ. हरदयाल, डॉ.कमल कुमार, द्रोणवीर कोहली, मृदुला गर्ग, सरोज वशिष्ठ, कीर्ति केसर 7

रचना-प्रक्रिया
सिम्मी हर्षिता : लिखना जैसे कोई गंभीर केस लड़ना है 22

आकलन
डॉ. वामन वी. आहिरे : गुजराती दलित कविता : सामाजिक अन्तःक्रिया का यथार्थवादी संवेद्य दस्तावेज़ 25

आत्मवृत्त
सूरजपाल चौहान : मैं तेरी बुआ 27

कहानियाँ
खालिद हुसैन : एक कैदी की डायरी 30
डॉ. राज बुद्धिराजा : परशादा 32
मीरा सीकरी : लुका-छिपी 33
शरद सिंह : शत्रु ही तो....! 36

समीक्षा
डॉ. सुरेन्द्र तिवारी : दिन के साथ अर्थात् अनुभवों के साथ 38
डॉ. चंद्रकांत बांडिवडेकर : एक सुलगती खामोशी 40
डॉ. दीपचन्द : प्रेमचन्द सूक्ति कोश 42
डॉ. कमलेश सचदेव : कितनी संभावनाएँ हैं 'सागर' की शायरी में 43
व्यवस्था के प्रति आक्रोश की अभिव्यक्ति 45

कविताएँ
आनन्द अस्थाना, बसन्त कुमार परिहार, अलका सिन्हा, सुशान्त सुप्रिय, चन्द्रकान्त, कुमार नयन, कृष्ण सुकुमार 46

पत्रिकाएँ
सुरेन्द्र तिवारी : बिहार/झारखंड से प्रकाशित पत्रिकाएँ 49

व्यंग्य
चक्राचक्र : एक धांसू विज्ञापन की रूपरेखा 52

गतिविधियाँ 54

अपनी ओर से 6

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

संचेतना बुक क्लब का लाभ उठाइए

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संचेतना के जागरूक पाठकों के लिए एक आकर्षक योजना

संचेतना के देश में असंख्य पाठक हैं। असंख्य शिक्षण-संस्थाओं में संचेतना वर्षों से जा रही है जहाँ इसकी प्रतियों को सजिल्द करा कर संजोया जाता है। हमने संचेतना की सहयोगी संस्था अभिव्यंजना प्रकाशन के साथ मिलकर पुस्तक-प्रेमी पाठकों के लिए यह आकर्षक योजना तैयार की है। 60 रु. भेजकर एक वर्ष अथवा 100 रु. भेजकर दो वर्ष के लिए आप संचेतना के वार्षिक ग्राहक बनिए और निम्नलिखित पुस्तकों में से **कोई भी कितनी भी मनचाही पुस्तकें आधे मूल्य पर मँगवाइए।** डाक-खर्च भी हमारे द्वारा दिया जाएगा। मूल्य मनीआर्डर द्वारा अग्रिम भेजें। वी.पी.पी. भेजने की व्यवस्था नहीं है। 50 रुपये से कम की पुस्तकें साधारण डाक द्वारा और अधिक की पुस्तकें रजिस्टर्ड डाक द्वारा भेजी जाएंगी।

कहानी-संग्रह

धूप की उँगलियों के निशान	महीप सिंह	125.00
चर्चित कहानियाँ	महीप सिंह	40.00
इक्यावन कहानियाँ	महीप सिंह	150.00
सहमे हुए	महीप सिंह	60.00
इक्यावन कहानियाँ	विष्णु प्रभाकर	100.00
इकतीस कहानियाँ	कुसुम अंसल	150.00
पते बदलते हैं	कुसुम अंसल	25.00
चिनारों की आग	शामा	125.00
तेंतीस कहानियाँ	सिम्मी हर्षिता	300.00
घरों से मकानों तक	गुरनाम गिल	80.00
जिंदा पल मुर्दा पल	बचिंत कौर	45.00
अतीत से संवाद	बचिंत कौर	80.00
गिरोह तथा अन्य कहानियाँ	आनन्द अस्थाना	30.00
नया मोड़	कमलेश बख्शी	25.00
उधार की जिन्दगी	बसंत प्रभा	35.00
एक दिन का सुलतान	गुरमुख सिंह जीत	25.00
तीन दिन का बेईमान	सविन्द्र सिंह उप्पल	25.00
आसमान दूर है	गुरुबचन सिंह	100.00
काली छोटी मछली	समद बहरंगी	40.00
काला नवम्बर	सं. सुरेन्द्र तिवारी	100.00
ग्रामीण परिवेश की श्रेष्ठ कहानियाँ	डॉ. सुभद्रा	40.00
खोई हुई खुशबू	सं. नरेन्द्र मोहन	40.00
श्रेष्ठ कहानियाँ	कुसुम अंसल	75.00
प्रवासी पंजाबी कहानियाँ	सं. महेन्द्र धींगड़ा	80.00

कविता

खत्म नहीं होती यात्राएँ	मधु शर्मा	100.00
आरंभ से हाशिये तक	अनिता वर्मा	60.00
सबूत क्यों चाहिए	इन्दु जैन	90.00
धुएँ का सच	कुसुम अंसल	25.00
विरूपीकरण	कुसुम अंसल	35.00
सच कहती हूँ	सुनीता जैन	70.00
एक और दिन	सुनीता जैन	25.00
पीली धूप का टुकड़ा	शामा	100.00
मुक्त कर दो	कीर्ति केसर	50.00
तुम मुझे झेल नहीं पाओगे	अरुणा कपूर	60.00
लेखिकाओं की प्रतिनिधि कविताएँ-83 और 84	संकलन	30.00

उपन्यास

यह भी नहीं	महीप सिंह	160.00
दिशा खोजती ज़िंदगियां	कमलेश बख्शी	90.00
मंज़िलें	मनजीत हेयर	80.00
समय हार गया	मनजीत हेयर	150.00
सम्बन्धों के किनारे	सिम्मी हर्षिता	35.00
यातना शिविर	सिम्मी हर्षिता	75.00
रेखाकृति	कुसुम अंसल	80.00
एक और पंचवटी	कुसुम अंसल	70.00
शिखर और शून्य	गुरमुख सिंह जीत	55.00
प्रश्नों के रेगिस्तान	कु. इन्दिरा	35.00
चेतना की परतें	शकुन्तला दुबे	35.00

आलोचना/निबन्ध

महीप सिंह का कथा-संसार	डॉ. कमलेश सचदेव	200.00
कथाकार महीप सिंह	सं. डॉ. गुरचरण सिंह	150.00
आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में महानगर	डॉ. कुसुम अंसल	200.00
डॉ सुदर्शन मजीठिया : सृजन के धरातल	सं. डॉ. गुरचरण सिंह	200.00
हिन्दी उपन्यासों में प्रशासन	डॉ. सुधाकर अदीब	250.00
कबीर ग्रंथावली में प्रेमा भक्ति	डॉ. शकुन्तला श्रीवास्तव	150.00
कुसुम अंसल का कथा साहित्य	नग़मा जावेद मलिक	90.00
लेखक और अभिव्यक्ति की स्वाधीनता	सं. डॉ. महीप सिंह	60.00
साहित्य और दलित चेतना	सं. डॉ. महीप सिंह, डॉ चन्द्रकांत बादिवडेकर	120.00
समकालीन हिन्दी कहानी: स्त्री-पुरुष सम्बन्ध	सुनंत कौर	80.00
हिन्दी कहानी: समकालीन परिदृश्य	डॉ. सुखबीर सिंह	50.00
मध्यकालीन बोध: मानवीय प्रयोजन	डॉ. भगवान दास वर्मा	30.00
साहित्य, संस्कृति और सम्प्रेषण	डॉ. भगवान दास वर्मा	60.00

नाटक/व्यंग्य/विविध

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी व्यंग्य : सृजन की यात्रा	सं. सुदर्शन मजीठिया, डॉ. बालेन्दु शेखर तिवारी	300.00
शहीद ऊधम सिंह	सत्येन्द्र श्रीवास्तव	25.00
रेखाकृति	कुसुम अंसल	100.00
पालतू	भगवान अटलानी	20.00
भैंस के आगे बीन	रामावतार चेतन	40.00
गंजत्व दर्शन	श्याम गोइन्का	40.00
ऐसे जैसे कुछ हुआ ही नहीं	सरोज वशिष्ठ	75.00
श्राउड	कु. इंदिरा	40.00

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देश-भर के जाने-माने सृजनधर्मी शब्द-साधकों के साथ-साथ
उदीयमान प्रतिभाओं की सशक्त लेखनी का संयुक्त मंच

इन्द्रप्रस्थ भारती

हिंदी भाषा और साहित्य के उन्नयन-हेतु सतत प्रयत्नशील

'हिंदी अकादमी, दिल्ली'

द्वारा प्रकाशित एक ऐसी संपूर्ण साहित्यिक पत्रिका जो सहज मानवीय संवेदनाओं, उदात जीवन-मूल्यों तथा राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना का अनूठा संगम और हर वर्ग के पाठक-समुदाय की अपेक्षाओं के अनुकूल पठनीय एवं संग्रहणीय है।

लगभग एक सौ पचहत्तर पृष्ठ
मूल्य : एक प्रति 25/- रु. मात्र
(वार्षिक 100/- रु. मात्र)

सुरूचि-संपन्न स्वस्थ सकारात्मक अभिव्यक्ति की सूत्रधार "इन्द्रप्रस्थ भारती" के स्थायी सहभागी बनें। आज ही अपना वार्षिक आर्डर/चैक द्वारा (स्थानीय) भिजवाकर सदस्यता प्राप्त करें।

अधिक जानकारी के लिए संपर्क करें –

डॉ. रामशरण गौड़

सचिव, हिंदी अकादमी, दिल्ली
समुदाय भवन, पदम नगर, किशन गंज, दिल्ली-110007
दूरभाष : 3550274, 3621889, 3536897
E-Mail Address : hindiacademy_delhi@vsnl.net

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सशक्त कहानियाँ

'संचेतना' का नया अंक (158) मिला, धन्यवाद। इस अंक की विशेषता यह है कि इसकी कहानियाँ बहुत ही सशक्त हैं, विशेषकर 'कैजुअल' (विपिन बिहारी) और 'जिंदगी रंग-बिरंगी' (अनिता रश्मि)। और यह भी कदाचित एक विशेष संयोग ही है कि ये दोनों कहानियाँ झारखंड के लेखकों ने लिखी हैं। इसी से यह भी पता चलता है कि 'संचेतना' की पहुँच अपेक्षाकृत दूरस्थ प्रदेशों के लेखकों, पाठकों तक भी है।

इसी अंक की एक अन्य विशेषता डॉ. नरेन्द्र मोहन की 'डायरी' भी है, जो अपने-आप में एक अलग, अच्छी कहानी जैसी ही है। कृपया इन सभी लेखकों को मेरी बधाई पहुँचा दें।

डॉ. वीरेन्द्र सक्सेना
18/11, पुष्प विहार, सेक्टर-1,
साकेत, नई दिल्ली

व्यंग्य की पी.टी.उषा

पहले हमारे गाँव के चरवाहे अक्सर 'सर्फाली' बोलते थे। एक बार श्रद्धेय श्रीलाल शुक्ल उनसे मिलने आये और कुछ नोट्स तैयार किए। एक लम्बे अन्तराल के बाद चरवाहे पढ़-लिखकर बुद्धिजीवी बने और दिल्ली टहलने चले गये...उपरान्त उनसे जब भेंट हुई तो उनके हाथ में कृति थी-'मुराही संहिता'। कल जब चक्राचक्र का व्यंग्य पढ़ा तो मुझे अनायास याद आ गया-अरे, यह तो 'मुराही संहिता' से प्रेरित होकर लिखा गया व्यंग्य है। इस बाबत यहाँ किसी स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं। फिर भी, चक्राचक्र व्यंग्य-विज्ञान के पी.टी.उषा हैं।... कभी 'धर्मयुग' में अपनी संवेदनशीलता का परिचय देते हुए डॉ. कन्हैयालाल नन्दन ने पत्नी और प्रेयसी को लेकर जो परिचर्चा आयोजित की थी, उसमें बहुत साफ होकर कथाकार जैनेन्द्र कुमार ने पत्नी का नहीं, बल्कि प्रेयसी का प्रबल पक्ष लिया था कि रचना के लिए प्रेयसी ही प्रेरणा का केन्द्रबिन्दु है। और अब यदि चक्राचक्र पूजा-भाव से लक्षणा मारते हुए, प्रेयसी के लिए कृतियों का समर्पण करते हैं तो यह महज गतानुगतिकोलोकः नहीं है!

मजीद अहमद
द्वारा, श्रीदरगाहीलाल सियाराम
कछौना, हरदोई (उत्तर प्रदेश)

लेखनी से झकझोरते रहें

संचेतना के इस अंक (158) में आपने भाषा सम्बन्धी जो परिचर्चा दी है, वह अच्छी रही। सभी लेखकों ने बेलाग विचार प्रस्तुत किए हैं।

'अपनी ओर से' में आपकी यह टिप्पणी सटीक है कि 'आज होड़ इस बात की लगी हुई है कि यदि किसी समाज का व्यक्ति लोहे की गर्म सलाखों से अपने प्रतिपक्षी की आँखें निकाल सकता है तो दूसरे समाज का व्यक्ति लोहे के तपते हुए चिमटे से अपने प्रतिपक्षी के शरीर की बोटी-बोटी खींच सकता है।' गुजरात में एक बर्बरता को दूसरी बर्बरता ने धूल चटा दी। यह किसके लिए प्रसन्नता का विषय है? इस पर हम शायद कभी आत्मचिन्तन कर पाएँ। बहरहाल, आप इसी प्रकार समाज को अपनी लेखनी से झकझोरते रहिए।

उषा कालरा
एच-101, शिवाजी पार्क, नई
दिल्ली-110026

कहानियाँ पठनीय एवं स्तरीय

संचेतना का अंक 156 हस्तगत, धन्यवाद। 'अपनी ओर से' में आपने सटीक बात कही है। कहानियों की पठनीयता एवं स्तरीयता ने मन मोह लिया। 'प्रत्यक्षदर्शी' की अंतिम पंक्ति-"मरे हुए..." आज का सच है। मुझे अपनी ही कविता की पंक्ति याद आ गई।

कविताएँ भी काफी अच्छी हैं। पहाड़ी औरतों का पूरा जीवन 'चौकी' कविता में उतर आया है। गीत की सार्थकता पर प्रस्तुत विचारों ने प्रभावित किया है।

अनिता रश्मि
नवल भवन, चर्च रोड, राँची

निष्ठा की बात है

निष्ठा की बात है कि एक लम्बे अर्से से पत्रिका चलाते हुए भी आप थके नहीं हैं, वरना बड़े-बड़ों की साँस निकल गई है। और फिर निरन्तर लिखना!

जसवंत सिंह विरदी
96-गोल्डन एवेन्यू, फेज़-1,
जालन्धर-144022

सराहनीय विचार

संचेतना का मार्च 2002 ई. में प्रकाशित अंक मिला।

इसमें हिन्दी को भारत की अन्य भाषाओं का सहोदर बनाने के विचार सराहनीय हैं। भारत की एकता के लिए यह आवश्यक है।

माता प्रसाद गुप्त(पूर्व राज्यपाल)
20/25 इंदिरा नगर, लखनऊ

सुसंस्कृत और बहुआयामी पत्रिका

संचेतना पढ़कर हार्दिक प्रसन्नता हुई। यह पत्रिका अन्य अनेक समसामयिक पत्रिकाओं से अधिक सुसंस्कृत और बहुआयामी लगी। बधाई।

सुश्री विपिन चौधरी
1008, हाउसिंग बोर्ड कालोनी,
सेक्टर-15ए, हिसार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संवादहीनता कैसे टूटेगी?

इस देश का समाज बहुभाँती समाज है जो असंख्य टुकड़ों में बँटा हुआ है। जाति-दर-जाति की जो स्थिति इस समाज में है उसे देख कर संसार के समाजशास्त्री आश्चर्य में पड़ जाते हैं। निरन्तर विकसित होती गई यह व्यवस्था उस समय तक बड़े संकट का कारण नहीं बनी जब तक विभिन्न वर्णों, जातियों, समुदायों में सामूहिक जीवन जीने की अनिच्छा नहीं विकसित हुई थी और सभी वर्णों का आपसी संवाद अनेक स्तर पर बना रहा था।

इस देश में बाहरी जातियों, विशेष रूप से मध्य एशिया से आने वाली जातियों और कबीलों का ताँता निरन्तर बना रहा। इनमें कुछ समूह जीवन-यापन की अच्छी सुविधाओं से आकर्षित होकर आते थे और कुछ आक्रमणकारी बनकर। धीरे-धीरे यहाँ उनका आपसी संवाद विकसित हो जाता था। उन समुदायों के देवी-देवता, जीवन-यापन की पद्धतियाँ, खान-पान, रहन-सहन भी अन्य समुदायों द्वारा स्वीकृत होने लगता था। गो-पालन का कार्य करने वाली आभीर जाति जब इस देश में आई तो उनका देवता गोपाल भी उनके साथ आ गया। कालान्तर में आर्य देवता वसुदेव कृष्ण और गोपाल समन्वित हो गए और गोपाल कृष्ण के रूप में एक अत्यन्त प्रिय देवता की सृष्टि हो गई। इस संवादशीलता का ही परिणाम था कि यूनानी, कुषाण, हूण और शक आक्रमणकारी जातियों के लोग भी कालान्तर में इस देश की संस्कृति में घुल-मिल गए।

जैसे-जैसे वर्ण-व्यवस्था जातिगत बंधनों में बँधकर कठोर होती गई, सामाजिक संवाद घटता चला गया। अस्पृश्य जातियाँ बस्तियों से बाहर कर दी गईं। उनसे किसी प्रकार का आदान-प्रदान तो दूर किसी प्रकार का सभ्य संलाप भी दूषित समझा जाने लगा। मुसलमानों के आने के बाद तो यह संकट और बढ़ गया। विजित समुदाय ने विजेता के सम्मुख घुटने तो टेक दिए किन्तु अपना आंतरिक रोष उसे 'मलेच्छ' कह कर प्रकट किया और कछुआ धर्म अपना कर उससे किसी प्रकार के सामाजिक संवाद को पूरी तरह नकार दिया।

इस संवादहीनता में यह देश अनेक सदियों तक जिया है और बहुत हद तक आज भी जी रहा है। अस्पृश्य समझा जाने वाला समाज आज लोकतंत्र के माध्यम से प्राप्त अपनी राजनीतिक शक्ति के कारण किसी विशिष्ट स्तर पर कितना ही स्वीकृत क्यों न हो गया हो, अपने आप को सवर्ण और संभ्रान्त समझने वाला समाज आज भी उसके प्रति न संवेदनशील है, न संवादशील है।

मुसलमान की स्थिति और भी विषम है। अनेक सदियों तक वह इस देश में शासक की मानसिकता में जिया है। अपनी पराजय के बावजूद हिन्दू ने अपने सभी अंगों को सिकोड़ कर उससे जैसे-तैसे सम्बन्ध रखे। उसने मुसलमान के बर्तन में खाना नहीं खाया, उसके हाथ का छुआ पानी नहीं पिया। पचास वर्ष पहले तक हमारे रेलवे स्टेशनों पर हिन्दू पानी और मुसलमान पानी, हिन्दू पूड़ी और मुसलमान रोटी की हाँक लगती थी।

इस देश में हिन्दू (और हिन्दू समाज से ही जन्मे अनेक वर्ग) और मुसलमान एक हज़ार वर्ष से अधिक समय तक साथ-साथ जीने के बावजूद संवादहीनता की स्थिति में जीते रहे। इस संवादहीनता ने उन्हें कभी एक राष्ट्र नहीं बनने दिया। लाखों लोगों की लाशों को पैरों तले रौंदता हुआ आधी सदी पहले आया विभाजन इसी संवादहीनता का परिणाम था।

विभाजन के पश्चात जो मुसलमान इस देश के नागरिक बन कर रहे, वे पूरे हक से 'हिन्दुस्तानी' बन कर रहे। आम हिन्दू ने उसे सदैव शक़ की नज़र से देखा और जब कभी अवसर मिला उसने उसे 'पाकिस्तानी एजेन्ट' कह कर उसका मुँह चिढ़ाया। इनमें संवाद स्थापित करने का ईमानदाराना प्रयास बहुत कम हुआ। राजनीतिक दल इनके अल्पसंख्यक होने का लाभ भर उठाते रहे।

हमने संचेतना के इस अंक में 'दंगे क्यो भड़कते हैं' का मुद्दा उठाया और अनेक प्रबुद्ध जनों के विचार आमंत्रित किए। हमें प्रसन्नता है कि इस प्रश्न पर लोगों ने खुलकर अपने विचार व्यक्त किए हैं और अनेक कोणों से इस प्रश्न की परख की है। कुछ विचार हम इस अंक में दे रहे हैं। विलम्ब से प्राप्त कुछ आलेखों को हम आगामी अंक में देने का प्रयास करेंगे।

हम समझते हैं कि जो कार्य पिछले एक हजार वर्ष में नहीं हुआ, उसे अब होना चाहिए। समाज के विभिन्न वर्गों में जड़ जमाए बैठी संवादहीनता ने इस देश में कभी एक समरस समाज नहीं उभरने दिया। उसी का परिणाम है कि धर्म, सम्प्रदाय और जाति को आधार बनाकर इस देश में बार-बार विग्रह पनपता है और उसमें ऐसी घटनाएँ होती हैं जो हम सभी को शर्मसार कर देती हैं।

इसी प्रश्न को हम संचेतना के आगामी अंक का मुद्दा बनाने जा रहे हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दंगे क्यों भड़क उठते हैं?

इस समय देश के सम्मुख दो ऐसे मुद्दे हैं जिन्होंने सभी स्तरों पर लोगों को उद्वेलित और चिंतित किया है। एक है–क्या हम उस देश के साथ फिर युद्ध करने जा रहे हैं जो आधी सदी पहले इस विशाल भाईचारे का एक अंग था और आज भी पुरानी स्मृतियों के तीव्र प्रवाह में इधर-उधर के असंख्य लोग भावातिरेक में डूबते-उतराते रहते हैं। दूसरा मुद्दा यह है कि देश के विभाजन के समय पाँच लाख से अधिक लोगों का रक्त पीने के बाद भी साम्प्रदायिक द्वेष की राक्षसी तृप्ति नहीं हुई है और यह आग अवसर पाकर जब-तब भड़क उठती है।

इस अंक के लिए संचेतना ने अपने प्रबुद्ध पाठकों के सम्मुख मुद्दा रखा–दंगे क्यों भड़क उठते हैं? इस मुद्दे पर गहरा सरोकार अनुभव करने वाले अनेक विचारकों के मत हमें प्राप्त हुए हैं, जिनमें से कुछ को इस अंक में दिया जा रहा है।

–संपादक

कन्हैयालाल नंदन

संवादहीनता एक दूसरे के प्रति अज्ञान को बढ़ावा देती है

सबसे पहले तो मैं आपको इस बात के लिए बधाई देना चाहता हूँ कि आपने सांप्रदायिकता सद्भाव को तार-तार करने वाले पहलुओं पर न केवल खुद लगातार लिखा है, बल्कि तमाम लोगों को इस दिशा में सोचने को प्रेरित भी किया है। अभी महीना भी नहीं गुज़रा जब 'संवाद' की ओर से इसी विषय पर विमर्श रखा गया था। उसमें भी आपकी भूमिका से परिचित हूँ। आपके वैचारिक लेखों को भी पढ़ता रहा हूँ। अभी 'जागरण' में आपने इस बात का ज़िक्र किया था कि अब यह काफ़ी नहीं है कि दंगा हो, मारकाट मचे तो एक सद्भावना रैली निकाली जाये, पचीस-पचास सोचने-समझने वाले लोग उसमें आगे चलें, तख्तियाँ पकड़े उनकी फोटो छपे, निंदा में नारे आदि लगें, कुछ दिन सांप्रदायिक सद्भाव की दुहाई देने वाले लेखों का ताँता लगे और फिर एक शांति के बाद दूसरी 'शांति भंग संहिता' शुरू हो जाये। अब इस देश को दंगों की मानसिकता ही खा जायेगी। इस पर अब हर तबके को विचार करना पड़ेगा। इसलिए आपकी यह पहल सराहनीय है।

पहले बचपन का पढ़ा वाक्य स्कूली पुस्तिकाओं में लिखता आया था कि भारतवर्ष एक कृषिप्रधान देश है। संपादक बनकर देखा कि कृषि तो गाँवों तक महदूद है और वह भी साधनों की मोहताज हो गयी है, लोग खेती करने से कतराते हैं शहर की तरफ भागते हैं और यहाँ काम नहीं करना चाहते, छुट्टी पर छुट्टी चाहते हैं। एकाध बार तो यह भी अनुभव हुआ कि एक पूरा हफ्ता छुट्टी-छुट्टी ही बीता, एकाध दिन जिस दिन काम हो सकता था उस दिन दफ्तरों में काम का दिन होते हुए भी छुट्टी का माहौल था, काम नहीं हुआ। उस समय अपने कालम 'ज़रिया-नज़रिया' में मैंने देश के कृषिप्रधान देश के बजाय छुट्टीप्रधान देश लिखा था। अब जो हालात देख रहा हूँ उससे लगता है यह देश दंगाप्रधान देश हो गया है। ज़रा-ज़रा सी बात पर दंगे होते हैं और थमने का नाम नहीं लेते। कई बार तो इनकी शुरुआत चंद शोहदों की ओछी हरकतों से होती है जो निजी नीचताओं से ताल्लुक रखती हैं और मिनटों में संप्रदायिक समस्या बना दी जाती है। एक लड़का संस्कारहीनता में किसी लड़की को छेड़ देता है और संयोग से लड़की उस मुहल्ले के बहुसंख्यक वर्ग से ताल्लुक रखती है तो बस हवा देखते-देखते तूफ़ान हो जाती है और छुरे चलने लगते हैं, घर जलने लगते हैं। मुहर्रम के वक्त ताजिये की ऊँचाइयों को लेकर होते झगड़े को दंगों में बदलते हमने और आपने दोनों ने अपने शहर कानपुर में ही देखा है। मुहल्ले के जवान इस बात में अपनी शान समझते थे कि उनके रहते उनकी धर्मध्वजा नीची नहीं रह सकती, ताजिया की ऊँचाई को चुनौती किसी पेड़ की पत्ती भी नहीं दे सकती थी। डालें काट दी जाती थीं, ताजिया नीचा नहीं किया जा सकता। पेड़ अगर पीपल का हुआ तो हिन्दुओं की आन-बान-शान से आनन-फानन जुड़ जाता था और झगड़े का केन्द्रबिन्दु हो जाता था। 'मज़हब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना' गाते-गाते हम उम्र के 'जाल समेटा' पड़ाव पर आ गये मगर मज़हब की दीवारों पर लिखी बैर-भाव की इबारत न मिटा सके।

संसार के किसी धर्म में नफ़रत का कोई स्थान नहीं है। हिन्दूधर्म में तो समूचे विश्व को कुटुम्ब मानकर चलने का निर्देश है। सभी प्राणियों में ईश का वास बताया गया है–'ईशावास्यमिदंसर्वं...' कहा गया है। करुणा, दया, भाईचारा, अहिंसा, एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता का पाठ पढ़ाते-पढ़ाते और उपदेश देते-देते संतों के म

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और संप्रदाय भले खड़े होते गये लेकिन करुणा-प्रेम-भाईचारे और सहिष्णुता के सारे तत्त्व व्यवहार से ख़ारिज होते चले गये। मनुष्य ने उन सद्गुणों के अनुरूप अपने को ढालने की कोशिश की ही नहीं। अपने आचार-विचार और धर्म को वरीयता देने के अहम् में दूसरे के आचार-विचार और धार्मिक मान्यताओं को हीन और हेय मानने का क्रम हावी होता चला गया। दूसरे धर्म की आत्मा में झाँके बग़ैर, इतिहास की प्रतिच्छायाओं में नफरतें सींची गयीं। सत्तालोलुप विधर्मियों ने नफ़रत में नाश का जो तांडव सदियों पहले किया था, उसकी आग अभी तक ठंडी नहीं हो पा रही। गुरुओं के उपदेश बेकार हो गये, कठमुल्लों की ज़िदों ने क़ुरान की आयतों के मानवीय पहलू तिरोहित कर दिये और दूसरे के धर्म को 'कुफ़्र' की अभिधा से जोड़ 'अलक़ायदा' ओर 'जैशेमुहम्मद' के क़त्लो-ग़ारत का निशाना बना दिया। जैनियों का 'अनेकान्त' बेकार हो गया, बुद्ध की करुणा को निरर्थक बना दिया गया। जहाँ देखो रक्त-पिपासा अपना नंगा नाच दिखा रही है। इस मानसिकता को मनुष्यता से जोड़कर देखने की कोशिश बेमानी है, यह राक्षसी वृत्ति है। और यह वृत्ति धर्म और जाति का इस्तेमाल सिर्फ अपनी खून की प्यास बुझाने के लिए करती है। सन् सैंतालीस में देश के बँटवारे के समय हम इसका नंगा नाच देख ही चुक थे, सन् चौरासी में निर्दोष सिखों को जिंदा जला देने वाले दृश्य मैंने 'दिनमान' के संपादन-काल में देखे और छापे हैं। अपने विभाग में काम करने वाले गऊ-छाप सिख संवाददाता और प्रेस में मशीन चलाने वाले एक सिख कर्मचारी को अपनी गाड़ी में सामान की तरह भरकर उन्हें सुरक्षित घर पहुँचाने के दर्दनाक अनुभव की याद से आज भी मैं सिहर उठता हूँ। भिवंडी के हादसे को देश ने देखा है, गोधरा का नृशंस ट्रेन-कांड तो मनुष्यता की हर सीमा से आगे निकल गया, लेकिन उसके बाद अहमदाबाद, बड़ोदरा, और गुजरात के अन्य शहरों में जो कुछ हुआ वह हमारे हिन्दू होने ही नहीं, हिन्दुस्तानी होने पर प्रश्नचिह्न लगा गया। एक देशवासी ने दूसरे देशवासी को इस जघन्यता के साथ मारा कि प्रधानमंत्री तक ने कहा कि यह 'राष्ट्रीय शर्म' की बात है।

यह 'राष्ट्रीय शर्म' दोनों संप्रदायों के आपसी संवाद की पहल से बहुत कुछ कम हो सकती थी, जिसकी शुरुआत गोधरा कांड के तत्काल बाद मुस्लिम संप्रदाय द्वारा इस कांड की घनघोर निंदा और फिर 'क्रिया की प्रतिक्रिया' सिद्धान्त के असर दिखाने पर हिन्दू संतों-महात्माओं और धर्मगुरुओं के तत्क्षण क्रियाशील होने से हो सकती थी। ऐसी कोई सार्थक पहल सामने नहीं आयी। सामने यह बयान ज़रूर आया कि अल्पसंख्यक समुदाय को अपनी सुरक्षा के लिए बहुसंख्यक वर्ग की सहानुभूति अर्जित करनी चाहिए।

इस बयान में छिपी हई हिन्दूवादी कट्टरता अल्पसंख्यकों को हमेशा दोयम दर्जे की हैसियत और दहशत में जीने की ज़िल्लत की विवशता बाँट रही है। यह हमारी धर्म-निरपेक्ष शासन पद्धति का सीधा मखौल है। धर्म-जाति-भाषा-नस्ल जैसे किसी भी भेद को नकारकर हमारा संविधान सबको समान नागरिक अधिकार और सुरक्षित जीवन-यापन की सुविधा प्रदान करता है। गुजरात की सरकार हमारे अपने ही मानवाधिकार आयोग के अध्यक्ष जस्टिस वर्मा की निगाह में अपने इस दायित्व से च्युत रही है। जस्टिस वर्मा की इसी बेबाक रपट के कारण संयुक्त राष्ट्रसंघ में भारत के खिलाफ मानवाधिकार उल्लंघन का प्रस्ताव आने से बच गया।

लकिन कितने जस्टिस वर्मा हैं अब समाज में, प्रश्न यह विचारणीय है। होना यह चाहिए था कि दंगे की भनक पर तत्काल विभिन्न राजनीतिक दलों के नेता अपने राजनीतिक भेदभाव को भूलकर एकजुट होते और छद्म धर्मनिरपेक्षता से ऊपर उठकर दंगा करने वालों की निशानदेही करते और उनसे देश को बाँटकर रखने का षड्यंत्र करने के आरोप में दो-दो हाथ कानूनी रूप से करते। लेकिन ये नेता वोट की रोटी सेंकने के चक्कर में इन फसादों को हवा देने का काम करते पाये गये हैं। 1984 के दंगे गवाह हैं कि सिखों के खिलाफ आग भड़काने में कुछ नेतागण महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने में आगे रहे, भले ही कानून को गवाहों का टोटा पड़ गया मगर लोग उस खेल को बखूबी समझते रहे। बाकायदा एक कट्टर संवादहीनता देखने में आयी और वह संवादहीनता समझ की खाइयाँ गहरी करती रही, खाइयाँ पाटने का कोई इंतजाम नहीं हुआ। अब हालत यह हो गयी है कि 'हिन्दू मुस्लिम सिख ईसाई, आपस में सब भाई-भाई' सिर्फ राष्ट्रीय पर्वों पर रट्टा लगाने भर की एक गीतपंक्ति रह गयी है, असलियत कोसों दूर चली गयी है। इस संवादहीनता ने एक दूसरे को अपने-अपने ढंग से गलत समझते चले जाने का सिलसिला बना दिया है। संवाद बना रहे तो कोई भी गलतफहमी तत्काल सुलझायी जा सकती है। संवादहीनता एक-दूसरे के प्रति अज्ञान को बढ़ावा देती है और अज्ञान गाँठें बनाता चल रहा है। जरूरी है विभिन्न संप्रदाय के प्रभावशाली व्यक्तियों का आपस में मिलना-बैठना जो अनुयायियों के लिए भी अनुकरणीय होगा।

सरकारों का काम है कि वे हर नागरिक के जीवन और उसकी संपत्ति की रक्षा करें लेकिन साथ ही समाज का काम भी है कि वह सरकार के इस काम में सहायता करे। सरकार और जनता के बीच इस तरह का तालमेल होना ज़रूरी है। लेकिन पिछले पचपन साल को क्यों, सिर्फ अभी गुजरात को देख लीजिए, सरकार ने जिस निकम्मेपन का परिचय दिया वह न केवल शर्मनाक है बल्कि भविष्य के लिए खतरनाक भी। जनता ने उससे ज़्यादा पोच कर्म किया।

इसीलिए इस बात की महती आवश्यकता है कि सभी समुदायों, बहुसंख्यक भी और अल्पसंख्यक भी, साथ ही जातिगत भेदों को लेकर हिंसा पर उतारू जाति समूहों को भी गंभीरतापूर्वक सोचना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहिए, आत्ममंथन करना चाहिए कि अलग-अलग बँटते चले जाने का ख़ामियाजा आगे चलकर किस रूप में भरना पड़ेगा। अल्पसंख्यक वर्ग को भी यह सोचना चाहिए कि संसार के किसी भी देश में ऐसा नहीं होता कि बहुसंख्यक वर्ग को एक बोगी में जिंदा जला दिया जाये और अल्पसंख्यक वर्ग तत्काल आगे आकर उसकी निंदा न करे। साथ ही बहुसंख्यक वर्ग को यह सोचना चाहिए कि साठ के बदले में छह सौ या आठ सौ-हज़ार को मौत के घाट उतारकर क्या उन मरे हुए साठ को हम वापस पा सके। इस 'क्रिया के पीछे प्रतिक्रिया' वाले नकारात्मक दृष्टिकोण को त्यागना होगा और अपनी सकारात्मक क्रियाओं से बदलाव की एक पीठिका बनानी होगी। सिर्फ सरकार की सोच के भरोसे समाज में सकारात्मक विचार-प्रणाली का चलन नहीं हो सकता। सकारात्मक सोच व्यापकता की दरकार रखता है और उसी व्यापकता से वह अपना असर भी दिखाता है। विभिन्न संप्रदाय के नेताओं और अगुवाओं को यह व्यापकता अपने अनुयायियों में फैलानी होगी। उन्हें अपनी अनुयायियों और साथियों को यह बताना होगा कि हमारी आस्था और हमारी धर्मपरक मान्यताएँ हमारा निजी मसला हैं लेकिन उनको देश के संविधान और कानून से ऊपर मानने का भ्रम जीने की गलती नहीं की जानी चाहिए। मैंने जब-जब यह सुना कि राममंदिर का मसला हिन्दुओं की धार्मिक आस्था का मसला है और वह देश के संविधान और कानून से ऊपर है, तब-तब हिटलर की मान्यताओं पर जर्मनी को चलाने वाले दिनों की याद आयी। मुझे क्षोभ और क्रोध दोनों होते हैं जब मैं किसी सार्वजनिक पार्क की ज़मीन पर सरेआम किसी मठ-मंदिर या मस्जिद के कंगूरे उठते देखता हूँ। नाजायज़ ढंग से प्रतिष्ठापित ऐसे देवस्थानों को सार्वजनिक स्थानों से हटवाने में प्रशासन की हिचकिचाहट कानून का सरासर मखौल उड़ाती है मगर मठिया हटायी नहीं जा सकती, मस्जिद को खिसकाया नहीं जा सकता। दिल्ली में मेरे देखते-देखते ऐसे दर्जनों धर्मस्थल सार्वजनिक स्थलों पर काबिज होकर बैठ गये।

इस मानसिकता से समाज को हटना होगा। इसके लिए माहौल तैयार करने में बुद्धिजीवी और संस्कृतिकर्मी उतने ही कारगर हो सकते हैं जितनी उनकी मान्यता समाज में रह गयी है। अफसोस यह है कि आज जिस तरह का समाज है, आगे और होता जा रहा है उसमें बुद्धिजीवी और संस्कृतिकर्मी को एक विशेष प्रकार का 'खब्ती' मानने का चलन बढ़ता जा रहा है। इसके बावजूद वे अपनी भूमिका निभा ही रहे हैं। बुद्धिजीवी और संस्कृतिकर्मी अपने विचारों और कर्म से, लेखन से अपनी मान्यताओं को उजागर कर सकता है, करना चाहिए और वह कर भी रहा है। लेकिन वह 'क्राउड पुलर' नहीं बन सकता। वह भीड़ को अपने साथ लेकर चलने का हुनर सीखने लगता है तो वह अपनी बुद्धिजीवी बिरादरी से बाहर कर दिया जाता है। सार्थक भूमिका बुद्धिजीवी की यह है कि दंगा करने वालों का असली मकसद उजागर करके वह दंगाइयों के खिलाफ़ एक माहौल बनाये, जाति-धर्म और संप्रदाय से ऊपर उठकर मानवीय मूल्यों की फसल खड़ी करने का प्रयास करे। मेरा ख्याल है ऐसा हो भी रहा है लेकिन इसके एवज में समाज कितना बदल रहा है, यह विचार का विषय है।

कम से कम आपने इसे विचार का विषय बनाया, यह उसी सार्थक भूमिका का एक अंग है। अहले सियासत इसे कितनी अहमियत देते हैं यह अलग बात है लेकिन "मेरा पैग़ाम मुहब्बत है जहाँ तक पहुँचे।"

132, कैलाश हिल्स, नई दिल्ली-110065

विनोद शाही

अंधेरों की पिशाच लीला और केवल जलती मशाल

एक

सबसे पहले यह तय करना ज़रूरी है कि सन् सैंतालीस वाला भारत-विभाजन सांप्रदायिकता की समस्या के समाधान के रूप में आता है अथवा उसे इसलिए भारत पर आरोपित किया जाता है कि सांप्रदायिक विभाजन हमारी कभी न सुलझ पाने वाली नियति बन कर एक नासूर की तरह रिसता रहे?

उपर्युक्त प्रश्न में ही इसका उत्तर मौजूद है। यदि भारत विभाजन एक समाधान होता तो सांप्रदायिक विभाजन की समस्या भी उसके बाद के पचपन साल के लम्बे अरसे में एक हद तक सुलझ गयी होती। कई दफा हमें परिणामों को देखकर कारण की प्रकृति की बेहतर समझ प्राप्त होती है। जिस परिघटना के नतीजे इतने त्रासद हैं, उसका अपना स्वरूप यकीनन विधायक नहीं हो सकता। इससे हम भारत-विभाजन की बाबत एकदम दूसरे निष्कर्ष को सही साबित करने के करीब पहुँच जाते हैं कि यह जो भारत-विभाजन है, वह सहज नहीं, आरोपित, कृत्रिम और छद्म-सत्य का जीवन्त उदाहरण है। वह भारतीय जन की वास्तविक प्रकृति की, उसके रक्त में बहने वाले सांस्कृतिक स्रोतों की, उसकी रूपांतरणात्मक विविधता की उपज या परिणाम नहीं है, अपितु वह समाज के मुट्ठी भर स्वार्थांध, सत्ता-लोलुप एवं छद्म-प्रगतिशीलता व छद्म-आधुनिकता से प्रेरित मध्यवर्गीय लोगों की ईजाद भर है, जिसे अंग्रेज साम्राज्यवाद शक्ति प्रदान कर इस लायक बना देता है कि वह विभाजन और परस्पर रक्त-पिपासा का ताण्डव खेल सके।

हमें यदि सांप्रदायिकता के स्वरूप, उसकी मूल प्रवृत्तियों और प्रेरक शक्तियों को समझना हो तो हमें विभाजन-पूर्व के उक्त-माहौल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के मर्म में एक दफा फिर से झाँकना होगा। हम अब यह बात भली-भाँति जानते हैं कि सांप्रदायिक विभाजन का उक्त दंगाई, अमानुषिक, रक्त-पिपासु रूप मुगल काल में नहीं, अंग्रेज़ काल में ही प्रकट होता है और वह भी 1857 के संग्राम के बाद के काल खण्ड में। इसे धीरे-धीरे एक क्रमिक तर्क-सारणी के रूप में गहराया और प्रकट किया गया। मोटे रूप में इसके दो चरण हैं। पहला चरण 1857 से लेकर बंग-भंग तक प्रकट होता है, जिस में सांप्रदायिक विभाजन के ऐसे रूप प्रकट होते हैं, जिन में इस आत्म-विभाजन का प्रतिरोध कर सकने की शक्ति भी अभी बदस्तूर विकासमान रूप में उपस्थित दिखाई देती है। और जिसका परिचय हमें बंग-भंग विरोध ाी आंदोलन के रूप में मिल जाता है। परन्तु इसके बाद के काल में, यूँ कहें कि बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में हमें ऐसी स्थितियाँ दिखाई देती हैं जिनमें यह सांप्रदायिक विभाजन दंगाई, रक्त-पिपासु, अमानवीय रूप ग्रहण कर लेता है।

इस कालखण्ड में हमें विशिष्ट प्रकार की सांप्रदायिक राजनीति का उभार दिखाई देता है जो मुख्यतः इस अमानवीय विभाजन के लिए ज़िम्मेदार है। इस सांप्रदायिक राजनीति के विशिष्ट पहलू निम्न हैं:-

एक : इसका नेतृत्व भारत में उभर कर आंये एक नये वर्ग-मध्यवर्ग-के हाथ में है।

दो : भारत का यह मध्यवर्ग अंग्रेज साम्राज्यवाद की ज़रूरतों की उपज अधिक है, हमारी अपनी आर्थिक-सांस्कृतिक ज़रूरतों का परिणाम उतना नहीं।

तीन : जहाँ तक ठोस आर्थिक-सामाजिक स्थितियों की बात है, उसका ताल्लुक उस विशाल जन-समुदाय के साथ है, जिसके कुटीर उद्योगों, शिल्पों, धंधों को अंग्रेजों की अर्थलोलुपता ने एक सिलसिलेवार तरीके से शोषित करके नष्ट कर डाला था। और जो काम-धंधों के नष्ट हो जाने पर शहरों से उजड़ कर गाँवों की अर्थ व्यवस्था पर बोझ बनते जा रहे थे और या मज़दूर बनने को विवश थे, इस अति-विशाल जनसमुदाय का बुनियादी सांस्कृतिक ढाँचा भक्ति का- सूफियों, संतों, राम-कृष्णभक्तों का था और जिसमें हिन्दू-मुसलमान की शिरकत एक सांझी संस्कृति के निर्माण की ओर अग्रसर थी। परन्तु इस संस्कृति को इसके आर्थिक-सामाजिक आधारों से विच्छिन्न कर दिया गया।

चार : जो मध्यवर्ग उभरा, उसके पास अपना कोई ठोस आर्थिक-सामाजिक आधार था ही नहीं। वह उत्पादन प्रक्रियाओं की उपज नहीं। उन्हें पराये (अंग्रेजी) हाथों में केंद्रित बनाये रखने में मदद करने के लिए यह वर्ग अंग्रेजी रंग-ढंग में ढलकर मूलतः नौकरीपेशा वर्ग के रूप में सामने आया था। इस वर्ग को अंग्रेजों ने सुविधाएँ प्रदान कीं और राजनैतिक नेतृत्व हाथ में लेने में मदद भी की क्योंकि इस वर्ग को संचालित करना, अपने हित के लिए इस्तेमाल करना आसान था। पूरी तरह परजीवी (अंग्रेज केंद्रित आर्थिकता पर निर्भर) होने से 'समझौता' इस वर्ग की मानसिकता की केंद्रीय प्रवृत्ति बन गया था। अब यहाँ, इस बुनियाद से सांप्रदायिक राजनीति का विशिष्ट रूप प्रकट होता है।

पाँच : सामान्य जन और मध्य वर्ग की संस्कृति में एक फासला दिखाई देने लगता है। भक्तिपरक रूपांतरण की जगह सांप्रदायिकता-विशिष्ट जनसमूहों के बीच धर्म-निरपेक्ष आचरण की बात होने लगती है। मामला साफ है। कहाँ तो हम पैगम्बर के प्रेम की अनुगूँज कृष्ण की बाँसुरी में देख पा रहे थे और कहाँ हम पैगम्बर और राम के विशिष्ट सांप्रदायिक जनसमूहों की पहचान करने लग पड़े ताकि हमें धर्म-निरपेक्ष होकर चलना, आधुनिक और प्रगतिशील होना सिखाया जा सके।

यह जरूरी था क्योंकि अंग्रेज़ हमारे मध्यवर्ग के भीतर से ऐसे लोगों की तलाश में रहता था। जो अपने विशिष्ट संप्रदाय के अधिकांश लोगों के नेता या अगुवा के रूप में उभर सकें ताकि उन्हें, उनकी शक्ति यानी उनके अनुयायियों की संख्या के आधार पर सुविधाएँ व सत्ता में हिस्सेदारी देकर अपना काम चलाया जा सके।

आप देख सकते हैं कि इस तरह राजनीति पूरी तरह जन-सहभागिता से कटकर, ऊपर के पढ़े-लिखे मध्यवर्गीयों की सोच का आईना बनती चली गयी। यह अकारण नहीं है कि इस दौर के हमारे अधिकांश सांप्रदायिक नेता सामान्य जन से नहीं आये, बल्कि यूरोप से बाकायदा शिक्षित होकर यहाँ नेता बन बैठे दिखाई देते हैं।

राजनीति का यह रूप विभाजनकारी है क्योंकि यह लोगों से कटा हुआ है। इसीलिये हमारे यहाँ(पाकिस्तान में भी) आज तक पार्टी केंद्रित/परिवार-केंद्रित जो राजनीति दिखाई देती है, उसमें एकदम ज़मीन से उठ कर ऊपर आए लोगों की तादाद बहुत नहीं होती।

उपर्युक्त बातों के आधार पर अब हम सांप्रदायिकता के अमानवीय रूपों के कुछ आधार-स्रोतों की चर्चा कर सकते हैं-

एक : राजनीति में सामान्य जन का हाशिये पर बने रहना, जिसके परिणामस्वरूप जन-संहार समाज के केंद्र या बुनियाद को प्रभावित करता दिखाई नहीं देता। सभी कुछ जैसे हाशिये पर घटता है और वहीं से उसे पुनः दमित करके कुछ देर के लिए नियंत्रित कर लिया जाता है। 'तमस' में भीष्म साहनी का यह सवाल वाजिब है कि सांप्रदायिक दंगों में अमीर या बड़े लोग (नेता वगैरह) कम मरते हैं जबकि इनके लिए उनकी ज़िम्मेदारी केंद्रीय होती है-ऐसा क्यों है?

दो : सांप्रदायिक दंगों का खेल खेलने में राजनीति सफल इसलिए होती है क्योंकि हमारी वास्तविक सांस्कृतिक चेतना को हाशिये पर धकेल कर संप्रदाय-विशिष्ट धर्मनिरपेक्षता को बचाने की फिक्र अधिक की जाती है। चूँकि हम अपने वास्तविक सांस्कृतिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंतः रूपांतरण के मार्ग से भटक गये हैं, इसलिये संप्रदाय-विशिष्ट चेतना का कोई जीवन्त कारगर विकल्प हमारे पास होता ही नहीं है। हम ज़्यादा से ज़्यादा शांति-बैठकें करते हैं और संप्रदायों के लिए सुरक्षा का इंतज़ाम हो जाने पर संतुष्ट हो जाते हैं, जबकि हमें ज़रूरत है सूफी-संतनुमा चेतना की जो संप्रदाय-विशिष्टिता को ही खारिज करते हुए हमें उस मनुष्य में तब्दील कर सके जो दंगाई वातावरण में रक्तपिपासु होने की बजाय इसके विरोध में आत्म-बलिदान करना बेहतर समझे।

दो

सांप्रदायिकता धर्म के अभाव की सूचक है। जितना ही हम धर्म के सार-तात्त्विक रूप के करीब होते जाते हैं, सांप्रदायिकता का उतना ही अभाव होता जाता है। और जितना ही हम धर्म को जीवन के स्रोतों से विच्छिन्न करके उसके अभिलक्षक रूप (कर्मकाण्डीय एवं संस्थाबद्ध रूप) का पर्याय बनाने लगते हैं, उतना ही सांप्रदायिक होते चले जाते हैं। उपर्युक्त प्रक्रिया को ठीक से समझने के लिए ज़रूरी है कि हम धर्म के विषय में जीवन और समाज के छद्म विरोध वाली चेतना का शिकार न हों। तत्त्वतः जीवन और समाज अविरोधी हैं अतः धर्म के संस्थाबद्ध या कर्मकाण्डीय रूपों को उसके सामाजिक पक्ष का पर्याय समझ लेना एक बड़ी भ्रान्ति को पैदा करता है। धर्म का सामाजिक पक्ष अति-व्यापक है और वह एक धरातल पर समस्त मानव-व्यवहार का संस्पर्श करता है। धर्म संबंधी कर्मकाण्ड व सांस्थानिक प्रतिबद्धता उसकी तुलना में धर्म का संकीर्ण सामाजिक पक्ष हैं हालांकि वे ठोस सामाजिक रूप हैं अतः उनके सहारे धर्म की राजनीति करना अधिक सुविधाजनक है।

धर्म अपने स्रोतस्थ रूप में सार्वजनिक जीवन-व्यवहार दशाओं से उपजता है इसलिए आम-तौर पर उसे अनुभवाश्रित समझ लिया जाता है। तथापि वह वस्तुतः जीवन की किसी विशिष्ट कालखण्ड की ज़रूरतों और उनके सामाजिक रूपाकारों की उपलब्धि-निश्चिति से जुड़ी प्रक्रिया होती है। इस बुनियादी प्रक्रिया को आगे चल कर सीधे जीवन से नहीं, खास साधनाओं/अनुभव-दशाओं के रूप में पुनरूपलब्ध्य करने की कोशिश होती है। इस तरह मूल रूप में जो चीज़ जीवन-समाज की द्वन्द्वात्मकता से उपजती है वह धीरे-धीरे जीवन-केंद्रित हो समाज को प्रतीकों में-कर्मकांडों/संस्थाओं में विघटित-स्खलित करने की कोशिश करने लगती है। इस तरह धर्म वास्तव में विकास करने की बजाय अतीतोन्मुखी मुक्ति-बिम्बों या प्रतीकों में बदल जाते हैं। यही सांप्रदायिकता का प्राणाधार है। धर्म जीवन-समाज की द्वन्द्वात्मकता को खोकर जीवन के लिए समाज के सरलीकरणों (प्रतीकीकरणों) की सिलसिलेवार व्यवस्था बन जाता है। और उसी मात्रा में समाज के जटिल रूप-संस्कृति, राजनीति आदि-उसका अपने हित-साधन के लिए उपयोग करने में समर्थ भी होते जाते हैं।

अब सवाल है कि धर्मों में जिस प्रेम, करुणा, अहिंसा आदि की चर्चा होती है वह हमारे व्यवहार का अविच्छिन्न हिस्सा क्यों नहीं बन जाते?

पहली बात तो यह है कि इन मनोभावों का ताल्लुक विशिष्ट जीवन-समाज स्थितियों से है। शिकारी जीवन-दशाओं से सामंतीय स्थितियों में संक्रमित होते हुए हम प्रेम और करुणा के 'अहिंसक' रूपों की ज़रूरत अधिक महसूस करते हैं। जीवन यदि एक ओर अधिक झुका हो तो संतुलन हेतु उसके विरोधी को दूसरे पलड़े में लाना पड़ता है। अहिंसा, प्रेम, करुणा आदि को इनके विरोधी पक्षों-हिंसा, घृणा, निर्दयता आदि के अभाव में किन्हीं सार्वजनिक, विशुद्ध दैवी, आदर्शात्मक वस्तुओं के रूप में देखना भ्रान्ति है। ईश्वर को इन आदर्शात्मक भावों का पर्याय बना देने का नतीजा क्या हुआ है? ईश्वर हमसे और भी अधिक दूर होता चला गया है। वह करीब-करीब अलभ्य वस्तु बन गया है। जीवन को समाज से अलहदा करने का भला और क्या परिणाम हो सकता था? आप सत्य को जीवन में-प्रेम, करुणा, अहिंसा में खोजना चाहें तो खोजते रहिए। वह चन्द साधु-सन्तों के भटकाव का सूचक भर है। इससे धर्म, साधु समाज और उसके आदर्श-सभी समाज में विकास पाने या गहराने की बजाय समाज से दूर, और दूर पड़ते जाते हैं। हमारे समाज की यह सबसे बड़ी परेशानी है। हम बात करते हैं प्रेम, करुणा और अहिंसा की, जबकि व्यवहार में आज हमसे ज़्यादा अमानवीय, क्रूर, संवेदनहीन दंगाई, रक्तपिपासु व्यक्ति खोजना मुश्किल होता जाता है। समाज में झाँकने, सत्य की तलाश और अपने स्वार्थों के बलिदान की बजाय आज हम कर क्या रहे हैं? धर्म के सांप्रदायिक रूपों को धर्म समझकर प्रेम, करुणा, अहिंसा की दुहाई दे रहे हैं और हमारी आवाज़ अनुत्तरित लौट आती है। यह बड़ी मूर्खतापूर्ण बात है। हमने धर्मों को अहमीयत दी। वह ग़लत हो गई। सत्य धर्मों में, धर्मों के सम्मान में छिपा हुआ नहीं है। वह गहरे में जीवन-समाज की द्वन्द्वात्मकता मे छिपा है। उसे स्रोत से पकड़कर विकसित करना होगा। तभी वह हमारे जीवन से सम्बद्ध हो गहरायेगा।

दंगाई माहौल में भी हमें चन्द धार्मिक लोग दिखाई तो दे ही जाते हैं। घृणा के माहौल में प्रेम का परिचय देने वाले चंद 'सामान्य जन' बचकर प्रकट हुए कोई नये युग के साधु-संत ही। उनकी ओर देखना होगा, उनकी मदद से बात आगे बढ़ानी होगी।

तीन

जातियों, धर्मों व वर्गों के आधार पर विभाजित भारतीय समाज में समाज के विविध स्तरों के दरम्यान संवाद अथवा संवादहीनता पर विचार करते हुए निम्न तथ्यों पर ध्यान देना ज़रूरी है :-

एकः भारतीय समाज की अंतस्संरचना विविध विभाजनों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधार पर जन्मे विविध स्तरों के परस्पर हस्तक्षेपों वाली जटिल अंतरसंरचना है।

इसका अर्थ यह है कि जाति-विभाजन से पैदा हुए स्तर धर्मों अथवा आर्थिक-सामाजिक वर्गों व समूहों से पैदा हुए विभाजनों से एकदम मेल नहीं खाते। जाति के तल पर जो भिन्न स्तरों पर हैं, वे संभव है किसी धार्मिक-सांप्रदायिक-गोत्रीय-क्षेत्र सन्निधि-सत्ता में भागीदारी आदि के आधार पर पैदा हुए विभाजन-स्तर में एक ही स्तर पर हों। इस तरह जहाँ एक तरह का विभाजन संवादहीनता की वजह बनता है, वहाँ वह किसी अन्य तरह के अंतःविभाजन द्वारा संवाद-स्थिति में भी हो सकता है।

दो : जातीय अथवा सांप्रदायिक विभाजन से पैदा हुई संवादहीनताएँ भी क्षेत्र-विशिष्ट है। एक प्रान्त में उनका स्वरूप दूसरे प्रान्त की तुलना में भिन्न हो सकता है।

तीन : सांप्रदायिकता को संवादहीनता के लिए ज़िम्मेवार अहम इकाई तभी माना जा सकता है अगर समाज में सांप्रदायिक पक्षारताएँ उच्च/मध्य वर्ग एवं दलित वर्ग के दरम्यान स्पष्ट रूप से विभाजित हों।

अब चूँकि सांप्रदायिक हिंसा में भी मार मुख्यतः गरीब को पड़ती है, तो इससे तो लगता यही है कि संवादहीनता दरअसल आर्थिक आधार वाली वस्तु है परन्तु भारत-विभाजन की वजह से उसे ठोस सामाजिक-राजनैतिक शक्ल भी मिल गयी है। अतः भारत-पाक विभाजन से उलटे बिना (भले ही वह सांस्कृतिक तल पर ही क्यों न हो) इस स्थिति से बचना कठिन है। तो, जहाँ तक भारत-पाक के दरम्यान संवादहीनता के सांप्रदायिक कारण सक्रिय रहते हैं, वहीं तक दोनों मुल्कों में सांप्रदायिकता को दंगों के पीछे पुरअसर भूमिका निभाते देख सकते हैं। यह एक जटिल संवाद-स्थिति है। संवाद भी है और संवादहीनता भी है। संप्रदाय को बचाते हुए संवाद है, उसके व्यापक मानवीय संस्कृति में विलय के तल पर संवादहीनता उभर आती है। उसमें हमें एक संप्रदाय के दूसरे में विलय का खतरा दिखाई देने लगता है। यानी अटकाव इसी सांस्कृतिक क्रांति के घटित न हो पाने की वजह से है।

और यह बात भी समझी जा सकती है कि अगर एक तल पर क्रांति संभव होती है तो वह दूसरे तलों पर-जातीय/वर्गीय तलों पर भी-रूपांतरण का आधार हो जायेगी।

मुझे भारत में सांस्कृतिक क्रांति की संभावनाएँ ही सर्वाधिक प्रबल दिखाई देती हैं-अन्य तलों की क्रांतियों की बनिस्बत।

चार

जहाँ तक सरकारों के द्वारा जन-सामान्य की संपत्ति की रक्षा के बुनियादी दायित्व का संबंध है-इसे व्यापक पूँजीवादी व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में समझे बिना हम गहराई में नहीं उतर सकते। 'निजी संपत्ति' वाला मसला मूलतः पूँजीवाद की रीढ़ है। सामंतीय संदर्भ में 'सबै भूमि गोपाल की' होती है ओर राजा गोपाल का प्रतिनिधि होता है तो निजी संपत्ति पर जन-सामान्य का अधिकार उसे अपने अस्तित्व के सार-तत्व (गोपालत्व) पर अधिकार देता है। यह एक बड़ी बात है। परन्तु इसका नकारात्मक पहलू भी इसी में से निकलता है। आप किसी जन-सामान्य को उसकी निजी संपत्ति से बेदखल कर के ही उसे उसके सार तत्त्व से महरूम कर सकते हैं-पशुतुल्य बना सकते हैं। पूँजीवादी तंत्र में निजी संपत्ति की रक्षा का दायित्व सरकारों पर आ जाता है। परन्तु इस बात में बड़ा पेंच है। पूँजीवाद जिस प्रतिस्पर्द्धी व्यवस्था का हिमायती है, उसमें संपत्ति के शोषण और वर्चस्वी-एकाधिकारवाद की संभावनाएँ खड़ी रहती हैं। इससे होता यह है कि जन-सामान्य को निजी संपत्ति पर अधिकार तो मिलता है, परन्तु वह इसे बनाने-बचाने बढ़ाने की दृष्टि से सदा असुरक्षा में रहता है। सरकारें दरअसल उसकी इस 'असुरक्षा' को सुरक्षा प्रदान किया करती हैं।

यही वह विरोधाभास है जो संकट-कालों में संपत्ति की लूट-खसोट को जन्म देता है। तह में छिपी असुरक्षा प्रकट हो जाती है। तो ऐसा नहीं है कि संकट-काल में दंगाई ही संपत्ति लूटते हैं, जहाँ मौका मिलता है सरकार खुद भी दण्ड-स्वरूप संपत्ति ही लूटती है-वैधानिक बहाने बनाकर। यह मूल्य-विधान सब तरफ यकसां है। इस मूल्य-विधान के चलते हम सरकारों से संपत्ति, रक्षा की उम्मीद कहाँ तक कर सकते हैं?

अमरीका विश्व-व्यापार भवन के गिरते ही असुरक्षित हो जाता है। नतीजतन पूरा अफगानिस्तान असुरक्षित हो उठता है। और अब वहाँ मौजूद तेल-संसाधनों का अमरीका उत्खनन करना चाहता है ताकि संपत्ति की इस लूट से उसकी भरपाई हो सके। यह पूँजीवादी तंत्र का संपत्ति-न्याय है।

इसका विकल्प, एंगेल्स ने इस परिवार-निजी संपत्ति-राज्य के त्रिकोण के इकट्ठा गिरने पर जन्म लेने वाली समाजवादी व्यवस्था में माना है। मुझे लगता है कि यूरो-अमरीकी परिदृश्य के मुकाबले इस तरह की किसी व्यवस्था के जन्म की संभावनाएँ भारत में अधिक हैं। तथापि यह होगा तभी जब हम मौजूदा सांप्रदायिक संकट के गहराने के बाद भारत और पाक दोनों मुल्कों में एक तरह के अंतःरूपांतरण की ओर अपने-अपने तरीके से बढ़ते हुए कहीं किसी एक समान धरातल पर पहुँच जाएंगे।

पाँच

अल्पसंख्यक-बहुसंख्यक आधार वाली राजनीति मूलतः औपनिवेशिक है। वह सत्ता में भागीदारी की ललक से गहराती है। और इस पर प्रजातांत्रिकता का नकाब चढ़ा रहता है। ऊपर बताया जा चुका है कि यह प्रजातांत्रिकता किस तरह के पूँजीवादी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंतर्विरोधों की गिरफ्त में रहती हैं। इस तरह 'सत्ता में भागीदारी' मूल वजह है जो अल्प और बहुसंख्य समूह-विभाजनों के लिए जिम्मेवार है तथापि इसकी संरचना जटिल बहुस्तरीय अंतःविभाजनो वाली है। सांप्रदायिकता ऐसा ही एक विभाजक-स्तर या आधार है। इसलिए सवाल सांप्रदायिक आधार पर बहुसंख्यकों या अल्पसंख्यकों के अलग-अलग आत्ममंथन का नहीं है। सवाल भारत के सांस्कृतिक स्रोतों से सम्बद्ध होकर मानवीय चेतना के विकास-विस्तार का है और भारत के यथार्थ के मुताबिक सत्ता-तंत्र के रूपाकारों की तलाश का है जिसमें औपनिवेशिक दौर के अल्प-बहु वाले विभाजन विलीन हो जाएंगे। हमें अपनी दासता से उबरने के लिए अपनी, अपनी ज़मीन की राजनीति की ज़रूरत है।

इस मसले पर विचार करते हुए मैंने अपने कुछ अन्य आलेखों में कुछ आधार-भूमियाँ तलाशी हैं। संक्षेप में उनकी ओर यहाँ इशारा करूँगा। हमारे यहाँ संतों-सूफियों की चेतना में 'बेगमपुरा' जैसी अवधारणाओं में 'भारतीय प्रजातंत्र' के विशिष्ट रूपाकार मौजूद हैं जबकि रामकथा में क्रांतिकारी समाजवादी आधार-भूमि। एक में सांस्कृतिक रूपांतर आधार बनेगा तो दूसरे में सामाजिक संघर्ष। मौजूदा परिदृश्य में दोनों संभावनाएँ प्रकट हो रही हैं। हमें अपने सांस्कृतिक स्रोतों को समझना ही नहीं है, गहराना और विकसित भी करना है ताकि हम मौजूदा यथार्थ के लिए कोई ठोस राजनैतिक दर्शन तलाश सकें।

यदि हम ऐसा कर पाते हैं तो हमारी वह बुनियादी संशयशीलता नष्ट हो जायेगी जिसमें हम 'धर्म' अथवा 'संविधान' के बीच टकराव की स्थिति तक पहुँच जाते हैं। शंकराचार्य, अकल तख़्त या जामा मस्जिद का यदि संविधान से कोई टकराव होता है तो वजह यह है कि हमारा संविधान हमारी अपनी सांस्कृतिक चेतना का आईना नहीं है, हमारे अपने स्रोतों से विकसित नहीं हुआ। वह आज़ाद होते मुल्क की एक काम-चलाऊ व्यवस्था जैसा है। हमारे वास्तविक संविधान को तो अभी प्रकट होना है। और जितना ही हम इस पोलेमिक्स को गहराता पाएंगे उतना ही आत्मविकल्प की तलाश में अधिक प्रवृत्त होंगे।

शुरुआत हो चुकी है। तो मंज़िल भी भला कितनी दूर होगी?

और बुद्धिजीव भी कोई आसमान से उतरी वस्तु नहीं होता। उसकी भूमिका की बावत फिक्र करना छोड़ दें। हमारे संकट, हमारे दायित्व और भविष्य-चक्र अपने मंथन-फेन में किनारों पर अवश्य ही कभी-कभार कोई रत्न उजागर कर ही देता है। वह हमारे श्रम या फिक्र का नतीजा होते हुए भी दरअसल उसी का नतीजा नहीं होता।

813/7, हाऊसिंग बोर्ड कालोनी
जी.टी.बी.नगर, जालंधर शहर-144003

तारकनाथ बाली

क्यों नहीं मरता यह रक्तबीज

मिथक के अनुसार रक्तबीज मारा गया था। मगर वह आज भी जीवित है। वह हमेशा जीवित रहता है। वह एक सनातन यथार्थ है। और इस सनातन यथार्थ से विवेक का सनातन संघर्ष चल रहा है-चलता रहेगा। कोई अन्त नहीं है इसका! मगर इससे होने वाला संघर्ष अनन्त है। अनन्त होना चाहिए यह संघर्ष!

इस यथार्थ की सतत भयानकता को मनुष्य ने हजारों साल पहले ही पहचान लिया था। और साथ ही यह भी जान लिया था कि इसका विनाश हमेशा, बार-बार करना होगा। इसीलिए पूर्णावतार भगवान कृष्ण ने अर्जुन से कहा था कि अधर्म-हिंसा, रक्तबीज-के विनाश के लिए मैं प्रत्येक युग में जन्म लेता रहता हूँ। आज का इन्सान उसी कृष्ण की तलाश में है। संभवतः आज के विवेकवान समाज को ही कृष्ण का रूप धारण करना होगा। भगवान कृष्ण तो गांधारी से अभिशप्त हो चुके हैं :

प्रभु हो
पर मारे जाओगे पशुओं की तरह

—भारती अन्धा युग

और कृष्ण ने कहा था इस महाभारत में मैं ही मरा हूँ करोड़ों बार। और यह भी कहा था :

जीवन हूँ मैं
तो मृत्यु भी तो मैं ही हूँ माँ !
शाप तुम्हारा यह स्वीकार है।

और जरा नामक व्याध ने कृष्ण को मार डाला। और वह दुहराता है प्रभु के अन्तिम वचन—

क्या कोई सुनेगा
जो अन्धा नहीं है, और विकृत नहीं है, और
मानव भविष्य को बचायेगा?

—वही

और व्याध जरा की यह आवाज आज तक संसार में गूँज रही है।

हाँ, आज हमें ऐसे मनुष्यों की तलाश है जो अन्धे नहीं हैं, जो विकृत नहीं है और जो मानव भविष्य को बचाएँगे। सिर्फ सन्तोष यह है कि यह तलाश हमेशा जारी रहती है। मगर क्या यह सफल होगी? और कब? कब तक भगवान गांधारी के शाप से अभिशप्त रहेंगे? क्या भगवान के सभी अवतार, मर्यादा पुरुषोत्तम राम भी आज गांधारी के शाप से अभिशप्त नही हैं? क्या कृष्ण के साथ-साथ भगवान राम की भी हत्या कर दी थी किसी व्याध ने?

भगवान राम के अन्तिम वचन क्या थे, इतिहास नहीं जानता मगर भगवान राम के अन्तिम वचन, नहीं राम का सारा जीवन है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भगवान कृष्ण के अन्तिम वचन हैं–कौन बचायेगा मानव भविष्य को? भविष्य की सीता रावण की कैद में है। कौन रक्षा करेगा उसकी? कौन मुक्त करेगा उसे? तलाश जारी है।

हाँ, तलाश जारी है। और इसी तलाश का नाम है मनुष्य का विवेक-भगवान बुद्ध का विवेक, सम्राट अशोक का विवेक, ईसा मसीह का विवेक, वैष्णव धर्म का विवेक, गुरु नानक का विवेक और विवेक महात्मा गाँधी का। ये सब नाम नहीं हैं, व्यक्ति भी नहीं हैं। ये भगवान कृष्ण की वह प्रतिज्ञा हैं जो हर युग में जन्म लेती है–'संभवामि युगे युगे।'

लेकिन–

रक्तबीज मरकर भी कभी नहीं मरा। बार-बार जीवित हो उठता है। वह हमारे बीच है। वह हमारे बाहर भी है और हमारे भीतर भी है। रक्तबीज और रावण हमारे ही अंश हैं और भगवान कृष्ण तथा भगवान राम का विवेक भी हमारे ही अंश हैं। हिंसा और अहिंसा का सनातन है यह द्वन्द्व। एक मत के अनुसार तो भगवान और शैतान दोनों ही सनातन हैं। इन्सान के मन में दोनों का वास है। इसलिए यह सच भी हो सकता है-चाहे प्रतीक रूप में ही सही। आखिर मिथक भी तो मानव के सामूहिक विवेक की ही सृष्टि हैं। मैं मानता हूँ कि ईश्वर और शैतान भी मानव-मन की ही उपज हैं–जो हमारे मन के भीतर है उसी की प्रतिमाएँ हैं। मगर धीरे-धीरे उनकी सामाजिक सत्ता बन गई, ऐतिहासिक सत्ता बन गई। मगर मेरे मन में यह सवाल बार-बार पैदा होता है कि ईश्वर के सामाजिक उपयोग में क्या कहीं शैतान का भी सामाजिक उपयोग नहीं है? मैं अगर यह विश्वास करता हूँ कि मेरा ईश्वर सत्य है और तुम्हारा मिथ्या, तो क्या यह ईश्वर पर शैतान की विजय की घोषणा नहीं है? सांप्रदायिक दंगों में यह घोषणा एक मूल प्रेरणा बनती है, मुखौटा बनती है। इस आतकपूर्ण स्थिति की चुनौतियों से कैसे जूझें हम! इस मूल प्रेरणा का कारण कहीं सत्ता का मानवद्रोही षड़यंत्र तो नहीं है? बड़ा कठिन सवाल है। असंभव लगता है इसका उत्तर खोज पाना। सत्ता के भूखे मानवभक्षी भेड़िए जब ईश्वर का ऐसा दुरुपयोग करते हैं तो क्या वे अपने ईश्वर और शैतान के अन्तर को मिटा नहीं देते? क्या ईश्वर और शैतान एक ही सिक्के के दो पहलू नहीं बनाए जा रहे हैं?

समस्या बड़ी पेचीदा है। क्या हिंसा, ईश्वर और आतंक सत्ता के अनिवार्य गुण होने जा रहे हैं? सत्ता ने हमेशा धर्म का इस्तेमाल किया है मगर क्या औद्योगिक क्रान्ति और उससे उत्पन्न साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद ने धर्म के इस दुरुपयोग को कहीं अधिक भयानक और व्यापक नहीं बना दिया? और अब वे साम्राज्यवादी देश क्या धर्म के इस दुरुपयोग के शिकार नहीं हो रहे हैं? दूसरों के लिए गड्ढे खोदने वाले अब खुद उन्हीं गड्ढों में गिरने लगे हैं। धर्म के नाम पर देशों और इन्सानों को बाँटने वाले अब खुद अपनी करनी का फल भोगते दिखाई देते हैं। चिन्ताजनक है यह सब! दुखद हैं ये घटनाएं!

हाँ, ये बहुत बड़े सवाल हैं और विस्तृत समीक्षा की माँग करते हैं। मगर इन्हें समझे बिना दंगों और हिंसा की राजनीति को पूरी तरह से नहीं समझा जा सकता।

हिन्दू परंपरा के अनुसार प्रजापति की दो पत्नियाँ थीं–बड़ी थी दिति जिसके पुत्र दैत्य (असुर) कहलाए और छोटी पत्नी थी अदिति जिसके पुत्र देव कहलाए। हिन्दू परंपरा देवासुर संग्रामों के मिथकों से भरी हुई है। और यह देवासुर संग्राम-अहिंसा और हिंसा का युद्ध आज तक जारी है-भारत में ही नहीं, सारे विश्व में। यहाँ विशेष बात यह है कि असुर देवों के बड़े भाई हैं।

अब भारत में होने वाले दंगों को उपर्युक्त व्यापक और सनातन सन्दर्भ में रख कर समझने की कोशिश की जा सकती है।

भारत के आदि काव्य वाल्मीकि रामायण के केन्द्र में युद्ध है-राम-रावण युद्ध। महाभारत में भी कौरवों और पाँडवों–भाइयों के युद्ध का वर्णन है। पश्चिम के आदि काव्य 'ईलियड' के मूल में भी युद्ध है। इसे संयोग नहीं समझना चाहिए कि प्राचीनतम महाकाव्यों में हिंसा और अहिंसा का संघर्ष चित्रित है। मानव के सर्जनात्मक विवेक ने अहिंसा को ही मानव की रक्षा और विकास का मूल मंत्र माना। इसीलिए विश्व के आरंभिक आन्दोलनों-जैन धर्म, बौद्ध धर्म, ईसाई धर्म, वैष्णव धर्म में अहिंसा, सेवा और समानता ही केन्द्रीय मूल्यों के रूप में रेखांकित किए गए–

दीन दुर्बल है रे, संसार,
इसी से दया, क्षमा और प्यार।

–पन्त, परिवर्तन कविता

और यह अहिंसा तथा प्रेम का संदेश वैष्णव धर्म से होता हुआ आधुनिक काल में आधुनिक विश्व के महानतम व्यक्ति महात्मा गाँधी के रूप में प्रतिफलित हुआ जिन्होंने इन मूल्यों (जिन्हें व्यक्तिगत मूल्य माना जाता है) के आधार पर एक विराट स्वाधीनता आन्दोलन को प्रेरित किया। मगर हिंसा फिर भारी पड़ी। माउंटबेटन ने न सिर्फ हिन्दू-मुस्लिम दंगे करवाए वरन भारत का विभाजन इतने कम समय में किया जिससे व्यापक नरसंहार हुआ और हिन्दू तथा मुसलमानों के बीच एक स्थाई घृणा और हिंसा का बीज (रक्तबीज) बोने की कोशिश की। माउंटबेटन भारतीय उपमहाद्वीप के हिटलर के रूप में अवतरित हुआ। यह अंग्रेज हिटलर भारत विभाजन की त्रासदी से संतुष्ट नहीं हुआ और काश्मीर पर पाकिस्तान ने कबाइलियों के रूप में आक्रमण किया और हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच शत्रुता का एक स्थाई मुद्दा उभरा जिससे दोनों देश आज तक जूझ रहे हैं। मगर भारत धर्मनिरपेक्षता के रास्ते पर चलने के लिए प्रतिबद्ध हुआ। धर्मनिरपेक्षता यानी सभी धर्मों, के समान महत्त्व की स्वीकृति। यद्यपि हिन्दू और मुसलमानों के बीच सांप्रदायिक दंगे होते रहे मगर कुल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिलाकर विविध धर्मों और वर्गों के बीच सद्‌भाव की स्थिति भी बनी रही।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि असुर और देव, शैतान और ईश्वर दोनों ही सनातन हैं। वे हमारे बाहर भी हैं और भीतर भी। इन्सान के भीतर जो मूल्यहीनता और मूल्य की कामना की स्थिति है वे उसके वस्तुगत रूप हैं। शैतान मनुष्य को बड़ी जल्दी आकर्षित करता है। सामान्य व्यक्ति उसके आकर्षण और मोह में आसानी से फँस जाता है। इतिहास साक्षी है कि भारतवर्ष की इतनी लम्बी परंपरा में सिर्फ एक ही पूर्ण सत्यवादी हुआ-सत्य हरिश्चन्द्र। मनुष्य के लिए ईश्वर ही मूल्य है। मगर सत्य का मार्ग बड़ा दुर्गम है-छुरे की धार-सा तेज़ जिस पर चलना अत्यंत कठिन है-क्षुरस्य धारा निशितो दुरत्ययः। मनुष्यक की अभीप्सित सोच (विशफुल थिंकिंग) तो यही है–सत्यमेव जयते नानृतं।

समाजशास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट होता है कि समाज दो वर्गों में वँटा हुआ है-सत्ताधारी वर्ग और सत्ताहीन वर्ग। सत्ताधारी वर्ग संख्या में कम है और सत्ताहीन वर्ग की संख्या की शक्ति अधिक है। इसलिए सत्ता हमेशा सत्ताहीन वर्ग की इस शक्ति से आतंकित रहती है। मगर सत्ता और आतंकित हो? असंभव। इसलिए सत्ता ने सत्ताहीन वर्ग को आतंकित करने के लिए, अपने वश में रखने के लिए कई शक्तिशाली संस्थाओं की रचना की। सत्ता के पास सेना है, पुलिस है, न्याय व्यवस्था है, गुप्तचर संगठन हैं और हैं धर्म तथा विज्ञान।

सत्ता जनता को आतंकित तो करती ही है मगर अपनी रक्षा के लिए जन-कल्याण के नारे भी लगाती है। और जनकल्याण की संस्थाएँ भी बनाती है। कुत्ते को वफादार रखने के लिए उसे कुछ खिलाना-पिलाना तो पड़ता ही है। और इसीलिए बुद्धिजीवियों ने प्रजातंत्र की परिकल्पना की जिसे सत्ता की सर्वश्रेष्ठ संरचना माना जानता है। मगर सत्ताधारी चाहें तो प्रजातंत्र को एक नियतकालीन फासीवाद में बदल सकते हैं। गुजरात में जो अत्याचार, आतंक और पाशविक हिंसा का नंगा नाच हुआ वह इसका प्रमाण है। मुख्तसर यह कि जो सत्ता में है–चाहे किसी भी तंत्र के रास्ते से सत्ता में आया हो-उसके लिए सभी तंत्र समान हैं। समान होते जा रहे हैं।

मगर यह सब कैसे घटित हुआ और इसका निदान क्या है?

इस पर विचार करने के लिए मानव के इतिहास को दो कालों में वाँटा जा सकता है-एक : विज्ञान-पूर्व काल, जब धर्म की सत्ता का सर्वोपरि थी और दो : वैशानिक युग, जिसका आरंभ औद्योगिक क्रान्ति से हुआ। यानी धर्म और विज्ञान सत्ता के दो आधार-स्तंभ वने।

विज्ञानपूर्व युग में यूरोप में सत्ता ने एक शक्तिशाली अस्त्र के रूप में धर्म का व्यापक प्रयोग किया। यूरोप का एक हजार वर्ष का अन्धकार युग इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। और दूसरा उदाहरण है इस्लाम का, जिसका प्रचार तलवार के जोर से किया गया और जिसे आज जेहाद कहा जाता है। इन धर्मों का जमकर राजनीतिक उपयोग हुआ-धर्म सत्ता का सबसे अधिक मारक अस्त्र बन गया।

यहाँ यह जान लेना चाहिए कि हिन्दू परंपरा (हिन्दू धर्म नहीं, परंपरा है जिसमें नास्तिक, आस्तिक, वैष्णव, शाक्त आदि सभी आ जाते हैं) का अपनी आन्तरिक विविधता और विरोध के कारण कभी राजनीतिक उपयोग नहीं हुआ। मगर स्वाधीन भारत में हिन्दू समाज और परंपरा के विविध घटकों का राजनीतिक उपयोग हो रहा है। हो ही नहीं रहा, वढ़ भी रहा है। मगर पूरे हिन्दू समाज का राजनीतिक उपयोग कोई राजनीतिक दल नहीं कर पाया। यह विषय विवेचन के जिस विस्तार की अपेक्षा करता है वह यहाँ संभव नहीं है। यह सव जानते हैं कि हिन्दुत्ववाद एक राजनीतिक नारा है। जिसका हिन्दू परंपरा से कतई कोई संवंध नहीं है तथा जो केवल गिने-चुने सवर्ण हिन्दुओं तथा अल्पसंख्यकों के विरोध पर आधारित है। घृणा, हिंसा और आतंक किसी धर्म का आधार नहीं हो सकते। इस प्रकार हिन्दुत्ववाद हिन्दू परंपरा का निषेध है और आज स्पष्ट हो रहा है कि एक राजनीतिक नारे के रूप में भी उसका प्रभाव तेजी से क्षीण हो रहा है। हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान के तीन नारों में से हिन्दी का तो लोप ही हो गया है। हिन्दू की जगह हिन्दुत्ववाद का राजनीतिक नारा भी निरन्तर शक्तिहीन होता जा रहा है। हिन्दुस्तान तो भारत के रूप में बना ही रहेगा। हिन्दुत्ववादी राजनीतिक नारा उसे तो सिर्फ बदनाम ही कर सकता है। देश तथा विदेशों में गुजरात के हत्याकांड की तीखी आलोचना हुई है जिससे भारत की छवि मलिन हुई है। यदि हिटलर जीवित बच जाता तो वह भी यह कह सकता था कि मैंने जर्मनी के यहूदियों की जो हत्या की है वह जर्मनी का आन्तरिक मामला है।

जव पश्चिम में वैज्ञानिक शोध का आरंभ हुआ तो धर्म के सत्ताधारियों ने उसका प्रवल विरोध किया क्योंकि उन्हें यह डर था कि वैज्ञानिक आविष्कारों से उत्पन्न वैज्ञानिक मानसिकता धर्म का तो निषेध ही कर देगी। मगर वैज्ञानिक आविष्कार निरन्तर होते रहे और जनता उनका स्वागत करती रही। धार्मिक चेतना के सामाजिक दुरुपयोग की उभरी सत्ता ने विज्ञान की चुनौती को भी जीत लिया। विज्ञान भी सत्ता का अत्यंत भयानक और मारक अस्त्र बना गया। हिरोशिमा और नागासाकी इसके भयानकतम परिणाम हैं।

इतना ही नहीं। विचारकों की यह मान्यता थी कि विज्ञान के आविष्कार से, वैज्ञानिक प्रगति से जनता के अन्धविश्वास क्षीण होंगे। उनमें जीवन को समझने की वैज्ञानिक दृष्टि का उदय और विकास होगा। और ऐसा हुआ भी। समाज(शास्त्र), मानव (विज्ञान) आदि का वैज्ञानिक अध्ययन आरंभ हुआ। ये शास्त्र आज अत्यंत विकसित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवस्था में हैं। मगर धार्मिक अन्धविश्वासों का क्या हुआ?

धर्म के दो पक्ष हैं। एक आन्तरिक जो मूल्य व्यवस्था का, सत्य, अहिंसा, सहिष्णुता, सेवा आदि का है। दूसरा पक्ष बाह्याडम्बर का है। बुद्धिजीवियों ने धर्म के उसी आन्तरिक पक्ष को ही स्वीकृति दी। मगर यह स्थिति सत्ताधारियों को मान्य नहीं हुई। आम जनता के लिए धर्म महत्वपूर्ण है। मगर उसके लिए कर्मकांड भी महत्त्वपूर्ण है। सत्ता ने जनता के सामने कर्मकांड को ही धर्म की समग्रता के रूप में प्रस्तुत किया। भोली जनता ने इसे स्वीकार किया। इस प्रकार आधुनिक काल में सत्ता के पास दो मारक हथियार आ गए–धर्म और विज्ञान। धर्म और विज्ञान का यह भीषण विष आज विश्व में फैलता दिखाई दे रहा है। और इसीलिए हिंसा और हत्या का तांडव नृत्य सभी जगह दिखाई दे रहा है। जनता तो इससे आतंकित है ही। सत्ताधारी भी इससे आतंकित हैं। राष्ट्रपति बुश अलकायदा के आतंक से जूझ रहे हैं और भारत काश्मीर में आतंकवाद से। और अब भारत को इस आन्तरिक आतंकवाद से भी जूझना है।

ओसामा बिन लादेन और नरेन्द्र मोदी व्यक्ति मात्र नहीं हैं। वे एक मानसिकता को व्यक्त करते हैं। भारत का यह मिथक प्रासंगिक हो जाता है कि असुर देवों के बड़े भाई हैं। मुहम्मद गोरी, चंगेज़ खान, तैमूर लंग, ब्लडी मैरी सब इसी मानसिकता को व्यक्त करते हैं। क्या हिन्दुओं में कोई ऐसी मानसिकता वाला व्यक्ति हुआ है? रक्तबीज! हाँ रक्तबीज!! रक्तबीज ने भी हमेशा धर्म का सहारा लिया है। आज धर्म के साथ-साथ उसे विज्ञान, परमाणु बमों और प्रक्षेपास्त्रों के साधन भी उपलब्ध हो गए हैं।

ईसाई सदियों से अहिंसा और सेवा के पुजारी रहे हैं। मगर दोनों विश्वयुद्ध ईसाई देशों के बीच ही आरंभ हुए। हिटलर भी ईसाई था और मुसोलिनी भी। विश्वयुद्धों के बाद ही मूल्यों के विघटन का संकट गहराता चला गया। आज इन्सान मोहग्रस्त है। किं कर्त्तव्यविमूढ़। धार्मिक आतंकवाद और परमाणु बमों की दुनिया का भविष्य क्या होगा?

हंटिंगटन ने सभ्यताओं के संघर्ष का सवाल उठाया है। मगर इसमें कई खामियाँ हैं। ईसाई देशों के बीच युद्ध हुए, इस्लामी देशों के बीच युद्ध हुए, हिन्दू समाज के भीतर संघर्ष चलता रहा। हिंसापूर्ण संघर्ष! घृणामूलक संघर्ष!!धार्मिक संप्रदायों के बीच होने वाले ये संघर्ष कितने भयानक और व्यापक हैं।

मगर मुझे इन संघर्षों के बीच से आशा की क़िरणक्षीण ही सही, फूटती दिखाई देती है। धर्म, सभ्यता, संस्कृति किसी एक मनुष्य, नेता या वर्ग की बपौती नहीं है। इनके बीच भी कितने ही वर्ग हैं जो अपने अधिकारों (सत्ता) को पाने के लिए संघर्ष कर रहे हैं। और संस्कृति क्या है? सभ्यता क्या है? धरती पर हमने कुछ लकीरें खींच दी और संस्कृतियाँ बदल गईं। सन् 47 से पहले की एक भारतीय संस्कृति आज तीन संस्कृतियाँ बन गईं–भारतीय, पाकिस्तानी और बांग्लादेशी। एक सोवियत संघ की संस्कृति के आज कितने टुकड़े हो गए। धरती पर बनाई गई ये रेखाएँ कृत्रिम हैं, परिवर्तनशील हैं। संस्कृति या सभ्यता कोई भौगोलिक या धार्मिक अवधारणा नहीं है। वह मानवीय अवधारणा है। महावीर, भगवान बुद्ध, ईसा मसीह और वैष्णव धर्म की अहिंसा एक ही मूल्य है। इन्सान उन्हें सभ्यता या संस्कृति की सीमा में बाँधकर 'अहिंसाएँ' क्यों बनाता है? सत्ता के उपयोग के लिए।

सत्ता अनिवार्य शैतान है। इसलिए अहिंसा अहिंसाएँ बनाई जाती रहेंगी। मगर सत्य को शब्दों के चक्रव्यूह में घेरकर मारा नहीं जा सकता। सत्य अभिमन्यु नहीं है जो इस चक्रव्यूह को ध्वस्त न कर सके। सत्य तो जीतेगा ही। हो सकता है यह हमारी अभीप्सा हो। विशफुल थिंकिंग। मगर इस विचार को वास्तविकता का रूप देने के प्रयास की भी एक सनातन धारा रही है। यहाँ बुद्धिजीवी की भूमिका की प्रक्रिया आरंभ होती है। बुद्धिजीवी मर जाता है मगर अमर रहती है उसकी यह भूमिका। उसकी स्मृति नहीं मरती। और नहीं मरता उसका प्रयास। भारत तथा अन्य अनेक देशों के संविधान और संयुक्त राष्ट्र संघ प्रमाण हैं सत्य के। सामाजिक न्याय, समानता, स्वाधीनता, भ्रातृत्व के मूल्य भी आधुनिक क्रान्तियों के मूल में थे। लीग ऑफ़ नेशन्स की असफलता के बाद फिर एक विश्वयुद्ध हुआ। युद्ध समाप्त हो गया मगर युद्ध समाप्त करने का मानवीय सामूहिक विवेक संयुक्त राष्ट्र संघ के रूप में अवतरित हुआ। उसकी सीमाओं के बावजूद वह अभी है, सक्रिय है और सक्रिय रहेगा। रक्तबीज के खिलाफ़ यह संघर्ष जारी रहेगा। सभी स्तरों पर। व्यक्ति के स्तर पर। राष्ट्र पर। और विश्व के स्तर पर भी। अमावस्या के सघन अन्धकार में एक मशाल तो है जो जल रही है।

173, मीडिया कालोनी, गुडगाँव-122002

रामदरश मिश्र

यह कौन-सा गुजरात है

आज गुजरात में गोधरा से लपट उठेगी, फिर अहमदाबाद, मेहसाणा, बड़ोदरा आदि को अपनी गिरफ्त में लेती जाएगी इसकी कल्पना तो नहीं थी। गोधरा से सांप्रदायिक आग भड़की और कितने ही हिन्दू यात्रियों को निगल गयी, यह बहुत वीभत्स कार्य हुआ लेकिन अहमदाबाद तथा अन्य स्थानों के मुसलमानों ने क्या किया था कि उन्हें बदले की वीभत्स आग में बुरी तरह झोंका गया। इससे तो हिन्दुओं और मुसलमानों के भाईचारे में आग लगाने वाले देशी-विदेशी साम्प्रदायिक तत्त्वों का अभिप्राय ही सफल होता है। वे तो यही चाहते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। हाँ, ये तत्त्व देश में भी हैं और विदेश में भी। हिन्दुओं में भी हैं और मुसलमानों में भी। हिन्दू और मुस्लिम फंडामेंटलिस्टों ने यह मान लिया है कि वे ही असली हिन्दू और असली मुसलमान हैं। विश्व हिन्दू परिषद हिन्दुओं के हितों की नहीं, धार्मिक रूढ़ियों की रक्षक है और मानती है कि वह समूचे हिन्दुओं का प्रतिनिधित्व करती है। हिन्दू मैं भी तो हूँ, वे भी तो हैं और वे भी तो हैं और न जाने कितने संवेदनशील, चिंतक, विचारक, लेखक और सामान्य जन हैं जो आर.एस.एस., विश्व हिन्दू परिषद् तथा अन्य रूढ़िवादी संस्थाओं को हिन्दुओं का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था नहीं मानते। इसी तरह अपने को मुसलमानों का प्रतिनिधि मानने वाली मुस्लिम धार्मिक संस्थाएँ तथा कट्टर फंडामेण्टलिस्ट धर्माचार्य लोग क्या सही अर्थों मे मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करते हैं? यदि सचमुच में हिन्दू और मुस्लिम संस्थाएँ हिन्दुओं और मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करतीं तो उन्हें रामजन्मभूमि और बाबरी मस्जिद की चिंता मुख्य चिंता नहीं लगती। उन्हें सामान्य हिन्दुओं और मुसलमानों की रोजी-रोटी, शिक्षा-दीक्षा, बेकारी-महँगाई आदि की समस्याएँ परेशान करतीं। वे मिल-जुलकर इसके लिए जद्दोजहद करते ओर मानते कि रूढ़ धर्म, संप्रदाय और बाहरी पूजापाठ से बड़ी चीज़ है राष्ट्रीय उन्नति। और राष्ट्रीय उन्नति का एक बड़ा आधार है राष्ट्र के निवासियों का आपसी भाईचारा। सभी मिलकर मानव-मंदिर की स्थापना का प्रयत्न करते जिसमें मनुष्यता की पूजा होती। सामाजिक जीवन को समृद्धि और स्वास्थ्य प्रदान करने वाली जो सामाजिक संस्थाएँ हैं, विद्यालय हैं, कल-कारखाने हैं, कला और संस्कृति के केन्द्र हैं वे हमारे पूजा-गृह हैं। वे न हिन्दू हैं, न मुसलमान, न ईसाई। वे राष्ट्र के हैं और यहाँ के मनुष्यों के हैं। वे सबके शरीर में रक्त बनकर उतरते हैं, मस्तिष्क में मेधा का प्रकाश बनकर चमकते हैं, सबके हृदयों में संवेदना की एक लय बनकर लहराते हैं। अधिकांश हिन्दू और मुसलमान इसी मंदिर के पुजारी हैं या हो सकते हैं यदि उन्हें सही ढंग से रास्ता दिखाया जाए। लेकिन हमारे राजनेता और कठमुल्ले धार्मिक नेता यह राह दिखाने में रुचि कहाँ रखते हैं? उन्हें तो अपनी-अपनी लिट्टी सेंकने के लिए सांप्रदायिकता की आँच को बनाये रखना जरूरी लगता है। रोजी-रोटी के सवाल से जूझती सामान्य जनता के भीतर वे धर्म के अंधविश्वासों को बनाये रखना चाहते हैं ताकि जब चाहें ललकार कर उन्हें उभार दें और देखते-देखते शहर और गाँव आग में जलने लगें। उनका तो कुछ नहीं बिगड़ता, वे तो हर हाल में सुरक्षित रहते हैं किन्तु मारे जाते हैं वे लोग जिनका कोई कसूर नहीं होता। रोज-रोटी के लिए दिन-रात जूझते परिवार के परिवार बरबाद हो जाते हैं। सामान्य हिन्दुओं को नहीं पड़ी थी कि वे बाबरी मस्जिद ढहाकर राम-मन्दिर बनाने की चिंता करते। जो जहाँ है वहाँ अपने ढंग से राम की पूजा कर ही रहा है। अधिकांश लोगों को राम-मंदिर और बाबरी मस्जिद की स्थितियों के द्वन्द्व की खबर भी नहीं रही होगी। जब धर्म के मठाधीशों तथा जातीय संगठनों द्वारा इस द्वन्द्व को खूब उभारा गया तब लोगों को पता चला। धीरे-धीरे उनमें राम के नाम पर एक धार्मिक उत्तेजना जगायी गयी। दूसरी ओर मुसलमान कट्टरवादियों को लगा कि आज तक बाबरी मस्जिद का अपना कोई महत्त्व रहा हो या न रहा हो किन्तु वह उनकी धार्मिक अस्मिता का प्रतीक बन रही है, उसकी रक्षा होनी ही चाहिए। दोनों पक्षों के इतिहासकारों में बहस छिड़ गयी। एक पक्ष का कहना था कि राममंदिर तोड़कर बाबर ने मस्जिद बनायी है, दूसरा पक्ष इसका विरोध कर रहा था। उसके अनुसार मस्जिद अपनी ही जगह पर बनायी गयी है। वैचारिक द्वंद्व के साथ व्यावहारिक द्वन्द्व मूर्त हो उठा-जब रामसेवकों द्वारा बाबरी मस्जिद ढहा दी गयी।

मैं सोचता हूँ कि क्यों गड़े मुर्दे उखाड़े जा रहे हैं? इतिहास में क्या सही या क्या ग़लत हुआ है इसको लेकर परेशान होने और पूरे समाज को परेशान करने की क्या आवश्यकता है? क्या इतिहास को लौटाया जा सकता है? क्या हम सभी इतिहास में हुए अत्याचारों का बदला आज के समय से लेना चाहते हैं–उस समय से जिसमें हमारे आज के जीवन से संबंधित कितनी ही समस्याएँ हैं, कितनी ही चुनौतियाँ हैं? उनसे लड़कर ही हम एक स्वस्थ संतुलित और धर्म निरपेक्ष समाज बना सकते हैं। इस देश में अनेक धर्म हैं। सभी धर्मों को अपने को इस आज के और एक राष्ट्रीय समाज के संदर्भ में देखना है। कठमुल्ले किसी भी धर्म और संप्रदाय के हों, वे आबोहवा खराब कर रहे हैं, वे धर्म की संहिता के नाम पर अपने रुग्ण अहंकार और वर्चस्व की सुरक्षा कर रहे हैं और उसके लिए सामान्य जनता को आग में झोंकते रहते हैं। उनसे प्रश्न किया जा सकता है कौन हैं आप? हमारी ओर से आपको यह अलगाववादी बोली बोलने का अधिकार किसने दिया है? हमने तो नहीं दिया है। क्या विराट हिन्दू-मुसलमान, ईसाई जनता चन्द कठमुल्लों की रूढ़, रुग्ण और मानव-विरोधी धार्मिक सनक का शिकार बनकर रह जायेगी? साहित्य, कला-संस्कृति में होने वाले उन वैचारिक तथा सौन्दर्यबोधात्मक प्रयोगों पर क्या ये दंड का फरमान जारी करते रहेंगे जो इनकी जड़ता से कहीं टकराते नज़र आते हैं? इन्हें यह सब अधिकार किसने दिया है? कौन होते हैं ये फरमान जारी करने वाले? कौन होते हैं ये हमारी ओर से बोलने का स्वांग रचकर हमारे ही विरुद्ध बोलने वाले? ये करते क्या हैं–हल चलाते हैं? लोहा पीटते हैं? कपड़ा बुनते हैं? दीवारें उठाते हैं? सड़क बनाते हैं? बाल काटते हैं? रेलगाड़ी और बस चलाते हैं? रिक्शे खींचते हैं? कपड़े धोते हैं? बच्चों को पढ़ाते-लिखाते हैं? फटेहाली में भी साहित्य और कला की रचना करते हैं? विज्ञान के प्रयोगों में अपने को खपाकर समाज को नयी रोशनी और स्वास्थ्य देते हैं? यानी कुछ ऐसा करते हैं क्या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिसके नाते इनका खाना-पीना, ठाट-बाट सार्थक माना जा सके? दूसरों के श्रम पर जीना तो बेहयाई है और तिस पर तुर्रा यह कि ये अपने खोखले प्रवचनों में काम-धाम करने वालों को जीवन का अर्थ समझाते हैं और अर्थ समझाते-समझाते झोंक देते हैं कितनी ही जिन्दगियों को मौत के मुँह में।

सो झोंक दिया न गुजरात को मौत की लपट में। पूरा गुजरात जंगल की तरह जलने लगा। गोधरा से शुरू हुई आग पूरे गुजरात में फैलने लगी। जलने-मरने लगे मनुष्य। हाँ, मनुष्य ही तो जलते-मरते हैं। कुछ लोग हिसाब लगाते हैं कि इतने हिन्दू मरे और इतने मुसलमान लेकिन जो सच्चा मनुष्य है वह देखता है कि राष्ट्र के इतने नागरिक मरे, मानव-समूह के इतने मनुष्य मरे और छोड़ गये हैं अपने पीछे टूटा जला हुआ घर, परिवार के बचे हुए लोगों के लिए अफाट अभाव, सूनापन और जलती हुई यादें...और...आमने-सामने तने हुए मकानों की आँखों में एक भय, अविश्वास और अकेलापन। भूकंप की तबाही से लथपथ गुजरात अभी संभला भी नहीं था कि साम्प्रदायिकता की आग में उसे झोंक दिया गया। हर बार लगा जैसे उसकी लपटें मुझे छू रही हैं।

आर-38, वाणी विहार
उत्तम नगर, नई दिल्ली-110056

नरेन्द्र मोहन

बर्बर दंगों के बीच : सपने को मरने से कैसे बचाएँ

हमारे देश में सांप्रदायिक दंगों की शुरुआत कब और कैसे हुई, इस बारे में ठीक-ठीक कहना बहुत मुश्किल है। विभिन्न जातियों और धर्मों के लोगों के बीच दंगों जैसी कुछ झड़पें 18वीं, 19वीं सदी में हुईं ज़रूर लेकिन ज़्यादातर ये झड़पें धार्मिक मसलों से पैदा होने की बजाय दूसरे मुद्दों को लेकर हुईं। विभिन्न जातियों और धर्म समुदायों के बीच ज़मीन को लेकर जो झगड़े और लड़ाइयाँ (18वीं सदी में हिंदू-सिख किसानों का मुसलमान जमींदारों के खिलाफ विद्रोह) हुईं, वे 'लैंड वार्ज़' (Land Wars) हैं, इन्हें सांप्रदायिक दंगे नहीं कहा जा सकता। 1921-22 से पहले ऐसी एकाध घटना (1713 में अहमदाबाद में हुआ दंगा) का ही ब्यौरा मिलता है जो सांप्रदायिक दंगे की रंगत लिए हुए हो। उस बीच सांप्रदायिक तनाव पैदा करने की कोशिशें हिंदू-मुस्लिम कट्टरपंथियों द्वारा ज़रूर हुईं और ब्रिटिश राज्य ने भी बंगाल के विभाजन और सांप्रदायिक पंचाट (Communal Award) के ज़रिये दो संप्रदायों के बीच द्वेष और शत्रुता के बीज बोने में कोई कसर न छोड़ी तो भी दंगों की नौबत नहीं आई। दरअसल, एक निश्चित योजना के तहत दंगों को भड़काने और उन्हें एक राजनीतिक हथियार के तौर पर इस्तेमाल करने की शुरुआत 1922 के आसपास नज़र आती है। यही वह समय है जब अंग्रेज 'फूट डालो और राज करो' को शासन नीति के तौर पर अपनाते दिखते हैं। यहीं से दंगों का यह सिलसिला विभिन्न संप्रदायों को तोड़ता-मरोड़ता, उनमें गहरी खाइयाँ पैदा करता दिखता है। दंगों का यह ग्राफ राजनीतिक पेचीदगियों के साथ, उठता-गिरता, चालू समीकरणों को गड़बड़ाता, 1947 में बँटवारे के साथ विकराल, सर्वभक्षी आकार ग्रहण कर लेता है। आज़ादी के बाद दंगों की यह बर्बर विकरालता, थमने की बजाय, ज़्यादा भयंकर रूप से सामने आती है और आज भी यह सिलसिला बदस्तूर जारी है।

पाकिस्तान बन जाने के बाद यह लगा था कि स्वाधीन भारत में सांप्रदायिक दंगों के लिए कोई जगह न होगी, लेकिन हम देखते हैं कि इस बीच दंगों की राजनीति का बड़ा ही घिनौना रूप सामने आया। दंगों को राजनीतिक चक्र-कुचक्र के तौर पर कभी एक संप्रदाय दूसरे संप्रदाय के खिलाफ भड़काता रहा तो कभी एक या दूसरी पार्टी दंगों को उकसाती रही। 'दंगे करवाओ और राजनीतिक मंसूबों को पूरा करो' की धारणा कई संप्रदायों और दलों में फैलती रही और समय बीतने के साथ आज दंगे तमाम हदों को लाँघ गये हैं। दंगों को एक विचार-प्रणाली के तौर पर कभी एक संप्रदाय द्वारा दूसरे को खदेड़ने के लिए, कभी एक तो कभी दूसरी नस्ल को नेस्तनाबूद करने के लिए इस्तेमाल में लाये जाते हैं। इन वारदातों के पीछे यह विचार काम करता नज़र आ रहा है कि अगर अल्पसंख्यक वर्ग को इस देश में रहना है तो बहुसख्यक वर्ग के साथ उसे समझौता करना होगा। इसी के साथ जुड़ी है एक हलके में जोर-शोर से की जा रही मुसलमानों को सबक सिखाने की बात। मार-पीट कर बताया जा रहा है कि सर उठाकर चलोगे तो यही हाल होगा, सो भलाई इसी में है कि सर झुकाकर चलो, हिंदुस्तानी मुसलमान बनो और बहुसंख्यक हिंदुओं के वर्चस्व को स्वीकारो नहीं तो...।

पिछले दिनों गोधरा और गुजरात में दंगों का जो भयावह रूप सामने आया, मार-काट, लूटपाट, आगजनी, बलात्कार और हैवानियत के जो मंजर सामने आए, उन्हें देख/सुनकर रूह काँप उठती है। हम उन ताकतों के हाथों के खिलौने बनते जा रहे हैं जो इतिहास विरोधी ही नहीं हैं, मानवीय सरोकार को सिरे से ही खत्म करने पर तुली हैं। समझ में नहीं आता कि यह सब हिंदुस्तानी मनस् (साइकी) में कैसे, कहाँ से दाखिल हो गया? मेरा एक मित्र बसन्त कुमार परिहार अहमदाबाद से वहाँ की वारदातों के दहला देने वाले विवरण अपने पत्रों में लिखता रहा है। यह सब लिखते हुए उसे गहरी शर्मिन्दगी का एहसास भी होता रहा है। मैं भी वैसी शर्मिन्दगी महसूस करता हूँ-खुद अपने पर, अपने अस्तित्व पर और इस पर कि मैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक शर्म को ढोने के सिवा कुछ भी करने में असमर्थ क्यों होता जा रहा हूँ?

राज्य का काम है लोगों के जान-माल, उनके मानवाधिकारों की रक्षा करना, मगर जब राज्य ही दंगे करवाने में सबसे आगे हो तो इससे भयावह स्थिति और क्या होगी। जब बाड़ ही बगीचे को खा जाए तो कोई क्या करे? गुजरात में इन दिनों हुए नरसंहार से क्या राज्य प्रशासन और पुलिस को बरी किया जा सकता है? 1984 में दिल्ली और अन्य स्थानों पर जो हत्याकांड हुआ, 1992 में बाबरी मस्जिद के ध्वंस के वक्त जो वीभत्स वारदातें हुई, उनमें क्या उस वक्त की सत्तारूढ़ पार्टी का हाथ नहीं दिखता? यहाँ जब भी दंगे होते हैं तो एक रहस्यपूर्ण विदेशी हाथ की तरफ इशारा किया जाता है। गुजरात के दंगों के दौरान भी अपने को पाक-साफ़ दिखाने के लिए या अपने अपराध को छिपाने के लिए गुजरात में सत्तारूढ़ पार्टी उसी हाथ की तरफ इशारा कर रही है जबकि इस दलील के लचरपन से जागरूक जनता वाकिफ़ है।

मेरे सामने विभाजन की घटनाओं की रील चलनी शुरू हो जाती है। मुझे मंटो की कहानियाँ 'टोबा टेकसिंह', 'खोल दो' और 'ठंडा गोश्त' याद आती हैं। ये कहानियाँ बँटवारे की विसंगति पर एक तरह की राजनीतिक टिप्पणियाँ हैं। 'टोबा टेक सिंह' में बिशन सिंह नो मैंस लैण्ड पर पछाड़ खाकर गिरता है और उसका गिरना/ढहना मुझे उन दिनों महात्मा गाँधी के ढहने जैसा महसूस होता है। कुर्रतुल-एन-हैदर का उपन्यास 'आग का दरिया', इन्तज़ार हुसैन का उपन्यास 'बस्ती', भीष्म साहनी का उपन्यास 'तमस' बड़ी तल्खी से दंगों के आधार पर खड़े किये गये राजनीतिक एजेंडे को रद्द करते हैं।

मुझे याद आता है 1947 में भयंकर रक्तपात, अग्निकांड और बलात्कार की घटनाओं के बीच मैं अपनी ज़मीन से, अपने शहर से उसी तरह ख़देड़ दिया गया था जिस तरह आज मुसलमानों को अपने घरों से, अपने ही शहरों से खदेड़ा जाता देख रहा हूँ। मैं उनकी तकलीफ और यातना को समझ सकता हूँ। वे लोग, जिनमें जीने की बड़ी लालसा है, जो गले तक ज़िंदगी में डूबना चाहते हैं, उन्हें ज़िंदगी से बेदखल होते देखना मेरे लिए बड़ा दुःखदायी है। ऐसे में मुझे फैज़ अहमद फैज़ की नज़्म 'तनहाई' बार-बार याद आती है और मैं इस नज़्म से घिरा हुआ महसूस करता हूँ। नज़्म की आखिरी सतरें इन दिनों मेरा पीछा करती रही हैं–

सो गयी रास्ता तक तक के हर इक राहगुजर
अजनबी ख़ाक ने धुंधला दिये कदमों के सुराग़
गुल करो शमाएँ, बढ़ा दो मयो-मीना-ओ अयाग़
अपने बेख्वाब किवाड़ों को मुक़फ्फल कर लो
अब यहाँ कोई नहीं कोई नहीं आयेगा।

अब यहाँ कोई आएगा या नहीं, पता नहीं। सोचता हूँ इस बदतर हाल में कोई, कैसे आ सकता है? कौन होगा जो गिरती दीवारों को थामे और आग के दरिया को पार करने का मार्ग सुझाये? संकट सिर्फ उतना नहीं है जितना दिख रहा है। उससे कहीं बड़ा संकट है दृश्य के पीछे चल रहे दाँव-पेंचों और साज़िशों का। दरअसल, संकट महज़ दृश्य का नहीं है, दृश्य के सामने लगभग गूंगा हो जाने का है।

हिंदू सांप्रदायिकता/उग्रता का विरोध करने वाले उदार हिंदू और मुस्लिम सांप्रदायिकता/उग्रता का विरोध करने वाले प्रगतिशील मुसलमानों के सामने रास्ता क्या है? दोनों ही तरह के कठमुल्लापन का सामना करने के लिए हमारे पास क्या विकल्प बचे हैं? ऐसे में जब भाषा और संस्कृति के मोर्चे खस्ता हालत में पड़े हों, इन प्रश्नों के उत्तर आसान नहीं हैं। इन मोर्चों को संभाले बिना, कोई चाहे कितनी लफ़्फ़ाजी कर ले, इन समस्याओं का हल नहीं है। केवल बौद्धिक चमक-दमक और लुभावने तर्कजाल से इस समस्या को निपटाया नहीं जा सकता। उन लेखकों-बुद्धिजीवियों से क्या उम्मीद की जा सकती है जो आज एक पलड़े में तो कल दूसरे पलड़े में पड़े होते हैं, जो राजनेताओं से लाभ कमाने की गरज़ से उनके पिछलग्गू बने घूमते हैं और इस या उस दल के भोंपू बनने में देर नहीं लगाते।

राजनीति के दबाव में, उसके द्वारा फैलाई गयी सोच-पद्धतियों को झेलते-झेलते, उन पर बहसें करते-करते संवेदनशील आम आदमी और लेखक भी, अपने नेक इरादों के बावजूद, राजनीति का शिकार हो चुके हैं। अपने को बरक़रार रखने के लिए राजनीति जिन विमर्शों का इस्तेमाल कर रही है, उन्हें ही लिए-लिए लेखक घूम रहे हैं। स्त्री और दलित चेतना के उभार से किसे इन्कार हो सकता है पर उन्हें चुनावी मुद्दों की तरह से लेना 'पॉलिटिकल करेक्ट' की लपेट में आना है। हिंसा और दंगे भी उसी चुनावी रणनीति के तौर पर तेजी से उभर रहे हैं। हमारी आँखों के सामने आज जो हो रहा है, क्या यह हत्याओं और लाशों की राजनीति नहीं है, क्या यह हत्याओं और लाशों को वोटों में बदलने की राजनीति नहीं है?

मूल्य और इन्सानियत जैसे मुद्दे, जिन पर लेखक फ़ख्र करता रहा, आज राज्य द्वारा निर्धारित किये जाने लगे हैं और उसके द्वारा परिचालित मुद्दों के हिस्से बनते जा रहे हैं। हर कोई बिक रहा है और कबीर की तरह लुकाठी लिए कोई खड़ा नहीं है। मुझे पंजाबी कवि पाश की ये पंक्तियाँ याद आती हैं–

सब से ख़तरनाक होता है
मुरदा शान्ति से भर जाना
न होना तड़प का
सब सहन कर जाना
सबसे ख़तरनाक होता है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारे सपनों का मर जाना

आप ही बताइए, आज के इस हिंसक, आततायी और आतंककारी माहौल में हम अपनी बहुजातीय, बहुभाषी, बहुधर्मी सामाजिक संरचना और बहुल सांस्कृतिकता के सपने को मरने से कैसे बचाएँ?

239-डी, एम.आई.जी.फ्लैट्स
राजौरी गार्डन, नई दिल्ली-110027

शैलेश जैदी

पुनरुत्थानवादी मानसिकता ने क्षति पहुँचाई है

मेरी दृष्टि में कोई भी मानसिकता एक दिन में नहीं बनती। ब्राह्मणवादी मनोवृत्तियाँ जिनके केन्द्र में शुद्धतावादी दृष्टि कार्यरत रहती है, जब भी सशक्त हुई है, देश को इन्हीं स्थितियों से गुज़रना पड़ा है। ठीक यही स्थिति मूलवादी मुल्लातंत्र की है। उसका इतिहास भी पर्यापत दाग़दार है। दोनों ही मनोवृत्तियाँ वर्चस्ववादी हैं और दूसरे धर्मों को तुच्छ दृष्टि से देखती हैं। नरसंहार इनके लिए शर्म का विषय न होकर आनन्द की वस्तु है। इनकी अपनी परिभाषाएँ और यह परिभाषाएँ प्रेममूलक न होकर घृणामूलक हैं। यह स्वधर्मावलम्बियों से इतर सभी को अपने धर्म का शत्रु समझते हैं और शत्रुओं का संहार इनकी दृष्टि में पुण्य का कार्य है। इनका तैयार किया हुआ जन समूह घृणा से शक्ति अर्जित करता है और विधर्मियों के नरसंहार से ऊर्जा प्राप्त करता है।

जो लोग सच्चे अर्थों में धार्मिक हैं, करुणा, भ्रातृत्व, अहिंसा और सहनशीलता जैसे गुणों से आज भी उनका गहरा लगाव है। किन्तु आज धर्म आस्था की परिधियों से निकलकर व्यापार की परिधियों में प्रवेश कर चुका है। मुल्लाओं और पुरोहितों के लिए धर्म सिरे से आस्था की वस्तु है ही नहीं। आस्थाओं के व्यापार की वस्तु है। इसीलिए आज अधिकतर लोग धर्म का इस्तेमाल तमग़े के रूप में कर रहे हैं।

विभिन्न समुदायों के बीच संवादहीनता की स्थिति सदैव विस्फोटक साबित हुई है। इस स्थिति में घृणा का प्रचार आसन्न हो जाता है। अल्पसंख्यक वर्ग के लोग यदि कम से कम दो बहुसंख्यक वर्ग के मित्र बना सकें और बहुसंख्यक वग्र के लोग यदि कम-से-कम एक अल्पसंख्यक वर्ग का मित्र बना सकें और मैत्री ड्रांइग रूम तक सीमित न हो, तो निश्चय ही बदलाव की संभावनाएँ बन सकती हैं।

विगत ५५ वर्षों में जो भी सरकारें बनीं उन्होंने धर्म निरपेक्षता को केवल संवैधानिक अलंकरण की वस्तु समझा। कुछ अपवादों को छोड़कर सत्ता में आने वाले अधिकतर लोग पुनरुत्थानवादी मानसिकता की उपज थे। इस मानसिकता से जितनी क्षति दलित वर्ग और मुस्लिम वर्ग को पहुँची अन्य अल्पसंख्यक समुदायों को नहीं पहुँची। व्यापार करना इनके बस की बात नहीं थी। शिक्षा की इनकी विशेष पृष्ठभूमि नहीं थी। मिलिट्री, पुलिस और प्रशासनिक नौकरियों से यह धीरे-धीरे दूर होते गये और इनमें एक प्रतिक्रियावादी संकीर्ण दृष्टि को बढ़ावा मिला।

आत्ममंथन केवल आदर्श स्थितियों में ही संभव है और यह आदर्श स्थितियाँ समुदायों के बनाने से नहीं बन सकतीं। यह कार्य केवल सरकार कर सकती हैं और वह भी उस समय जब उसकी नीयत साफ हो। दिखाने के लिए तो इस देश में काग़ज़ पर बहुत कुछ किया जाता रहा है।

धर्म, पंथ अथवा मज़हब के आदेश किसी भी देश के कानून से ऊपर कभी नहीं हो सकते। देश के संविधान को चुनौती देना देश के साथ बग़ावत है जिसे दरिद्र राजनेता कुछ वोटों के मोह में बर्दाश्त कर लेते हैं।

इस देश के बुद्धिजीवी और संस्कृतिकर्मी बड़ी संख्या में बाज़ारवाद का शिकार हो चुके हैं। मैं उनके प्रति बहुत आशावान नहीं हूँ।

डिग्गी रोड, सिविल लाइन्स, अलीगढ़

प्रताप सहगल

दंगे नहीं, नर-संहार है यह

आपने गुजरात के संदर्भ में सांप्रदायिक दंगों के प्रश्न को उठाया है। वस्तुतः मेरा यहीं पर मतभेद है। हमें साम्प्रदायिक दंगों एवं नर-संहार में फ़र्क करना चाहिए। क्या आप 1984 में हुए सिखों के नर-संहार को साम्प्रदायिक दंगों की संज्ञा देंगे? क्या आप 1919 में जलियाँवाला बाग में हुए नर-संहार को दंगा कहेंगे? क्या आप नाज़ियों द्वारा यहूदियों के सुनियोजित नर-संहार को नस्ली दंगा कहेंगे? दंगे होते हैं, करवाए भी जाते हैं। दंगों की पीछे की मानसिकता साम्प्रदायिक हो सकती है। प्रायः साम्प्रदायिक, नस्लवादी या रंग-भेद की सोच के चलते दंगे होते हैं और उसमें प्रहार-प्रतिप्रहार चलता है। एक वर्ग के लोग मारे जाते हैं तो दूसरे वर्ग के लोगों के भी जान-माल का नुक़सान होता है, लेकिन जब सुनियोजित तरीके से एक धर्म, नस्ल या रंग आधारित एक खास वर्ग की हत्याएँ की जाती हैं और उन हत्याओं में राज्य की भी प्रत्यक्ष/अप्रत्यक्ष भूमिका रहती हो, तो उसे दंगा कैसे मान लिया जाए? नर-संहार के पीछे साफ तौर पर राजनीतिक और धार्मिक कारण नज़र आते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह सच है कि स्वतंत्र भारत के इतिहास में और उससे पूर्व भी साम्प्रदायिक दंगे होते रहे हैं। पहले तो हम इन दंगों के लिए अंग्रेज़ी हुकूमत को दोष देकर यह मान लेते थे कि हिन्दू एवं मुस्लिम लोग तो एक-दूसरे के साथ प्रेम-भाव से रहना चाहते हैं, लेकिन उन्हें रहने नहीं दिया जाता। अंग्रेजों का हित इसी में था कि हिन्दू-मुस्लिम आपस में लड़ते रहें। इन दोनों सम्प्रदायों की लड़ाई के पीछे ऐतिहासिक कारण हैं। लेकिन हिन्दुओं और सिखों के बीच आई दरारों के तो कोई धार्मिक-ऐतिहासिक कारण दिखते नहीं। यहाँ तो शुद्ध रूप से राजनीति काम कर रही थी, जिसे सिख कौम की अलग पहचान, सिख कौम की इन्फ्लेटिड ईगो, सिखों की भारतीय राष्ट्र में कमतर भागीदारी आदि-आदि कई तरह के जुमलों से नवाज़ा गया, जबकि इन सब जुमलों और फतवों के पीछे मूलतः सत्ता की राजनीति ही काम कर रही थी।

इस प्रश्न पर इस तरह से भी विचार किया जा सकता है कि मनुष्य मूलतः हिंसक है और हिंसा की अभिव्यक्ति के तरीके बदलते रहते हैं। वैचारिक एवं सामाजिक विकास ने ही उसके सामने मिलकर रहने और चलने की चुनौतियाँ रखीं। मनुष्य की चेतना दोधारी है। वह हिंसक भी है और प्रेम भी करना चाहता है। प्रेम में हिंसा और हिंसा में प्रेम उसे एक 'ऐंबिवेलेंट एण्टिटी' के रूप में स्थापित करता है। उसमें निहित नैसर्गिक हिंसा और आत्म-रक्षण तथा आत्म-संरक्षण का भाव उसे संस्कृति, साहित्य एवं कलाओं की ओर ले जाता है। जब संस्कृति, साहित्य एवं कलाओं के आधार को खिसकाकर केवल धार्मिक (इसे साम्प्रदायिक पढ़ें) आधारों पर मानवीय प्रश्नों को तय करने की कोशिश की जाती है तो तनाव पैदा होते हैं, जो अन्ततः मनुष्य को दंगों की ओर ले जा सकते हैं।

आम आदमी की चिंताएँ क्या हैं? रोटी, कपड़ा और मकान। इससे आगे बढ़े तो सन्तति। इससे आगे सामाजिक पहचान और फिर इस लोक से बेहतर किसी दूसरे लोक में जाने की आकांक्षा। जहाँ आनंद ही आनंद हो, मुक्ति हो। यही सपने तो बेचते हैं धर्माचार्य और इन्हीं के लिए वे मठ बनाते हैं, समूह तैयार करते हैं। यहीं पर अपने-अपने बनाए सिद्धांतों की लड़ाई, जिसके मूल में कहीं खुद को सुरक्षित बनाए रखने के ही संकल्प होते हैं, होती है। यहीं पर उस आदमी को इस्तेमाल किया जाता है, जो जन्नत या स्वर्ग प्राप्त करने के मोह में अपनी जमात से अलग व्यक्ति का गला तक काटने को तैयार हो जाता है। यह भी सच है कि विभिन्न संप्रदायों के बीच संवादहीनता की स्थिति बनी हुई है। संवाद की जगह तनी हुई मुट्ठियाँ हैं। अपने-अपने विश्वासों और मतों को सर्वश्रेष्ठ साबित करने की ज़िद है, जो अंततः किसी न किसी रास्ते से फ़सादों तक ले जाती है। संवाद होना जरूरी है। उसमें आलोचनाएँ भी हों तो क्या? होनी चाहिए। आलोचना धीरे-धीरे आत्मालोचन की ओर ले जाती है। इसके लिए खुला मन रखना ज़रूरी है। दुर्भाग्य से खुला मन रखने और खुला संवाद करने की परंपरा नहीं है। भारतीय समाज में तो बहुत कम है। कहते सब हैं, कहते हैं तो दूसरे की सिर्फ निन्दा, और सुनना चाहते हैं, तो केवल अपनी प्रशंसा। इससे कहीं भी संवाद चल नहीं सकता। इसलिए इस राय का कोई प्रतिपक्ष नहीं है कि संवाद होना चाहिए।

सत्य है कि सभी नागरिकों के जीवन एवं उनकी सम्पत्ति को सुरक्षा प्रदान करना किसी भी सरकार का संवैधानिक दायित्व है। इस दायित्व का निर्वाह कई सरकारों ने किया भी है, लेकिन 1980 के बाद स्थितियाँ बदलीं और केन्द्र तथा कई राज्य सरकारों ने भी इस दायित्व का निर्वाह पूरी तरह से नहीं किया है। गुजरात की नरेन्द्र मोदी सरकार इस दायित्व का निर्वाह न करने वाली अब तक की अन्तिम सरकार है। लोग आपस में नहीं लड़ते, ऐसा तो कहीं भी होता नहीं, लेकिन किसी लड़ाई में सरकार की या राज्य की भूमिका पक्षपातपूर्ण हो, बल्कि किसी एक समुदाय की विरोधी हो तो ऐसी राज्य सरकार को सत्ता में बने रहने का न कोई हक है, न औचित्य। पर वस्तुस्थिति इसके विपरीत रही है, और अभी भी है।

किसी भी सभ्य समाज में कानून का राज्य सर्वोपरि होता है, होना भी चाहिए, लेकिन प्रश्न यह है कि कानून बनाने वाले स्रोत कहाँ से जुटाते हैं। स्रोत आते हैं धर्मग्रंथों से। स्रोत आते हैं वेदों से, उपनिषदों से, नीतिपरक शास्त्रों से, कुरान से, बाइबल से। तब पैदा होती है समस्या कि कानूनों को समय के साथ-साथ कैसे बदला जाए? विभिन्न समुदायों के लिए अलग-अलग कानून हों या सभी के लिए कानून एक समान होने चाहिए? यहाँ कानूनविदों को यह सोचना होगा कि वे अब हिन्दू शास्त्रों और मुस्लिम या ईसाई धार्मिक ग्रन्थों से हटकर ऐसे कानून बना सकें, जिन्हें सभी भारतीय नागरिकों पर एक समान लागू किया जा सके। कानून की राह में जब तक धार्मिक एवं साम्प्रदायिक विश्वास आते रहेंगे, तब तक यह समस्या बनी रहेगी। कानून को धार्मिक आधारों की बजाय मानवीय आधार प्रदान करने होंगे, लेकिन जब तक जो कानून है, उसे मान्यता तो मिलनी ही चाहिए।

जहाँ तक बुद्धिजीवियों, लेखकों एव संस्कृतिकर्मियों की भागीदारी या उनकी सार्थक भूमिका का प्रश्न है तो वे अपने-अपने तरीके से यह भूमिका निभाते रहते हैं, अभी भी निभा रहे हैं। बोलकर, लिखकर, संवाद स्थापित करके, प्रदर्शन करके, और वे उन सभी शक्तियों के खिलाफ बोल रहे हैं जो साम्प्रदायिक आधार पर भारतीय समाज को बाँटती हैं। यह सच है कि कला एवं साहित्य का प्रभाव देर से होता है, पर जब भी हो, होता तो है। सामान्यतः लेखक, कलाकार आदि एकान्त-प्रिय होते हैं। एकान्त उन्हें विचार देता है, लेकिन संघर्ष की शक्ति तो जन से ही प्राप्त होती है। और फिर जब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेखकों-कलाकारों को भी अपनी बात रखने के लिए सड़क पर उतरना पड़े तो समझ लीजिए कि ऐसी सरकार के दिन गिने-चुने हैं।

एफ-101, राजौरी गार्डेन, नई दिल्ली-110027

चाँद खाँ रहमानी

दंगों का कारण धर्म नहीं सत्ता और राजनीति है

किसी भी स्वतन्त्र देश के इतिहास में गुजरात जैसा कांड देखने को नहीं मिलता जहाँ किसी भी राज्य की सरकार ने प्रायोजित तरीके से अल्पसंख्यक समुदाय की इतने बड़े पैमाने पर हत्याएँ की हों। उनकी बहन-बेटियों को जलील किया गया हो और उन्हें आग में जिन्दा जला दिया गया हो। इस इकतरफा हत्याकांड को साम्प्रदायिक दंगों का नाम दिया गया जबकि दंगा हमेशा दुतरफा होता है। गुजरात के इस भीषण हत्याकांड ने यह सवाल खड़ा कर दिया है कि आखिर इस देश में साम्प्रदायिक दंगे क्यों होते हैं? हाँलाकि यह दंगा पहला नहीं है, देश-विभाजन से लेकर अब तक दंगे होते चले आ रहे हैं। हाँ, राज्य सरकार द्वारा प्रायोजित हत्याकांड जरूर पहली बार हुआ है। सवाल यह है कि आखिर दंगों का कारण क्या धर्म है?

हिन्दू धर्म 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की बुनियाद पर खड़ा है और उसकी सहिष्णुता, अहिंसा और मानव-सेवा जगजाहिर है तो दूसरी ओर कुरान कहता है, "दूसरे के उपास्यों को बुरा न कहो, (सूरत 6 आयत 108), 'तुम्हारे लिए तुम्हारा दीन मेरे लिए मेरा दीन (सूरत 189 आयत 6) "नाहक खून न बहाओ और लोगों को घर से बाहर न करो" (सूरत 2 आयत 84)। यानी कोई भी धर्म घृणा, कटुता और वैमनस्य की बात नहीं करता है। जब हर धर्म भाईचारे, प्रेम, सदाचार, करुणा, सहनशीलता और मानव-सेवा की बात करता है तो फिर धर्म और जाति के नाम पर दंगे क्यों? जब दंगों की आग भड़कती है तो एक जनसमूह दूसरे जनसमूह के खून का प्यासा बन जाता है। उस समय हम धार्मिक उपदेशों को क्यों भूल जाते हैं? ऐसी कौन-सी शक्तियाँ हैं जो हमारी धार्मिक पुस्तकों की आचार संहिता और उसकी वर्जनाओं को भी दरकिनार करने पर विवश कर देती हैं? क्या किसी समुदाय को यह अधिकार है कि दूसरे समुदाय के लोगों की आस्थाओं को ठुकराये और अपनी आस्थाएँ उस थोपे। क्या धर्म और आस्था के नाम पर देश या संविधान को चुनौती दी जानी चाहिए? आज सबसे बड़ा सवाल है कि देश बड़ा है या धर्म? ऐसे बहुत-से सवाल हैं जिसका जवाब आज का हर जागरुक नागरिक जानना चाहता है।

ऐसे तमाम ज्वलन्त प्रश्नों के उत्तर पाने के लिए हमें दंगों के मूल में जाना होगा। स्वतन्त्रता के पश्चात् जो कुछ समय तक दंगे हुए उन दंगों के मूल में थोड़ा कारण धार्मिक था लेकिन उसके बाद जो दंगे हुए और आज तक हो रहे हैं वे पूरी तरह राजनीति की धुरी पर घूमते दिखायी दिये। सत्ता-प्राप्ति और राजनीतिक वर्चस्व कायम रखने के लिए जातीय दंगे सबसे ज्यादा उपयुक्त माने गये क्योंकि इससे वोटों का ध्रुवीकरण आसानी से भावुकता के स्तर पर हो जाता है। यानी साम्प्रदायिक दंगों का सबसे बड़ा कारण सत्ता-प्राप्ति और ओछी राजनीति है। इसमें धर्म कहीं आड़े नहीं आता। यह कहना सरासर ग़लत है कि हिन्दू-मुसलमान आपस में लड़ते हैं। सच्चाई यह है कि नेताओं की तमाम चालबाजियों के बाद भी हिन्दू-मुसलमानों में अगाध प्रेम है। वे एक दूसरे के पूरक हैं। जन्म से लेकर मरण तक वे एक दूसरे के साथी हैं। फिर क्या कारण है कि हम राजनेताओं के बहकावे में आकर दंगों की होली जलाने लगते हैं।

दंगों का एक अहम कारण नेता, सत्ता और राजनीति तो है ही लेकिन इसका दूसरा प्रमुख कारण है बेरोजगारी। देश का नौजवान बेरोजगार और बेकार घूम रहा है। वह कुंठित है। उसकी कुंठा लगातार बढ़ रही है मगर उस कुंठा का इज़हार कैसे करे? बेरोजगारी और कुंठा का इससे पता चलता है कि जहाँ सिर्फ मुसलमान हैं वहाँ वह कुंठा शिया-सुन्नी के झगड़े के रूप में देखने को मिलती है। जहाँ सिर्फ हिन्दू हैं वहाँ यह कुंठा सवर्ण और दलित/पिछड़ों के दंगों के रूप में देखने को मिलती है। यानी बेरोजगार युवा अपनी कुंठा को दंगों में वहशी रूप में पेश करता है। लूटमार करता है, बलात्कार करता है और दूसरों का खून भी बहाता है। आज देश के युवा के पास काम के अभाव में समय की कोई कमी नहीं है इसलिए जब भी कोई नेता/राजनैतिक दल रैली या धार्मिक जुलूस अथवा मंदिर-मस्जिद के नाम पर भीड़ इकट्ठी करना चाहते हैं तो ये बेरोजगार युवा उन्हें पहले दिखाई पड़ता है। उस युवा का धर्म से कोई लेना-देना नहीं, उसे मंदिर-मस्जिद से भी कोई सरोकार नहीं। उसे तो कुछ समय बिताने या फिर इसके सहारे वर्जनाओं को तोड़ने का अवसर मिल जाता है।

कार्ल मार्क्स ने हमेशा धर्म का विरोध किया। वह इसे अवनति का कारण मानता था। वह धर्म को अफीम के नशे की तरह मानता था। उसका कहना था कि यदि किसी भी देश की जनता को धर्म की अफीम खिला दी जाए तो उस पर शासन करना आसान हो जाता है। भाजपा ने भी धर्म को अफीम के रूप में पेश किया है। इस साम्प्रदायिक पार्टी ने लोगों में ऐसा धार्मिक उन्माद भरा कि वह इसके सहारे शीर्ष सत्ता तक जा पहुँची। भाजपा को मालूम है कि जब लोगों में धार्मिक उन्माद भर दिया जाता है तो फिर उसे भड़काने के लिए किसी परिश्रम की आवश्यकता नहीं पड़ती। उसे सिर्फ एक चिंगारी दिखाने की आवश्यकता है और यह चिंगारी फिर दंगों का ज्वालामुखी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बन जाती है। मनुष्य विवेकहीन हो जाता है और वह दूसरे धर्म को नीचा और शत्रु मानने लग जाता है। यह सब उसी उन्माद का कारण है। इसका एक प्रमाण हमारे सामने है। जब रथयात्रा के जरिये आडवाणी ने धार्मिक उन्माद पैदा किया तो जो कथित राम-सेवक थे यानी उस बेरोजगार और कुंठित युवा ने मस्जिद ढहाने में कोई देरी नहीं की। यानी जब से भाजपा ने राम मंदिर का दामन थामा है वह लगातार राजनैतिक सीढ़ियाँ चढ़ती गयी। धार्मिक उन्माद फैलाने, साम्प्रदायिक दंगा कराने से सर्वाधिक लाभ भाजपा को होता मगर कैसे? चूँकि उसके पास जनहित में कोई एजेन्डा नहीं है और वह सत्ता का सुख भी भोगना चाहती है इसके लिए उसे वोटों की आवश्यकता है। उसे मालूम है देश का बहुसंख्यक हिन्दू उसकी नीतियों को पसन्द नहीं करता इसलिए दलितों, पिछड़ों, अगड़ों तथा सवर्णों को एक करना बहुत टेढ़ी खीर है और जब तक यह वोट एक जगह नहीं आते तब तक वह सत्ता तक पहुँचने की सोच भी नहीं सकती। अब सब हिन्दुओं को इकट्ठा करने का एकमात्र तरीका है मुसलमानों के साथ दंगा कराना। दंगा होते ही वोटों का ध्रुवीकरण होना तय है। यानी भाजपा को हिन्दुओं के कल्याण से कोई लेना-देना नहीं, सिर्फ सत्ता का सुख भोगने के लिए उसे हिन्दू कार्ड की याद आ जाती है और इस तरह साम्प्रदायिक दंगा शुरू हो जाता है। ऐसे में कुंठाग्रस्त बेरोजगार उसका सहारा बन जाता है।

देश का बहुसंख्यक वर्ग भाजपा और उसके कथित हिन्दुत्व के सख्त खिलाफ है इसका प्रमाण 1992 में मस्जिद शहीद किये जाने के समय और अब गुजरात दंगों में देखने को मिला। जब मस्जिद शहीद की गयी थी तब हिन्दू ही सबसे पहले आगे आये थे और आज जब गुजरात को जलाया जा रहा है तब भी हिन्दू आगे हैं। वे हर तरह से अल्पसंख्यकों की मदद कर रहे हैं और साम्प्रदायिक पार्टी भाजपा से संघर्ष कर रहे हैं। अल्पसंख्यकों को न्याय दिलाने के लिए यही हिन्दू सबसे आगे खड़ा दिखायी दे रहा है।

यह तय है कि जो लोग दंगा कराते हैं उनका देशहित से कोई लेना-देना नहीं है। जो भाजपा आडम्बर रचती थी, पाखण्ड करती थी उसने गुजरात में सिर्फ चुनाव जीतने के लिए प्रदेश को पचास साल पीछे धकेल दिया। नैतिकता की बात करने वाली भाजपा का मुख्यमंत्री अभी भी डटा हुआ है। ऐसा ही एक बार 1984 में कांग्रेस के शासन में भी हो चुका है जब देश-भर में निर्दोष सिखों की हत्याएँ की गयीं। देश भर में धार्मिक जुनून इस कदर फैला कि कांग्रेस प्रचण्ड बहुमत से जीती थी। ऐसा ही सपना भाजपा का भी है।

अब सवाल यह उठता है कि इन स्वार्थी नेताओं से, जो कहते नहीं थकते कि महिलाओं और बच्चियों के साथ बलात्कार होना कोई नयी बात नहीं है और दंगों से कैसे बचा जाए? पूरे देश को एक स्वर से कहना होगा कि हमें मंदिर-मस्जिद की आवश्यकता नहीं है। हमें शिक्षा और रोजगार चाहिए। इसी से देश की तरक्की निश्चित है। हमें किसी मुल्ला, पंडित या नेता के बहकावे से हर हालत में दूर रहने का साहस करना होगा जो कथित रूप में हमारी और हमारे धर्म की रक्षा के लिए जंग कर रहे हैं।

दंगे रोकने के लिए सरकार को भी अपनी इच्छाशक्ति और मजबूत करनी होगी। दंगे रोकने के लिए सबसे उपयुक्त सुझाव यह है कि दंगों के दौरान वीडियोग्राफी होनी चाहिए और जो लोग उस फिल्म में दंगे करते दिखाई दें उनके खिलाफ अलग से एफ.आई. आर. दर्ज़ कराने की औपचारिकता न निभाई जाए। उस वीडियो फिल्म को ही साक्ष्य मानकर तुरन्त दंड देने की व्यवस्था की जाए। इस बात का इन्तज़ार न किया जाए कि भुक्तभोगी या पीड़ित व्यक्ति रिपोर्ट दर्ज़ कराए। या फिर वह सबूत या गवाह ढूँढे। अब जबकि टीवी चैनल दंगों को लाइव दिखा सकते हैं तो सरकार वीडियो वैन माध्यम से दंगाइयों के चेहरे क्यों नहीं कैद कर सकती। दूसरा यह कि दंगाइयों को सजा देने के लिए आम अदालत नहीं, विशेष अदालत के द्वारा तुरन्त दंड मिलना चाहिए। पाँच लोगों को दंड मिलना पाँच हजार लोगों का दंगों में जाने से रोकेगा।

9/60, खिचड़ी पुर, दिल्ली-110091

शामा

दंगों के संदर्भ में इकहरी सोच ठीक नहीं है

गुजरात के दंगों पर उत्तेजना प्रकट करते हुए एक मिनस्टिर जेब में रेज़ीगनेशन डाले घूमते-फिरते बार-बार टी.वी. पर आए। यह रेज़ीगनेशन कहाँ था जब उन्हीं के कश्मीर से हजारों ट्रक कश्मीरियों के भर-भरकर उन्हें शरणार्थी कैम्पों में पटक दिया गया, औरतें उठा ली गईं और बेटों की लाशों के टुकड़े बोरियों में भर-भरकर माँ-बाप को भेज दिए गए। भरे-पूरे घर लूट लिए गये और उनको उनके देश से देश निकाला दे दिया गया? हज़ारों ट्रक उस एक ही रात में कैसे पूरी वादी के गाँव-गाँव में पहुँच गये? किसने भेजे यह ट्रक और किसने रचा यह षड़यन्त्र? तब किसी की जेब से त्यागपत्र नहीं निकला। मीडिया सोया रहा। केन्द्र सरकार ने शरणार्थियों पर आवाज़ उठाने के एवज लाठियाँ बरसाईं, जिसमें डाक्टर, इंजीनियर, साहित्यकार सभी शामिल थे। क्या बाध्यता है या थी राजनीतिक दलों की कि कश्मीरी हिन्दुओं की त्रासदी पर तेरह सालों से उनकी ज़बानें नहीं खुलीं। गुजरात को इतना महत्त्व क्यों और कश्मीर में लुटने वालों के प्रति इतनी तटस्थता क्यों? ऐसी बेबस सरकारें ही दंगों की जड़ों को खाद और पानी देती हैं। उस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घृणास्पद षड़यन्त्र को क्यों पूरी दुनिया के सामने नहीं उघाड़ा गया? कश्मीरी शरणार्थियों का बेघर, बेहाल अस्तित्व आज भी एक कर्ण भेदी चीख-सा पूरे भारत के वजूद पर लटका हुआ है।

सत्ताएँ और समृद्धियाँ उन लोगों के हाथ लग गई हैं जिनमें मानवीय मूल्यों के प्रति कोई सरोकार नहीं है। हिंसा, आतंक, आगज़नी और अविश्वास के इस आलम में स्वहित के लिए दंगे होना कोई अकल्पनीय बात नहीं। जिस रफ़्तार से मदरसे कश्मीर में पनपे थे उससे ज़्यादा तेज रफ़्तार से आज दिल्ली में और दिल्ली के सीमावर्ती राज्यों में पनप रहे हैं। अगर यह बात एक आम नागरिक को पता है तो ज़ाहिर है कि देश के आला अफ़सरों और महकमों में भी इस बात की जानकारी है। वे इसका कोई इलाज तो कर ही रहे होंगे।

आदर्श हो सकने वाले नेता या शासन-प्रणालियाँ दोनों ही नहीं है इसीलिए विकास के तार्किक आधार भी नहीं हैं। यथार्थ अनुभवों के उच्छ्वास जीवन का ठोस सत्य तो उजागर करते हैं परन्तु कोई राह नहीं सुझाते। दंगों की अनैतिकता एवं अमानवीयता का विरोध समग्र जागृति द्वारा ही संभव है। स्वार्थी खेमों में पलने वाले खलनायक विद्यार्थी और युवा वर्ग के लोगों के साथ एक जुड़ाव पैदा करते हैं, मानसिक और भावनात्मक भाईचारा रखने का औचित्य निभाते हैं। फिर स्वयं सुरक्षित ढालों के पीछे खड़े हो इस युवा पीढ़ी को भिड़ाते हैं। युवा पीढ़ी में तो कार्य-सम्पादन की अद्भुत क्षमता होती ही है अतः उच्छृंखलता भी वे सर्वगुणसम्पन्न हो निभाते हैं। सामाजिक और धार्मिक फूट डलवाकर ये आक्रामक शक्तियाँ अपना उल्लू सीधा करती हैं। यह मारकाट, खून-खराबा और बाह्य टकराव सब इन्हीं की शह से होता है। आम आदमी इतना सीधा और राजनैतिक हथकंडों से बेखबर है कि वह स्वयं इस अराजकता का शिकार हो जाता है।

बढ़ते हुए दंगों के इस वर्तमान परिदृश्य में लेखक उचित दूरी बनाये हुए हैं। क्यों? क्या वे स्वयं को सद्भावना दूत से कुछ कम समझते हैं? लेखक का तो यह धर्म है कि आहत हुए लोगों को अपनी कलम से मरहम लगाए, राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न करे। वह देश के प्रति हितकर भी है।

बी-113, चितरंजन पार्क, नयी दिल्ली-110019

मकसूद हो दुश्मन को गर मिट्टी में मिलाना,
तो उसको उसके दीन का पाबन्द बना दो।

संचेतना

आगामी अंक का मुद्दा

संवादहीनता कैसे टूटेगी?

संचेतना के आगामी अंक में 'दंगे क्यों भड़कते हैं?' की चर्चा को आगे बढ़ाते हुए हम इस देश की सामाजिक बनावट की कुछ परख करना चाहते हैं? हमारी मान्यता है कि इस देश में समरस और सहिष्णु समाज उभरने में सबसे बड़ी बाधा समाज के विभिन्न वर्गों में व्याप्त व्यापक संवादहीनता है। इस स्थिति में कुछ प्रश्न उभरते हैं–

- हम एक समरस और स्वस्थ-सहिष्णु समाज उभारने में क्यों सफल नहीं हुए हैं?
- इस देश में अस्पृश्य समझा जाने वाला वर्ग सवर्ण-संभ्रान्त समाज की उपेक्षा का सदियों से शिकार रहा है। उसे गाँवों-बस्तियों से बाहर बसाया गया है और उसे कभी संवाद-योग्य नहीं माना गया। क्या उनमें निरन्तर पनपे आक्रोश का कारण यह नहीं है?
- इस देश का अल्पसंख्यक धार्मिक समुदाय, विशेष रूप से मुस्लिम समुदाय, व्यापक बहुसंख्यक समाज से क्यों घुल-मिल नहीं पाता है? क्या उसमें असुरक्षा की भावना है? क्या विश्व इस्लामी अवधारणा उसे अलगाव की भावना में घेरे रहती है?
- क्या बहुसंख्यक हिन्दू समाज मुसलमानों के प्रति अपनी बद्धमूल अवधारणा से मुक्त नहीं हो पा रहा है? क्या चीज़ है जो उसे इस समुदाय से खुला संवाद स्थापित करने से रोकती है?
- क्या अभी भी ये दोनों महत्त्वपूर्ण समुदाय पिछली सदियों की 'लीगेसी' को अपने कंधों पर ढो रहे हैं और उसी रोशनी में अपनी मानसिकता की रचना करते हैं?
- इस देश के विभिन्न समुदायों में सार्थक संवादशीलता कैसे उभर सकती है? इसमें संस्कृतिकर्मी अपना क्या योगदान दे सकते हैं?

आपके सुचिंतित विचार यदि हमें आगामी दस दिनों में मिल जाएँ तो संचेतना को समय से प्रकाशित करने में हमें बड़ी सुविधा होगी।

–संपादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डा. उमाकांत

सहजता में विपर्यय के रचनाकार हरदर्शन सहगल

आज जब साहित्य प्रचार के लिए मोहताज है या यों कहा जाए कि वाणी सूचना-तन्त्र की नाद पर थिरकती है और इस थिरकन में सारी संवेदनाओं की ताल टूट गयी है, मूल्यों की टूटन ही 'मिथ्या जगत' के मंच पर बेताल और लयहीन ढंग से बिखरती नजर आती है, ऐसे में कहानी ने मानवीय संवेदनाओं को झकझोरने का दायित्व बखूबी निभाया है। वर्तमान समय जीवन की वास्तविकताओं से टकराने और उसमें से गुजर जाने का है। हर पल एवं हर संदर्भ में कहानी बनते जीवन को व्यक्त करने की ताकत 'कहानी' में है। समकालीन हिन्दी कहानी के सशक्त हस्ताक्षर हरदर्शन सहगल की कहानियाँ इसे पूर्णतः सिद्ध करती हैं। उनकी रचनाएँ आदमी बने रहने की जद्दोजहद का रूपान्तरण हैं।

हरदर्शन सहगल की कहानियाँ हमें अपने समय की स्थितियों, जिनसे हम पहले से परिचित हैं, को अपनी तरह से पुनःसृजित करके दिखाती हैं। यह देखना सहजता के ठहरे हुए जल को कम्पायमान कर लहरें उत्पन्न करता है। लहरों के छोटे-छोटे वृत्त अपने अन्दर अनेक चिन्ताओं को समेटे हुए कहानी दर कहानी आगे बढ़ते हैं। कहानियों में सहगल समकालीन समाज की चिन्ताओं एवं विकृतियों से टकराते हैं और इस टकराहट के फलस्वरूप मध्यवर्गीय चरित्र सामने आता है जहाँ मूल्यों की टूटन है, छोटे-छोटे सुखों के पीछे भागते लोग हैं, दरकते सम्बन्धों की सीवन से झाँकती मानसिकता है, आर्थिक दबावों की जमीन में उगी मजबूरियाँ हैं, संवेदना की सुवास को तलाशते अनुभव हैं। हरदर्शन सहगल के पास कर्मचारी जीवन की व्यापक अनुभूतियाँ हैं। अड़ौस-पड़ौस (जो हमारा अपना परिवेश भी है) से गहरे रिश्ते हैं। सपने भी हैं और सपनों में जिंदगी की अभिलाषा भी। उनकी कहानियाँ एक तलाश हैं मनुष्य की; संघर्ष हैं मनुष्यता का, मानवीयता के लिए। नहीं है तो रूप का छद्म नहीं है, प्रयासरत शब्द नहीं है। इसके बरअक्स एक सहजता है, एक सरलता है, अर्थोत्पादक शब्द-सत्ता है और यथार्थगर्भा शैली है।

हरदर्शन सहगल वस्तुतः कहानी में जीते हैं। उनका सोना, खाना, घूमना, उठना, बैठना कहानी में होता है। यहाँ मैं रेखांकित करना चाहता हूँ कि वे अपने चतुर्दिक परिवेश में ही बसते हैं इसलिए उनकी कहानियों में उनका सूक्ष्मता से देखना शब्दों में फैला हुआ है। बारीक आँख के शब्द बड़े अर्थ वाले हैं। उनकी कहानियाँ मध्यवर्गीय जीवन का इस्पाती दस्तावेज हैं, जिनमें हम समय के सच से ही रूबरू नहीं होते हैं अपितु उसमें व्याप्त भीतरी व बाहरी द्वन्द्व को भी भोगते हैं। यहीं वे अन्य प्रगतिशील रचनाकारों से भिन्न खड़े दिखाई देते हैं क्योंकि वे मानवीय अस्मिता के आयातित मॉडल के स्थान पर भारतीय जमीन से जुड़ी मूल्य-चेतना के पक्षधर होते हैं। कथारस से भरपूर उनकी रचना-यात्रा के अनेक सोपान हैं। इन्हें हम उनके पहले कथा संग्रह 'मौसम' से 'सरहद पर सुलह' तक में अनुभव कर सकते हैं।

1980 में प्रकाशित 'मौसम' उनका प्रथम कहानी-संग्रह है यद्यपि कहानी लेखन वे पहले से करते रहे हैं। यह संग्रह सहगल की सृजनात्मक संभावनाओं को रेखांकित करता है। 'आओ ड्रामा खेलें', 'अपना हत्यारा', 'एक प्रतीक पुरुष', 'दौड़', 'नई तर्ज का कोई दिन' तथा 'पहले दर्जे का आदमी' संग्रह की सशक्त कहानियाँ हैं जो 75 से 80 तक के कालखण्ड को रूपायित करती हैं। विघटित होते मूल्य, भ्रष्टाचार, अकेलापन और भय से निजात पाने हेतु संघर्षरत आज के आदमी की चिंताएँ इस संग्रह की कहानियों की केन्द्रीय वस्तु हैं। मध्यवर्गीय जीवन की विडम्बना है कि वह उच्चवर्ग जैसी आकांक्षा पालता है, छद्म अंग्रेजियत को पोषता है तथा साधनों के अभाव को भोगता है। परिणामतः उसके व्यवहार पर छल, स्वार्थ और दिखावे की वृत्ति का अधिकार है तथा मानस में कुण्ठा और ईर्ष्या का। इस तथ्य को श्री सहगल ने अपनी कहानियों में बारीकी के साथ उकेरा है। ये कहानियाँ बहुत पास ले जाकर हमें विसंगतियों और विषमताओं को दिखाती हैं।

1982 में छपा 'टेढ़े मुँह वाला दिन' सहगल का दूसरा कहानी-संग्रह है जिसमें वे नई ऊर्जा और सघन संवेदना के साथ सामने आते हैं। रचाव की नवलता, सोच की गहनता तथा दृष्टि का पैनापन इन कहानियों को यादगार पहचान देता है। व्यक्ति, परिवार और समाज में आबद्ध कहानियाँ मध्यवर्गीय परिस्थिति को उद्घाटित करती हैं। चरित्र का दोहरापन, कार्यालयीन जीवन में बढ़ता भ्रष्टाचार, पश्चिमी चमकते विकास मानकों को पा लेने की आपाधापी, सम्बन्धों में घुसता स्वार्थ तथा कुण्ठा, ईर्ष्या और त्रास आदि से इस संग्रह की अन्तर्वस्तु विनिर्मित है। 'मिस इंडिया-मदर इण्डिया', 'दफ्तर', 'टेढ़े मुँह वाला दिन' इस संग्रह की उल्लेखनीय कहानियाँ हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'मर्यादित' श्री सहगल का तीसरा कथा-संग्रह है। आठवें दशक का जीवन इस संग्रह का प्रस्थान-बिन्दु है। मध्यवर्गीय जीवन ही रचना का केन्द्र है। इसमें दफ्तर, व्यक्ति और समाज के साथ राजनीति पर व्यंग्यात्मक कहानियाँ भी काव्यात्मक अन्दाज में रची गई हैं। राजनीति अब समाज में यहाँ, वहाँ और सब जगह व्याप गई है। समाज स्वतन्त्रतापूर्व संकल्पों और आकांक्षाओं से किस प्रकार च्युत हुआ है इसकी पड़ताल संग्रह की कहानियाँ बारीकी से करती हैं। मध्यवर्गीय सामाजिक सम्बन्धों में आर्थिक दबाव एवं भौतिक आकर्षण घुसकर मूल्य-चेतना को किस प्रकार प्रभावित करते हैं, सहगल ने इस सवाल को बेलौस प्रस्तुति दी है। संग्रह में श्री सहगल के सरोकार प्रगतिशील चेतना से प्रभावित-संचालित हैं।

'गोल लिफाफे' सहगल का चतुर्थ संकलन है। इस संग्रह की कहानियाँ झूठे, लिजलिजे समझौतों, अनुकूलन की वृत्ति में जीती नपुंसक अविरोध प्रवृत्ति को अनेक सम्भावनाओं के साथ खोलती हैं। नर-नारी सम्बन्धों में घुसता स्वार्थ एवं संकीर्णता तथा निर्वासित विश्वास इस गोल लिफाफों का मजमून है, जो एक तरह से मानवीयता की तलाश का दर्द संचित किए है। इस संग्रह में सहगल परिवेश के प्रति सचेतनता के साथ सक्रिय दिखाई देते हैं। लेखक ने इस संग्रह में रूपात्मक प्रयोग भी किए हैं। भाषा के स्तर पर सहजता अर्थ को सघन बनाती है और शब्द की दृश्यान्विति सम्प्रेणीयता को सक्षमता के साथ बढ़ाती है। एक ही वाक्य में पूरी कहानी का रचाव प्रयोग के लिए लालायित कथा-मन की सचेष्ट अभिव्यक्ति है। अपनी स्वाभाविकता को पीछे छोड़कर वे कहानी की समकालीन यात्रा के प्रयोगों की ओर लपकते दिखते हैं। ऐसे में कहानियाँ उनकी वास्तविक सामर्थ्य का उदाहरण नहीं बन सकी हैं। उनकी सभी कहानियों में व्यंग्य-दृष्टि देखी जा सकती है, फिर भी इस संग्रह की कहानियों का मूल स्वर और तेवर व्यंग्यात्मक है। 'दास्ताने खम्भा', 'नए शब्दकोश का निर्माण', 'विवाद', 'कुर्सीकथा' इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं तथा सहगल की शक्ति का जीवन्त प्रमाण भी हैं।

'सरहद पर सुलह' में सहगल के समर्थ कथाकार को देखा जा सकता है। 'सरहद पर सुलह' 1999 में प्रकाशित कथा-संग्रह है। 18 कहानियों के संग्रह का केन्द्र आदमी की आदमीयत है। आज इंसानियत पर हमले हो रहे हैं तथा आदमी विद्रूप विसंगतियों का खिलौना बना हुआ है। सहगल ने मनुष्य के अधूरेपन, अधूरेपन में घूमती बैचेनी, बैचेनी में पलती जिन्दगी और जिन्दगी के बिखरते हिज्जों को समेट कर समय की मुकम्मिल तस्वीर कहानी के रूप में बनाने की कोशिश की है। 'सरहद पर सुलह' सेक्युलरिज़्म के नाम पर एक नए प्रकार की साम्प्रदायिकता के फैलाव को भी रेखांकित करती है। 'मेमराकाशु', 'रास्ते किधर हैं', 'हारते हुए', 'फकत तुम्हारे लिए' और 'सरहद पर सुलह' इस संग्रह की महत्त्वपूर्ण कहानियाँ हैं। अपनी मासूमियत में ये कहानियाँ बन रहे इतिहास की पड़ताल करती हैं और बेनकाब करती हैं उस सब को जो हमारे भीतर धंसकर हमें हमारी ही जड़ों से काट रहा है और विपर्यय को रच रहा है। सहगल इस विपर्यय को शब्द देते हैं। इस तरह सहगल सच्ची आध्यात्मिकता को परोटते हैं और सतत संघर्ष की आवश्यकता की हिमायत करते हैं। हरदर्शन सहगल के लिए यथार्थ चित्रण के मायने यथार्थ चित्रण मात्र नहीं अपितु उस वस्तुस्थिति को बदलने की, उससे जूझने की भूमिका देना भी है।

'वर्जनाओं को लाँघते हुए' उनके द्वारा संपादित हाल ही में प्रकाशित हुआ कहानी-संकलन है। यह कहानी-संकलन जितना रोचक है उससे कहीं अधिक इसकी भूमिका महत्त्वपूर्ण है। इसके माध्यम से सहगल मानव जीवन की मूल चेतना किम्वा अहम् प्रश्न के उत्तर खोजने में प्रयासरत दिखाई देते हैं। वे प्रेम के सच्चे स्वरूप को सामने रखना चाहते हैं। कहने और करने के भेद, विचार और क्रिया के अन्तर से सामाजिक परिवेश में यह विषय कितना दूषित और विकृत हो गया है? सहगल विभिन्न कहानीकारों की कहानियों के संकलन के माध्यम से इस प्रश्न पर विचार करते हुए प्रेम के निर्मल स्वरूप को रेखांकित करना चाहते हैं। इस तरह वर्जनाओं को लाँघते हुए वे नैतिकता के सत्य को पकड़ने का प्रयत्न करते हैं। इस संग्रह में सहगल की स्वयं की कहानी के साथ देश-विदेश के नामचीन कहानीकारों की कहानियाँ संकलित हैं जो सहगल के सोच को पुष्ट करती हैं।

वस्तुतः हरदर्शन सहगल की कहानियों का रचनाफलक व्यक्ति, परिवार और दफ्तर के त्रिकोण में विनिर्मित है। सहगल की कहानियों के पात्रों की विशेषता है कि वे परिवेश को ही हमारे सम्मुख जीवन्त नहीं करते अपितु आत्मीयता के साथ हमारे इर्द-गिर्द खड़े हो जाते हैं तथा रचना के मन्तव्य को हमारे संवाद का विषय बनाते हैं। अपनी प्रतीकात्मकता में वे रचना के सवालों को हमारे सम्मुख खड़ा करते हैं। इसमें भाषा का योगदान निस्संदेह श्लाघनीय है। मध्यवर्गीय जीवन जिस मिलेजुले अभिव्यक्ति स्वरूप को जी रहा है, सहगल की भाषा उसको सजीव रूप में व्यक्त करती है। भाषा का उर्दू अन्दाज एवं पंजाबी स्पर्श परिवेश को सजीव करते हुए भाषिक लिंग्वा फ्रांका को जन्म देता है। वे हमारी अन्तर्दृष्टि की सम्भावनाओं को झंकृत करते हैं और हमें झकझोरते हुए अनुक्षण एक नया जीवन जीने को प्रेरित करते हैं। इस आधार पर हम हरदर्शन सहगल को एक समर्थ कहानीकार कह सकते हैं जो सहज जीवन के विपर्यय को अपनी रचना में सार्थकता के साथ उकेरते हैं।

सरला सदन, जैलवेल, बीकानेर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डा. वीरेन्द्र सक्सेना

ऐसी थीं शशिप्रभा शास्त्री

श्री विष्णु प्रभाकर के सहज व्यक्तित्व से मैं इतना प्रभावित था कि जब वे अपनी आयु के 75 वर्ष पूरे करने वाले थे, तो मैंने उनसे एक लंबा इंटरव्यू करके उनके बारे में एक लंबा संस्मरणात्मक लेख 'आवारा मानुष के साथ 240 घंटे' लिखा, जो जून 1987 में 'सारिका' में छपा और बाद में कई पुस्तकों में भी संकलित हुआ। लगभग उसी तरह का एक संस्मरणात्मक आलेख मैं डॉ.शशिप्रभा शास्त्री के बारे में भी लिखना चाहता था, क्योंकि उनके सहज व्यक्तित्व और लेखन से भी मैं काफी प्रभावित था। लेकिन जब इस बारे में मैंने शशिप्रभा जी से जिक्र किया, तो वे मेरे प्रस्ताव को टाल गई। मैंने तब उनसे विनोदपूर्वक यह भी कहा कि संभवतः वे महिला होने के कारण अपनी 75 वर्ष की आयु (अमृत जयंती) को प्रकट नहीं करना चाहतीं। परिणाम यह हुआ कि तब मैं वह लेख न लिख सका और अब जब यह लेख लिख रहा हूँ, तो वह इस दुनिया में नहीं हैं और मुझे इसके लिए किसी इंटरव्यू की बजाय केवल अपनी स्मृति का सहारा लेना पड़ रहा है।

यों कहानी-लेखन में मेरी रुचि सन् 1963 से विकसित होने लगी थी, किंतु सन् 1965 में केंद्रीय हिंदी निदेशालय की नौकरी में दिल्ली आने के बाद से साहित्यकारों से मेल-मिलाप भी बढ़ने लगा था। इसी क्रम में मैं जब कभी दिल्ली से बाहर जाता, तो वहाँ के साहित्यकारों से भी मिलने का प्रयास करता और उनके कृतित्व के संदर्भ में उनके व्यक्तित्व के आकलन का भी प्रयास करता रहता। अनंतर सन् 1971 में, जब मैंने 'समकालीन हिंदी कहानी में चित्रित काम-संबंधों का यथार्थ' पर शोधकार्य आरंभ कर दिया था, मैं एक सरकारी बैठक के सिलसिले में देहरादून गया। तभी जूंन 1971 की 'सारिका' में मेरी एक लंबी कहानी 'मुलाकातें' छपी थी और मुझे आश्चर्य हुआ कि शशिप्रभा जी ने बिना किसी पूर्व-परिचय के भी मेरी वह कहानी पढ़ रखी थी। इसलिए मुझसे मिलने पर जब वे अपने लेखन की बजाय उसी कहानी की बारीकियों का विश्लेषण करने लगीं, तो मुझे पर्याप्त संकोच तो हुआ, पर तभी से उनके प्रति मेरे मन में आदर-सम्मान में भी वृद्धि होती गई।

अपनी स्मृति और एक पुरानी डायरी के पृष्ठ पलटते हुए मुझे याद आ रहा है कि एक बार जून 1974 में जब मैं शशिप्रभा जी से मिलने देहरादून गया था, तो उनसे उनकी रचना-प्रक्रिया के बारे में भी चर्चा हुई थी। तब शशिप्रभा जी ने बताया था-"कोई घटना, अनुभव या विचार, चाहे वह स्वयं का हो या किसी दूसरे व्यक्ति का, जब मुझे बुरी तरह बेचैन कर देता है और लगातार हाँट करने लगता है, कुछ ऐसा कि लगने लगता है कि लिखे बगैर मुक्ति नहीं है, तो मैं उस पर लिखना आरंभ कर देती हूँ। एक बार आरंभ हो जाने पर बहुत-सी बातें स्वयं आकर जुड़ जाती हैं और रचना फिर स्वतः आगे बढ़ने लगती है।"

उन्हीं दिनों उनका एक उपन्यास 'नावें' धारावाहिक रूप से 'धर्मयुग' में भी छपा था। उसका उदाहरण देते हुए उन्होंने आगे कहा-"मेरी एक मित्र हैं। उन्होंने एक दिन बातों ही बातों में एक अविवाहित युवती की बेटी की समस्या बताई थी कि उसका किसी स्कूल में एडमीशन नहीं हो रहा है, क्योंकि पिता का नाम साथ में नहीं दिया है। तब मैं घर आकर इसी समस्या पर काफी देर तक सोचती रही कि उस युवती की छोटी-सी बेटी का आखिर क्या कसूर है और समाज उससे किस बात का बदला ले रहा है? काफी सोच-विचार के बाद मैंने इसी बात को लेकर एक उपन्यास लिखने की योजना बनाई और उसी का फल 'नावें' है।"

मैंने स्वीकार किया-"यह उपन्यास (नावें) आपकी एक परिपक्व रचना है तथा इसमें भावुकता के स्थान पर यथार्थ को बड़ी ही स्वाभाविकता से चित्रित किया गया है। क्या नैतिक है क्या अनैतिक, क्या उचित है क्या अनुचित या क्या श्लील है और क्या अश्लील आदि के चक्करों में न पड़कर आपने सीधे-सीधे यथार्थ स्थिति की जटिलता का चित्रण कर दिया है तथा उसकी कड़वाहट को पचाकर स्वभावानुसार कुछ मिठास ही देने की कोशिश की है।"

"जीवन में अगर मिठास बिल्कुल ही समाप्त हो जाए, केवल कड़वाहट ही बच रहे, तो क्या जीवन जीने योग्य रह जाएगा? मैं तो वीरेन्द्र जी, यही चाहती हूँ कि जीवन और साहित्य में आशा-आस्था कुछ न कुछ तो बची रहे।" शशिप्रभा जी ने बड़े ही विश्वास से कहा।

"आपकी आशा के अनुरूप एक सूचना मैं दे दूँ," मैंने मुस्कराते हुए बताया, "श्री मधु लिमये ने इन्हीं दिनों संसद में एक बिल प्रस्तुत किया है, जिसके अनुसार संतान के नाम के साथ पिता के नाम के स्थान पर माँ का नाम बताना पर्याप्त होगा। यदि यह बिल पास हो जाता है, तब तो 'नावें' जैसी समस्या भी स्वतः सुलझ जाएगी।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शशिप्रभा जी भी मुस्कराईं–"यदि कोई बिल ऐसा आ रहा है, तब तो बड़ा अच्छा है। पर बिल पास हो जाने के बाद भी नारी के पुनर्विवाह और उससे संबद्ध माँ और पत्नी के रूपों में विभिन्न स्तरों पर एडजस्टमेंट की समस्याएँ तो रहेंगी ही। 'नावें' में उनका भी उल्लेख है।"

बात आगे बढ़ाने पर सैद्धांतिक हो जाने का भय था, अतः मैंने विषय बदला और उनसे घर-परिवार की बातें करने लगा। शशिप्रभा जी बड़े ही सहज भाव से उन बातों में भी इस प्रकार रुचि लेने लगीं मानो वे एक कुशल प्राध्यापिका या विख्यात लेखिका न होकर मात्र एक सरल गृहिणी हों। फिर वे दूसरे कमरे में जाकर कुछ फोटो उठा लाईं और उन्हें दिखाते हुए उनके बारे में बताने लगीं।

यहीं यह भी उल्लेखनीय है कि तब श्री मधु लिमये का बिल तो संसद में शायद पास नहीं हुआ, लेकिन कुछ वर्षों पहले के सर्वोच्च न्यायालय के एक निर्देश के अनुसार अब स्त्री के लिए अपनी संतान के पिता का नाम बताना अनिवार्य नहीं रह गया है। अतः अब कोई भी माँ अपनी संतान का पालन स्वयं अपने नाम के बल पर, बिना पिता का नाम बताए भी करती रह सकती है। इस घटना से ही यह सिद्ध हो जाता है कि शशिप्रभा जी कितनी दूरदर्शी भी थीं–उन्होंने दो दशकों से भी पहले जो समस्या अपने उपन्यास में उठाई थी और उसके समाधान की आशा भी व्यक्त की थी, वह उनकी आशानुकूल ठीक ही सिद्ध हुई।

सन् 1974 की मेरी उस पुरानी डायरी में शशिप्रभा जी की आत्मीयता और अतिथि-सत्कार के बारे में भी काफी कुछ लिखा हुआ है, लेकिन यहाँ उसका एक छोटा-सा अंश ही उद्धृत करना चाहूँगा–

'दिल्ली से 1 जून 1974 की रात को साढ़े दस बजे चलने वाली डीलक्स बस 2 जून को सवेरे साढ़े चार बजे देहरादून पहुँच गई थी। गर्मियों में दिन जल्दी निकल आता है, फिर भी मैंने सोचा कुछ देर बस-अड्डे पर ही रुक लिया जाए। पाँच बजे दिन ठीक से निकल आने पर ही शशिप्रभा जी के घर जाना उचित होगा।

'लगभग पाँच बजे जब कुछ उजाला हुआ, मैंने एक स्कूटर पकड़ा और भगवान नगर पहुँचा। तभी मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि शशिप्रभा जी अपने घर और गली से बाहर की मेन रोड के किनारे मेरी प्रतीक्षा में खड़ी हैं। मैंने तत्काल स्कूटर रुकवाकर उन्हें साथ बिठाया, तो उलाहना सुनने को मिला–"अभी बस-अड्डे फोन किया, तो पता चला आपकी बस तो कब की आ चुकी! आप इतनी देर वहाँ क्या करते रहे?"

'मैं चुप था। वे आगे बोलीं–"मैं तो बस-अड्डे पर ही मिल जाती आपको, पर आज उठने में कुछ देरी हो गई। जब आँख खुली और हड़बड़ाकर बस-अड्डे फोन मिलाया, तो पता चला आपकी बस आ चुकी है। सोचा, जब तक पहुँचूँगी, आप चल चुके होंगे, इसलिए यहीं सड़क पर आकर खड़ी हो गई।"

'सुन-सुनकर मैं संकोच से गड़ा जा रहा था। कारण, दिल्ली जैसे महानगर में रहते हुए मैं कभी कल्पना भी नहीं कर सकता था कि कोई अपने घर आने वाले मेहमान की इतनी व्यग्रता से प्रतीक्षा कर सकता है। और छोटे शहरों में रहने वाली कोई महिला इतनी आधुनिक और निर्भीक हो जाए कि अपने अतिथि का स्वयं स्वागत-सत्कार कर सके, यह भी मेरी जानकारी के लिए नया अनुभव था।'

बहरहाल, निरंतर निरीक्षण-परीक्षण, पत्राचार-साक्षात्कार और सहज-आत्मीय व्यवहार के आधार पर मैं यहाँ यही कहना चाहता हूँ कि शशिप्रभा जी उन लेखक-लेखिकाओं में से थीं, जो अपनी रचनाओं से तो प्रभावित करते ही हैं, अपने व्यक्तित्व से भी आकर्षित करते हैं। और विशेष बात यह है कि शशिप्रभा जी के व्यक्तित्व में श्री विष्णु प्रभाकर के व्यक्तित्व जैसी ही एक विचित्र-सी मिठास थी और वही मिठास वह अपने प्रशंसकों और मिलने वालों को बाँटती रहती थीं, फिर भी कभी उस मिठास से 'रिक्त' नहीं होती थीं।

शशिप्रभा जी के पहले उपन्यास का शीर्षक था 'अमलतास' (1963), जो श्री जैनेन्द्र कुमार ने अपने 'पूर्वोदय प्रकाशन' से छापा था। दूसरे उपन्यास 'नावें' (1974) का जिक्र ऊपर आ ही चुका है। इसके बाद अगला उपन्यास 'सीढ़ियाँ' (1976) छपा– उसमें भी रूढ़ि से इतर एक स्त्री के अपने से कम आयु के पुरुष से प्रेम-संबंध का चित्रण किया गया था और पर्याप्त साहस के साथ स्त्री की त्याग-भावना को भी चित्रित किया गया था। इस उपन्यास पर डॉ.नरेन्द्र कोहली ने अपने ग्रेटर कैलाश, नई दिल्ली वाले निवास पर एक विचार-गोष्ठी भी आयोजित की थी, जिसमें एक आलेख मैंने भी पढ़ा था। मेरा वह आलेख बाद में 'समीक्षा' में भी छपा और 'सीढ़ियाँ' को उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान से पुरस्कार भी मिला, जिससे मुझे भी संतोष मिला कि मैंने शशिप्रभा जी के उस उपन्यास की मात्र उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर समीक्षा नहीं लिखी, बल्कि उसके पीछे कृति की गुणवत्ता भी थी।

'सीढ़ियाँ' के बाद शशिप्रभा जी का अगला उपन्यास 'परछाइयों के पीछे' (1979) भी पुरस्कृत हुआ। और इसके बाद तो उनके कहानी-संग्रहों और उपन्यासों की लाइन ही लग गई और 'हर दिन इतिहास' (1995) तक लगभग दो दर्जन पुस्तकें प्रकाशित हो गईं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन पुस्तकों में विश्लेषण-विवेचन तो था ही, वैविध्य भी था। तभी तो 'सागर पार का संसार' (1988) में जहाँ अमरीकी परिवेश का चित्रण था, वहीं 'मीनारें' (1992) में शिक्षण-संस्थाओं में व्याप्त राजनीति का। उनके एक अन्य उपन्यास 'बात एक गलियारे की'(1989) में विवाहेतर प्रेम का चित्रण था, इसलिए उसकी तुलना मैंने मृदुला गर्ग के 'चित्तकोबरा' (1985) से की और उस तुलनात्मक विश्लेषण को मैंने अपने उपन्यास 'खोजा तिन पाइयाँ' (1995) में भी प्रस्तुत किया। अपने इसी उपन्यास में मैंने शशिप्रभा जी के तद्विषयक कुछ विचार भी उद्धृत किए–'विवाह के बाद प्रेम होने पर मुझे तो लगता है, प्रेम को तोड़ना उचित है, हालाँकि डायना ने विवाह को तोड़ा।...पर प्रेम न तोड़ा जा सकता है, न स्वतः किया जा सकता है। इसलिए प्रेम टूटकर भी नहीं टूटेगा, सो अच्छा है दोनों ही चलाए जाएँ, जिसे टूटना है, स्वतः टूट जाएगा। ...उक्त सभी स्थितियों, विचारों और स्वीकारोक्तियों को ध्यान में रखकर प्रेम का एक हल यह भी हो सकता है कि प्रेमी-प्रेमिका दोनों प्रेम के साथ-साथ एक-दूसरे के प्रति आदर का भाव भी रखें–आदर यानी सम्मान का भाव। सम्मान, जो दो व्यक्तियों को अति निकट आने से बचाए रखता है। ...यह स्थिति अति कठिन है, पर इस प्रकार का प्रेम दूर तक और देर तक चल सकता है। इसे अमंगलकारी और अनैतिक भी नहीं ठहराया जा सकता और यह स्थिति संबंधित व्यक्तियों द्वारा झेली भी जा सकती है।' ('खोजा तिन पाइयाँ, पृ. 242-243)

ऊपर दिए तथ्यों के आधार पर मैं यह तथ्य अवश्य यहाँ रेखांकित करना चाहूँगा कि कुछेक आलोचकों और लेखकों की दृष्टि में शशिप्रभा जी भले ही 'पुरानी परिपाटी की लेखिका' मानी जाती रही हों, पर वास्तव में पुरानी होते हुए भी नित-नवीन बनी रहीं। उन्होंने स्त्री-पुरुष संबंधों के प्रायः सभी आयामों पर तो लिखा ही, अपसामान्य माने जाने वाले समलैंगिक संबंधों पर भी लिखा। इसी तरह उन्होंने स्त्री-अस्मिता और आत्मनिर्भरता के प्रश्न भी अपने लेखन में उठाए, लेकिन दुर्भाग्य से हिंदी जगत ने उनका वैसा नोटिस नहीं लिया, जैसा कुछेक तथाकथित नारीवादी लेखिकाओं का लिया गया।

हाल ही में भारतीय ज्ञानपीठ ने शशिप्रभा जी की कहानियों का एक नया संग्रह भी प्रकाशित किया है, जिसका शीर्षक है 'तलहटी' (2002)। इस संग्रह की कहानियों से स्पष्ट है कि शशिप्रभा जी अपनी मृत्यु से पूर्व बीमारी से लड़ते हुए भी कुछ-न-कुछ लिखती रही थीं और उन्होंने किसी आलोचक की बेरुखी की भी कभी परवाह नहीं की।

18/11, पुष्प विहार, सेक्टर 1
साकेत, नई दिल्ली-110017

महीप सिंह की तीन नई रचनाएँ

ऐसा ही है
लेखक की अद्यतन कहानियों का संग्रह
मूल्य - 125/- रु.
प्रकाशक
इंद्रप्रस्थ प्रकाशन
के-71, कृष्ण नगर, दिल्ली-110051

कुछ सोचा : कुछ समझा
गंभीर साहित्यिक एवं साहित्य से जुड़े अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर लिखे गए निबंधों का संग्रह
मूल्य - 150/- रु.
प्रकाशक
भारत पुस्तक भंडार
343-ई ब्लाक, सोनिया विहार, दिल्ली-110094

एक नये भगवान का जन्म
धर्म, राजनीति, शिक्षा तथा अन्य अनेक प्रकार की विसंगतियों पर समय-समय पर लिखे गये व्यंग्यों का संग्रह
मूल्य - 100/- रुपये
प्रकाशक
नवराज प्रकाशन
भजन पुरा, दिल्ली-110053

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डा.कृष्ण चन्द्र गुप्त

कैसे जानूँ पीर पराई

मुँह अँधेरे घूमने निकला हूँ। आकाश का चेहरा अभी स्पष्ट नहीं हो पाया है। कहीं-कहीं तारे चमक रहे हैं। चैती का शीतल स्पर्श पाकर सारी तन्द्रा, उदासी और आलस्य छू मन्तर हुए जा रहे हैं। फिर भी अभी तक उषा के दर्शन नहीं हुए क्योंकि सड़कों पर बल्ब जल रहे हैं। हालांकि इन्हीं के कारण चलना सम्भव हो रहा है। मैंने कई बार अनुभव किया है कि अधिक सवेरे निकल पड़ने पर लगता ही नहीं कि प्रातः भ्रमण के लिए जा रहा हूँ। लगता है किसी लोभ या भय के वशीभूत हो किसी निषिद्ध कार्य के लिए किसी अन्ध गुफा में प्रवेश कर रहा हूँ। जब तक प्राची का आकाश चमक न उठे तब तक मुझे लगता ही नहीं कि सुबह हो गई। सूर्योदय से पहले घूमकर कर लौट आने का स्वास्थ्य मन्त्र मुझे कभी भाया नहीं। इसलिए कभी यदि पन्द्रह-बीस मिनट पहले भी घर से निकल पड़ा हूँ तो बड़ा अटपटा लगा है। धुन्ध और अन्धकार में चलना न केवल असहज और शंकालु बना देता है अपितु जिस संजीवनी के लिए प्रातः भ्रमण होना चाहिए उस प्रातःकालीन प्राकृतिक शोभा से वंचित कर देता है।

ऐसी ही एक आसन्न प्रभात वेला में घर से निकला हूँ। शहर के सबसे अधिक भीड़-भाड़ वाले शिव चौराहे पर, बिजली की चकाचौंध है। अखबार वालों का जमघट है और चाय के शौकीन लोग चुस्कियाँ ले रहे हैं। उनको पार करता हुआ मैं बढ़ा जा रहा हूँ-वाहनों की कर्णभेदी चिल्लपों और कुत्तों की दिमाग को छीलती हुई भौं-भौं से यथासम्भव अपने को बचाता हुआ। इसी तुमुल कोलाहल में एक स्वरलहरी कानों में पड़ती है। शब्द स्पष्ट नहीं हैं। सम्भवतः किसी पूर्वी या पर्वतीय लोकगीत की स्वरलहरी है जो मेरा पीछा कर रही है। मेरे पैर रुक जाते हैं। खड़ा होकर उस स्वरलहरी में खोये हुए शब्दों को पकड़ने का प्रयास करता हूँ और मिनट-मिनट पर ट्रकों की चीखती आवाज़ें दुःखदग्ध कंठ से निकली स्वरलहरी को छिन्न-भिन्न कर रही हैं। इन वाहियात और बदतमीज आवाज़ों से कुछ मुक्ति मिलती है। कुछ और स्वर कान में पड़ते हैं। उनके शब्दों को पकड़ने की चेष्टा कर रहा हूँ श्रवण और मन की सारी शक्ति को केन्द्रित करते हुए। लेकिन कुत्ते की भौं-भौं इस क्रिया को भी असफल कर देती है। बड़ी मुसीबत है।

पास के एक तख़्त पर कोई पतली सी चादर सिर से पैर तक ओढ़े हुए लेटा हुआ गा रहा है। क्या? बहुत प्रयास करने पर भी समझ नहीं आ रहा है। स्वर का गीलापन, व्यथा में डूबी टोन, अपरिचित बोली के शब्द-ध्यान से सुनने पर भी समझ में नहीं आ रहे हैं। अजीब मुसीबत है। मैं ऐसे खड़ा हूँ जैसे किसी की प्रतीक्षा में हूँ, जिससे इक्के-दुक्के आने-जाने वालों को कोई शंका न हो, वरना तमाशा बनते देर नहीं लगेगी। सम्भवतः नारी देह है। तभी किसी दूसरी स्त्री के 'कौन है? क्या बात है?' कहने पर स्वरलहरी शान्त हो जाती है। सिर उघाड़ती है। लेकिन कहने वाले को देखती नहीं है। चादर से हाथ बाहर निकाल कर धरती को छूकर हाथ माथे से लगाती है मानो कोई परम आस्तिक यह मन्त्र मन ही मन दोहरा रहा हो-

समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमण्डले।
विष्णुपत्नी नमस्तुभ्यं पादस्पर्श क्षमस्व मे।।

मैं यह सब देख रहा हूँ। मुझे लगता है लेटी हुई नारी उस प्रताड़ना की परवाह नहीं करती। अपने भावलोक में लीन है, बाह्य सृष्टि की चीख-पुकार से अबाधित। बाहर की आवाज सुनती तो है लेकिन अप्रभावित। ऐसी तन्मयता! ऐसी भाव-समाधि! देखकर आश्चर्य हो रहा है मुझे। फिर कुछ क्षण बाद वही स्वरलहरी। वही कातरता! वही अनुनय-विनय! वर्तमान के दुख-दर्द से अप्रभावित या प्रभावित होकर भी उससे मुक्ति पाने के लिए यह भाव-साधना, जो बड़ी प्रभावी स्वर-लहरी में व्यक्त हो रही है।

कभी-कभी अपनी अल्पज्ञता बहुत कचोटती है। पचास-पचपन साल की सारी पढ़ाई-लिखाई, विद्या-बुद्धि कितनी अपर्याप्त लगती है। कितनी गहराई से अहसास होता है अपनी अक्षमता का। जितना ही प्रयास करता हूँ स्वरलहरी में डूबते-उतराते शब्दों को पकड़ने का, उतनी ही असफलता का बोध मुझे विचलित कर जाता है। आने-जाने वाले वाहनों की चीख-चिल्लाहट के कारण वैसे भी कोई पंक्ति पूरी तरह से सुनाई नहीं पड़ रही है, फिर जो कुछ एकाध शब्द का अर्थ सारी विद्या-बुद्धि लगाकर समझ पाता हूँ वह कुत्ते के भौंकने में डूब जाता है। इन बाधा-व्याघातों के बीच जो कुछ पल्ले पड़ता है वह किसी विरह-विदग्धा या परित्यक्त या सताई हुई नारी की व्यथा का आभास मात्र करा रहा है। आखिर कैसे पार पाऊँ इस मुसीबत से? तभी कुत्ते को फटकारता हूँ-"हट हट, भट् भट्ट क्या बदतमीजी है, क्या आफत मचा रखी है। भाग यहाँ से।" कुत्ता कुछ क्षणों के लिए चुप हो जाता है और मैं उसी नारी स्वर को सुनने का प्रयास करता हूँ-अब पूरी श्रवण-शक्ति को कानों पर केन्द्रित करते हुए, और इन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ध्वनियों से जो कुछ अर्थ निकल रहा है वह निश्चय ही दुःख से ओत-प्रोत है। विरह-व्यथा से मुक्ति की कातर प्रार्थना जैसा लगता है।

लगता ही है, निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि है ही। यह स्वरलहरी कातर प्रार्थना हो सकती है असह्य दुःख से मुक्ति की। व्यथा की घनघोर रात्रि में किसी तारे या चन्द्रमा की किसी कला की आशा या दुराशा में डूबी आवाज़ हो सकती है। भाषा या बोली से परिचय न होने के कारण केवल संवेदना, करुण संवेदना, दुख-निराशा से मुक्त करने की कातर प्रार्थना। कुछ भी हो सकती है उसमें व्यंजित गहन वेदना जो प्रातः काल में नारी कंठ से फूट रही है, किसी को सुनाने-समझाने के लिए नहीं है, अपने को ही सुनाने-समझाने के लिए। इसी असमंजस में कुछ देर खड़ा रहा। देखा, नारी कंठ मौन हो गया। मैं फिर से उसके उमड़ने की प्रतीक्षा में हूँ कुछ देर से। लेकिन वह स्वर शान्त हो गया। मुझे लगा, कुत्ते को जो मैं फटकार रहा था उसे अपने लिए समझकर वह बेचारी डर से चुप हो गयी। रास्तों-चौराहों पर इधर-उधर गठरी बने पड़े लोगों को आवारा, डकैत और पुलिसवालों की करतूतों से भी अपने को बचाना पड़ता है। मैं मन को मसोसता हुआ कुछ देर खड़ा रहा। शायद फिर उसकी आवाज़ सुनाई पड़े। लेकिन नहीं। अपने को मन ही मन धिक्कारने लगा। एक वेदना-विगलित करुण स्वरलहरी की मार्मिकता से वंचित रह गया।

इसे कहते हैं होम करते हाथ जलना।

ऐसा मेरे साथ दो बार और हुआ। वहाँ भी अपनी भाषा-क्षमता बड़ी खली। 'गुल गुलशन गुलफाम' बड़ा लोकप्रिय धारावाहिक था परीक्षित साहनी का कश्मीरी प्रकृति, कला और मानव सौन्दर्य की पृष्ठभूमि में। परम्परागत हस्तशिल्प के आजीविका-उपार्जन में लगातार अक्षम होते जाने पर, पारिवारिक विघटन के कारण अनेक भावनात्मक, पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक समस्याएँ खड़ी होती जा रही थीं। तीन पीढ़ियों का द्वन्द्व तो नहीं कहा जा सकता इसे। लेकिन पारिवारिक समस्याओं का कोलाहल अवश्य कहा जा सकता है। बड़ा टटका सौन्दर्य कश्मीरी बालाओं का, छोटी-छोटी झीलों में डोंगी लेकर प्रेमी-प्रेमिकाओं का अभिसार। परम्परागत हस्तशिल्प के नायाब नमूनों से अलंकृत कुरते और ढाटू। यक्ष, गन्धर्व, किन्नर बालाओं जैसा सहज सौन्दर्य और उससे उद्दीप्त प्रणय भावनाएँ। सौन्दर्य के इसी त्रिक् अर्थात् मानव, प्रकृति और कला की अनुपम अद्भुत लीला भरे दृश्यों की स्मृति आज भी उतनी जीवन्त है–दस-पन्द्रह वर्ष बीतने पर भी। ऐसे ही अनेक जीवन्त दृश्यों में से एक दृश्य है गृहिणी का जो परदेशी प्रियतम की याद में बिसूर रही है, सम्भवतः कश्मीरी या डोगरी भाषा में। मैं अपनी सारी विद्‌या-बुद्धि लगाकर उस कातर स्वरलहरी में डूबते-उतराते शब्दों को पकड़ने का प्रयास करता हूँ, लेकिन अक्षमता का अहसास मुझे बुरी तरह कचोट रहा है। यह वेदना से ओतप्रोत स्वरलहरी दो-तीन मिनट की रही होगी। मैं मन मसोस कर रह जाता हूँ। कितने ही समानधर्माओं से इसका अर्थ पूछता हूँ लेकिन व्यर्थ। उल्टे बेवकूफ और बन जाता हूँ कि ऐसे बुद्धिजीवी नास्तिक व्यक्ति और ऐसी कातरता! अब इन लोगों को कैसे समझाऊँ कि बुद्धि और नास्तिकता का कोई जन्मजात या पोषित या अनिवार्य वैर नहीं है भावुकता या सघन संवेदनशीलता से। अपने एकमात्र कश्मीरी मित्र डा. आदर्श से इसका अर्थ पूछा, उसने कहा-मेरी तो डोगरी-कश्मीरी भाषा की सारी समझ आपकी लट्ठमार खड़ी बोली के क्षेत्र में रहने के कारण कब की दम तोड़ चुकी है, फिर भी किसी कश्मीरी से पूछकर इसका अर्थ आपको बताऊँगा। मैं जानता हूँ यह टालने का सभ्य तरीका है।

एक और दृश्य याद आता है। वह डा. आदर्श के घर का ही है। नाश्ते के लिए मैं बाहर उसके लॉन में बैठा हूँ। तभी एक स्वरलहरी कानों मे पड़ती है, किसी दूर देश में ब्याही नारी की व्यथा वेदना से उमड़ती-घुमड़ती। 'गुल गुलशन गुलफाम' के उसी गीत के सुनने जैसी स्थिति हो गई। इस करुणा-विगलित भावधारा का स्पर्श तो हो रहा है लेकिन शब्दों में समाई वेदना का ओर-छोर यहाँ भी पल्ले नहीं पड़ रहा है। मैं तन्मय होकर सुन रहा हूँ। पास ही बैठी श्रीमती जी कौतूहल ओर उपहास से मुस्कुरा रही हैं। मानो प्रकट कर रही हों कि ये तो हो गये बेसुध। चाय और पकौड़ियाँ ठंडी हो रही हैं और ये हैं कि खो गये। आदर्श की आवाज़-अरे डा. साहब! चाय लीजिए, यह तो फिर भी सुन लेना! यह तो रोज़ ही गाती हैं। मैं भावलोक से उतरकर प्याला लेने के लिए हाथ बढ़ाता हूँ लेकिन फिर उसकी स्वरलहरी कानों में पड़ती है–बरतन मांजते हुए, कपड़े धोते हुए। इस स्वरलहरी का आशय कुछ-कुछ समझ में आ रहा है, लेकिन सघन वेदना की मर्मान्तक अभिव्यक्ति की करुणा से पूर्णतः सराबोर नहीं हो पा रहा हूँ जो अपने पूरे प्राण-प्रवेग से गायिका के हृदय से निकल मुझे विचलित कर रही है। मैं उपहास का पात्र बनने से बचने के लिए चाय पीने लगता हूँ। चाय कितनी फीकी और असह्य हो उठी है, यह मैं यथासम्भव छिपाता हूँ। आदर्श को कई बार लिखने पर भी यह गीत मुझे आज तक नहीं मिला। कभी मिलेगा भी, नहीं लगता। यथार्थ की धमाचौकड़ी में कभी वह भला आदमी मुझे वह गीत लिखकर भेज देगा, मुझे नहीं लगता। यह विवशता मुझे न जाने कब तक कचोटती रहेगी।

186/12 आर्यपुरी
मुजफ्फर नगर-251001

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनीता वर्मा

नारी तुम केवल देह हो

विश्व की आधी जनसंख्या के सिर पर लगातार स्वयं को प्रमाणित करने की चुनौती मंडराती रहती है। शकुंतला से शकुन तक की लम्बी यात्रा में कहीं भी स्त्री देह-विमर्श से बाहर नहीं निकल पा रही है। ठीक वैसे ही प्रश्नों का सामना उसे आज भी करना पड़ता है जो सदियों पूर्व थे और उन सबमें सबसे बड़ा प्रश्न अस्तित्व का है। गंधर्व विवाह की जो पीड़ा आज से हजारों वर्ष पहले शकुंतला के रूप में उसने झेली थी, ठीक वैसे ही प्रश्नों का सामना आज भी हर उस स्त्री को करना पड़ता है जो बिना विवाह के पुरुष के साथ रहती है। हालांकि सामाजिक व्यवस्था की मान्यताओं के रहते यह जरूरी भी है पर प्रश्न यह नहीं है। प्रश्न है कि जब इसमें पुरुष और स्त्री दोनों की सम्पूर्ण भागीदारी है तो जवाबदेही मात्र स्त्री की ही क्यों? व्यवस्था के प्रश्नों के उत्तर पुरुष को नहीं देने पड़ते।

सबसे पहले स्त्री की आज़ादी का मसला है पर यह मसला उसका है ही नहीं। यह तो घर-परिवार की समस्या है, बच्चों की समस्या है। स्त्री की स्वतन्त्रता की बात तो मात्र 'फेमिनिस्टों' की पुस्तकों के लिए छोड़ दी जाती है। कुछेक महिलाएँ जो घर से बाहर निकलती हैं उन्हें आज़ाद महिला होने की संज्ञा दी गई है। पर यहाँ पर भी कई तरह के मसले हैं। सबसे पहले तो उसे यह साबित करना है कि स्त्री होते हुए भी वह बेहतर कार्य करने की स्थिति में है। पर बात यहीं खत्म नहीं होती। पुरुष वर्षों से सत्ता भोगता आया है, अब भी भोग रहा है। सत्ता भोगने का सुख उसे स्त्री के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार नहीं करने देना चाहता क्योंकि बाज़ार तो वह सदैव अपने हाथ में ही रखना चाहता है। नतीजा यह होता है कि उस हर स्त्री का शोषण होता है जो घर से बाहर निकलती है। इसके लिए पुरुष नए-नए तरीके खोजता है। ये तरीके बचपन से ही शुरू हो जाते हैं। वह नहीं चाहता कि स्त्री शैक्षिक स्तर पर उसका मुकाबला कर सके। जैसे-जैसे लड़की बड़ी होती चली जाती है, समस्याएँ बढ़ती जाती हैं। पुरुष उसे कोमलांगी मानकर उसकी सुरक्षा का दायित्व तो लेना चाहता है पर यह क्यों नहीं मानता कि इस सुरक्षा की आवश्यकता भी उसी के कारण पड़ती है? यहाँ पर भी वह सत्ता भोगने का सुख तो लेता ही है, स्त्री के दैहिक शोषण का अधिकार भी उसे मिल जाता है। यही स्त्री जब घर से बाहर निकलती है तो पुरुष को अपनी सत्ता के हस्तांतरण का खतरा पैदा हो जाता है। और फिर वह नए-नए तरीके खोजता है। पुरुष उसे 'ब्यूटी कांटेस्ट' में उतरने का आमंत्रण देता है, ग्लोबलाइजेशन का वास्ता देता है, बाज़ार की प्रतिस्पर्धा के बारे में बताता है। यहाँ वह उसे उसकी सीमाएँ नहीं बताता। उसे यह नहीं कहता कि तुम स्त्री हो, तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए, वैसा नहीं करना चाहिए। यहाँ उसे यह कहा जाता है कि तुम खूबसूरत स्त्री हो, तुम बहुत कुछ कर सकती हो, तुम्हें स्वयं को प्रमाणित करना है। और फिर शुरू होती है स्त्री की अन्तर्राष्ट्रीय मार्केटिंग। स्त्री की देह का हर अंग प्रोडक्ट पैदा करता है, स्वयं प्रोडक्ट बनता है, बिकता है। उस पर मज़ेदार बात यह कि घर के भीतर बैठी स्त्री भी उससे चमत्कृत होती है। वह भी उसके जैसी बनने के सपने देखने लगती है। पुरुष अपनी बुद्धि के कमाल पर खुश होता है।

स्त्री की स्वतन्त्रता की बात तो मात्र 'फेमिनिस्टों' की पुस्तकों के लिए छोड़ दी जाती है। कुछेक महिलाएँ जो घर से बाहर निकलती हैं उन्हें आज़ाद महिला होने की संज्ञा दी गई है। पर यहाँ पर भी कई तरह के मसले हैं। सबसे पहले तो उसे यह साबित करना है कि स्त्री होते हुए भी वह बेहतर कार्य करने की स्थिति में है।

यह स्थिति सिर्फ भारत की ही नहीं, अमूमन हर देश की है। अमेरिका जैसे देश में भी उच्च पदों पर मात्र 30 प्रतिशत महिलाएँ हैं जबकि विश्व के अनपढ़ लोगों में 80 प्रतिशत महिलाएँ है। प्राथमिक विद्यालयों में आज भी लगभग 70 प्रतिशत लड़कियों का नाम नहीं लिखवाया जाता है और बाकी जो पढ़-लिख जाती हैं उनके लिए स्वयं को बचाए रखने और प्रमाणित करने की चुनौती रहती है। स्त्री हर रूप में मात्र देह रहती है। चाहे वह तनूजा चन्द्रा बनकर फिल्म-निर्देशन का कार्य सफलता से करे या कर्णम मल्लेश्वरी बनकर पदक लेकर आए या फिर संगीता कोल्चेकर की तरह पहली महिला पायलट बनकर सबको चमत्कृत कर दे, पुरुष की भाषा में वह औरत ही रहती है। वह उसे 'होना/सोना एक खूबसूरत दुश्मन के साथ' ही मानता है।

ए-3/8, सेक्टर 8, रोहिणी, दिल्ली-110085

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुषमा प्रियदर्शिनी

आवाज़ के घेरे

सुधीर की आँख खुल गई। "सवेरा हो गया–मैं अभी जिन्दा हूँ, आज मैं जिंदा हूँ।" मन में यह अहसास जागा। वह कई बरस से जीवित-मृत्यु भोग रहा है। बीमारी से धीरे-धीरे उसका शरीर चुकता चला गया है, सब शरीर और अंग जड़ हैं। आँखें इतनी धुंधला गई हैं कि अंधेरा-उजाला महसूस कर सकती हैं। सिर्फ कान ही हैं जो सुन सकते हैं।

उसकी आँख झटके से खुली थी–चिड़ियों के कलरव से या नींद खुलने से वह नहीं जागा था। पत्नी सुमेधा और छोटी वेटी मिनी की बहस से उसकी नींद टूटी थी। मिनी चीख-चीखकर माँ को बुरा-भला कह रही थी। कितनी निर्दयी हो गई हैं दोनों। हर समय शब्दों से एक-दूसरे को लहूलुहान करती रहती हैं। उसे याद आया कि रात को नौकर उसे बाथरूम में ले जाकर निवृत्त कराना भूल गया था। देर रात को उससे रुका नहीं जा रहा था–गौं गौं की आवाज निकाली जोर से, फिर और जोर से। सुमेधा खीझी, चिड़चिड़ाकर चिल्लाई–"क्या है, सारे दिन तो सेवा करते-करते परेशान रहते ही हैं, रात को मुश्किल से थोड़ा-वहुत आराम मिलता है, रात बहुत हो चुकी है–सब सो गये हैं। खुद मैं अकेली कैसे कर पाऊँगी–इतनी रात गये किसे बुलाऊँ, कौन आएगा. ऐसे ही कर लो। खुद भी सो जाओ, मुझे भी सोने दो। सुवह देखा जाएगा।" करवट वदलकर एक पल में ही खर्राटे मारने लगी। सुधीर से रुका नहीं गया-वह रात भर गंदा पड़ा रहा। सुबह बेटी आई तो पूरा कमरा दुर्गंध से भरा था–वह सना पड़ा था। ऐसी गंदगी कौन साफ करेगा–इसीलिए माँ पर चीख-चिल्ला रही थी। पहले-पहल सुधीर को यह सब चिल्लम-चिल्ली, शोरोगुल अच्छा नहीं लगता था, वड़ा दुख होता था, खीझ आती थी अपने पर भी और घर वालों पर भी। पर अव तो यह आम वात हो गई है–रोजमर्रा की वात। आँखें गीली हो जाती हैं–आदत होने के वाद भी। महसूस करने की, समझने की शक्ति भी धीरे-धीरे जवाव देने लगी है।

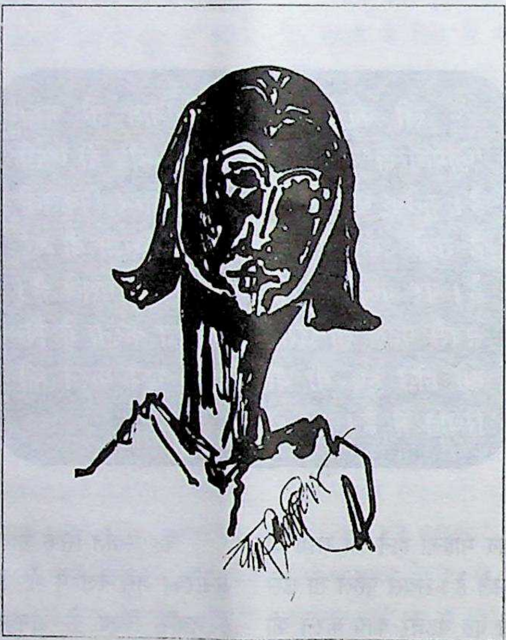

बीमारी के शुरू के दिनों में जव सुमेधा, उसकी पत्नी, अनखनाती थी या खीझती थी तो उसे बहुत दुख होता था, क्षोभ होता था, वेहद गुस्सा आता था उसकी कृतघ्नता पर। क्योंकि उसके लिए सुधीर ने अपने कैरियर, सुख-सुविधाओं, यहाँ तक कि अपनी महत्वाकांक्षाओं की भी उपेक्षा की थी, सालों-साल। उनका प्रेम-विवाह था। सुमेधा प्रतिभाशाली, मेधावी, परिश्रमी तथा महत्वाकांक्षी थी, अतः नये युग के आदर्श पति के समान उसने उसे प्रोत्साहन और प्रेरणा दी, विकास की महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति की। यहाँ तक कि घर की सारी जिम्मेदारी–घर-गृहस्थी का काम, वच्चों की परवरिश तक अपने ऊपर ले ली। वच्चों की सुवह तैयारी करना, नाश्ता वनाना, रखना, शाम का होमवर्क, उनकी अनगिनत जिज्ञासाएँ तथा आशाएँ, सुख-दुख, नाज़-नखरे उठाना अपना उत्तरदायित्व मान खुशी-खुशी किया। सुमेधा ने पहले कॉलेज में लैक्चररशिप की, फिर पीएच.डी, फिर डी.लिट्। वह इन सवके लिए जी जान से जुटी रहती थी, रात-रातभर पढ़ती, दिन में कॉलेज के अध्यापन तथा अनेक महत्वपूर्ण कार्यक्रमों में व्यस्त रहती। उसमें कुछ कर दिखाने की, कुछ वनने की आकांक्षा वड़ी प्रवल थी। सुधीर उसकी हर सुविधा का ध्यान रखता। वह विकास की सीढ़ियाँ चढ़ती चली गई–विश्वविद्यालय में रीडर वनी, प्रोफेसर वनी, विभागाध्यक्ष वनी, डीन आफ फैकल्टी वनी। शायद कुछ आगे वढ़ जाती पर भाग्य ने साथ नहीं दिया। अचानक वज्रपात हुआ, ऐसी जानलेवा वीमारी हुई कि वह विस्तर से लग गया, और धीरे-धीरे अपाहिज हो गया।

सुमेधा की दुनिया ही वदल गई। घर-गृहस्थी के वोझ की, घर की चारदीवारी की, वीमार की तीमारदारी की उसे आदत ही नहीं थी। अतः शुरू-शुरू में वह वहुत घवराई, परेशान हुई, खीझी भी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर भाग्य पर क्या वश चलता। धीरे-धीरे बीमार और घर से वह बँधती चली गई। उसकी खीझ, चीख-चिल्लाहट, गुस्सा, रोने-झींकने में एक विवश त्रासदी थी, असहाय पीड़ा थी। यह सब देखकर वह उसे स्वार्थी, क्रूर, निर्दयी न जाने क्या-क्या सोचता था। फिर उसकी हर बात को अनदेखा करने की आदत-सी डाल ली। फिर उसे दया आने लगी सुमेधा पर–आखिर वह भी तो साठ पार कर चुकी है, शारीरिक शक्तियाँ उसकी भी शिथिल पड़ रही हैं। फिर आदत भी तो नहीं है उसे काम करने की–इसीलिए हर काम चौगुना मुश्किल और भारी लगता है। खीझ, चीख-चिल्लाहट के बावजूद आखिर काम वही आ रही है। उसका सारा काम, देख-भाल उसके ही निरीक्षण में हो रही है। सारे दिन ही नहीं, सारी रात सिर्फ वही तो खटती है उसके लिए।

बेटे-बेटियाँ भी अपना कर्तव्य निभा रहे हैं। अपनी-अपनी तरह, अपनी-अपनी परिस्थितियों में। बड़ी बेटी शैला शादीशुदा है, घर-गृहस्थी है, हर हफ्ते दो बार आकर, दिन में चार बार टेलीफोन कर अपना दायित्व निभा लेती है। बेटा शैलेश पुलिस में बड़ा अफ़सर है। पुलिस की नौकरी की वदहवासी में इधर से उधर भागता फिरता है, वक्त ही नहीं है उसके पास। सरकारी विभाग की सुविधाएँ उसे मिली हैं, इसीलिए नौकर-चाकर की व्यवस्था, अस्पताल का खर्चा आदि वही कर रहा है। इधर-उधर से गुजरते हुए थोड़ी देर को उसे देख जाता है, समय होता है तो दो बात भी कर लेता है। छोटी बेटी मीनू एअर-इण्डिया में है, हवाई जहाज में इधर से उधर घूमने के बीच जितना भी वक्त होता है, उसका ध्यान रखने की कोशिश करती है। पर महीने में मुश्किल से 7-8 दिन ही घर टिक पाती है।

सभी अपनी तरह से जी जान से जुटे हैं उसकी सेवा में। पर फिर भी सारा दायित्व, बोझ सुमेधा पर ही पड़ा है। घर उसका है, अध्यापन-कार्य के कारण वक्त भी उसी के पास सबसे ज्यादा है। अतः मैं उसकी ही जिम्मेवारी पूरी तरह से हो गया हूँ। दिन-भर खटती है, रात को भी उसी के कमरे में सोती है–क्या सो पाती होगी! हर कर्तव्य, हर गलती, हर असावधानी का दोष उसी के सर मढ़ा जाता है। कोई उसका दुख, उसकी परेशानी, तकलीफ कुछ भी नहीं समझता। कितनी लाचार और अकेली है वह। मेरा साथ, मेरा होना या न होना एक-सा ही है। मैं ही हूँ जो उसके बारे में, उसकी ओर से सोचता हूँ, दुखी होता हूँ। और सभी के लिए तो वह चोट करने का आधार बन गई है। अपने लिए जो दर्द है, पीड़ा है, मन में वही उसके लिए भी है। पर उसे बताऊँ कैसे? अकेला मैं झेलता हूँ और वह भी इसे अकेले ही झेलती है, उसका दुख-दर्द बाँटने वाला कोई नहीं है–किस से क्या कह सकती है वह?

मेरा सम्पूर्ण अस्तित्व आवाज़ के घेरे में क़ैद है। मेरे इर्द-गिर्द जीवन का यदि कोई चिह्न है तो वह आवाज़ है। जिस दिन वह खामोश हो जाएगी–मैं मुक्त हो जाऊँगा। पर कब? अभी तो न जाने कब तक ऐसे ही कटेगा। क्या इससे भी भयानक हो सकता है? ये आवाजें भी न सुनाई दें, फिर भी मैं जिन्दा रहूँ, जीवन से पूरी तरह कटकर भी जिन्दा। उसकी विवश आँखों से आँसू टपक गया। सुमेधा ने उसे देखा और आँचल से पोंछ दिया। उस आँचल में एक परिचित खुशबू थी–वह उसने महसूस की। एक सांत्वना, एक आश्वासन-सा अनुभव हुआ। वह खुशबू उसके मन-प्राणों में उतरती गई–और उसे नींद आ गई–आवाज़ के घेरे के टूटने का इंतजार है, वह जिये जा रहा है।

एल-1/15, हौजखास एन्क्लेव
नई दिल्ली-110016

अनेक वर्षों से अप्राप्त

साहित्य और दलित चेतना

संपादक :
डॉ. महीप सिंह
डॉ. चंद्रकान्त वांदिवडेकर

अब नए संस्करण में उपलब्ध
मूल्य
सजिल्द 200 रु., पेपर बैक 120 रु.

अभिव्यंजना
बी-70/72, डी.एस.आई.डी.सी.काम्प्लेक्स,
लारेंस रोड, दिल्ली-110035

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चारुता सागर

प्रतीक्षा

बोलना बंद था। अन्न भी खाया नहीं जाता था। उससे रहा नहीं जाता था। इसलिए वह जुआर के आटे की थोड़ी-सी पेज उसका मुँह खोलकर उसमें छोड़ रही थी। 'नहीं, नहीं' कहते बुढ़िया की गर्दन थोड़ी-सी हिल रही थी। मरने वाले मनुष्य को भूखा कैसे रखा जाए। इसलिए वह उसके मुँह में पेज डाल रही थी। लेकिन बुढ़िया में उसे निगलने की शक्ति नहीं थी। मुँह में से गिरकर नीचे आ रही थी। पूरा महीना हो गया था, बुढ़िया बीमारी से बिस्तर पर पड़ी थी। अब वह उठने वाली नहीं थी। केवल उसकी आँखों में प्राण शेष बचा था, गले की घरघराहट थी। दीये में तेल समाप्त हुआ था। पका हुआ पत्ता गिर जाएगा, क्षण-दो क्षण में, घड़ी-दो घड़ी में। इसलिए सारे वहेलिया निराश होकर राउटी के आसपास बैठे थे। बच्चों के मुँह सूख गए थे।

गिलहरी को मार दिया जाए, दादी को दिखा दिया जाए। पंछी को मार दिया जाए, दादी को दिया जाए, एकाध पंछी पकड़ लिया जाए, "यह देख दादी, मैं क्या लाया।" कहते हुए दादी की ओर भागा जाए। "मेरा तोता रे तोता", कहते बुढ़िया उन्हें अपने सीने से लगा ले। चटपट चुंबन ले ले और उनके सिर पर हाथ फेर लिए जाएँ। स्त्री-पुरुष खेतों-जंगलों में गए थे। पीछे बुढ़िया अकेली थी। बच्चों की प्रशंसा होती थी। लेकिन यह तो बुढ़िया बिस्तर पर पड़ी थी। बोलती भी नहीं, चलती भी नहीं, खाती भी नहीं, पीती भी नहीं। पुरुष आपस में कानाफूसी करने लगे। स्त्रियाँ अलग बातें करने लगीं। तब बच्चों का साहस टूट गया, अब कुछ अशुभ होगा, इसलिए वे डर गये। और वे भी बड़े आदमियों की तरह घुटनों में गर्दन डालकर बैठ गए।

लेकिन बुढ़िया के प्राण अटक गए थे। वह प्रतीक्षा कर रही थी। अब आयेगी, बाद में आयेगी। रहेगी नहीं। सब मिले, पास के, दूर के, केवल वह ही रह गयी। मैं ऐसे ही गयी, तो आजीवन उसके प्राण में मैं अटक जाऊँगी।

"माँ मुझे छोड़कर चली गयी, मरते समय मिली भी नहीं। माँ, मैंने ऐसा क्या किया था? माँ, तुम्हें ममता नहीं है, लेकिन मैं तो कहीं नहीं गयी थी।"

"शादी होने के बाद मिली थी। उसे हुए दो-बारह वर्ष, अब एक बार देख लूँ," इस आशा से उसके प्राण उसकी आँखों में अटके रहे थे। क्षण-क्षण आँखों की पुतलियाँ घूम रही थीं, वह आयी कि नहीं-देख रही थीं, नहीं आयी यह समझकर उसकी आँखें नम हो जाती थीं।

"उसकी प्रतीक्षा करने का समय समाप्त हुआ। उसको आना था तो पहले ही आ जाती। अब बुढ़िया प्रतीक्षा न करे। कौन से मुल्क में होगी, किसे मालूम?"

राउटी के बाहर वहेलिया बोल रहे थे।

जखन्या ने कहा,

"समाचार तो मिल गया कि नहीं, कैसे मालूम होगा?"

जखन्या की बात सच थी। अनेक मुल्क में घूमने वाला कबीला। आज इस पहाड़ी की घाटी में, तो कल बारह कोस दूर की घाटी में। जो भी जानवर मिल जाते, वे उन्हें मार देते, और भूनकर खा जाते। और आगे निकल जाते थे। किसी एक दिशा की ओर नहीं, चारों ही दिशाएँ खुलीं, मनचाहे कहीं भी जाते।

फिर भी उसे समाचार भेजा था-

"बुढ़िया बीमारी से बिस्तर पर पड़ी है। उसका कोई भरोसा नहीं है, जहाँ भी हो वहाँ से आ जाना।"

चिट्ठी लिखे, तो लिखेगा कौन? किसी से लिखवा ली, "दादा, दो अक्षर लिखो।" तो भेजें कहाँ? न घर, न दरवाजा। इस आकाश के नीचे कहीं भी घूमते रहे। खेतों-सिवान में जो दिखाई दे उसे उठा लिया। कभी पकड़ लिए गए तो किसान की मार भी मिलती-फिरते नहीं। माँ-बाप, सरकार, पेट बहुत बुरा। नंगे पेट पर मार खा लेते, उसके पाँव पकड़ते, उसके सामने गिड़गिड़ाते। दया आयी तो छोड़ देता। काई चौपाल पर ले जाता। फिर चार दिन पाटिल थानेदार के।

थानेदार धमकी देता है-"यहाँ से आज ही चलो जाओ। मेरी सीमा में तुम नहीं रह सकोगे तो तुम्हें छोड़ देता हूँ।"

"जी हाँ, सरकार, नहीं रहेंगे। आज ही जाएंगे। अभी जाते हैं, सरकार, नहीं रहेंगे, जाते हैं।"

उन्हें बहुत आनंद होता है। आकाश खुला लगता है। तहसील के सामने वाला पड़ाव निकल पड़ता है। छोटे-छोटे बच्चे आगे भागने लगते हैं। पीछे-पीछे कुत्ते भागने लगते हैं। उस थानेदार की सीमा में नहीं आएंगे, उसे दिखाई भी नहीं देंगे, ऐसा कहकर चले जाते हैं और गाँव से दूर पहाड़ी-घाटी देखकर उतर जाते हैं। ऐसा यह दिशाहीन जीवन! इनका गाँव कहाँ? और कहाँ सीमा?

दंडोबा की घाटी में जखन्या की बस्ती पड़ी हुई थी। उसकी बस्ती को कवठे गाँव का बाजार नजदीक था। फिर भी चार कोस दूर। जखन्या ने इसी बाजार में समाचार कह दिया था-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"भीमा बहेलिया से कहे कि अब बुढ़िया अधिक दिन तक जीवित नहीं रहेगी, बिस्तर पर पड़ी है और कावरी को भेज दे। उसके बिना उसके प्राण नहीं जायेंगे। उसके लिए उसके प्राण अटक गए हैं...।"

कावरी जखन्या की बहन।

"सच कहते हो? जीवित नहीं रहेगी?"

"बिल्कुल सच, जीवित नहीं रहेगी।" इस अर्थ से जखन्या ने अपनी गर्दन हिलाई । खंखारते हुए उसने अपना गला साफ किया था। आँसुओं से भरी आँखें उसने साफ की थी। आसपास इकट्ठा हुए बहेलिया बहुत दुखी हुए थे। वे बाजार में मारे हुए जानवरों की खाल बेचते थे, सप्ताह का सौदा-सुलफ करते थे। सूर्य ढलने पर सभी बहेलिया एक पेड़ के नीचे इकट्ठा होते थे, तेल, शक्कर लाते थे और बड़े प्रेम से मिलजुलकर बैठते थे, मिठाई खाते थे, बातचीत करते थे–हवा, पानी, कौन जन्मा, कौन मरा, कौन जेल में गया, कौन छूटा, सारी की सारी बातें अपने कबीले की। इसमें किसी की शादी की वार्ता होती थी और किसने किसे तलाक दिया, यह भी मालूम होता था। यह सब जानने के लिए हर दिशा के बहेलिया बाज़ार के लिए आते थे और दो-बारह कोस पर होने वाले रिश्तेदारों की वार्ता लेकर चले जाते थे।

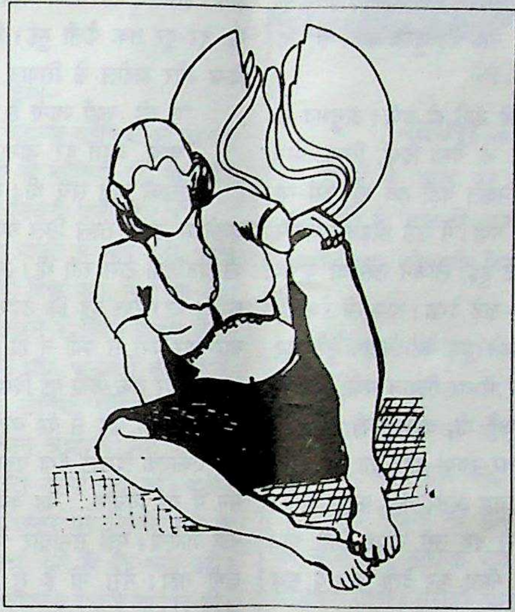

उस दिन बहेलिया ऐसे ही कवठे के बाजार में आए थे। वहाँ से जखन्या का समाचार पानी पर तेल की परत-सा सारे मुल्कमें फैल गया। जत, मोहोल–यह पूर्व दिशा; विटा, बारामती, पुणे–यह उत्तर दिशा का मुल्क; अथणी से विजापूर, वहाँ से आगे डुबकी, दावणगिरी–यह दक्षिण दिशा का मुल्क; मिरज से आगे निपाणी, कोल्हापुर, उसके आगे पश्चिम दिशा की कोंकणपट्टी और बीच-बीच में चिपलूण, चाकण जैसे बड़े गाँव के बाजार में इकट्ठा हुए बहेलियों को यह समाचार जानते-जानते पंद्रह दिन लग गए।

तुलजापुर के बाजार में कावरी और उसका पति आया था। उसने अपने पास की खाल बेच डाली, सौदा-सुलफ किया। अब एक बार सबसे मिलकर जाने के लिए वह गाँव के बाहर नीम के पेड़ की ओर मुड़ गया। वहाँ एक-एक बहेलिया इकट्ठा हो रहा था। सूर्य ढला था। मिठाई खाते-खाते एक बार हालचाल मालूम हुए कि जाने के लिए मुक्त।

"भीमा, आओ," शिवन्या ने कहा। उसे बैठने के लिए जगह दी।

"मिठाई लो, उसे दो।"

भीमा ने मुट्ठी-भर मिठाई ली, कावरी को दी।

"भीमा, एक समाचार था। सोलापुर के बाजार में मुझे मिला, तुम्हारी सास बिस्तर पर पड़ी है। उसकी बीमारी गंभीर है, कावरी को बुलाया है, भेज दो उसे, मिल आने दो।"

कावरी के मुँह की मिठाई मुँह में रह गयी। भीमा ने अपना हाथ पीछे खींच लिया, मुँह की मिठाई एकाएक निगलते हुए कहा, "कौन से मुल्क में है?"

सोलापुर से आये बहेलिया ने उस मुल्क को आँखों के सामने लाते हुए कहा,

"पंढरपुर के आगे सांगोला, उसके बाद कवठा, वहाँ कहीं एक पहाड़ी है। उसकी घाटी में राउटी डाल दी है, लेकिन मिरज के पार नहीं है, इस पार।"

अधिक बीमार हुए बगैर समाचार नहीं आयेगा। मिले कितने वर्ष हुए। ऐसी ही खड़े-खड़े मुलाकात हुई थी। बहुत समय हुआ होगा। कावरी की आँखें तर हो गयीं।

"जाती हो तुम? देखकर आओ, मैं ये चार बच्चे लेकर यहाँ रहता हूँ।" भीमा ने पैरों का छल्ला हिलाते हुए कहा।

"एक जगह रहकर खायेंगे क्या?"

"देखता हूँ कुछ तो, तुम जाओ, मिलकर आओ। बुढ़िया बहुत बीमार होगी।"

रुपये-रुपये के दो नोट निकालकर उसे दिये। उसने उन्हें कमर में खोंस लिया। छोटे बच्चे को बगल में लिया, शेष बच्चों पर नजर घुमायी। उनमें से एक दयनीय होकर देख रहा था। उसे पास लेकर कहा–

"अभी आती हूँ। कहीं दूर न जाना। आक्का के साथ खेलो।"

फिर से एक बार पंछी-सी बच्चों पर से नजर घुमायी और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी राह पर चलने लगी।

सूर्य ढल गया था, फिर भी धूप की गरमी झुलस रही थी। आँखों पर आ रही थी। सिर के सूखे बाल खड़े थे। हवा होती तो उड़े हुए होते। घुटनों के ऊपर खोंसी हुई काँछ की चिंदी, आँचल से छिपाया हुआ सीना। तुलजापुर छोड़ दिया और आगे निकल पड़ी। एक-एक पैर आगे रखते हुए, थोड़ा-थोड़ा अंतर काटते हुए वह राह पर चलने लगी। नंगे पैर, तपी हुई राह, अच्छे कोलतार की चमकीली काली, पैरों को आँच देने वाली राह। दूसरे आदमी मोटर से जा रहे थे। उनका एक घंटे का रास्ता, इसका पूरे एक दिन का था। लेकिन यह विचार उसके मन में नहीं था। उसका शरीर यंत्र-सा चल रहा था, मन माँ के पास था। बचपन में अकेली होने से उसने कैसे पाला-पोसा, छोटे से बड़ा किया और एक दिन एक बाजार में भीमा ने उसे देखा, "बाबा, मेरा कुछ कहना नहीं है, तुम्हें पसंद है, तो ठीक है।"

उसने मेरी ओर देखा। मेरी आँखें नीचे हो गयीं। अनुभव से आयी माँ की समझ। भीमा के बाप ने जो पैसा दिया, लिया और शादी कर दी। मैं जब जाने के लिए निकल पड़ी तब माँ गाय-सी रँभायी। आँखों में से नदी-सा पानी बह गया। मैं उसे छोड़कर चलने लगी, अब माँ से भेंट कब? माँ से भेंट हुई, लेकिन उसे दो बारह बरस हुए, बहिरुबा के मेले में उसे खड़े-खड़े देखा। गाय-सी रँभायी, वह रात-भर सोयी नहीं। बातचीत करते हुए बैठी रही। टूटे हुए रिश्तों को जोड़ रही थी, और बड़ी भोर में वह निकल गयी, तो इस घड़ी तक...। तब ही वह बुढ़िया हो गयी थी, बहुत थकी हुई थी।

अनेक विचारों से उसका हृदय भर आया और वह तीव्र गति से चलने लगी। एक-एक पैर चलकर वह अंतर कम करने लगी। बगल का बच्चा फिसलता था, फिर से वह उसे ऊपर लेती थी। उसका सूखा मुँह आँचल को लगाकर गीला कर देती थी। ये सब चलते-चलते करती थी।

उसकी चिंता एक, माँ से भेंट। कहाँ मिलेगी? कैसे भेंट होगी? कब से बीमार है? और समाचार कब भेजा है? यह तो किसे मालूम?

सूर्यास्त होने लगा तब उसके मन का साहस टूटा। माँ की यादें जागृत हुई। उसने कभी भी कम पड़ने नहीं दिया। मुट्ठी से लाया और खिलाया। थोड़े समय में अँधेरा हो गया। आकाश में चाँदनी दिखाई देने लगी। यहाँ ठहरना नहीं, कम-से-कम सोलापुर पहुँच जाना चाहिए। इसी विचार से वह चलने लगी। घंटे-भर चलने से बिजली के दीये दिख पड़े। बिजली के प्रकाश में अंधेरे की राशि निखर उठी। दीये चमक रहे थे। वह एक पेड़ के नीचे बैठ गयी। यहाँ शेष रात बिताऊँगी और फिर रात उतरने पर चली जाऊँगी। पेट में कुछ नहीं है। गला सूखा-सूखा। पानी कौन देगा? पड़ोस में इमारत थी, उसका फाटक, दरवाजा बंद था। उसने ऊपरी मंजिल पर देखा, खिड़की में से नीला-सा प्रकाश दिखाई दे रहा था। रेडियो का संगीत सुनाई दे रहा था। थोड़े समय में वह प्रकाश बुझ गया। रेडियो का संगीत भी बंद हुआ। प्यास लगी थी पर वैसे ही बुझ गयी। गर्दन के नीचे हाथ लिया और लड़के को सीने को लिपटाकर सोयी। बड़ी भोर में, जल्दी ही निकलना है, इस विचार से। वह सो गयी, क्षण-भर की नींद।

कोई उठा नहीं था, तब उठी। ऊपर आकाश में देखा। रात कम हो गयी थी। बच्चा नींद में था। उसे उठा लिया और चलने लगी।

एक, दो, तीन। ऐसे ही दिन बीत रहे थे। कितनी ही सवारियाँ आती थीं और जाती थीं। सिर्फ वह पैरों से चलकर अंतर पाटती थी। उसे लगता था कि जल्दी पहुँचना चाहिए। माँ प्रतीक्षा कर रही होगी। इसलिए वह जल्दी चलती थी। लेकिन राह तो कम नहीं होती थी, दूर-दूर तक फैली हुई। फिर भी उसने सांगोला, पंढरपुर पार किया और हादील के सिवान में घुस गयी।

"ए स्त्री, कहाँ जाना है तुझे?" एक मुसाफिर ने उससे पूछा।

"बाबा, बहुत दूर जाना है।"

उसकी बात सच थी। बहेलिया को कहाँ का ठिकाना? सतत चलने से उसके तल्ले छिल गए थे। पैरों में सूजन आ गई थी। पैरों की पिंडलियाँ टीस रही थीं। आगे और राह थी। लेकिन उसे एक ही ख़याल था। रात हुई कि ठहरना है। रात कम होने पर चलना है। चार-चार पैरों से क्यों न हो, अंतर पाटना है। आगे देखा जाए तो राह दूर-दूर तक फैली हुई दिखाई देती थी। मोड़ ली हुई, उतार-चढ़ाव वाली। माँ की याद से वह व्याकुल होतीं थी। क्या माँ से भेंट होगी? क्या एकाएक दिखाई देगा पड़ाव? नहीं तो प्रतीक्षा करके.... लेकिन मन में यह विचार....यह क्या बुरी बात....छिः, छिः। माँ छोड़कर नहीं जाएगी। मुझे समाचार भेजा है, वह जाएगी कैसे? नहीं, नहीं, कभी नहीं। मेरी माँ है तू...मैं आयी हूँ...ठहर जा...माँ ठहर जा...।

पाँचवें दिन उसे दंडोबा की कतार दिखाई दी। आठ-दस मीलों की नीली-सी कतार। उसने आगे देखा। पहाड़ी के घाटी के नजदीक ही गाँव दिखाई दिया। फिर उस गाँव में प्रवेश किया। जो भी मिलता था उससे पूछती थी–

"बाबा, यहाँ एकाध बहेलिया की राउटी है?"

"ए औरत, तुम्हें दिखाई दी राउटी?"

"नहीं, कहीं दिख नहीं पड़ी?"

"ए बच्चे, तुझे?"

"नहीं," कहने पर वह निराश हो जाती थी।

फिर सिवान में देखती थी, पठार पर देखती थी। कोई मिला तो उससे पूछती थी।

"यहाँ बहेलिया की एकाध दूसरी राउटी है?"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"नहीं" कहने पर फिर से हताश हो जाती थी।

बिल्कुल निराधार, न घर की न घाट की।

दूसरे दिन उसने दंडोबा का कोना-कोना छान डाला, घाटी-कंदराओं में, काँटों में, लेकिन तलाशने से राउटी का पता नहीं लगा। उदास हो बैठी। पेट में अन्न नहीं, पैरों में चलने की शक्ति नहीं, सारे शरीर में टीस होने लगी। लेकिन बैठकर नहीं चलेगा। खोज करनी चाहिए। वह मेरी प्रतीक्षा कर रही होगी।

वह उठी, आगे निकल पड़ी। एक बूढ़ा किसान अपने खेत में दूब खोद रहा था। उसने पूछा,

"बाबा, यहाँ कोई बहेलिया ने पड़ाव डाला है?"

बूढ़े ने कुदाल ठहराकर उसकी ओर देखा। माथे का पसीना पोंछ डाला और कहा–

"क्या तू दहेलिया की?

बिल्कुल सूखी आवाज में उत्तर दिया–

"जी हाँ, दादा, मैं बहेलिया की, जखन्या बहेलिया की बहन।"

"फिर वहाँ देख, एक राउटी पड़ी थी बहेलिया की, पंद्रह दिन थी राउटी, है कि नहीं देख, उसे देख निचली घाटी में...।"

उसकी जान में जान आयी। वह जल्दी से भाग उठी, आँखें फाड़कर देखा। लेकिन कहीं भी कुछ नहीं दिख पड़ा, फिर वह आगे बढ़ी और एकाएक ठहर गयी। राउटी उतरने के चिह्न दिखाई दिये। चूल्हा, चूल्हे के पत्थर, मारे हुए पंछी के पंख, जानवरों की हड्डियाँ, घास काटी हुई जगह, टूटी-फूटी खूँटियाँ, तीतियाँ, खूँटियाँ खींची हुई जगह। उस पार ठोंके हुए झंडे, सारे चिह्न अभी के। वैसे के वैसे। एक बहेलिया की राउटी जैसे। यह राउटी उसके भाई की। यकीन होने लगा। उसने दूर तक देखा। थोड़े अंतर पर निचले नाले के पास, उसका हृदय बिजली-सा चमक उठा, वैसे ही वह भाग उठी। क्षणभर ठहरी–बिल्कुल पगली-सी, फिर एकाएक रँभायी जानवर-सी।

"ए मेरी माँ...ए मेरी माँ...मेरी प्रतीक्षा भी नहीं, मुझे समाचार भेजा और तू चली गयी। अब कहाँ मिलूँ? कैसे मिलूँ? माँ, मैं आयी हूँ, तुम्हें मिलने के लिए आयी हूँ। सिर्फ मुँह तो दिखाओ। मुझ से बोल तो एक शब्द...माँ, मेरी प्रतीक्षा भी नहीं की...।"

विह्वल होकर वह रोने लगी। दफनायी गयी मिट्टी बिखेरने लगी। सीने को लगाकर पीटने लगी। मिट्टी के ढेर पर सिर पटकने लगी।

ऐसी पगडंडी पर कौन आक्रोश कर रहा है? किसी को क्या हुआ? चरवाहे देखने के लिए दौड़कर आए, लकड़ियाँ इकट्ठा करने के लिए आयी स्त्रियाँ भागती हुई आईं, वह किसान भी आया, और उन सबको देखकर उसका हृदय भर आया, आँखों से आँसू बहने लगे। स्त्रियों की आँखें भी तर हो गयीं। उन्होंने कहा–"लड़की है तू उसकी? उसने तुम्हारी बहुत प्रतीक्षा की। तुम्हारे लिए उसके प्राण उसकी आँखों में अटक गए थे। पिछले बुधवार को गयी। उसके प्राण नहीं निकल रहे थे। हम देख रहे थे, आते-जाते। भेंट होने वाली नहीं थी।"

थोड़े समय में सब चले गए। माँ के खाने के लिए गठरी में बाँधकर लायी हुई वस्तुएँ उस मिट्टी के ढेर पर रख दी। काँव-काँव करते हुए कौए इकट्ठा हुए। वह वहाँ से दूर जाकर खड़ी हो गई, और कौए उन वस्तुओं को खाने लगे।

अनुवादः डॉ.के.जी.कदम
द्रोपदी समर्पण, दत्तनगर
मु.पो.मोडनिंब, तालुका-माढा
जिला-सोलापुर (महाराष्ट्र)

ईरानी लघु कथा

म.द.जोहरा

जमाने की माँग

ईरान में 'शाह पर लानत' के नारों का सैलाब था। अखबारों में 'शाह के अत्याचारों' की चर्चा थी। कहानियों में उसके द्वारा की गयी हिंसात्मक घटनाओं का लेखा-जोखा था।

कविताओं में उसके द्वारा दिये गये दुखों का तराना था। गरज कि हर तरफ शाह का तहलका मचा हुआ था।

"शाह ईरान का गौरव था, शाह पश्चिम एशिया का नब्ज़ था, यह आज कोई लिखे तो मैं उसे लेखक समझूँ!"

"ऐसी मूर्खता की बात कोई क्यों लिखने लगा? जमाने की माँग और तकाजा कुछ और कह रहा है कि शाह ईरान छोड़कर जाये। उसकी प्रशंसा से आपका अर्थ क्या है?"

"नमक हलाली! तुम्हारा कहना उचित है कि आज जमाने की माँग और तकाजा कुछ और है, मगर आज से मैं तुम्हें एक बेबाक लिखने वाला तसलीम करने से इन्कार करता हूँ, क्योंकि तुममें गट्स नहीं हैं!"

"कैसे?"

"अगर होते तो सच्चाई लिखते, जो कल हमारे सामने साफ खुलकर आयेगा, मगर तुम्हारी कलम आज के अधीन है, और आज तो यह हालत है कि अगर खुद शाह यह सब खुली आँखों से देखे, तो इस शोरगुल और हंगामे को देखकर भीड़ में खुद शामिल होकर चिल्लाने लगेगा, 'शाह पर लानत!' क्योंकि जमाने की माँग यही है।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मधु सन्धु

शोधतंत्र

चपरासी की अनुपस्थिति पर श्रवण चाय का ऑर्डर कर आता। सफ़ाई कर्मचारी की छुट्टी पर कमरों के दरवाज़े खोल अनिवार्य सफ़ाई देख लेता। क्लर्क के न आने पर पत्राचार कर लेता। सारे फोन कॉल अटेण्ड करता। स्टैनो के अवकाश पर संगणक के आगे बैठ दो-चार पत्र टाइप कर देता। प्राध्यापकों के लेट आने पर, न आने पर या फरलो मारने पर उनकी क्लासेज लगा लेता। शुरू-शुरू की नासमझियों में उसने इसे बेगार समझा था। लेकिन जल्दी ही वह जान गया कि हथेली के फफोलों की तरह यह सब उसकी नौकरी का हिस्सा है, शोध तंत्र का एक तेवर मात्र है। जीवन का यह संघर्ष-काल था। नकारात्मक मुद्राओं को त्यागे उसे वर्षों हो गए थे, पर काम बन ही नहीं रहा था। यह फैलोशिप उस पर अमरबेल की तरह छाई थी। सुरसा के मुँह की तरह आलतू-फालतू काम बढ़ते ही जा रहे थे। वह सब की जरूरत था और सबके मन में एक ही भय था कि अगर वह कुछ बन गया तो बेगार कौन करेगा। उसे मुग़ालता था कि बेगार के इन छोटे-मोटे सीरियलों से वह एक दिन हायर एजुकेशन की शिक्षा इण्डस्ट्री में पहुँच सुपर-स्टार अवश्य बनेगा। किन्तु अभी तक क्लास रूम में उसका उपयोग वैसे ही था जैसे फ़िल्म इंडस्ट्री में एक्स्ट्रा का होता है।

विश्वविद्यालीय नियमों के अनुसार यू.जी.सी. का टेस्ट क्लियर करते ही उसे फैलोशिप मिल गई। गाइड मिला, पीएच.डी. का विषय मिला। अलग कमरा, एक देदीप्यमान सम्मान, 'सर', 'सर' कहते छात्र-छात्राएँ-वह जीवन में हिट हो गया था-वैसे ही जैसे 'माचिस' फ़िल्म में चंद्रचूड़ सिंह, पर उसके बाद लगातार फ्लाप होने का सिलसिला चल निकला।

श्रवण का कब मन था शादी के लिए? न गली-मुहल्ले के किसी संगी-साथी की अभी शादी हुई थी, न स्कूल-कॉलेज के किसी दोस्त की, न रिश्तेदारों के किसी हमउम्र युवक की। फैलोशिप मिल गई थी-विश्वविद्यालय में प्रवेश का वीज़ा। होनहारी के चर्चे यहाँ-वहाँ फैलने लगे थे। कड़े और खड़े बाल शैम्पू, कंडीशनर और डोगरा हेयर सैलून क सहयोग से शाहरुख कट बनाने लगे थे। साँवला रंग निखरने लगा था। हाई हील शूज़ के चमत्कार से पाँच फुट पाँच इंच क़द पाँच आठ हो गया था। रूखी कसी त्वचा पर ग्लो आ गया था। बिरादरी की एक एम.ए.पास लड़की पसंद कर ली गई। वह इन्कार करता रहा, पर परिवार वाले नहीं माने। होनहार युवकों के साथ ऐसा ही होता है। अंततः बड़े-बूढ़ों द्वारा एक साज़िश रची गई। श्रुति किसी विश्वविद्यालीय काम के सिलसिले में उससे कैम्पस में मिली। लाइट ब्लू जीन्स, आरेंज़ टाप, ब्लैक एण्ड आरेंज़ फ्लैप, सफ़ेद स्पोर्ट्स शूज़, करीना कपूर जैसे सन-ग्लासेज़-उसे अपने भाग्य पर यकीन नहीं हो रहा था। स्लिम ट्रिम फिगर और कसी हुई हाई पोनी उसे बाईस से सोलह की उम्र तक ले जा रही थी। वह थी भी चुलबुली टीन-एज़र सी। अब उसका मौन चीख-चीखकर विवाह की स्वीकृतियाँ देने लगा था। मन में केवल इसी दिन का इन्तजार रच-बस गया था।

किन्तु जब से शादी हुई है, वह डरपोक हो गया है। मानो दो पाटों के बीच में पिस रहा है। इन पाँच-छह हज़ार से वह क्या-क्या करे। एक ओर श्रुति का मुरझाया मुख उलाहने देता और दूसरी ओर पिता का आकुल चेहरा प्रश्न करता-क्या नहीं किया तुम्हारे लिए? नालायक! पढ़ाया, लिखाया, शादी की। कई बार तो मुँह में पड़ा कौर वहीं अटक जाता और वह किसी तरह गले से उतार बिना पानी पिए ही उठ जाता। वह किसी संस्कृतज्ञ का बेटा नहीं था कि सुबह स्नान करते-करते ही मंत्रोच्चार से घर-बाहर को पवित्र करता उसे वरदानों से भर देता। उसका पिता धन-कुबेर भी नहीं था कि किसी पहाड़ी प्रदेश के आभिजात्य स्कूल में पढ़ने के बाद उच्च पदस्थ हो सबको आतंकित करता। किसी रिश्वतख़ोर ऑफ़िसर के यहाँ भी वह पैदा नहीं हुआ था कि पिता पाँच-छह लाख से प्रोफ़ेशनल कॉलेज में एडमिशन खरीद देता। कोई चापलूस बाप भी उसे नहीं मिला था कि ऑफ़िसरों के तलुए चाट-चाटकर उसे कहीं एडजस्ट करवा देता। श्रवण सेल्फ़-मेड परसन था। यानी आगे नाथ न पीछे पगहा का लौह लेबल गले में लटकाए था।

शुरू-शुरू में वह साढ़े तीन बजे उठता तो श्रुति कुनमुनाने लगती, 'लाइट बंद कर दो प्लीज़। खटर-पटर रहने दो। अभी तो आधी रात है।' वग़ैरह-वग़ैरह। पर वह चुपके-चुपके बिना आवाज़ किए उठता और साढ़े सात तक टेबल लैम्प के आगे जुटा रहता। थीसिस उसने पिछले वर्ष ही पूर्ण करके गाइड महोदय को दे दिया था, ढेर सारे इंटेलेक्चुअल कामों में व्यस्त होने के कारण वे इसके लिए वक्त नहीं निकाल पा रहे थे। वह वरिष्ठ प्राध्यापकों के लिए ट्रांसलेशन का काम करता। उनके नाम से सम्पादित होने वाली पाठ्य-पुस्तकों पर घण्टों लगाता। उनके रिसर्च वर्क के लिए कच्चा माल जुटाता। भिन्न विश्वविद्यालयों से आए उनके पेपर चैक करता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और फिर इन दरबारियों के घर जा कोर्निश बजाने की ड्यूटी भी निभाता। कोर्निश के धन्धे में कई बार गड़बड़ हो जाती। यूँ तो वह एकदम रेगुलर था, पर कई बार उसे विभाग से एकदम अनुपस्थित होना पड़ता। उसने इसे शोषण नहीं, भविष्य का पोषण मान लिया था।

विश्वविद्यालय-इतिहास से वह शीघ्र ही परिचित हो गया था। कहते हैं पहले रोटेशन नहीं थी। सिर्फ एक विभागाध्यक्ष होता था-जंगल का शेर। सभी उसी के यहाँ पानी भरते थे। उसके गार्डन में सब्जियाँ उगाते थे। उसके बच्चों के जूते थैले में डालकर जुड़वाकर लाते थे। वेजीटेरियन होते हुए भी उसके लिए मुर्गे, बकरे, सुअर का मीट खरीदते थे। उसके बेटे-बेटियों को पढ़ाते थे। डोल पकड़ दूध लाते थे। झोला उठा सब्जियाँ खरीदते थे। उसके मेहमानों को लाते-छोड़ते थे। स्टेशन पर टिकट बुक करवाते थे। उसके पास बैठना सौभाग्य मानते थे। उसके शेखचिल्लीपन पर दाद देते थे। उसके घर बदलने पर यारों-दोस्तों, परिचितों-अपरिचितों से कारें-वारें माँग सामान ढोते थे। कन्स्ट्रक्शन के समय ईंट-सिमेंट ढोने में, मारबल, चीड़ लाने में, कुंडियाँ-ताले फ़िट करवाने में मदद करते थे। उसकी पत्नी को बैंक, डिस्पेंसरी, दर्जी के यहाँ ले जाते थे। शायद बेगार के ये तार भूमण्डलीकरण से जुड़े नहीं थे। इसीलिए रोटेशन आया और अवतारी अध्यक्ष बारी-बारी कर दिए गए। भले ही स्थितियाँ बदल गई थीं लेकिन अब कितने ही गॉड फादर थे, सभी को प्रसन्न रखना अनिवार्य था। दो बार विभाग में लेक्चरर रखे गए, पर यह फैलोशिप उसके लिए स्पीडब्रेकर बनकर रह गई। न उसका थीसिस चैक हो सका, न नौकरी मिल सकी। इतनी मेहनत के बाद भी हाथ कुछ नहीं आ रहा था। पुरानी कहानी, क्रानिकल रोग, किससे कहें? रात को जब पति-पत्नी चुपचाप बैठे होते तो लगता मानो वे एक दूसरे को सुन रहे हैं, जबकि दोनों में से बोल कोई नहीं रहा होता था। ऐसे पल उन्हें दर्शक बना देते। पूरे दिन का लेखा-जोखा वे मन ही मन करते।

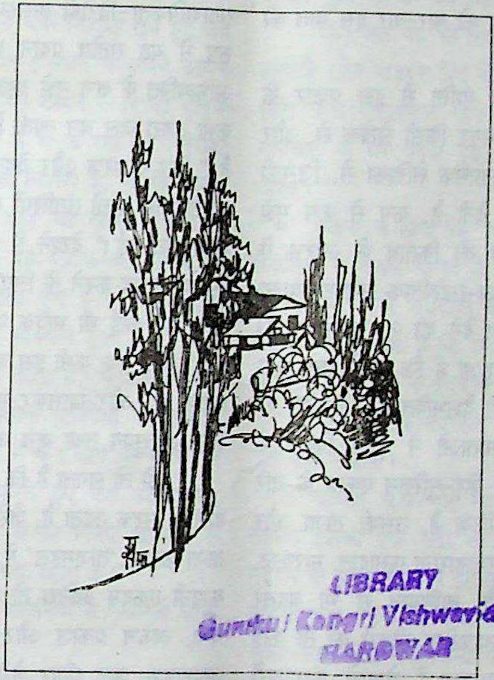

LIBRARY
Gurukul Kangri Vishwavidyalaya
HARDWAR

कहते हैं 'ए मैन इज़ नॉट फिनिश्ड, व्हैन ही इज़ डिफीटेड, ही इज़ फिनिश्ड, व्हैन ही क्विट्स।' श्रवण न हारा था, न थका था। प्रयत्न बेकार तो नहीं जाते। इन्टरव्यूज़ के लिए यहाँ-वहाँ धक्के खाते-खाते श्रुति की एक प्रायवेट पब्लिक स्कूल में सोशल-साइंस टीचर की नियुक्ति हो गई। वेतन कम था, पर था। वर्षों की घुटन के बाद श्रुति को हमजोलियों का साथ मिला था, जीवन सामान्य हुआ था। अब अगर श्रवण सारी फैलोशिप माँ को पकड़ा भी दे तो दोनों के सारे ऊपरी खर्च निकल आते। अब राखी पर बहन भी खुश थी और मैरिज़ एनीवर्सरी पर साली भी। वर्षों की घुटन के बाद अब श्रुति तो इतनी खुश थी मानो अम्बर छू लिया हो। प्रिंसिपल के आदेश और दूसरे सहकर्मियों के सहयोग एवं प्रेरणा से उसने बी.एड. का मन बनाया। लखनऊ विश्वविद्यालय के पत्राचार का फार्म भरा, परीक्षा के लिए बैठी और पास हो गई। इस फटीचर फैलोशिप के लिए सौ-सौ पापड़ बेलते थके श्रवण ने भी उसके साथ एग्ज़ाम दे उस तंग सुरंग से बाहर निकलने का मार्ग बना लिया। अब वह बेगार में मिट्टी करने वाला समय इधर-उधर एप्लाई करने में लगाता। घोर परिश्रम करता और एक दिन उसने स्थानीय स्कूल में नौकरी पा ही ली। वह तो समझता था कि भगवान के घर देर भी है और अंधेर भी, किन्तु अब सचमुच [illegible] दिन बदल गए थे। दारिद्र्य और तंगहाली से छुटकारा मिल गया था। श्रुति शाम घर के काम-काज में बिताती तो वह ट्यूशनों में। शरीर में अदम्य स्फूर्ति रहती। न कोई थकन, न आलस्य। काँटों की शैय्या झेलने के बाद के रेशमी क्षण बहुत गुदगुदाते थे, आश्वस्त करते थे।

गली कुछ छोटी थी, यही सोलह फुट चौड़ी होगी। इसीलिए सुबह स्कूल जाते वक्त श्रवण गाड़ी का बैक गियर घुमाता तो श्रुति पीछे से हिदायतें देती जाती और गाड़ी के फ़र्स्ट गियर में आते ही साथ की सीट पर आकर बैठ जाती। यह गाड़ी पिछले माह उन्होंने बैंक लोन पर ली है। एक वेतन कार लोन में, ट्यूशन्ज लाईफ इन्शयोरेंस वगै़रह में और श्रुति का वेतन घर-बाहर के सारे खर्च निपटाने में। बड़े बुरे दिन देखे हुए हैं उन्होंने। इसलिए किफ़ायत और सलीक़ा दोनों आज हमसफ़र बने हुए हैं।

बी-14, गुरु नानक देव विश्वविद्यालय,
अमृतसर-143005, पंजाब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्रोणवीर कोहली

नासिरा शर्मा का कथा-संसार

मैं उन दिनों आकाशवाणी के समाचार विभाग की तरफ से संसद में वरिष्ठ संवाददाता की हैसियत से जाया करता था। एक दिन लोकसभा में बहस के दौरान जनाब फ़ारूक अब्दुल्ला भाग ले रहे थे। अपने भाषण के दौरान वह बार-बार कह उठते थे कि भारत उनका देश है। मैं हैरान था कि इतने बड़े नेता को बार-बार इस बात की दुहाई देने की क्या ज़रूरत थी।

राजनीति करने वाले किसी भी व्यक्ति से इस प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा की जा सकती है, मगर किसी लेखक से, और नासिरा शर्मा जैसी प्रतिष्ठित और सर्जनात्मक लेखिका से, जिसकी कथा-शैली पाठक को झंझोड़कर रख देती है, कम से कम मुझे तवक्को नहीं थी कि अपनी कहानियों की किताब के आरंभ में 'अपने प्यारे हिंदुस्तान के नाम' जैसा अ-साहित्यिक समर्पण-वाक्य लिखकर वह अपने देशप्रेम का परिचय देने की ज़रूरत समझेंगी। यह बात मैं इसलिए कहने को विवश हुआ हूँ कि हमारे झूठे और अनपढ़ किस्म के लीडरों ने, और झूठी देशभक्ति और देशप्रेम का राग अलापने वाले घटिया फिल्म-निर्माताओं ने फूहड़ किस्म के सांप्रदायिक सौहार्द्र और विशेष रूप से हिंदू-मुस्लिम एकता के नारे लगा-लगाकर मुल्क का जो बंटाढार किया है, उसकी ताज़ा और घिनौनी मिसाल है गुजरात के भीषण फिरकादाराना फसादात, मारकाट, आगज़नी, जब इनसान हैवान से भी, तालिबान से भी बदतर व्यवहार करने पर उतर आया था। तथाकथित लीडरों का तो कोई मुँह बंद नहीं कर सकता, लेकिन मैं समझता हूँ, लेखकों, कलाकारों आदि को इस प्रकार नारेबाज़ी का लोभ संवरण ही करना चाहिए।

नासिरा शर्मा के कहानी-संग्रह **इनसानी नस्ल** में कुल तेरह कहानियाँ हैं, और इसमें सम्मिलित इसी नाम की एक कहानी पर संग्रह का नामकरण किया गया है। मेरी यह व्यक्तिगत राय है कि किसी कथा-विशेष को लेकर संग्रह का नामकरण नहीं किया जाना चाहिए, हालांकि देश-विदेश में अधिकांश लेखक ऐसा करते आए हैं। इसमें सबसे बड़ा ख़तरा मुझे यह लगता है कि आम पाठक यह मान बैठता है कि संग्रह में लेखक की यह सर्वोत्तम कहानी होगी, जबकि प्रायः ऐसा नहीं होता।

यही बात 'इनसानी नस्ल' कहानी के बारे में भी मैं कहना चाहता हूँ। इसी धारणा से मैंने सबसे पहले यही कहानी दुबारा पढ़ी और इसके बाद संग्रह की बाकी कहानियाँ पढ़कर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यह संग्रह की सर्वश्रेष्ठ कहानी नहीं है। इससे कहीं बेहतर दूसरी कहानियाँ हैं जैसे 'मरुस्थल' कहानी। इस कहानी की काव्यात्मकता, वर्णन-शैली, भाषा-प्रवाह सहज ही बाँध लेता है। इस कहानी की सबसे बड़ी खूबी यह है कि नासिरा की अनेक कहानियों की तरह इसमें प्रचार या आर्य समाजी सुधार तत्व की छौंक की तरह सांप्रदायिकता-विरोधी असहज ग्लानि-भाव नहीं है। एक कहानी के रूप में यह संतोष प्रदान करती है। कहानी में कुछ संवेदनशील अभिव्यक्ति के क्षण मुझे बहाकर ले गए। एक उदाहरण : "संवेदनाएँ कभी ठहरा जल बन जाती हैं, तो कभी बांध तोड़ विस्तार पा जाती हैं।" फिर अचरज और वेदना के ये उदाहरण – "चेहरे पर अचंभे की छाप की पाँचों उंगलियाँ साफ उभरती दिखीं।" या "चेहरे से जैसे खुशी रूठ गई।" देखने में तो ये साधारण वाक्य लगते हैं, लेकिन इन्हें कलमबंद करने के लिए लेखक किन अनुभवों से होकर गुजरता होगा, यह कोई भी भावुक पाठक सहज ही अनुमान कर सकता है।

बस, एक कमी इस कहानी में यह अखरती है कि अंततः यह पाठक को, और खासकर मुझे, प्यासा ही छोड़ जाती है; हू-डन-इट जैसा औत्सुक्य तथा कुछ अधिक जानने की ललक बनी रहती है।

मुझे तो लगता है कि नासिरा की अनेक कहानियों में यह तत्व हौले से सरक आता है, जैसे अभी-अभी एक पत्रिका में छपी उनकी ताजा कहानी 'ताजमहल' में भी मैंने इसे लक्ष्य किया। बहरहाल, कोई कहानी एकदम अनिंद्य तो हो भी नहीं सकती। जैसे, अपने निर्मल वर्मा, अरुण प्रकाश और बाहर के जे.डी.सैलिंजर, साल बैलो, अपडाइक, जान चीवर जैसे मूर्धन्य कहानीकारों में भी और भारती मुकर्जी, झुंपा लहरी आदि नई कहानीकारों में भी इस तरह की ख़ामियाँ ढूंढी जा सकती हैं।

नासिरा के इस कहानी-संग्रह में इसी तरह झकझोर कर रख देने वाली दूसरी कहानी 'दुनिया' है। शोभना के देहांत की खबर सुन उसका पति जो महसूस करता है, उसको शब्दबद्ध करने की शैली दिल को मसल कर रख देती है : "पिघलती मोम को देखने के सुख में वह कुरसी पर जगा बैठा रहा...दो दिन पहले आए पत्र की गंभीरता को शोभना ने लिया होता, तो ये आँसू आज उसके पिता के सिरहाने गिरे होते या माँ को बेटी का कंधा मिलता आँसू बहाने के लिए..."

इस प्रकार का दृश्य कोई भावप्रवण व्यक्ति ही, या घिसी-पिटी शब्दावली का प्रयोग करूं, तो कोई भुक्तभोगी ही उकेर सकता है। इसे पढ़ने के बाद किताब उलट कर मैं अपने मानसपटल पर इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दृश्य को कल्पना की आँखों से देखता रहा था। काश! इतनी संवेदनापूर्ण अभिव्यक्ति वाली कहानी को अतिरंजित विवरण ने कहीं-कहीं क्षति न पहुँचाई होती। वक्रोक्ति या व्यंग्योक्ति या विडंबना इस कहानी का विशिष्ट गुण बन सकता था, यदि बार-बार टेलिफोन पर बातों का सिलसिला जारी रखकर इसे अतिव्यंजित न किया गया होता। जैसे, कहाँ तो पिता की मृत्यु पर न जा पाने से दुखी है शोभना, और कहाँ वह अति महिमामंडित व्यक्तियों से मुलाकात करने के लोभ में अपनी समस्त वेदना को एकदम ताक पर रख देती है।

मगर एक स्थल पर मुझे इससे भी बड़ी निराशा तब हुई जब उसका पति बैठा सोच रहा है-"आजकल इनसान ने अपने आपमें रहना क्यों छोड़ दिया है? आख़िर क्यों वह अपने अंदर की दुनिया को छोड़ कर बाहर की बदहवास दुनिया में भटक रहा है?" निराशा इसलिए कि यह एक प्रकार से कहानी का निष्कर्ष है, जो कि पाठक की कल्पना पर छोड़ दिया जाना चाहिए था। यह ख़ामी नासिरा की कई कहानियों में देखी जा सकती है। वह पाठक की समझ पर अधिक विश्वास नहीं करतीं, जो कि ऐसा गुण है जो कहानी को कमज़ोर करता है। 'ताजमहल' के साथ भी यही हुआ।

'दुनिया' कहानी का उत्स, प्रतीत होता है, भोपाल की गैस ट्रेजेडी के दौरान काव्य सम्मेलन में अशोक वाजपेयी के मुख से अनायास निकले एक बहुप्रचारित वाक्य में है। बाप के मरने पर प्रिंसिपल महिला जाने का इरादा तर्क करते हुए कह उठती है : "सबके साथ दुनिया मर नहीं जाती-यह संसार किसी की मौत से रुकता-थमता नहीं, सब कुछ पूर्ववत चलता रहता है।"

'इनसानी नस्ल' की कोटि की ही कहानियाँ हैं 'असली बात' और 'अपराधी'।

'असली बात' में आरंभ से ही लग जाता है कि इसमें हिंदू-मुस्लिम प्रश्न का ज़िक्र होगा। जैसे, गलियों के मोड़ पर मस्जिद भी है और हनुमान मंदिर भी है। फिर बताया जाता है कि मस्जिद में मुजाविर और गेरुए कपड़ों वाला सन्यासी, टीले वाले मंदिर के महंत आए थे और मज़ार से छुली अगरबत्तियाँ ले गए थे।

मैं नहीं कहता कि पारस्परिक सद्भाव उत्पन्न करने वाली सामग्री से मुझे परहेज़ है। लेकिन एक तो यह पिटा-पिटाया मसाला है और यदि इसे सावधानी से सृजनात्मक जामा नहीं पहनाया जाता, तो प्रचार या उपदेश मात्र बनकर रह जाने का ख़तरा सदा बना रहता है। हाँ, इस कहानी की अंतिम पंक्तियों में यह आप्तवाक्य इसे बहुत ऊँचा उठा देता है, काफी देर के बाद- तब जब भूखी तंबोलन संन्यासी द्वारा परोसे पत्तलों पर खाती है: "रोटी में कितनी ताकत है। जब चाहती है, बाँट देती है, और जब चाहती है, एक कर देती है।"

इसी तरह, 'अपराधी' में राममनोहर त्यागी रिटायर होकर अपने पुलिसिया बेटे के घर आया है। उसका पड़ोसी कुरैशी है और दीक्षित के घर ईसाई बहू है। शाकाहारी पिता बैठा सोचता है कि ये लोग खूब आपस में मिलते-जुलते होंगे। इन्हीं थाली-कटोरी-गिलास में खाते-पीते होंगे। फिर चतुर्वेदी के घर माँस की झलक पा उसके घर शरबत वहीं छोड़ उठ आता है। बेटा कहता है-"आपको देख कर कोई जल्द विश्वास नहीं करेगा कि आप पुलिस जैसे महकमे में रह कर इतने संस्कारी हैं।" इस प्रकार के वातावरण-सृजन से सौहार्द्र को बढ़ावा मिलने की जगह साधारण पाठक के मन में असहिष्णुता को ही बल मिलता है।

फिर एक यह भी स्थिति देखिए। पहले अहमद मियां के सारे हलवाहे और मज़दूर हिंदू थे। दूसरे गाँव में कुँवर सूरज प्रकाश की सारी प्रजा मुसलमान थी। लेकिन ज़माना बदल गया है। शब्बीर नानबाई के घर शादी हुई, तो एक भी न्योता ब्राह्मण टोले नहीं आया।

कहना न होगा कि 'ज़माना बदल गया है' में ऐसी अनुदार स्थितियाँ न केवल मौजूद हैं, बल्कि दिन-ब-दिन बढ़ती ही जा रही हैं, जो कि दोनों संप्रदायों के अलगाव का एक प्रमुख कारण है। लेकिन मेरा मानना है कि दोयम दर्जे की कहानियों में-सभी भाषाओं में-ऐसी स्थितियों के चित्रण की इतनी अति हो चुकी है कि इनमें जब तक सर्जनात्मक नवीनता नहीं होगी, कहानी साधारणता से ऊपर उठ नहीं सकती।

'पाँचवाँ बेटा' भी मेल-मिलाप की थीम पर आधारित है, लेकिन इसकी एक बड़ी खूबी यह है कि इसमें पहली बार मुझे मुहर्रम के वातावरण पर इतनी प्रामाणिक सामग्री मिली : "औरतों ने चूड़ियाँ बढ़ा, नाक की कील छोड़ कर कान, गले, पैर, हाथ के सारे ज़ेवर उतार दिए थे। तसलों में हरा-काला रंग घुल गया था, जिसमें कपड़े रंग-रंग कर अलगनी पर फैलने लगे थे।" फिर तख़्त पर बिछी चादर पर ज़री रखना और उसके छोटे दरों और खिड़कियों पर कुमकुमे लगाना। फिर लकड़ी के डंडे पर उभरी खूंटियों पर अलम लगा उसकी गर्दन पर पटका लगाना, आदि। मुहर्रम पर किस तरह औरतें और बच्चे और लड़कियां एक घर से दूसरे घर मजलिस में शरीक होती हैं, हिंदू औरतें किस तरह 'खाक' लेने पहुँचती हैं और बच्चों को चटाती हैं-यह सारा वर्णन बताता है कि नासिरा को इन सबकी गहरी जानकारी ही नहीं, उनकी नज़र भी कितनी पैनी है।

मगर इतने अच्छे थीम पर लिखी कहानी में भी छौंक लगाना नासिरा नहीं भूलीं। इसमें सुलाखी नामक हिंदू भारी वर्षा से इमामबाड़े को बचाने के लिए तिरपाल बाँधता है, और बताया जाता है कि चार बेटों की माँ सुलाखी को पाँचवाँ बेटा मान लेती है।

एक तो यह स्पष्टीकरण आवश्यक नहीं था। दूसरे, इमामबाड़े

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की रक्षा के लिए गैर-मुस्लिम को लाना थोपा हुआ यथार्थ लगने लगता है, जो ज़माने से हिंदी फिल्मों के दर्शकों के लिए और सरकारी प्रचार-सामग्री के लिए तो मौजूं हो सकता है लेकिन साहित्यिक रचना के लिए नहीं, और नासिरा जैसी संवदेनशील और भाषा की धनी लेखिका यदि ऐसा करती है, तो कम से कम मुझे अच्छा नहीं लगता। मैं समझता हूँ, एक-दूसरे के मज़हब की रिवायात को समझने से ही पारस्परिक सौहार्द्र और आदर-भाव बढ़ सकता है, जो कि इस कथा में बड़े कौशल से दिखाया गया है, न कि इमामबाड़े की रक्षा के लिए किसी हिंदू को लाकर एक आरोपित स्थिति का आभास देने से।

इस दृष्टि से 'अपराधी' और 'पाँचवाँ बेटा' हृदय-परिवर्तन की कहानियाँ मानी जाएँगी जिनमें हिंदू-मुसलमान के आपसी राग-रंज के ब्योरे हैं।

'बड़े पर्दे का खेल' बचकानी कहानी बनकर रह गई है। उषा के कहने-भर से वह सब प्रेम-प्रसंग भूल कर "खुद को पहली बार महसूस" करती है और वही राज उसे "दुनिया का सबसे बदसूरत आदमी" लगने लगता है।

लेकिन इस कहानी का यह वाक्य सीधा अंतस्तल में उतर जाता है, जिसे उद्‌धृत करने का लोभ मैं संवरण नहीं कर पा रहा : "उम्र की उस गीली ज़मीन पर जब अहसास का पौधा कोंपलें फोड़ता है, तो विवेक खाद बन कर अपने सारे तर्क उसकी जड़ को समर्पित कर बैठता है और ज़्यादातर इस कच्ची उम्र का प्रेम एकतरफा होने के कारण ठोकर खाकर जब होश में आता है, तो जिन्दगी भर की ख़लिश दे जाता है मगर...उस अनुभव को एक बार ही सही, जीना सभी चाहते हैं।"

'जोड़ा' एक संवेदनात्मक कहानी है, जिसमें भाषा का निखार देखते बनता है। यह एक ऐसे परिवार की कहानी है जिसका एक-एक बंदा ट्रेन दुर्घटना में मारा गया है। स्त्री को जोड़े की तलाश है। प्रदर्शनी में उसकी भेंट एक विदेशी पेंटर से होती है, तो उसे लगता है जैसे वह "उसी का साया हो"। उसे एक पेंटिंग उपहार देने के लिए यह शख़्स उसके बंगले पर आता है। वह बताती है कि वह अवैध संतान है। इसके बावजूद दोनों बुरी तरह आसक्त हैं, क्योंकि दोनों को 'बदन की चाहत' है। मगर जब स्त्री उन्हीं हाथों से मदिरा परोसती है जिन हाथों से उसने बिल्लियों को मछली खिलाई थी, तो उसे महसूस हुआ, जैसे "बहार में लू चलने लगी हो"। उसे सिर्फ़ बदन की ही चाहत नहीं थी, उसकी ज़रूरत एक ऐसे अनुभव की थी, जो उसकी रूह पर छाई थकान को उतार दे...वह उसकी संवेदनशील प्रेमिका नहीं बन सकती...फिर भी अपने वीरान घर में जाकर सोचता है कि "पतझड़ का मौसम क्या बुरा था जो भरी बहार में किसी का दिल दुखा आए।"

नासिरा ने बड़े कौशल से कहानी का निर्वाह किया है। किसी साधारण लेखक के हाथ में यह थीम 'बदन की चाहत' ही बनकर रह जाता। मुझे अचरज होता है कि नासिरा ने इस तरह की इतनी थोड़ी कहानियाँ क्यों लिखीं और अपनी प्रतिभा को दोनों मज़हबों के वैर-विरोध और सामंजस्य-चित्रण तक महदूद रखने में अपनी सृजनात्मक शक्ति लगाई है।

'अग्निपरीक्षा' में ओ हेनरी स्पर्श आ गया लगता है-वही ट्विस्टिंग द टेल आव द टेल। अपने लूले पति नर्वदा के साथ रहती कम्मो ने पुरखों का खेत हथिया लिया था, जिस पर मंगलू अपना अधिकार जताता है और नाकाम होकर यह बात उड़ा देता है कि कम्मो बदचलन है। इस पर वह 'जल की गवाही' देने को तैयार हो जाती है। मगर ऐन मौके पर लांछन लगाने वाला मंगलू भाग खड़ा होता है। इस पर बदले की भावना से कम्मो कहती है वह गर्भवती है और इसके लिए जिम्मेदार मंगलू है। मगर जब मंगलू के मुँह में बीड़ा ठूँस हथेलियों पर पीपल का पत्ता रख दाग़ने की प्रक्रिया शुरू होती है, तो वह बक देता है कि कम्मो के बारे में उसे सुंदर ने बहकाया था, और इस तरह कम्मो को निर्दोष होने का प्रमाणपत्र मिल जाता है।

इसके अतिरिक्त 'उजड़ा फ़कीर', 'वही पुराना झूठ', 'एक न समाप्त होने वाली प्रेमकथा' तथा 'कनीज़ बच्चा' कहानियों के विषय में मैं यही कहूँगा कि गुण-शोधन के लिए हाँडी का एक चावल ही काफी होता है।

जैसाकि मैं ऊपर कह आया हूँ, मैं नासिरा शर्मा की कलात्मक भाषाभिव्यक्ति का प्रशंसक हूँ। शब्दचित्र उकेरने में समर्थ शब्दावली का प्रयोग करने में हिंदी में बहुत कम लेखक नासिरा के समक्ष ठहर सकते हैं, और यह सामर्थ्य उन्हें बहुभाषाविद् होने के नाते प्राप्त हुई हैं। यह गुण बहुत पहले निर्मल वर्मा की कुछ आरंभिक कहानियों तथा 'वे दिन' उपन्यास में देखने को मिला था, जो 'रात का रिपोर्टर' तक आते-आते नदारद होता चला गया है। फिर यह उक्ति-वैचित्र्य अरुंधती के अंग्रेज़ी उपन्यास 'द गाड आव स्माल थिंग्स' में भी परिलक्षित होता है। हालांकि इस प्रकार की तुलना हिंदी लेखकों को नागवार गुज़र सकती है, लेकिन वास्तविकता से इनकार क्यों करें? मैंने देखा है कि हिंदी जगत में अरुंधती की विशेष चर्चा मात्र इसलिए नहीं होती कि वह अंग्रेजी में लिखती हैं। उनके नर्मदा बचाओ आंदोलन के बारे में जितना हिंदी पत्र-पत्रिकाओं में छपा है, उतना उनके उपन्यास के बारे में नहीं, जो कि खेद की बात है। केवल इसलिए कि इस विदुषी ने अंग्रेजी में रचना की है? भाषाओं में वैर-विरोध कैसा, विशेषकर रचनात्मक लेखक ऐसा क्यों करें? अभिव्यक्ति की भाषा कोई भी हो सकती है।

नासिरा की अभिव्यक्ति के कुछ उदाहरण मैं ऊपर दे आया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हूँ। दिल को छू लेने वाला एक भी वाक्य किसी रचना में मिल जाए, तो उसे पढ़ना सकारथ हो जाता है। ये वाक्य देखिए : "नया दिन फिर कपड़े के थान जैसा सामने खुला पड़ा था, जिसके घंटों को उन्हें शाम तक लपेटना था," "इनसान चालीस-पचास से पहले सिर्फ़ जोश और उमंगों से भरा एक पारा होता है," "उसका दिमाग ख़यालों से खाली था, जैसे पौ फटने से पहले आसमान पक्षियों से खाली होता है," "त्यागी का मन-मस्तिष्क बहुत हलका था, जैसे पत्ते पर ठहरी आँसू की बूँद हो।"- इस प्रकार के हृदयग्राही वाक्य पढ़ कर कोई कैसे भावुक नहीं हो उठेगा!

इसके साथ ही असावधानी के कारण कुछ ग़लत प्रयोगों की तरफ भी ध्यान खींचना चाहूँगा। जैसे, 'अफवाह' का पुल्लिंग, 'गश्त' का स्त्रीलिंग रूप में प्रयोग हुआ है। फिर 'गुनजान' कोई शब्द नहीं, 'गुंजान' होता है। 'वापस लौटा हूँ' की जगह 'लौटा हूँ' या 'वापस आया हूँ' होना चाहिए। इसी तरह 'चाँद रात थी' या 'सन्नाटी सड़क' प्रयोग अखरते हैं। ये मामूली अशुद्धियाँ हैं, लेकिन थोड़ी सावधानी बरतने से इनसे बचा जा सकता था।

इसी तरह 'कबाड़ा ख़त्म हो जाने के कारण' से क्या अभिप्राय है? पुलिस वाला जब कहता है, 'लाकर में बंद कर दूँगा' तो वह अभियुक्त को कहाँ ले जाना चाहता है? 'जोश में बिना बात सुने', 'बुखार वाले लड़के को फुँकवा देगी' जैसे प्रयोग चौंकाते हैं। 'बच्चे, बूढ़े, मर्द, औरत खाना खा रहे हैं,' इसमें औरत को यदि पहले गिनवा देते, तो वाक्य अटपटा न लगता। 'एक-आध शौक रखने चाहिए' नहीं, रखना चाहिए, या 'उन्हें विचार कौंधा,' 'पिता को पंद्रह दिन बाद ही घर लौटता देखा', 'बीता भर का लौंडा', 'तुम्हारे कम्मो का दूल्हा,' 'गाँव में मंगलू का आना ख़बर थी', 'तपतपाती हवा', 'हवाई फ़ायर के दबदबे'–ये प्रयोग क्या अटपटे नहीं लगते?

लेकिन इसके लिए ज़्यादा ज़िम्मेदार मैं प्रकाशकों की असावधानी को समझता हूँ। हिंदी के अधिकांश प्रकाशक दुकानें सजाए बैठे हैं, जिनके पास संपादक या प्रेस कापी तैयार करने वाले सुविज्ञ व्यक्ति रहते ही नहीं। हिंदी में ऐसी आपाधापी है कि बड़े कहलाने वाले लेखकों को प्रकाशक छूने का दुस्साहस नहीं करता, और नए लेखकों की रचना में संशोधन करने की न उनके पास सामर्थ्य है, न समय। इस बारे में हिंदी के प्रत्येक लेखक और प्रकाशक को मैं 'राइटिंग आव ए नावेल' पुस्तक पढ़ने की सलाह दूँगा, जिससे पता चलेगा कि एक उपन्यास को भी छापने से पहले संपादक और लेखक में किस तरह एक-एक शब्द के लिए विचार-विमर्श और झगड़ा होता है, तब जाकर उपन्यास प्रेस में पहुँचता है। इसमें बताया गया है कि न केवल भाषा, बल्कि उपन्यास को पठनीय बनाने के लिए अध्यायों तक को किस तरह उलट-पलट दिया जाता है।

'इनसानी नस्ल' में कहानी-संख्या तेरह देख कर बरसों पुरानी बात याद हो आई। उन दिनों मनोहरश्याम जोशी 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' का संपादन कर रहे थे। एक दिन उन्होंने मुझसे 'लोलिता' के लेखक नैबोकोव की किसी कहानी का अनुवाद करने को कहा था। मेरे पास इस रूसी मूल के अमेरिकी लेखक का एक कहानी-संग्रह 'नैबोकोव्ज़ डज़न' था।

एक दिन मेरे हाथ में इस पुस्तक को देखकर हिंदी के एक स्वनामधन्य लेखक ने कथा-सूची पर नज़र दौड़ाते हुए अचरज-भरे स्वर में कहा था : "देखो, इसमें तो तेरह कहानियाँ हैं, फिर संग्रह का शीर्षक बताता है, इसमें दर्जन कहानियाँ हैं, नैबोकोव की दर्जन-भर कहानियाँ।"

मैंने मुस्कुराते हुए उनकी तरफ़ देखा था, तो वह झट बोल उठे थे : "लगता है, फर्मा पूरा करने के लिए छपते-छपते इसमें एक और कहानी लगा दी गई होगी।"

स्पष्ट था, मेरे मित्र को अंग्रेज़ी मुहावरे का ज्ञान नहीं था। मैंने उन्हें समझाने की खातिर यह बात कही : "देखिए, बचपन में हम लोग बहंगी पर चना-मूंगफली बेचने वाले को रोडे बाबा का तांबे का पैसा देकर कहा करते थे– 'भाई, पाई की मूंफली दे, पाई की सेम दे और पाई रोक दे।' इसी तरह, पश्चिम में यह रिवाज था, और शायद अब भी हो, कि नानबाई से कोई डबलरोटी खरीदने जाता था, तो एक दर्जन डबलरोटी खरीदने वाले को एक डबलरोटी मुफ्त मिलती थी। इसी से 'बेकर्स डज़न' का मुहावरा चल निकला। इसी दृष्टि से नैबोकोव ने अपने कहानी-संग्रह का यह शीर्षक रखा।"

बताने की आवश्यकता नहीं कि मेरे स्पष्टीकरण से मेरे मित्र लेखक बड़े चकित हुए थे।

एस-22/17, फेज़ 3, डी.एल.एफ़.सिटी-122002

अलका सिन्हा

बदलते सरोकारों की खोज

साहित्य के क्षेत्र में आलोचना का अस्तित्व आज ख़तरे में पड़ा है। आलोचना को हथियार की तरह इस्तेमाल कर कितने ही रचनाकारों की बलि चढ़ाई जा रही है जबकि वस्तुतः आलोचना उस औजार की तरह है जो रचना के स्वरूप को निखारने और गढ़ने में सहायता करती है। किसी रचना को उसके काल और परिवेश के साथ स्थापित तादात्म्य के साथ जाँचना ही दरअसल आलोचना का असली उद्देश्य है। सवाल यह उठता है कि कोई रचनाकार क्यों रचता है और उससे भी अहम सवाल कि कोई भी रचना को क्यों पढ़े? इसी क्यों को खोजने की कोशिश करते हुए डॉ. गुरचरण सिंह की आलोचना दृष्टि 'समकालीन कविता के सरोकार' के तहत कुछ ऐसे अर्थों और उद्देश्यों को उकेरने की कोशिश करती है जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समकालीन कविता के दायरे में आने वाली कविताओं के भाव पक्ष को उजागर करते हैं। वे कौन से कारण हैं जो कविता को समकालीन होने की संज्ञा प्रदान करते हैं? क्या ये कविताएँ किसी काल विशेष का चित्र प्रस्तुत करती हैं? वह वर्णन वास्तविकता के कितने निकट हैं और कोई पाठक उससे कितना गहरा तादात्म्य स्थापित कर पाता है?

समकालीन कविता की आलोचना करते हुए गुरचरण सिंह की दृष्टि कविता के सरोकार पर विशेष केंद्रित है जो सीधे-सीधे उसी प्रश्न को पुनः रेखांकित करता है कि आखिर कोई किसी रचना को क्यों पढ़े? क्या मात्र आनंदित होने के लिए? क्या आनंदित होने के सभी के पैमाने एक से हैं? यदि नहीं, तो किसी रचना के प्रति एक आलोचक की टिप्पणी दूसरे किसी आलोचक से सर्वथा भिन्न भी हो तो क्या हर्ज है? और यही भिन्नता क्या रचनाकारों की रचनाओं में भी मौजूद नहीं है? जब कविता के स्वर्ण युग में भक्ति के साथ-साथ शृंगारी कविताओं के भी स्वर पूरी तीव्रता के साथ अपनी बात कह सकते हैं तब किसी काल विशेष के साथ कविता की कोई मूल धारा तय करना एक दुष्कर कार्य है, इसमें संदेह नहीं। जब रचना-परिधि । की ही परिभाषा कोई निश्चित आधार लेकर न चलती हो तब रचना और रचनाधर्मिता पर आलोचना करना एक टेढ़ी खीर है। तथापि, यह भी कहा जाता है कविता में असफल हो जाने के बाद कवि आलोचक बन जाता है। व्यंग्य में कही गई इस बात में बड़ा दम नज़र आता है । कारण-एक रोगी भले ही अपना उपचार जाने या न जाने पर अपनी पीड़ा, अपने कष्ट को भली प्रकार पहचानता है। बहरहाल, गुरचरण सिंह की प्रकाशित कृतियों पर नज़र डालें तो कविता के क्षेत्र में उनका कोई हस्तक्षेप दिखाई नहीं पड़ता। उपन्यासकार की गहरी दृष्टि और बाल साहित्यकार का अबोध मन रखने वाले इस आलोचक की आलोचनात्मक तीव्रता का अहसास तो पुस्तक के नाम 'समकालीन कविता के सरोकार' से ही हो उठता है जहाँ 'सरोकार' शब्द की उपस्थिति समकालीन कविता को एक व्यापक फलक प्रदान करती है। आज की कविता से पाठक का तादात्म्य, कविता की आवश्यकता, कवि की रचनाधर्मिता, उसका सामाजिक परिवेश और प्रतिबद्धता समीक्षा का आधार बनते हैं और 'सरोकार' के साथ ध्वनित हो उठते हैं। इससे पूर्व भी गुरचरण सिंह की तीन पुस्तकें समकालीन और नई कविता की तह में पहुँचने की कोशिश करती हैं। पारंपरिक तौर पर आलोचना के मुख्य तत्व-कविता का कथ्य, उसकी सार्वभौमिकता, शैली और शिल्प तथा उसके आलंकारिक सौंदर्य होते हैं। इस आलोचना को यदि आलोचना के उस फार्मूले से भिन्न पाया जाता है तो सबसे पहली भिन्नता तो कवियों के चयन में ही देखने को मिलती है। निहायत अलग रस और रंग के कवियों को एक साथ समकालीन कविता के घेरे में ला खड़ा करने का जो दुस्साहस गुरचरण सिंह ने किया है वह प्रारंभ से ही पाठकों को चौंकाता है। एक पिटी-पिटाई धारणा के तहत यह अपेक्षित है कि एक विषय यानी 'समकालीन कविता' से जुड़ी सभी कविताएँ किसी विशेष प्रवृत्ति को एक खास धारा को परिलक्षित करेंगी और उन्हें सहज ही एक दल में यानी एक ग्रुप का माना जा सकेगा। किन्तु इसके बिल्कुल विपरीत विश्वम्भर नाथ उपाध्याय की कविता जहाँ आज की बारूदी दुनिया के प्रति आक्रोश से एक चीख़ में तब्दील हो जाती है, वहीं महेंद्र भटनागर की कविताएँ पूरी दृढ़ता के साथ स्थितियों को बदलने का विश्वास जगाती हैं। समकालीन कविता का यह दायरा गिरते हुए जीवन मूल्यों की बात तो करता ही है मानव के लिजलिजे स्वभाव और उसके नपुंसक समझौतों पर थूकता भी है और साथ-साथ प्रेम और वासना के बदलते मापदंडों को भी अपने में समेटता है।

कोई भी रचना किसी ख़ास क्षण के उन्माद से उपजा शब्द-बिम्ब होती है जो हर पाठक को उसके अपने किसी परित्यक्त, अभिशप्त और विशिष्ट क्षण से जोड़ती है। जोड़ने की यह प्रक्रिया ही तो साधारणीकरण है। और साधारणीकरण के इस बिंदु पर कोई भी रचना एक व्यापक आयाम ग्रहण करती है। किंतु आलोचक का धर्म रचना को हर उस संभावना के साथ परखना है जो रचना की सृजनशक्ति हो सकती है। समीक्ष्य पुस्तक में आलोचक ने हर कवि की एक प्रतिनिधि रचना प्रारंभ में ही उद्धृत कर उसे एक शीर्षक भी प्रदान किया है। आलोचक का यह कर्म कवि और कविता को पहचानने में ठोस आधार देता है।

संकलन में प्रथम कवि के रूप में विश्वम्भर नाथ उपाध्याय की प्रतिनिधि रचना उद्धृत करते हुए वे लिखते हैं-

साठ करोड़ अधमरों को/बर्र, बिच्छुओं, टिड्डियों और ततारों को भेजन दिया जाये/और जो फिर भी न जगें उनकी आँखों में अँगुली डालकर/कानों में भोंपू घुसेड़कर कहा जाए/नामुरादों, इंतजार करने की रस्म पूरी हो चुकी है। (पृष्ठ 10)

और बतौर शीर्षक वे इन कविताओं को 'सतहीपन के विरुद्ध संघर्षरत कविता' की श्रेणी में रखते हैं। गुरचरण सिंह का मानना है कि "विश्वम्भर नाथ उपाध्याय मूलतः आलोचक हैं पर उनकी रचना आलोचना से किसी भी रूप में कमतर नहीं है।" यों तो यह दो परस्पर विरोधी मान्यताओं का संगम है क्योंकि कहां तो कविता में असफल होकर आलोचना की ओर रुख किया जाता है पर यहाँ एक सफल आलोचक कवि बनकर उपस्थित है और यह सत्य उपाध्याय जी की कविताओं में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। ये कविताएँ सामाजिक-राजनीति स्थितियों और शक्तियों के परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति की मानसिकता का आकलन करती हैं-

"तुम्हें देखते ही लगा था/तुममें कत्ल और कविता एक साथ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो रही थी।"

इसमें संदेह नहीं कि उपाध्याय जी कविताएँ किसी सी.वी. आई.इस्पेक्टर की तरह स्थितियों, परिस्थितियों का विश्लेषण करती हैं और गुरचरण सिंह ने उनकी इस सूक्ष्म दृष्टि को बड़ी सफाई से पकड़ा है।

महेन्द्र भटनागर की कविताओं की विवेचना करते हुए आलोचक कवि की व्यक्तिगत पृष्ठभूमि के प्रति सजग हो उठता है और कालपरक होकर इन कविताओं का आकलन करता है–"कवि महेन्द्र भटनागर ने आज़ादी के पूर्व ही लिखना प्रारंभ कर दिया था, इसलिए स्वतंत्रता प्राप्ति की इच्छा तथा स्वतंत्रता सेनानियों के वलिदान को भी कुछ कविताओं में अभिव्यक्ति मिली है।"(पृष्ठ 33) इस प्रकार संदर्भगत विश्लेषण आलोचना को विश्वसनीयता तो प्रदान करते ही हैं, आत्मीयता का वोध भी कराते हैं जिससे आलोचना किसी लैव में की जाने वाली साल्ट की विविधताओं की पड़ताल के वदले रचना को तर्कसंगत भावुकता की ओर ले जाती है और गुरचरण सिंह की आलोचना का यह पहलू उन्हें आलोचकों की भीड़ से अलग तार्किक मगर संवेदनशील कविहृदय साधक के रूप में अलग पहचान देता है।

गुरचरण सिंह समकालीन कविता के द्वार पर पड़ती दस्तक में नई कविता के मुकावले अधिक असंतोष, अस्वीकृति, मोहभंग और विद्रोह के स्वर सुनते हैं। वे अनुभव कहते हैं कि आज का रचनाकार वाहरी स्थितियों के साथ-साथ खुद से भी लड़ रहा है। पार्थसारथी डवराल की कविताओं में समीक्षक ने बड़ी पैनी धार रखते हुए महानगरीय समस्याओं के साथ-साथ प्रदूषित पर्यावरण के नए प्रतीकों और सरोकारों की भी पड़ताल की है। कवि की वैज्ञानिक सोच का खुलासा करते हुए गुरचरण सिंह सवूत पेश करते हैं–"हे परख नलिके! वता तू/प्यार क्या है? हृदय क्या है?/कल्पना क्या है?"

ये नए तेवर आलोचक की पैनी दृष्टि से वच नहीं पाते और कविता के सरोकारों को पूरी शिद्दत के साथ व्यक्त करते हैं। लीलाधर जगूड़ी की कविताओं को सामाजिक व्यवस्था और राजनीतिक चरित्र के निकट पाते हुए भी समीक्षक इन कविताओं के तीखेपन और पैनेपन के प्रति पूरी तरह आश्वस्त नहीं होता है। समीक्षक की नज़र में समकालीन कविता का संघर्ष और विद्रोह व्यंग्यात्मक शैली में अधिक पैना होता है। जगूड़ी की कविताओं का मर्यादित दायरा अभिव्यक्ति के तीक्ष्ण होने में व्यवधान उत्पन्न करता है। साथ ही ये कविताएँ धूमिल की वैचारिक परिपक्वता का मुकावला भी नहीं कर पाती हैं। कुसुम अंसल की कविताओं की गहरी आत्मीयता, संवंधों के प्रति आस्था-समकालीन कविता के कुछ ऐसे सरोकारों को प्रस्तुत करती है, इस दौर में जिनके प्रयोग पर कम ही चर्चा हुई किंतु जिनकी चर्चा किए विना इन सरोकारों को पूरा नहीं माना जा सकता। अलग-अलग फितरत के कवियों को एक साथ जोड़ने के पीछे संभवतः आलोचक की यही वुद्धिमत्ता रही है कि समकालीन कविता की विभिन्न प्रवृत्तियों को उन अलग-अलग तेवरों में प्रस्तुत किया जाए जो समकालीन कविता को पूर्णता प्रदान करते हैं।

जगदीश चतुर्वेदी की प्रतिनिधि पंक्तियों के उदाहरण से विनाश का जो चित्र प्रस्तुत होता है वह कवि का क्षुब्ध और वौखलाया हुआ रूप है जिसके मन में मानव-पिंडों के लिए कोई दया नहीं है। कवि की यह वौखलाहट और भी कविताओं में दिखाई पड़ती है पर समीक्षा का तीन चौथाई हिस्सा इस कवि की छायावादी संवेदना, नारी प्रेम तथा काम वासना पर केंद्रित है। ऐसी स्थिति में 'न आवाज मरी है न मेरा युद्ध' जैसा शीर्षक एक बड़ा-सा प्रश्नचिह्न लगाता है। "जूही सा तन, कली सा मन" या "जवानी प्यास है, तड़प है, वेकरारी है।

हुस्न हसरत है प्यार की खुमारी है।" लिखने वाले कवि की किस युद्ध और आवाज की ओर आलोचक इशारा करना चाहता है? नारी और सेक्स से जुड़े घिनौने प्रतीकों से समकालीन कविता के सरोकार भी पहेली ही वने रह जाते हैं। संभवतः आलोचक भी इस गुत्थी से निकलने का प्रयास करता है और समकालीन कविता को अकविता से जोड़ते हुए कहता है कि अकविता का कवि सव कुछ उघाड़कर रख देने के पक्ष में है। इस नाते जगदीश चतुर्वेदी की कविताओं का उघड़ापन समकालीन कविता के सरोकार से जुड़ता तो है किंतु जैसा आलोचक आगे की पंक्तियों में वयान करता है कि वह सामाजिक, राजनीतिक मूल्यों की अमानवीयता को उघाड़ती है तो इस परिप्रेक्ष्य में भी जगदीश चतुर्वेदी की कविताओं की वकालत कर पाना मुश्किल लगता है क्योंकि इनकी वे कविताएँ जिनका हवाला इस संग्रह में जगह-जगह दिया गया है सामाजिक-राजनीतिक मूल्यों से अधिक नारी देह को उघाड़ने का काम करती हैं। और कवि की गलाज़त मानवीय संवंधों, संवेदनाओं के प्रति भले ही उभरती हो पर अपने अभिव्यक्ति-विम्वों के प्रति कतई नहीं है। तथापि आलोचक ने इन कविताओं को समकालीन सरोकारों के निकट लाने की भरपूर कोशिश की है। भाषा और शैली के आधार पर ये कविताएँ लम्वे वाक्यों में संवाद करती हैं और गद्य के निकट महसूस होती हैं। किंतु-कथ्य और विचार की दृष्टि से अभिव्यक्त वमन और वितृष्णा का यह रूप जिन प्रसंगों को छूता है उनका समकालीन कविता के सरोकारों से कितना सीधा या टेढ़ा संवंध है- यह संदेहास्पद ही लगता है। और 'न आवाज मरी है न मेरा युद्ध' के प्रति आलोचक का अंततः मोहभंग हो ही जाता है जव वे स्वीकारते हैं कि कवि कोई वड़ी वात या सत्य उद्घाटित नहीं कर पाया है। तथापि, आलोचक का सकारात्मक दृष्टिकोण इस कवि की अदम्य ऊर्जा, साहस तथा कुछ नया करने की प्रवल इच्छा को रेखांकित करने का लोभ संवरण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं कर पाता ।

नरेन्द्र मोहन की लम्बी कविताओं के प्रति आलोचक का विशेष रुझान दिखाई पड़ता है। इन लम्बी और विचार कविताओं ने इससे पहले भी आलोचक को आकर्षित किया है और आलोचक ने इस पर विस्तृत शोध भी किया है जिसके तहत इन कविताओं में आग और ऊर्जा का अद्भुत स्वरूप उभरकर आता है। आलोचक की दृष्टि इनमें कई प्रकार की लपटों को पकड़ने की कोशिश करती है। साम्प्रदायिक दंगे, हिंसा और खंडित व्यक्तित्व के प्रति हलचल जगाते ये हादसे तनाव को धीरे-धीरे गहराते हैं–

"सलमान मुझे महसूस हुआ/ आग की लपटों में झुलसी हुई/पेंटिंग की लड़की मैं हूँ। (८८)"

सुनीता जैन की कविताओं को प्रेम, करुणा और प्राकृतिक सौंदर्य के घेरे में कैद करते हुए आलोचक स्वीकारता है कि कवयित्री को कविता में बौद्धिकता या विचार का आना अखरता है जबकि नरेन्द्र मोहन और अन्य कवियों के माध्यम से समीक्षक इसी विचार की वकालत भी करता है।

सुधेश की कविताओं में हर ओर भूख, प्यास, थके चेहरों, मुर्दा जिस्मों के साथ-साथ विद्रोह और संघर्ष का स्वर भी झलकता है जिसे समीक्षक समकालीन कविता का मुख्य तेवर मानता है। स्थितियों को ललकारते ऐसे ही सवाल प्रताप सहगल की कविताओं में भी उभरते हैं और आलोचक को उनमें सवालों से जूझती आग दिखाई पड़ती है–

"ऊपर उठता हुआ सूरज/ओस कणों को चाट क्यों जाता है?"

"बाहर कब निकलोगे?"

समकालीन कविता के बदलते सरोकारों का खुलासा प्रताप सहगल के संघर्ष से उपजे प्रतीकों से सहज ही स्पष्ट हो जाता है–

"वह साइकिल पर सवार होकर कभी बेचता है संतरे/कभी सेब और कभी किताबें।"

संतरों से किताबों की विक्री का यह सफर हरिया की भूख और उसमें बदलते सरोकारों को नए मापदण्ड देता है। इस लिहाज से डॉ. गुरचरण सिंह की आलोचना कविताओं को सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की कसौटी पर परखती है। कल्पना की उड़ान वास्तविक जीवन की कठोरता के साथ कदमताल कर पाती भी है या नहीं–यह भी आलोचक की चिंता का विषय है। समकालीन कविता के तमाम आक्रोश और विद्रोह के बावजूद आलोचक की दृष्टि उसमें सकारात्मक पहलुओं को पहचान लेती है और यह सकारात्मकता उसे भविष्य के प्रति आश्वस्त भी करती है। यह सच है कि समकालीन कवियों की लंबी कतार किसी एक पुस्तक में अपेक्षित नहीं, फिर भी जिन कवियों का चयन, इस संग्रह में किया गया है लगभग उन सभी कवियों में वर्तमान व्यवस्था के प्रति एक सुगबुगाहट है–किसी में तीव्र/किसी में धीमी/कोई कविता इस परिस्थिति से निराश और हताश है तो कोई कविता विरोध और विद्रोह करती है परन्तु परिवर्तन की लालसा लगभग इन सभी कविताओं की अंतर्वेदना है। ये कविताएँ महानगरीय यंत्रणाओं की टीस को शब्द देती हैं। ये कविताएँ सामाजिक विसंगतियों और विडम्बनाओं के साथ-साथ मानव मूल्यों को पतन से बचाने के लिए जूझते हुए किसी नई भाषा की तलाश करती हैं और आलोचक इन कविताओं का रेशा-रेशा अलग कर खोजता है कि आखिर खुशबू कहाँ पर है?(158)

सारांश में गुरचरण सिंह का यह शोध-कार्य कविता की आलोचना के बहाने विस्मृत स्व की तलाश है। प्रेम और करुणा को बटोरने की कोशिश है। प्रजातंत्र और-पेट के बीच न काढ़े सवालों का जवाब है। सतहीपन के विरोध में परिवर्तन की हाँक लगाती इन कविताओं में समकालीन कविता के सरोकार नहीं तो और क्या है? नवीन मापदंडों पर दृढ़ता से खड़े आलोचना से इस नए स्वरूप का स्वागत है।

समकालीन कविता के सरोकारः डॉ. गुरचरण सिंह; नवलोक प्रकाशन, बी-422/21, भजनपुरा, दिल्ली-110053; कुल पृष्ठः192; मूल्यः 250.00 रुपये।

10 बी, डी.डी.ए.फ्लैट,
मंगलापुरी (पालम), नई दिल्ली-110045

पवन माथुर

सघन आत्ममंथन के ज्योति-पुंज

समसामयिकता की धार में बहते रहना, इस जीवन की नियति है लेकिन इस धार में डुबकी लगा, कालखंड की सीपियाँ बटोर लाना सबके बस की बात नहीं। कन्हैयालाल नंदन की नव्यतम कृति **धार के आरपार** एक ऐसी ही पुस्तक है, जिसके आलेख कल तक वर्तमान की जीवित गर्माहट थे, तो आज स्मृति-पटल पर एक बेहतरीन कूची से चित्रित, जीवनगत विसंगतियों का एक दिपदिपाता हुआ कोलाज हैं, जो पाठक को भीतर से परिमार्जित करता चलता है। यह पुस्तक छः सोपानों में बाँटी गई है; हालांकि अगर यह विभाजन न भी होता, तब भी इस पुस्तक की पठनीयता उतनी ही रहती। इस पठनीयता का मूल स्रोत यह है कि नंदन जी चाहे किसी विशिष्ट व्यक्ति के जीवन को स्कैच कर रहे हों, या फिर नौकरशाही की शतरंजी चाल से आपको रूबरू कर रहे हों, अथवा सुरेन्द्र शर्मा की 'चार लाइनों' का जिक्र कर रहे हों–निगाह उनकी मूल्यों के उस विघटन पर ही टिकी रहती है–जिसका दरअसल वे आपके सामने पर्दाफाश करना चाह रहे होते हैं। मसलन 'बालिका वर्ष' पर लिखते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए अचानक वे आपकी हिंदू मानस की परंपरा 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' की उक्ति के साथ-साथ अबोध बालिकाओं के बलात्कार की सूचना से मुठभेड़ करा देते हैं, जनाब नवाज शरीफ और लाहौर घोषणा-पत्र पर लिखते हुए यकायक जोश मलीहाबादी के शेर के दर्द को आपके सीने में फुर्ती से उतार देते हैं–

कहाँ ले जाऊँ दिल, दोनों जहाँ में सख्त मुश्किल है
इधर परियों का मजमा है, उधर हूरों की महफिल है।

या फिर भारत-पाक संबंध के 'कोर-इश्यूज़' पर लिखते हुए जहाँ वे वसंत साठे, गुजराल साहब, वेदप्रताप वैदिक, अशरफ काज़ी और सुब्रह्मण्यम के नज़रियों से अवगत करा रहे होते हैं, वहीं अंत में उनकी टेक कि–

किसी के ज़ोरो सितम का तो बहाना था
हमारे दिल को बहरहाल टूट जाना था।

पाकिस्तान और हिंदुस्तान के संबंधों के रेत के घर की किस्मत का बयान करने से वे चूकते नहीं।

यह पठनीयता उनके शुष्क से शुष्क लगने वाले 'परमाणु परीक्षण', 'कारगिल', 'फ्रेंकफुर्त में बातचीत', 'पूर्वी और पश्चिम जर्मनी', 'पृथ्वी और अग्नि मिसाइल', 'अमेरिकी नीति का दोमुँहापन' जैसे अन्य कई आलेखों में भी आपको मिल जाएगी।

इन आलेखों की एक मुख्य विशेषता यह भी है कि नंदन जी साधारण से साधारण विषय पर लिखते हुए भी महत्त्व के बिंदु ही नहीं खोज लेते हैं, बल्कि पाठक के सामने उन्हें बड़े ही सहज ढंग से रख भी देते हैं। इंदौर के स्व. भैय्या चतुर्वेदी के परिवार द्वारा आयोजित व्याख्यानमाला तथा पं. कमलापति त्रिपाठी जी के संस्मरण को सुनाते-सुनाते वे जिस प्रकार संयुक्त परिवार के प्रेम के मनकों को विश्वास की डोरी में पिरोकर चुपचाप रहीम के सामने आपको खड़ा कर देते हैं, वह आपको सन्न कर जाता है–

रहिमन धागा प्रेम का, मत तोड़ो चटकाय
जोड़े से फिर न जुड़े, जुड़े गाँठ परि जाय।

नंदन जी बात को यहीं तक नहीं रहने देते, वे इस गाँठ को जीवन के छोटे-छोटे स्वार्थों की अंधी दौड़ से जोड़कर आपको अपनी नज़र के कटघरे में खड़ा कर देते हैं। यह एक चौकन्ने पत्रकार की निगाह ही नहीं, कहीं भीतर से बेतरह घायल मनीषी के विचलित मन की झंकार भी है।

साहित्य से संबधित सोपान में वे कई गंभीर प्रश्नों को उठाते हैं। साहित्यिक संप्रेषण से जुड़े सवालों को उठाते हुए वे हिंदी आलोचना की खेमेबंदी और एक साजिश के तहत छांदिक कविता को हेय और हल्की-फुल्की काव्य-परंपरा बताने वालों की कसकर खबर लेते हैं। वे संप्रेषण में शब्द-चयन और शिल्प के सौष्ठव की भूमिका को भी रेखांकित करते हैं।

कविता और समाज के बदलाव को लेकर, सर्वेश्वर जी के अंतिम दिनों में कही गई बात से वे आपको एक अजीब प्रश्नाकुलता के दायरे में झुला देते हैं–

'नंदन, मैं जिनके लिए जीवन भर लिखता रहा, ये मुझे पढ़ते ही नहीं तो बदलेंगे क्या?'

कविता का बुनियादी गुण संश्लिष्टता है, साहित्य कुछ तात्कालिक 'नया' ही नहीं, 'स्थाई कुछ' भी रचता है। समीक्षा का काम उन नियमों की खोज है जो श्रेष्ठ साहित्य के मूल में होते हैं। कुँवरनारायण जी की आलोचना-पुस्तक पर टिप्पणी लिखते वक्त जिन उपरोक्त पंक्तियों को नंदन जी ने उद्धृत किया है उनसे पता चलता है कि स्वयं नंदन जी की कविता के बारे में क्या मान्यताएँ हो सकती हैं। इन आलेखों में यह जो एक निरंतर आत्ममंथन है, और इस मंथन से निकलता हुआ जीवन का मर्म है, यह न केवल 'न्यूज़ और व्यूज़' वाली कोरी पत्रकारिता की छोटी लकीर के सामने एक लंबी लकीर खींचता है, बल्कि इन आलेखों को सघन साहित्यिक पत्रकारिता की उच्चतम कोटि में ला खड़ा करता है। एक कम साठ आलेखों में बंधी 'धार के आर पार' रामकथा के साथ-साथ समसामयिक हरामकथा का ज्वलंत साक्ष्य है।

धार के आरपार : कन्हैया लाल नंदन; किताब घर, नई दिल्ली; पृष्ठ–272; मूल्य: 225 रुपये।

बी-3/44, जनक पुरी, नई दिल्ली-110058

डा. रूपसिंह चंदेल

गाँव की त्रासद स्थितियों का वास्तविक दस्तावेज़

'नई कहानी' आंदोलन के समानान्तर हिन्दी कथा-साहित्य में एक अन्य कथाधारा अस्तित्व में आने के लिए प्रयत्नशील थी। कालांतर में उसे पृथक पहचान मिली और वह अनेकों कथा आंदोलनों के सिमट जाने के बाद आज भी पूर्ववत, बल्कि पूर्वापेक्षा अधिक ही गतिमान है। आंचलिक कथा-साहित्य के रूप में सुदृढ़ जमीन निर्मित करने वाली वह कथाधारा किसी आंदोलन से कम नहीं थी, लेकिन यदि वह आंदोलन के रूप में उभरती तो उसकी स्थिति भी शायद अन्य कथा आंदोलनों की भाँति होती और पश्चिम की भाँति हिन्दी आँचलिक कथा साहित्य शायद अतीत का विषय बन चुका होता। संभव है तब रेणु, मार्कण्डेय, शेखर जोशी, शिवप्रसाद सिंह, रामदरश मिश्र आदि रचनाकारों तक ही आँचलिक कथा साहित्य सिमट कर रह जाता। तब शैलेश मटियानी, पानू खोलिया, हिमांशु जोशी, मधुकर गगाधर आदि बाद की पीढ़ी और चन्द्रकिशोर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जायसवाल, संजीव, उदय प्रकाश, मैत्रेयी पुष्पा, पुन्नी सिंह यादव आदि आज की पीढ़ी के रचनाकार इस दिशा में शायद ही सक्रिय दिखाई देते। जो रचनाकार आज भी पूर्ण उत्साह से सक्रिय हैं, कथाकार हिमांशु जोशी उनमें से प्रमुख हैं।

हिमांशु जोशी का नवीनतम कथा संग्रह है-**इस बार फिर बर्फ गिरी तो**। संग्रह में पन्द्रह कहानियाँ हैं। कहानियों के विषय में लेखक का कथन है, "वर्फ! पहाड़! जंगल! कच्ची-पक्की पगडण्डियाँ! ...दिनरात तेज गति से उछलती-भागती बदहवास नदियाँ! उनके कूल कगारों पर सैकड़ों वर्षों से वसे लोग...इसी धुंध और धूल भरे, दर्दीले वातावरण की उपज हैं ये कहानियाँ।" ये कहानियाँ पहाड़ी गाँवों की त्रासद स्थितियों का वास्तविक दस्तावेज़ हैं, जहाँ गरीबी की मार झेलते ग्रामीण सेठ-साहूकार, जमींदार, पंडित, पटवारी, पुलिस के अत्याचारों को सहने के लिए अभिशप्त हैं। आश्चर्य यह कि होंटों पर उफ़ लाने की सज़ा रोंगटे खड़े कर देती है। शोषण की पराकाष्ठा का नग्न यथार्थ हमें 'अंधेरा और' कहानी में प्राप्त होता है, जिसका परसिया अपने घर और ग्रामीणों पर हो रहे अत्याचार के विरुद्ध उठ खड़ा होता है लेकिन उसकी सज़ा उसके घरवालों को अमानवीय यातना सहकर भोगनी होती है।

"भीखू की फिर पेशी हुई और चदरिया को हर हफ्ते वुलाया जाने लगा तहकीकात के नाम पर।" (पृ.21)

शोषण की पराकाष्ठा यह कि पंडित सीसराम प्रधान से उधार लिए वीस रुपये जिन्दगी भर अनेक रूपों में चुकाने के वावजूद ज्यों के त्यों वने रहते हैं। स्थिति इतनी वदतर कि घरवालों की आँखों के सामने थाने का सिपाही (पृ.18) या सीसराम वामन (पृ.19) स्त्रियों का यौन शोषण करते हैं, लेकिन प्रतिरोध का अर्थ खटीमा जैसों की मौत होती है।

'तरपन' संग्रह की मार्मिक कहानियों में से एक है। कहानी ग्रामीण समाज में व्याप्त अंधविश्वास, अंधविश्वास से उपजे शोषण, आर्थिक वैषम्य तथा जीवन की दुरूहता को गंभीरता से रेखांकित करती है। मधुलि पति का तरपन नहीं कर पाती। करना नहीं चाहती, ऐसा नहीं है, लेकिन जिस विषम स्थिति में वह जी रही है, तरपन उसके लिए दिवास्वप्न-सा है। वह इस उद्देश्य से कर्ज लेने का प्रयास करती है और उस प्रयास में कंसी दूकानदार उसे हवस का शिकार वनाना चाहता है, जिससे वह अपने को वचा लेती है। मधुलि के प्रयास, तरपन के लिए एकत्रित ब्राह्मण, मधुलि के रिश्तेदार आदि को जिस स्वाभाविकता से चित्रित किया गया है वह पाठक को गहरे तक प्रभावित करता है। विवश मधुलि के विषय में एक पात्र का कथन नारी की आज की स्थिति को स्पष्ट करने में सक्षम है, "तुझे पता नहीं, हरपतिया! तू नहीं जानता तिरिया चरित। कहते हैं डंकन ने अपने आप फूंक मारकर दिया वुझा दिया था। कुलच्छना किसी के साथ लगी होगी।" (पृ.43)

हिमाशु जोशी की कहानियों की विशेषता उनके परिवेश की सघन प्रस्तुति भी है। व्यापक अनुभव, गहन अध्ययन और सूक्ष्म विश्लेषण उनकी कहानियों को वास्तविकता प्रदान करता है और हमें ऐसा लगता है कि सब कुछ जाना-पहचाना है। जोशी जी ने अनेक आंदोलनों का दौर देखा है। एक सक्रिय रचनाकार के रूप में समान्तर कहानी से उनकी सम्वद्धता मानी जाती रही है, लेकिन वासतव में उनकी कहानियाँ किसी 'वाद' की परिधि से वाहर पूर्णतया पृथक पहचान की कहानियाँ हैं।

'अपने कस्वे में' अतीत से वर्तमान में लौटने की कहानी है। 'आदमी जमाने का' गाँव में कुछ लोगों के वदलते चरित्र को चित्रित करती है। घुघ्घु वावू ऐसा ही चरित्र है। कुछ भी गलत कर उसे सही करवाने में प्रवीण घुघ्घु वावू शहर से लौटे व्यक्ति, जो उसका और दौरे पर आने वाले कमिश्नर का भी मित्र है, से अपने अपराधों को छुपाने और गाँव में समाज-सेवक के रूप में प्रतिष्ठित वने रहने के लिए किसी भी स्तर तक जा सकता है। "अव घुघ्घु वावू सामने खड़े थे। गिलहरी की तरह मेरे पाँवों पर लोटते हुए वोले कि मैंने इस कलयुग में भी कृष्ण-सुदामा की मित्रता निभाई है। मैं उनका पूर्व जन्म का सगा भाई हूँ अव!" (पृ.51)

संग्रह की शीर्षक कहानी है 'इस वार वर्फ़ गिरी तो'। वृद्धावस्था में मनुष्य संतानों के लिए कितना प्रासंगिक है और किस स्थिति में-गहनता से कहानी में उद्भासित हुआ है। रेवा "वड़ी मुश्किल से कह पाता है-अम्मा चम्पावत तक जा पाओगी!" यह वाक्य कहानी के मर्म को व्याख्यायित करने के लिए पर्याप्त है। इस छोटी-सी कहानी में लेखक ने जीवन के एक ऐसे सत्य को उद्घाटित किया है, जो अनेक परिवारों में घटित होता देखा जा सकता है।

'नई वात', 'अंततः', 'अंतराल', 'घटी हुई किरणें', 'नंगे पाँवों के निशान', 'सफेद सच', 'काला दरिया', 'जड़ें' तथा 'कांछा' भी संग्रह की उल्लेखनीय कहानियाँ हैं। संग्रह में जोशी जी की अधिकाश पुरानी कहानियों को पुनः पढ़ते हुए उनमें वही ताजगी और पठनीयता वांधने में सक्षम रही जो 'अंततः तथा अन्य कहानियाँ' और 'इकसठ कहानियाँ' संग्रहों में पढ़ते हुए थी। श्रेष्ठ रचना कभी वासी-पुरानी नहीं होती, वल्कि जितनी वार उसका पाठ होता है, नये अर्थ देती है। समीक्ष्य संग्रह का महत्त्व इसलिए असंदिग्ध है।

इस बार फिर बर्फ गिरी तो : हिमांशु जोशी; इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, के-71, कृष्ण नगर, दिल्ली-110051; पृ.160, मूल्य: 100 रुपये।

10-ए/22, शक्तिनगर, दिल्ली-110007

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डा. पुष्पा गर्ग

यथासंभव : कविता और मनुष्य का रिश्ता

सीतेश आलोक का नव्यतम काव्य-संग्रह **यथा सम्भव** एक जागरूक बौद्धिक का समाज और स्थितियों के प्रति गहन सरोकार का संग्रह है। कवि का मानना है कि जितना संभव हो अर्थात् आर्थिक विकास और सम्पन्नता की अंधी दौड़ में जो कुछ कोमल पीछे छूट रहा है उसे यथासंभव बाँधे रखने का प्रयास करना ही हमारे मानवीय होने की पहचान है। हम भौतिक रूप से तो उत्तरोत्तर विकास की ओर अग्रसर हैं लेकिन भावनाएँ और सम्बन्ध कहीं लुप्त होते जा रहे हैं। मशीनों की दुनिया में कैद हम मशीन होते जा रहे हैं। कविता और कोमलता का तंतु विलीन होता जा रहा है। इस तथ्य को हमारे पूर्वजों ने बहुत पहले ही समझ लिया था तभी तो हमारे यहाँ लक्ष्मी और सरस्वती के वैर की बात की गई है। 'तथापि' के माध्यम से कवि कहता भी है–

"भौतिक सुख-सुविधाओं के महल की नींव में कविता की बलि देना एक पूर्वावश्यकता है। सम्पन्नता की प्रत्येक सीढ़ी पर हर उस कोमल भावना का हनन होता है जिस पर कभी मानवता को गर्व हुआ करता था।"

कवि-मन में माँ का बिम्ब या घरेलू स्त्री का बिम्ब इस तरह बसा हुआ है कि आज की नौकरीपेशा स्त्री की विवशता को स्वीकारते हुए भी वह मानता है कि यह स्थिति बच्चों के लिए घातक है। सचमुच कविता का जो संस्कार उन्हें लोरी में या लोक कथा/गीतों में मिलता था वह तो कहीं परतों के नीचे दब गया है और टी.वी./कार्टून इस कदर बाल-मन पर हावी हो गए हैं कि उसके भीतर से रागात्मकता और लयात्मकता का बीज लुप्त होता जा रहा है। उसके सभी रिश्ते टी.वी. तक ही सिमट गए हैं। वहाँ चलती सजीव तस्वीरें, हिंसा उसे आकर्षित करती है। उसे कहानी/लोरी अच्छी नहीं लगतीः "नींद नहीं आती...बबलू को/परियों या किसी सोन चिरैय्या की/कथा नहीं भाती/हर बार किसी नए/रंगीन सपने की चमक/उसकी आँखों को छल जाती है/कितना आकर्षण है...."

प्रकाश-पुंजों के आगे नतमस्तक होते हम यह भूल जाते हैं कि भूख को शान्त करने के लिए आवश्यक घरेलू आग तो धरती से आकाश तक के सभी प्रकाश-पुंजों से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हैः "परन्तु एक ज्योति पुंज/ऐसी भी है/जिसके बिना हर प्रकाश/धुँधलाया रह जाता है.../जलते चूल्हे की/उस आग के सम्मुख/मेरा मस्तक/स्वतः झुक जाता है।"

आज सम्बन्ध इतने खोखले हो चुके हैं कि घर चाहे छोटा हो या बड़ा, हम किसी को अपनी दिनचर्या में सम्मिलित होने का अधिकार ही नहीं देते। 'हम' की परिधि सिकुड़ कर मैं और सिर्फ मेरा परिवार तक ही सीमित रह गई है। शेष रिश्तों पर तो प्रश्नचिह्न ही लग गया है। बचपन की तमाम यादें तस्वीर के फ्रेम में कैद होकर ही जीवित हैं। मन के भीतरी कोनों में कैद ये स्मृतियाँ बस मृगतृष्णा सी कल्पनाएँ लगती हैं और मन चाहता है कि–

"देखता रहता हूँ रह-रहकर/इसमें, तो बिखरने से पहले/रहा होगा घर/संजोए हूँ इसे बस इस आशा में/कि कौन जाने, कोई किसी दिन/इसे मेरे साथ देखना चाहे/और/एक-दूसरे को देखने-दिखाने के क्षणों में/बिखरा हुआ घर/फिर लौट आए।"

जब अपने ही इस कदर बिखर गए हैं तो फिर छोटी चिड़िया की क्या बिसात जो घरों के भीतर डेरा जमा सके, उसे तो जाना ही होगा। महानगर का कोई घर उसे आश्रय दे सके ऐसी उसकी सामर्थ्य ही नहीं है–

"अब कोई नया घर/खोज रही है चिड़िया/नहीं जानती वह/कि घर अब तंग हो गये हैं/जिनमें स्वजन-परिजन भी/दो दिन से अधिक नहीं ठहर पाते/उनमें, किसी को बसाने का जीवट/कोई कहाँ से लाए।"

महानगर की इस आपाधापी में प्रकृति की कोई भी रूप में हमें आकर्षित करता है क्योंकि महानगर में प्रकृति, बदलते मौसम सबका अहसास क्षणिक होता है। मौसम और मनुष्य का सम्बन्ध स्पर्श की छोटी-सी अवधि तक ही सिमट गया है। चिड़ियों की चहचहाहट, बदलते हुए मौसम का असर सब कुछ बदल-सा गया है। बसंत, बसंत नहीं लगता, जैसे बस छूकर निकल जाता है और गर्मी है कि मशीनगन और संगीनों में तब्दील हो गई है। आम आदमी के लिए तो कोई भी मौसम हो उसे कहीं भी, कैसे भी चैन नहीं मिलेगा–

"वक्त ने.../कर दी है मुनादी/कि जो भी कोई/सुविधाओं के परमिट बिना/दिन में घूमता पाया जाएगा/लू/बिना कुछ पूछे-गछे/उसे गोली मार देगी।"

कविता और मनुष्य का रिश्ता कवि की दृष्टि में आज भी वैसा ही है जैसा आदि कवि का था। कवि को लगता है कि करुणा का जो स्रोत आदि कवि के मन में फूटा था, वही आज तक प्रवाहित है–

"हाँ...मैं ही वह क्रौंच था/जिसके रक्त से उमड़ा था/करुणा का सागर/जन्मी थी कविता/जिससे, आज तक छलकती आ रही है/साहित्य की गागर।"

यदि कविता करुणा है तो कोमलता भी है। जहाँ उसमें अलंकार है, रस है तो प्रकृति भी विद्यमान है जो अपनी समग्रता में इस तरह घेर लेती है कि जब तक अभिव्यक्त नहीं होती, समर्पण के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए व्याकुल रहती है:

"मैं जिसे कविता समझे बैठा था/काव्य संग्रह बन जाता है/और उस पर/धीरे-धीरे चढ़ जाती है, कोई बेल/वह भी तो कविता जैसी ही होती है/कोमल, गहन और स्पन्दन से भरी।"

विकास के क्रम में जब सब कुछ प्रभावित है तो कविता कैसे बच सकती है। कभी-कभी कवि के सामने धर्म-संकट उपस्थित हो जाता है कि जो कुछ वह कहना चाहता है, वह कह नहीं पाता। शब्द उसे इच्छित अर्थ नहीं देते, पराए लगने लगते हैं–

"न जाने कौन/अपहृत कर ले गया है/मेरे सारे शब्द/उन्हें निष्प्राण एवं कलुषित/कर रहा है निरन्तर/देखते ही देखते/पराए लगने लगे हैं मेरे शब्द।"

तकनीक के विकास से साहित्य भी अप्रभावित नहीं रहा। साहित्य के समानान्तर एक नयी मनोरंजन शैली दूरदर्शन, फिल्म तथा अन्य विकसित साधनों के रूप में उभरकर सामने आने लगी, जो उपभोक्तवाद की इच्छाओं की दीर्घकालीन पूर्ति के साथ-साथ सस्ती भी थी। ऐसे में अभिव्यक्ति के साथ-साथ शब्दों के भी अर्थ बदल गए हैं, कुछ शब्द निष्प्राण हो गए हैं, कुछ को नए अर्थ मिल गए हैं। राजनीति जो हर क्षेत्र में हावी है, उससे साहित्य भी अछूता नहीं है। सफल साहित्यकार वही है जो अपने लेखन के प्रत्येक शब्द का सार्थक उपयोग करता है और उसे अपनी सफलता की सीढ़ी बनाता है–

"लिपिबद्ध शब्द/अब किसी को नहीं सुहाता..../टूट चला है शब्दों का/मसि से.../लेखनी से नाता/साक्षर वही/जो हर अक्षर को भुनाता है।"

आज नैतिक मूल्यों का ह्रास हो गया है वे तो कचरे के ढेर में परिवर्तित हो गए हैं। आज सत्य कैद से मुक्ति के लिए तड़पता है और असत्य उस पर हावी रहता है, क्योंकि हर ओर असत्य ही विजयी होता है। उसी की कीर्ति-पताका चारों ओर फहरती दिखती है। लेकिन इन सारी स्थितियों से कवि हताश और निराश नहीं है। उसके मन में कहीं यह दृढ़ विश्वास है कि आज भी देव-दानव दोनों विद्यमान हैं और हम चाहें तो पौराणिक काल जैसा सागर-मंथन कर सकते हैं और उस मंथन से मानवता का उपकार कर सकते हैं–

"विश्वास मानिए/आज भी/यदि कभी कोई/मंथन होता/तो बहुत कुछ निकल सकता था।"

इस प्रकार यह कविता-संग्रह अपने समय और समाज के ज्वलन्त प्रश्नों से जूझता, समाज के प्रति अपने गहन सरोकारों को दर्शाता एक सार्थक संग्रह है, जो एक बौद्धिक को सोचने के लिए प्रेरित करता है।

यथासंभवः सीतेश आलोक; मेधा बुक्स, एक्स-11, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032; प्र.सं.: 2000; मूल्यः 100 रुपये।

बी-2/70, सफदरजंग एन्क्लेव, नई दिल्ली-110029

केवल गोस्वामी

एक गुटनिरपेक्ष का बयान

आचार्यों ने व्यंग्य को स्वतंत्र विधा नहीं माना तो व्यंग्य लेखकों ने उन्हें आचार्य मानने से इन्कार कर दिया। एक स्कूल में इन्स्पेक्टर किसी अध्यापक की किसी कक्षा का मुआयना करने के लिए गया। बच्चे शोर कर रहे थे तो इन्स्पेक्टर ने कक्षाध्यापक से कहा, "बच्चे आपसे डरते नहीं?" तो खिसियाए हुए अध्यापक ने कहा, "मैं कौन-सा इनसे डरता हूँ।" हिसाब बराबर हुआ हो या नहीं, पर यह छायायुद्ध जारी है। व्यंग्य के क्षेत्र में अच्छी-बुरी रचनाएं आज भी यत्र-तत्र प्रकाशित हो रही हैं। कार्टूनिस्टों ने जरूर अपनी स्वतंत्र पहचान बनाई है। किंतु व्यंग्य के क्षेत्र में कथा-कहानी-उपन्यास-निबंध अथवा कविता के माध्यम से ही व्यंग्य की छुअन महसूस होती है। इसीलिए शायद स्वतंत्र विधा के रूप में इसकी स्वीकृति नहीं हुई।

कतिपय व्यंग्यकारों ने किसी राजनैतिक गुट का आश्रय लिया और कभी विचारधारा तो कभी पार्टी मेनीफेस्टो रचना में पिरोने की चेष्टा की, कुछ ने साहित्यिक गुट की पूंछ पकड़कर वैतरणी पार करनी चाही, पर कुछ ऐसे भी हैं जिनकी पटरी कहीं नहीं बैठी तो मथुरा तीन लोक से न्यारी हो गई। कुछ स्वभावतः व्यंग्यकार हैं अर्थात् उनकी भाषा में व्यंग्य की छौंक नहीं लगाई गई वल्कि संपूर्ण रचना उससे ओतप्रोत होती है। जैसे अध्यापक की नज़र छात्र की अशुद्धियों पर ही जा टिकती है वैसे ही संभवतः व्यंग्यकारों की कलम से सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक विसंगतियाँ ओझल नहीं हो पातीं, किंतु जब उन्हें भी अखबारी कॉलमों का पेट भरना पड़ता है तो बहुधा वे ओवरएक्ट कर जाते हैं, यह बाजारवाद की मजबूरियाँ हैं।

कई ऐसे भी व्यंग्यकार हैं जिन्होंने रचना को वैयक्तिक रागद्वेष निपटाने का माध्यम बनाया हैः 'आ साले में तुझे तेरी औकात बताऊँ!' वगैरा। चूँकि व्यंग्य नैसर्गिक रूप से उनमें विद्यमान नहीं है इसलिए वे भाषाई कलाबाजियों का आश्रय लेते हैं, किंतु उनके ये करतब किसी तरह से भी पाठक को अपना साझीदार नहीं बना सकते, इस प्रकार के व्यंग्य कायर के कारतूस ही सिद्ध होते हैं।

व्यंग्यकार की असली जमीन सामाजिक अन्याय के विरुद्ध अपनी धारदार भाषा का प्रयोग करना है। यह प्रवृत्तियों के विरुद्ध होता है न कि व्यक्तियों के। व्यक्ति माध्यम हो सकता है किंतु उस एक व्यक्ति में कई व्यक्तियों का समावेश होता है। इस प्रकार की रचनाएं पाठक को दूर तक अपने साथ ले चलती हैं इसीलिए टिकाऊ होती हैं, शेष अखवारी खवर की तरह जल्दी भुला दी जाती हैं। इसीलिए अखवारी व्यंग्य एवं साहित्यिक पत्रिका के व्यंग्य के मिजाज में फर्क होता है। मैं अपनी वात की पुष्टि के लिए जानवूझ कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उदाहरण देने में संकोच कर रहा हूँ।

एक तेवर सरकारी पदों पर सुविधाओं का भोग करते हुए यदा-कदा व्यंग्य की फुलझड़ियाँ छोड़ने वालों का है जो यह चाहते हैं कि न साँप मरे न लाठी टूटे, और दूसरे वे हैं जो अपने ऊपर हमले के खतरे मोल लेकर 'जो घर फूँके आपनो चले हमारे साथ' की परंपरा वाले हैं। इसका निर्णय आलोचक नहीं करता अपितु पाठक स्वयं कर लेता है। यदि वह उस तक पूर्णतया सम्प्रेषित होता है तो।

इससे पहले कि बात अधिक लंबी हो जाए श्याम विमल के दूसरे व्यंग्य संग्रह **कौन बनेगा साहित्यपति** में संकलित रचनाओं पर थोड़ा दृष्टिपात करें। जैसाकि शीर्षक से स्पष्ट है, लेखक ने टेलीविजन के तात्कालिक प्रसारणों की लोकप्रियता का आश्रय लेकर यह फैंटेसी बुनी है। उसी प्रकार की पृष्ठभूमि में अमिताभ बच्चन की जगह लेखक ने स्वयं को प्रतिष्ठित किया है और हॉट सीट पर अमिताभ को बिठाकर उसके अल्प साहित्यिक ज्ञान को तथा उसके माध्यम से इस क्षेत्र में फ्लर्ट करने वालों पर छींटाकशी की है। किन्तु साहित्य का तथा बाजारवाद का हमेशा छत्तीस का संबंध रहा है। दोनों के उद्देश्य अलग हैं, रुचियाँ अलग हैं, इसलिए माध्यम भी अलग हैं। इसलिए दोनों का घालमेल कर देने से दूध और शराब का मिश्रण हो जाता है जिसके चाहने वाले बहुत कम होते हैं। इसी प्रकार 'एक साहित्यिक हवाला डायरी' में अंग्रेजी के ए.बी.सी. अर्थात् नाम के पहले अक्षरों को लेकर लगभग पूरे आधुनिक काल को खंगाल दिया है, यानी "आचार्य RCS ने इतिहास में पक्षधरता से काम लिया"। अब आप रामचंद्र शुक्ल के इतिहास से परिचित हैं तो इस संक्षिप्तीकरण एवं लेखन में टिप्पणी को समझ सकते हैं किन्तु इसमें व्यंग्य को ढूँढने की कोशिश में आप भी कामयाब नहीं होंगे। BV पहले नवीन थे अब प्राचीन पड़ चुके हैं यानी बलदेव वंशी का पूर्व उपनाम 'नवीन' था जिसे अनेक भ्रांतियों के कारण उन्होंने त्यागकर 'वंशी' रख लिया। इसी प्रकार आप इन दिलचस्प ब्यौरों में लेखक की निजी टिप्पणियों के अर्थ खोजकर उसकी मन्शा से परिचित हो सकते हैं। यदि जैन हवाला डायरी की विसंगतियों की तरह लेखक साहित्यकारों की विसंगतियों पर केंद्रित होता तो बात अधिक समीचीन होती।

मीडिया को लेकर लेखक ने अन्य कई रचनाएँ भी लिखी हैं, मसलन 'कुछ पढ़ते क्यों नहीं'। यह एक प्रसिद्ध दवा के विज्ञापन को आधार बनाकर लिखी गई है जहाँ पुस्तकों के पाठक निरंतर लुप्त होते जा रहे हैं। पर इंटरनेट के जमाने में हो सकता है एक दिन छपा हुआ शब्द भी लुप्त हो जाए फिर हम किस पर व्यंग्य करेंगे?

साहित्यकारों को लेकर तथा उनकी व्यावहारिकता को लेकर लेखक ने यत्र-तत्र कुछ तीखे व्यंग्य करने का भरसक प्रयास किया है, यानी पुस्तक छपने से लेकर उसके विमोचन, उसकी समीक्षा, उसके पुरस्कृत होने तक कौन-कौन से घटक किस प्रकार कार्य करते हैं और गॉडफादर विहीन लेखक कैसे कोने में धकिया दिये जाते हैं।

उदाहरण के लिए 'फिक्सिंग फिक्सिंग' के माध्यम से साहित्येतर कारणों से स्थापित होने वाले चतुर-सयानों को उद्घाटित करने की चेष्टा की गई है। अभी पिछले दिनों एक पत्रिका के कहानी विशेषांक में छपे एक कहानीकार ने दुखी होकर मुझे पत्र लिखा कि अमुक पत्रिका में प्रकाशित अमुक कहानीकार ने संपादक के नाम देश के विभिन्न शहरों में विभिन्न नामों से पत्र लिखवाए और संपादक ने वे प्रशंसात्मक पत्र छाप भी दिये। अब वही कहानी आलोचक ने चर्चा के लिए चुन भी ली। मित्र की पीड़ा जेनुइन थी पर इस प्रकार की चतुराई से स्थापित रचनाएँ दीर्घजीवी नहीं होतीं।

कुछ व्यंग्य सामाजिक-आर्थिक परिवेश को लेकर भी लिखे गये हैं और वे पठनीय भी हैं, किन्तु इनमें भी लेखक ने नितांत अपने गिर्द के अनुभव को ही आधार बनाया है। फलक को थोड़ा विस्तृत किया होता तो रचनाएँ अधिक पाठकों तक पहुँचतीं। हाँ, एक बात लेखक की भाषा-शैली पर। शास्त्रीय भाषा का ज्ञाता होने के कारण लेखक ने अपनी बात को कहने के लिए शास्त्रीय ग्रंथों का भी सहारा लिया है। हँसी की किस्मों पर टिप्पणी करते-करते लेखक अतीतोन्मुखी हो जाता है, हाय वह हमारा जमाना क्या था आदि-आदि। कालेज की कुड़ियों की कंठ-काकली हँसी जैसे मुर्गियाँ अंडे देकर तुरंत कुड़कुड़ाती हैं, यह बिम्ब नितांत वैयक्तिक रुचि को ही दर्शाता है। 'भाषाई छेड़छाड़' में कहीं-कहीं सतही चुटकुलों का आभास होता है जिससे अच्छे व्यंग्यकार को सदैव गुरेज करना चाहिए।

पुस्तक में संकलित बावन व्यंग्य रचनाओं से लेखक ने व्यंग्य के क्षेत्र में धमाका तो नहीं, हाँ अपनी ज़ोरदार आवाज़ ज़रूर बुलंद की है जिससे सुनने के लिए पाठक रुककर उन अन्तर्ध्वनियों को सुनना-गुनना चाहेगा। आगामी रचनाओं में लेखक 'स्व' से हटकर 'पर' अनुभव को भी रचनाओं में समाविष्ट करेगा, ऐसी आशा की जानी चाहिए।

कौन बनेगा साहित्यपति (व्यंग्य संग्रह): श्याम विमल; अनिल प्रकाशन, न्यू मार्केट, नई सड़क, दिल्ली-110006; मूल्य : 150 रु.।

जे-363, सरिता विहार
मथुरा रोड, नई दिल्ली-110074

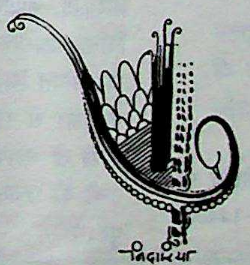

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कीर्ति केसर

मुझे आवाज़ देना

नीली झील के
सीने पर
जब लहरों का झुरमुट हो
पूरे चाँद की
भीगी-सी आर्धा रात
आकाश में तारे छिटके हों
उमड़े कोई उमंग-सी
दिल के
सूने से किसी कोने में
उसे महसूस करना
और मुझे आवाज़ देना

किसी शाम
मंदिर का शंख
जब उदास कर जाए
रिश्ते-नाते
तुम्हें व्यर्थ-से लगने लगें
खिसक जाएँ विश्वासों के आधार
आस्था की
सभी बुनियादें दरकने लगें
धुँधले हो जाएँ
चारों दिशाओं के संकेत
कुछ न कहना
तुम मुझे आवाज़ देना

तुम्हारे पाँव
जब टूटन की
देहरी पर लड़खड़ाने लगें
मन-पंछी
बसेरे को जब तरसने लगे
घनी तुम्हारी पलकों पर
आँसू की लड़ियाँ थरथराने लगें
कुछ न करना
तुम मुझे आवाज़ देना।

ई-1086, गोबिंद गढ़
जालन्धर-144001

दो कविताएँ

पलाश विश्वास

हंगामा बेवजह

ध्वंसावशेषों के धर्मान्तरण से
बेदखल नहीं हो जाता इतिहास

दलितोद्धार का पर्याय नहीं है
उपासना पद्धति में परिवर्तन

संस्थाएँ सिर्फ मजबूत होती हैं
कर्मकाण्ड के विस्तार से

सरकारें इसी तरह गिरती-पड़ती
चलती रहतीं
और
राज्यशक्ति के हाथों में
विध्वंस के दूर नियंत्रित बटन
सुअरबाड़ों में हंगामा बेवजह
इस तरह कतई नहीं बदलता
जनगोष्ठियों का भविष्य

तैंतीस करोड़ देवी-देवताओं के
वंश-विस्तार
और सत्ता के अखण्ड कुलीनत्व में
समाहित सिन्धु घाटी
और
हड़प्पा भी...

सिर्फ आँकड़े

मनुष्यता अन्ततः एक वैदिकी शब्द है
जो भावार्थ में निषेध है
मनुष्यता का ही, शब्दार्थ में फिर वही
वैदिकता, जहाँ असवर्ण मात्र अमानुष
विभिन्न वध-प्रकरण इसीलिए तो
गौरवान्वित कि मारे गये लोग थे अनार्य
नरसंहार से रक्ताक्त जिनके हाथ
वे ही तो महाकाव्यों के महानायक
उन्हीं की उपासना के बहाने
पुनश्च
अश्वमेध आयोजन...
घोड़े दौड़ाये जाते हैं दिशाओं में
शब्दशक्ति के अनन्त व्यभिचार के लिए
भ्रष्ट गणतन्त्र के चक्रव्यूह में
अभिमन्यु नहीं, हर बार वधित वही एकलव्य
प्रतिबन्धित उसी के संगठन
वह ही तो घोषित आतंकवादी
देशद्रोही
शहीदों के कफन बेचते लोग
सबसे बड़े देशभक्त हैं आज
सवर्ण संसद में भाषा
फिर वही वेद, पुराण, उपनिषदें
मारे गये लोग सिर्फ आँकड़े...

सोदेपुर (पश्चिम बंगाल)

मधु शर्मा

हवा/सपने और अनुपस्थिति

(1)

मैंने हवाओं के छोर से
बाँध दिया
इच्छाओं का दामन
देखती हूँ
वे कहाँ तक जाती हैं

(2)

रात के सपने में
आयी एक सुबह
अचकचा कर खुली आँख
सपना कहीं नहीं था

(3)

तुम्हारे न होने में
और भी दुख
जो तुम्हारे होने में नहीं था

(4)

जड़ों को मेरी स्मृतियों का पता नहीं
मिट्टी को क्या मालूम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेरा क्या खोया है
पर मैं
जब भी हुई हूँ उदास
पत्ते तक को हो गयी ख़बर
और वे
अपने ठिकाने पर नहीं रहे।

एच-242, विकास पुरी
नई दिल्ली-110018

सरोज वशिष्ठ

15 अगस्त 1947 की, मैं शिमला में एक चश्मदीद गवाह

मैंने अपनी ही खिड़की से
सुबह-सवेरे नंगी तलवारें
देखी थीं।
आज हो गए 55 साल
यहीं इसी शहर में
आज नंगी तलवारें देखने के लिए
मुझे किसी खिड़की की जरूरत ही नहीं
चारों तरफ लाशें तड़प रही हैं।
आजादी पा लेना काफ़ी नहीं है
भाषणों में वह सब कुछ अच्छा लगता है
तब हम बहुत छोटे थे
बहुत खुश थे
रात बारह बजे पंडित जी का
सम्भाषण सुन-सुनकर
अभिभूत हो रहे थे
तब हमें यह मालूम नहीं था कि
क्योंकि हम आजाद हो गए हैं
इसीलिए गुम हो गए हैं
गुम ही क्यों
हम तो ध्वस्त हो गए हैं
लुप्त, अकिंचन, निस्सहाय, दीनहीन।

ब्लाक सी-13, फ्लैट नं. 20
विकास नगर, शिमला-171009

सुशान्त सुप्रिय

दीवार

उधर बर्लिन की दीवार
तोड़ी जा रही थी
इधर मेरा पड़ोसी
अपने घर की चारदीवारी
डेढ़ हाथ ऊँची कर रहा था।
पता चला कि वह उस ऊँची दीवार पर
काँच के टुकड़े भी बिछायगा
और उसके बाद
दीवार पर कँटीली तारें भी लगाएगा।

मैं नहीं जानता
उसके दिमाग में
दीवार ऊँची करने का खयाल
क्यों और कैसे आया

हाँ, एक बार उसने
मेरे लॉन में उगे पेड़ की
वो टहनियाँ ज़रूर काट डाली थीं
जो उसके लॉन के ऊपर
फैल गई थीं
पर उस पेड़ की छाया
इस घटना के बाद भी
बराबर उसके लॉन में पड़ती रही,
एक ही आकाश
इस घटना के बाद भी
हम दोनों घरों के ऊपर
बना रहा,
धूप
इस घटना के बाद भी
दो फाँकों में नहीं बँटी,
और हवाएँ
इस घटना के बाद भी
बिना रोक-टोक
दोनों घरों के लॉन में
आती-जाती रहीं

फिर सुनने में आया
कि मेरे पड़ोसी ने शेयर-बाजार में
काफ़ी पैसा कमाया है
कि अब वह पहले से ऊँची कुर्सी पर
बैठने लगा है,
कि उसकी नाक
अब पहले से कुछ ज़्यादा खड़ी हो गई है

मैं उसे किसी दिन
बधाई दे आने की बात
सोच ही रहा था
कि उसने अपनी चारदीवारी
डेढ़ हाथ ऊँची करनी शुरू कर दी।
उन्हीं दिनों
रेडियो, टी.वी. और समाचार-पत्रों ने बताया
कि बर्लिन की दीवार
तोड़ी जा रही है...

याद नहीं आता
कहाँ और कब पढ़ा था
कि जब दीवार आदमी से ऊँची हो जाए
तो समझो
आदमी बेहद बौना हो गया है।

इंटरप्रेटर, लोकसभा
नई दिल्ली

राजकुमार कुम्भज

आने वाले दिनों में

आने वाले दिनों में
फड़फड़ाते पंख नहीं बचेंगे
लड़खड़ाते इरादे नहीं बचेंगे

बचेंगे तो बचेंगे सिर्फ़ कुछ राक्षस और कुछ रामदास
बचेंगे तो बचेंगे सिर्फ़ कुछ सेल्समैन और कुछ धनुर्धर
बचेंगे तो बचेंगे सिर्फ़ कुछ शो-रूम और कुछ ब्यूटी पार्लर

मगर, तब भी हम देखेंगे और देखते रहेंगे
कि तस्वीरों में छिपी नदी बच रही है
और बच रहेगी

331, जवाहरमार्ग,
इन्दौर-452002

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चक्राचक्र

परमात्मा की खुंदक से बचो

बिहारी लाल जी ने अपनी पुस्तक परम पिता परमात्मा को समर्पित की थी। उनका यह समर्पण मुझे कौतूहल से भर गया था। मैंने उनसे पूछा था–"पंडित जी, जिस परमात्मा को सारी सृष्टि का रचयिता माना जाता है, जिसे सभी का पालनहार कहा जाता है, वह क्या यह उम्मीद लगाए बैठा था कि कब पंडित बिहारी लाल जी अपनी एक पुस्तक लिखें और मुझे समर्पित करें जिससे मेरा जीवन सफल हो जाए। आपने भी क्या हवा में तीर चलाया है?".

उन्होंने मुझे बहुत घूर कर देखा–"तुम परमात्मा को जानते हो?"

मैंने कहा–"आप भी कैसी फिजूल बात कर रहे हैं। जिस परमात्मा को जानने के लिए बड़े-बड़े ऋषि, मुनि, संत, गुरू सारा जीवन एड़ियाँ रगड़ते रहे और अंत में नेति नेति कह कर बैठ गए, उसे भला मैं कैसे जान लूँगा?"

वह मुस्कराए। ऐसी मुस्कुराहट उनके चेहरे पर उसी समय दिखाई देती है जिस समय वह यह मान लेते हैं कि सामने बैठे व्यक्ति को उन्होंने पूरी तरह ध राशायी कर दिया है। वह बोले–"मैं जानता था, तुम्हारा जवाब ऐसा ही होगा। लेकिन मैं सब कुछ जान गया हूँ।"

"परमात्मा के विषय में आप सब कुछ जान गए हैं?"

"जान ही नहीं समझ भी गया हूँ।" मुझे समझाते हुए बोले–"वह एक बड़े विचित्र किस्म का जीव है। खुश होता है तो बहुत कुछ दे देता है। गुस्सा हो जाए तो रेत की दीवार की तरह सब कुछ तोड़-फोड़ देने में उसे देर नहीं लगती। सभी धर्मों के परमात्मा ऐसे ही होते हैं।"

"बहुत हद तक आपकी बात ठीक है पंडित जी। परमात्मा को सर्व नक भी कहते हैं और सर्वघालक भी। पर यह क्या बात हुई कि सभी धर्मों के परमात्मा ऐसे ही होते हैं। धर्म चाहे जितने भी हों, आखिर परमात्मा तो सभी का एक ही है।"

"यही तुम में और मुझ में अंतर है। तुम हमेशा पढ़ी-पढ़ाई, साधू-महात्माओं द्वारा कही हुई बातों का चर्वा उगलते हो...मैं सदा मौलिक बात कहता हूँ। अरे भाई, मेरी एक बात गाँठ बाँध लो। सभी धर्मों के परमात्मा अलग-अलग होते हैं। परमात्मा, अल्लाह, गॉड, वाहिगुरु सब अलग-अलग हैं। सभी एक दूसरे से बड़ी खुंदक खाते हैं और मौका मिलते ही उनके मानने वालों पर झपट पड़ते हैं।"

मैंने कहा–"यह कैसी थीसिस है पंडित जी? सारे धर्मशास्त्र, सारे धर्मगुरु सारे पीर-पैगम्बर एक बात कहते हैं। आप बिल्कुल दूसरी बात कह रहे हैं।"

"इसलिए कि सभी लकीर के फकीर हैं। एक ने कह दी, फिर सभी वही बात तोतों की तरह रटने लगे। अगर सभी का परमात्मा एक ही होता है तो दुनिया में इतना लड़ाई-झगड़ा क्यों होता? पाँच सौ बरस पहले अल्लाह को एक मौका मिला तो उसने राम का घर तोड़कर वहाँ अपना घर बना लिया। अब परमात्मा का दाँव लग गया तो उसने अल्लाह के घर पर हमला बोल दिया और उसे तोड़-फोड़ डाला। बोलो ठीक है कि नहीं?

बिहारी लाल जी ने बड़े आराम से सामने रखी मेज पर अपनी टाँगें फैला दीं। बोले–"कुछ महीने पहले गुजरात में एक भूचाल आया था। एक मौलवी ने फतवा दिया–कश्मीर में हिन्दू सेनाएँ मुसलमानों पर बहुत जुल्म कर रही हैं। अल्लाह मियाँ ने उसी का बदला लिया है।"

मैंने पूछा–"गुजरात में इन दिनों जो कुछ हुआ है, क्या उसमें भी यही बात लागू होती है?"

"और नहीं तो क्या? पहले अल्लाह मियाँ ने साठ हिन्दुओं को जला कर राख कर दिया। फिर परमात्मा ने गुस्से से आँखें तरेर कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहा–अल्लाह मियाँ, तुम अपने आपको समझते क्या हो? अब मेरा प्रकोप देखो।" और देखते-देखते साठ के बीस गुना मुसलमान भट्ठी में झोंक दिए गए।"

मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि मैं पंडित जी की बातों को केसे झुठलाऊँ।

बिहारी लाल जी खिलखिलाकर हँसने लगे–"ये परमात्मा लोग खुद बड़े खुंदकी होते हैं और जिन देवी-देवताओं का निर्माण करते हैं वे भी खुंदक निकालने में किसी से पीछे नहीं रहते। पुराणों की वह कथा तुमने पढ़ी होगी। एक बार वर्षा के देवता इंद्र को गोकुल निवासियों पर इसलिए बहुत गुस्सा चढ़ गया कि वे लोग उसकी पूजा छोड़कर कृष्ण की पूजा करने लगे थे। खुंदक में आकर उसने गोकुल पर वर्षा करके उसे पूरी तरह डुबो देना चाहा। कृष्ण गोकुल वालों से बेवफाई तो नहीं कर सकते थे। उन्होंने इंद्र को अपनी शक्ति का परिचय देते हुए एक पूरे पर्वत को अपनी उँगली पर उठा लिया और सारे गोकुल को उसके नीचे लाकर बचा लिया।"

थोड़ी देर तक हम दोनों चुप बैठे रहे।

बिहारी लाल जी थोड़ा गंभीर होकर बोले–"सभी धर्मों में एक बात दोहराई जाती है कि अपने परमात्मा से डरो। ऐसा क्यों कहा जाता है?"

"इसलिए कि अगर इंसान परमात्मा से डरकर....

उन्होंने बीच में ही टोक दिया–"डरकर यानी उसके प्रकोप से डरकर....।"

मैंने कहा–"हाँ...हाँ...उसके प्रकोप से डरकर रहेगा तो बुरे काम नहीं करेगा।"

"अच्छे और बुरे काम का फैसला कौन करेगा?"

"परमात्मा ही करेगा...और कौन करेगा?

"मतलब यह हुआ कि इंसान को अपने परमात्मा के प्रकोप से, उसकी मार से, उसके कहर से डरकर रहना चाहिए?"

"हाँ...यही बात है।"

"तो...मेरे भाई...मेरी एक बात सुनो। मैं बहुत डरपोक आदमी हूँ। अपने पड़ोसी का गुस्सा भी मुझसे झेला नहीं जाता, फिर परमात्मा से कौन पंगा ले। कौन जाने कौन-सी बात उसे बुरी लग जाए और वह मुझसे अपनी खुंदक निकालने का मन बना ले। ना बाबा ना...मैं यह रिस्क नहीं उठा सकता। लोग परमात्मा के इसी गुस्से से बचने के लिए पूजा-पाठ करते हैं, उसका नाम जपते हैं, उसे प्रसाद चढ़ाते हैं, उसको भोग लगाते हैं। ऐसी हालत में यदि मैंने अपनी एक पुस्तक उसे समर्पित कर दी है तो तुम्हारे पेट में दर्द क्यों हो रहा है?"

मैं सचमुच घबरा गया। मुझे लगा, सचमुच मेरे पेट में दर्द शुरू हो गया है और वह लगातार बढ़ता चला जा रहा है।

अभिव्यंजना द्वारा प्रकाशित कुछ नए कविता-संग्रह

ख़त्म नहीं होतीं यात्राएँ

(मधु शर्मा)

विविध अनुभवों से भरी जीवन की अनंत यात्राओं को स्वर देने वाली कविताएं

मूल्य : 100 रु.

सबूत क्यों चाहिए

(इंदु जैन)

समय-चेतना को उजागर करती प्रख्यात कवयित्री इंदु जैन की नई कविताएं

मूल्य : 80 रु.

मेरा होना

(कुसुम अंसल)

गहरी संवेदनशीलता के कारण मन को छू जाने वाली कुसुम अंसल की नई कविताएं

मूल्य : 70 रु.

आरंभ से हाशिये तक

(अनिता वर्मा)

संवेदनाओं को आत्मसात करती और कविता में जीती अनिता वर्मा की नई कविताएं

मूल्य : 60 रु.

अन्य महत्त्वपूर्ण कविता-संग्रह

पीली धूप का टुकड़ा	शामा	100 रु.
सच कहती हूँ	सुनीता जैन	80 रु.
मुक्त कर दो	कीर्ति केसर	50 रु.
विरूपीकरण	कुसुम अंसल	35 रु.
तुम झेल नहीं पाओगे	अरुणा कपूर	60 रु.

अभिव्यंजना
बी-70/72, डी.एस.आई.डी.सी.काम्प्लेक्स,
लारेंस रोड, दिल्ली-110035

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुरेन्द्र तिवारी

कुछ पत्रिकाओं के नये अंक

मध्य प्रदेश से प्रकाशित समकालीन रचनाकर्म की पत्रिका 'आवेग' (सं. प्रसन्न ओझा, एफ-7, पी.डब्ल्यू.डी.क्वार्टर्स, ओल्ड पलासिया, इन्दौर-18) का 61 वाँ अंक अभी आया है। गत 33 वर्षों में मात्र 61 अंक प्रकाशित होने के बावजूद यह पत्रिका हमेशा चर्चा के केन्द्र में रही है और इसका एकमात्र कारण है स्तरीय रचनाओं का चुनाव तथा समकालीन सोच से जुड़ाव। इस अंक की सबसे बड़ी उपलब्धि है मन्नू भंडारी की सम्पूर्ण आत्मकथा 'एक कहानी यह भी' का प्रकाशन। इस आत्मकथा के साथ सम्पादक ने महत्वपूर्ण टिप्पणी की है–"पाठक यह अनुभव करेंगे कि मन्नू जी के व्यक्तित्व की सरलता और निश्छलता उनके गद्य को भी इस तरह प्रांजल और प्रवाहपूर्ण बनाती हैं कि हम उन्हें पढ़ने से ज्यादा 'सुनने' लगते हैं।" हिन्दी साहित्य और साहित्यकारों के अनेक चेहरों और चरित्रों को रेखांकित करने वाली यह आत्मकथा निश्चित रूप से एक उत्तम रचना है। इस अंक की दूसरी महत्वपूर्ण रचना है, नामवर सिंह से आशुतोष दुबे और रवीन्द्र व्यास की बातचीत। इन रचनाओं के साथ ही चन्द्रकांत देवताले की डायरी के अंश को भी रखा जा सकता है। 'क्या कविता सिर्फ पार्श्व में चीखेगी?' (अरविन्द त्रिपाठी) एक विचारोत्तेजक आलेख है, जिसमें यह चिंता व्यक्त की गई है कि आज पाठक कविता से क्यों कटता जा रहा है। पत्रिका का सम्मान कविताओं के प्रति ज्यादा है। इस अंक में ग्यारह कवियों की कविताएँ हैं और एकमात्र कहानी प्रभु नारायण वर्मा की है। पत्रिका में पुस्तक-समीक्षा को गंभीरता से लिया गया है, यह प्रशंसनीय है।

'दलित साहित्य' (सं. जय प्रकाश कर्दम, बी-955, डी.डी.ए. फ्लैट्स, ईस्ट आफ लोनी रोड, दिल्ली-110093) एक वार्षिक पत्रिका है, जिसका सन् 2000 का अंक अभी आया है। 'दलित विमर्श' और 'दलित साहित्य' की तरफ अचानक ही हिन्दी में कुछ विशेष ही ध्यान दिया जाने लगा है, किन्तु यह पत्रिका तो पूरी तरह दलित वर्ग और दलित साहित्य को समर्पित है। अपने लम्बे संपादकीय में अनेक समस्याओं की तरफ ध्यान खींचने के साथ ही संपादक यह भी स्वीकारता है कि 'दलित साहित्य के समक्ष सबसे बड़ा संकट अपने अस्तित्व को लेकर है। दलित साहित्य का अब तक का संघर्ष स्वयं को स्थापित करने का था लेकिन अब उसके समक्ष चुनौती अपने अस्तित्व को बचाए रखने की है।" 300 पृष्ठों के इस विशाल अंक में ऐसे अनेक महत्त्वपूर्ण और विचारप्रधान लेख हैं जो सिर्फ दलित समाज और साहित्य तक सीमित नहीं हैं बल्कि सम्पूर्ण भारतीय समाज को एक अलग दृष्टि से देखने का आग्रह करते हैं। इस अर्थ में सर्वाधिक चिंतनपूर्ण लेख जयप्रकाश लीलवान का 'मार्क्सवाद की नकाब में इतिहास, संस्कृति और परंपरा के फूहड़ हिन्दूकरण की परियोजना' है। हालांकि यह लेख रामविलास शर्मा के 'हिन्दू-चिंतन' को खंडित करने के लिए लिखा गया है। पर लेखक के तर्कों के आधार पर विचारणीय है। 'आदमीपन को निर्जीव बनाने की साजिश' (रमाशंकर आर्य), 'आर्थिक उदारवाद और दलित' (कंवल भारती), 'खेतिहर भूमिहीन कृषि मजदूरों पर वैश्वीकरण-उदारीकरण का प्रभाव (रघुवीर सिंह), 'भूमंडलीकरण और बहुजन की शिक्षा का यथार्थ' (ईश कुमार गंगानिया), 'नई आर्थिक नीति और दलित' (प्रकाश लुईश) आदि चिंतनपूर्ण लेख कई तरह की बहस के आधार बन सकते हैं। दलित जन-जीवन को चित्रित करती छह कहानियाँ और कई कविताएँ इस अंक को संग्रहणीय बनाती हैं।

भाषा विभाग, पंजाब द्वारा प्रकाशित 'पंजाब सौरभ' (सं. मदन लाल हसीजा, भाषा भवन, पटियाला) का जनवरी-अप्रैल 2002 का अंक 'पंजाब का आधुनिक हिन्दी साहित्य विशेषांक' है। निश्चित रूप से पंजाब में अनेक हिन्दी रचनाकार हैं और हिन्दी साहित्य का वहाँ निरन्तर प्रकाशन होता है, परन्तु ज्यादातर वह अचर्चित ही रह जाता है। इस अंक में कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास आदि विधाओं पर सर्वेक्षणयुक्त अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। 'हिन्दी उपन्यास को पंजाब की देन' (इन्द्रनाथ मदान), 'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानियों को पंजाब का योगदान' (कृष्ण भावुक), 'पंजाब का हिन्दी एकांकी' तथा 'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक : पंजाब का योगदान' (चन्द्रशेखर), 'हिन्दी समालोचना को पंजाब की देन' (मनमोहन सहगल) तथा 'हिन्दी कविता को पंजाब का योगदान' जैसे लेख निश्चित रूप से अपने अपने विषय को गंभीरता से प्रस्तुत करते हैं। परन्तु महीप सिंह का पच्चीस वर्ष पुराना लेख '१९७६ की हिन्दी कहानी' छापने की कोई सार्थकता नजर नहीं आयी। कई अन्य लेख भी पूर्व-प्रकाशित हैं किन्तु अपनी समग्रता के कारण उनकी उपयोगिता आज भी है। यदि रचना-चयन में थोड़ी सजगता होती तो निश्चित रूप से यह अंक विशिष्ट बन जाता।

'विषयवस्तु' (सं. धर्मेन्द्र गुप्त, 274, राजधानी एन्क्लेव, पोस्ट-शकूरबस्ती, दिल्ली-110034) का नया अंक जनवरी-मार्च 2002 समीक्षा पर केन्द्रित है। लघुकाय यह पत्रिका पिछले कुछ अंकों से लगातार पाठक-लेखक के बीच एक संवाद स्थापित करने की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोशिश कर रही है। इस अंक में भी पाँच प्रश्नों के माध्यम से संपादक ने समकालीन लेखकों से समीक्षा के संदर्भ में जानना चाहा है। इस विषय पर अनेक लेखकों की सोच सामने आई है। विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, गिरिराज किशोर, पद्मजा घोरपड़े, वेदप्रकाश अमिताभ, प्रदीप पंत, सुरेन्द्र तिवारी, उदभ्रांत, शैलेन्द्र चौहान आदि द्वारा व्यक्त विचारों के माध्यम से आज की समीक्षा की पूर्णता-अपूर्णता को समझा जा सकता है। इसी संदर्भ में हेनरी पेयरे की पुस्तक 'विद्वता, समालोचना और साहित्यिक सामंजस्य' से उद्धृत कुछ विशेष अंश अवश्य ही पठनीय हैं।

देवेश ठाकुर द्वारा संपादित पत्रिका 'समीचीन'(बी-23, हिमालय सोसाइटी, असल्फा, घाटकोपर (पश्चिम), मुंबई-84) गत बारह वर्षों से प्रकाशित हो रही है। परन्तु अनियतकालीन होने के कारण अभी तक इसके मात्र 27 अंक छपे हैं। विचार-प्रधान यह पत्रिका लघु पत्रिकाओं के बीच महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। नये प्रश्नों से जूझना, पाठकों का ध्यान उधर आकर्षित करना इसका स्वभाव है, चरित्र है। इस बार भी संपादकीय में 'मीडिया का संकट और लघु पत्रिकाओं का दायित्व' पर गंभीरता से विचार किया गया है। संपादक का मानना है कि 'संचार क्रांति' के जिस दौर से हम गुजर रहे हैं उसमें सर्वाधिक प्रहार उन पर हुआ है जो संवेदनशील हैं, सोचते-विचारते हैं या जिनमें रचनात्मकता पूरी संवेदना के साथ अभी जीवित है।' मीडिया के संकट पर यह एक विचारणीय आलेख है। 'हिन्दी में पुरस्कारों की बढ़ती संख्या और उनकी गिरती प्रतिष्ठा' (श्रवण कुमार गोस्वामी) में पुरस्कारों की राजनीति पर लेखक ने सटीक टिप्पणी की है। परन्तु पत्रिका में मौलिक अप्रकाशित रचनाओं का अभाव स्पष्ट दीखता है तभी दूसरी पत्रिकाओं में छपी सामग्री को भी यहाँ स्थान दिया गया है। अरुंधति राय का लेख 'समयांतर' से और विनोद कुमार शुक्ल के दो उपन्यासों का गोपाल राय द्वारा आकलन 'समीक्षा' से साभार उद्धृत हैं। फिर भी पत्रिका समयोपयोगी है और 'लघु पत्रिका' के दायित्व का पूरा निर्वाह करती है।

'ऋतुचक्र' (सं. विक्रम कुमार, 65, पत्रकार कालोनी, इन्दौर-1) भी एक बहुत पुरानी पत्रिका है, छमाही रूप में इसका अंक 92 सामने है। परन्तु इस पत्रिका का कोई स्वरूप आज तक नहीं बन पाया तो इसके पीछे सम्पादकीय सजगता का अभाव ही मुख्य कारण है। 16 पृष्ठ की पत्रिका में भी काफी पठनीय और विचारणीय सामग्री दी जा सकती है, परन्तु यहाँ ऐसा नजर नहीं आता। बल्कि पत्रिका का ले-आउट ऐसा है कि आठ पृष्ठों की सामग्री को 16 पृष्ठों तक फैला दिया गया है-क्या रचनाओं के अभाव के कारण? महत्त्व सिर्फ पत्रिका निकालने का ही नहीं है बल्कि उसके रचनात्मक उपयोग का भी है। इस पत्रिका में अच्छी रचनाओं का अभाव है।

और अब चर्चा एक नई पत्रिका की। 'प्रभात पुंज' (सं. वेदप्रकाश दुबे, एस.आर.मिश्रा कंपाऊंड-2/6, शास्त्री नगर, कालीना, सांताक्रुज (पूर्व), मुंबई-29) त्रैमासिक का दूसरा अंक अभी आया है। पत्रिका की रचनाओं में कुछ गंभीरता नजर आती है। बी.जे.कश्यम का लेख 'ऋषि परंपरा के मार्क्सवादी आलोचक रामविलास शर्मा' और दूधनाथधर दुबे का 'मंथरा जीवित है' को इस दृष्टि से देखा जा सकता है। पत्रिका को विविधरंगी बनाने का प्रयास है, इस कारण साहित्येतर विषयों का भी समावेश है। 'बाल श्रम उन्मूलन, दायित्व किसका', 'दांपत्य के मुख्य सूत्र', 'भरण-पोषण', 'बढ़ती जनसंख्या एवं भटकते युवा', 'इंडी-पाप संगीत' आदि कुछ ऐसे ही लेख हैं। हाँ, पत्रिका में पुस्तक-समीक्षाओं पर विशेष जोर है और नई पुस्तकों की विस्तृत समीक्षाएं छपी हैं, जो महत्त्वपूर्ण हैं। प्रेमचंद की एक कहानी 'जिहाद' पर कमलकिशोर गोयनका की टिप्पणी पठनीय है परन्तु कहानी भी साथ में होती तो पाठकों का ज्यादा हित होता क्योंकि हिन्दी में यह कहानी अभी तक विशेष चर्चा में नहीं रही है। पत्रिका के प्रकाशन-पक्ष में अभी सुधार की बहुत जरूरत है, साथ ही रचना-चयन में तटस्थता की भी।

बी-3/76, सेक्टर-16
रोहिणी, नई दिल्ली-110085

डा. कमलेश सचदेव
द्वारा लिखित
महीप सिंह के
कथा-मानस का विश्लेषण
करने वाली महत्वपूर्ण
आलोचनात्मक कृति

महीप सिंह का कथा संसार

पृष्ठ : २०८ मूल्य रु. : २००/-

प्रकाशक
अभिव्यंजना
बी-70/72, डी.एस.आई.डी.सी.काम्प्लेक्स,
लारेंस रोड, नई दिल्ली-110034

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छठें अ.भा. अम्बिका प्रसाद दिव्य स्मृति प्रतिष्ठा पुरस्कार घोषित

स्व. अम्बिका प्रसाद दिव्य की स्मृति में अ.भा.स्तर पर दिये जाने वाले छठे प्रतिष्ठापूर्ण साहित्यिक पुरस्कारों की घोषणा मंगलवार दिनाँक 5 मार्च को सागर में आयोजित एक पत्रकार वार्ता में की गई। दिव्य स्मृति पुरस्कार समिति के संरक्षक एवं सागार जिले के कलेक्टर श्री बी.आर.नायडू ने पुरस्कारों की घोषणा करते हुए बताया कि उपन्यास और कहानी विधा के लिए पाँच हजार रुपए राशि का अंबिका प्रसाद दिव्य पुरस्कार 'यह जग काली कूकरी' उपन्यास के लिए इंदौर के उपन्यासकार श्री सूर्यकांत नागर को, काव्य विधा के लिए दो हजार एक सौ रुपए राशि का दिव्य पुरस्कार बुन्देली ग़ज़ल संग्रह 'चलो अब घर को चालिये' के लिए जबलपुर के कवि श्री राज सागरी को एवं ललित निबंध, व्यंग्य, नाटक एवं बाल साहित्य के लिए, दो हजार रुपए राशि का दिव्य पुरस्कार निबंध संग्रह 'थोड़ी यात्रा थोड़े कागज' के लिए भायन्दर के साहित्यकार श्री सांवरमल सांगानेरिया को प्रदान किये जायेंगे। इनके अलावा काव्य संग्रह "मेरी इक्यावन कवितायें" के लिए श्री अटल बिहारी वाजपेयी एवं उसके कोंकणी अनुवाद के लिए गोवा के डॉ.पी.ए.शेजवाडकर को दिव्य-रजत-अलंकरणों से सम्मानित किया जायेगा। इसी क्रम में आरा के प्रो. राकेश कुमार सिंह को उनके कथा संग्रह 'हांका', डीविवली के कथाकार श्री आलोक भट्टाचार्य को उनके कथा संग्रह 'आँधी के आस-पास', पिपरिया के व्यंग्यकार श्री रविशंकर परसाई को व्यंग्य संग्रह 'पानी डूब रहा है', भोपाल की व्यंग्यकार श्रीमती मालती वसंत को उनके व्यंग्य संग्रह 'कुर्सी तेरे रंग हजार', खण्डवा के निबंधकार डॉ. श्रीराम परिहार को उनके निबंध संग्रह 'बजे तो वंशी, गूँजे तो शंख', शाजापुर के कवि श्री राजीव शर्मा को उनके काव्य संग्रह 'उम्र की इक्कीस गलियाँ', खण्डवा के श्री ओम ठाकुर को उनके काव्य संग्रह 'कागज की नाव', सागर के कवि श्री विवेक श्रोत्रिय को उनके काव्य संग्रह 'चेहरे', इलाहाबाद के लेखक श्री रविशंकर शर्मा को उनके बालकथा संग्रह 'अपनी धरती' और भोपाल की श्रीमती विनय राजाराम को काव्यानुवाद 'प्रणय से प्रणव तक' के लिए दिव्य-रजत-अलंकरणों से सम्मानित किया जायेगा।

इस अवसर पर दिव्य पुरस्कार घोषणा समारोह के मुख्य अतिथि एवं दिव्य पुरस्कार समिति के वरिष्ठ संरक्षक, पूर्व कुलपति श्री शिवकुमार श्रीवास्तव ने दिव्य जी के कृतित्व एवं दिव्य पुरस्कारों की विश्वसनीयता एवं लोकप्रियता पर प्रकाश डाला।

प्रस्तुतिः जगदीश किंजल्क

९वाँ अ.भा.हिन्दी साहित्य सम्मेलन सम्पन्न हुआ

विगत अनेक वर्षों से यहाँ विभिन्न क्षेत्रीय एवं राष्ट्रीय आयोजनों के माध्यम से गाजियावाद महानगर को एक सांस्कृतिक राजधानी विकसित करने में युवा साहित्य मंडल की भूमिका को '9वें अ.भा. हिन्दी साहित्य सम्मेलन' में उपस्थित हुए देश के विभिन्न अंचलों से आये प्रवुद्धजनों ने विशेष रूप से रेखांकित किया। प्रति वर्ष दशहरा एवं दीपावली के मध्य आयोजित होने वाले इस राष्ट्रीय समारोह के क्रम में स्थानीय हिन्दी भवन में सम्पन्न हुए '9वें अ.भा.हिन्दी साहित्य सम्मेलन' में मुख्य अतिथि के रूप में भारत में मॉरीशस के उच्चायुक्त श्री दनीलाल शिव, पूर्व राज्यपाल एवं प्रमुख हिन्दी सेवी डॉ. बी. सत्यनारायण रेड्डी, उ.प्र. के गन्ना विकास एवं चिकित्सा शिक्षा मंत्री डॉ. नरेन्द्र कुमार सिंह गौर, उ.प्र. संगीत नाटक अकादमी के अध्यक्ष प्रख्यात नाटककार श्री दयाप्रकाश सिन्हा, प्रकाशन विभाग के पूर्व महानिदेशक डॉ. श्याम सिंह शशि, डॉ. बालशौरी रेड्डी सहित देश के विभिन्न अंचलों से सैकड़ों की संख्या में विद्वान चिंतक, मनीषी, शिक्षाविद्, लेखक, कवि, पत्रकार एवं हिन्दी सेवी उपस्थित थे।

सम्मेलन के तीन सत्रों में 'पर्यावरण, संस्कृति एवं विविध संचार माध्यम', 'पश्चिमी उ.प्र. की सांस्कृतिक विरासत', 'राष्ट्र चेतना में समकालीन लेखन की भूमिका' विषय पर सार्थक विचार गोष्ठियाँ सम्पन्न हुई, वहीं सांस्कृतिक संध्या में ब्रज की लोककला एवं अन्य रंगारंग गीत नाटक व गायन के कार्यक्रमों ने उपस्थित जनसमूह को आनंदित किया। दो सत्रों में आयोजित काव्य गोष्ठियों में जागरूक कवियों ने सम-सामयिक काव्य रचनाओं से श्रोताओं को जहाँ कविता के वास्तविक स्वरूप से साक्षात्कार कराया वहीं काव्य रचनाओं के संदेश को आत्मसात् कराने में सफलता पाई।

प्रस्तुतिः विकास मि...

जल्लाद का लोकार्पण

नवोदित लेखक संघ के तत्वावधान में युवा लेखक सं... कुमार 'संजय' के प्रथम कहानी संग्रह 'जल्लाद' का लोकार्पण वरि... लेखिका रमणिका गुप्ता ने भारतीय सामाजिक संस्थान, नई दिल्ली ... किया। कार्यक्रम का शुभारम्भ सभा में उपस्थित नवोदित लेख... द्वारा अतिथियों को माल्यार्पण एवं दीप-प्रज्ज्वलन से हुआ।

पुस्तक का लोकार्पण करते हुए रमणिका गुप्ता ने कहा ... संग्रह की सभी कहानियों में संवेदना का पुट है जिससे लेखक ... संवेदनशीलता उजागर होती है। उनके अनुसार, संजय का प...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयास एक अच्छा कदम है और भविष्य में उनके कदम और सुदृढ़ होंगे।

कथाकार डॉ. मलिक राजकुमार ने अपने आलेख पाठ में संग्रह की सभी कहानियों की क्रमबद्ध समीक्षा की। डॉ. हरिसिंह पाल ने भी अपने आलेख पाठ में सभी कहानियों की बारी-बारी से समीक्षा की। दलित साहित्य के चर्चित रचनाकार डॉ. जयप्रकाश कर्दम ने अपने वक्तव्य में लेखक को उसके प्रयास के लिए बधाई दी।

समारोह में मुख्य अतिथि प्रख्यात कथा आलोचक डॉ. तेज सिंह ने कहा कि पहले प्रयास में लेखक में संभावनाएँ दिखाई देती हैं। उन्होंने कहा कि इस संग्रह की सबसे बड़ी विशेषता इसकी कहानियों में पठनीयता और विविधता है।

समारोह के अध्यक्ष प्रख्यात कथाकार डॉ. महीप सिंह ने कहा कि संजय की कहानियाँ बहुत सरलता और सहजता से लिखी गई हैं। उन्होंने कहा कि आरम्भ में तो कहानियाँ लिखना बहुत सरल लगता है लेकिन ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते हैं यह कार्य दुष्कर होता जाता है।

प्रस्तुतिः अखिलेश अकेला

डा. श्यौराज सिंह बेचैन और जब्बार पटेल को अम्बेडकर स्मृति सम्मान

हाल ही में बाबा साहब डा. अम्बेडकर के 111 वें जन्म दिन के उपलक्ष्य में बाबा साहब अम्बेडकर राष्ट्रीय सामाजिक विज्ञान संस्थान महू (इंदौर) म.प्र. में एक गरिमापूर्ण सम्मान-समारोह का आयोजन संपन्न हुआ। समारोह में म.प्र. के मुख्यमंत्री श्री दिग्विजय सिंह ने अम्बेडकर के लोकतांत्रिक दर्शन के अनुसार दलित साहित्य एवं पत्रकारिता के माध्यम से तथा फिल्म-निर्माण के द्वारा समाज की चेतना विकसित करने की दिशा में उल्लेखनीय काम करने के लिए डा. श्यौराजसिंह बेचैन और डा. जब्बार पटेल को 'डा. अम्बेडकर स्मृति सम्मान' प्रदान किए। सम्मानस्वरूप मान-पत्र, शाल तथा प्रत्येक को एक-एक लाख रूपये की राशि भेंट की गई।

दिल्ली विश्वविद्यालय से सम्बद्ध अम्बेडकर कालेज में पत्रकारिता विषय के प्राध्यापक डा. बेचैन को यह सम्मान वर्ष 2000-2001 के लिए दिया गया और पटेल को अम्बेडकर फिल्म निर्माण के लिए वर्ष 1999 का सम्मान दिया गया।

प्रस्तुतिः महानिदेशक

डा.बा.सा.अ.रा.सा.वि.संस्थान, म.प्र.

दयाप्रकाश सिन्हा सम्मानित

संगीत नाटक अकादमी, दिल्ली ने नाट्य लेखन के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान के लिए दयाप्रकाश सिन्हा को सम्मानित किया। सम्मान समारोह हाल ही में गुवाहाटी में सम्पन्न हुआ।

ज्ञातव्य है कि संगीत, नृत्य और नाटक की यह राष्ट्रीय अकादमी 1952 से यह पुरस्कार दे रही है। भारत का, प्रदर्शन-कला के क्षेत्र में, यह सर्वोच्च पुरस्कार है, जिसमें 40 हजार रुपए नकद के अतिरिक्त ताम्रपत्र और अंगवस्त्रम देकर सम्मानित किया जाता है।

गुवाहाटी में आयोजित समारोह में श्री सिन्हा के नाटक 'सीढ़ियाँ' का मंचन भी हुआ।

प्रस्तुतिः एम.मलिक

संचेतना के स्वामित्व तथा अन्य ब्यौरे के विषय में विज्ञप्ति

1. प्रकाशन का स्थान-दिल्ली
2. प्रकाशन की अवधि-त्रैमासिक
3. मुद्रक का नाम और राष्ट्रीयता-संदीप सिंह, भारतीय, एच-108, शिवाजी पार्क, नई दिल्ली-110026
4. प्रकाशक का नाम और राष्ट्रीयता-संदीप सिंह, भारतीय, एच-108, शिवाजी पार्क, नई दिल्ली-110026
5. सम्पादक का नाम और राष्ट्रीयता-डा. महीप सिंह, भारतीय, एच-108, शिवाजी पार्क, नई दिल्ली-110026
6. उन व्यक्तियों के नाम और पते जिनका पत्र पर स्वामित्त्व है तथा उन भागीदारों अथवा शेयर होल्डरों के नाम और पते, जो पूँजी के एक प्रति से अधिक शेयर रखते हों–

श्रीमती एस.के.सिंह, भारतीय,
एच-108, शिवाजी पार्क, नई दिल्ली-110026

मैं संदीप सिंह, इसके द्वारा घोषित करता हूँ कि उपर्युक्त विवरण मेरी अधिक से अधिक जानकारी में और मेरे विश्वास में सही है।

(ह) संदीप सिंह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संचेतना बुक क्लब का लाभ उठाइए

संचेतना के जागरूक पाठकों के लिए एक आकर्षक योजना

संचेतना के देश में असंख्य पाठक हैं। असंख्य शिक्षण-संस्थाओं में संचेतना वर्षों से जा रही है जहाँ इसकी प्रतियों को सजिल्द करा कर संजोया जाता है। हमने संचेतना की सहयोगी संस्था अभिव्यंजना प्रकाशन के साथ मिलकर पुस्तक-प्रेमी पाठकों के लिए यह आकर्षक योजना तैयार की है। 60 रु. भेजकर एक वर्ष अथवा 100 रु. भेजकर दो वर्ष के लिए आप संचेतना के वार्षिक ग्राहक बनिए और निम्नलिखित पुस्तकों में से **कोई भी कितनी भी मनचाही पुस्तकें आधे मूल्य पर मँगवाइए।** *डाक-खर्च भी हमारे द्वारा दिया जाएगा। मूल्य मनीआर्डर द्वारा अग्रिम भेजें। वी.पी.पी. भेजने की व्यवस्था नहीं है। 50 रुपये से कम की पुस्तकें साधारण डाक द्वारा और अधिक की पुस्तकें रजिस्टर्ड डाक द्वारा भेजी जाएंगी।*

कहानी संग्रह

धूप की उँगलियों के निशान	महीप सिंह	125.00
चर्चित कहानियाँ	महीप सिंह	40.00
इक्यावन कहानियाँ	महीप सिंह	150.00
सहमे हुए	महीप सिंह	60.00
इक्यावन कहानियाँ	विष्णु प्रभाकर	100.00
इकतीस कहानियाँ	कुसुम अंसल	150.00
पते बदलते हैं	कुसुम अंसल	25.00
चिनारों की आग	शामा	125.00
तेंतीस कहानियाँ	सिम्मी हर्षिता	300.00
घरों से मकानों तक	गुरनाम गिल	80.00
जिंदा पल मुर्दा पल	बचिंत कौर	45.00
अतीत से संवाद	बचिंत कौर	80.00
गिरोह तथा अन्य कहानियाँ	आनन्द अस्थाना	30.00
नया मोड़	कमलेश बख्शी	25.00
उधार की जिन्दगी	बसंत प्रभा	35.00
एक दिन का सुलतान	गुरमुख सिंह जीत	25.00
तीन दिन का बेईमान	सविन्द्र सिंह उप्पल	25.00
आसमान दूर है	गुरबचन सिंह	100.00
काली छोटी मछली	समद बहरंगी	40.00
काला नवम्बर	सं. सुरेन्द्र तिवारी	100.00
ग्रामीण परिवेश की श्रेष्ठ कहानियाँ	डॉ. सुभद्रा	40.00
खोई हुई खुशबू	सं. नरेन्द्र मोहन	40.00
श्रेष्ठ कहानियाँ	कुसुम अंसल	75.00
प्रवासी पंजाबी कहानियाँ	सं. महेन्द्र धींगड़ा	80.00

कविता

ख़त्म नहीं होती यात्राएँ	मधु शर्मा	100.00
आरंभ से हाशिये तक	अनिता वर्मा	60.00
सबूत क्यों चाहिए	इन्दु जैन	90.00
धुएँ का सच	कुसुम अंसल	25.00
विरूपीकरण	कुसुम अंसल	35.00
सच कहती हूँ	सुनीता जैन	70.00
एक और दिन	सुनीता जैन	25.00
पीली धूप का टुकड़ा	शामा	100.00
मुक्त कर दो	कीर्ति केसर	50.00
तुम मुझे झेल नहीं पाओगे	अरुणा कपूर	60.00
लेखिकाओं की प्रतिनिधि कविताएँ-83 और 84	संकलन	30.00

उपन्यास

यह भी नहीं	महीप सिंह	160.00
दिशा खोजती ज़िंदगियां	कमलेश बख्शी	90.00
मंज़िलें	मनजीत हेयर	80.00
समय हार गया	मनजीत हेयर	150.00
सम्बन्धों के किनारे	सिम्मी हर्षिता	35.00
यातना शिविर	सिम्मी हर्षिता	75.00
रेखाकृति	कुसुम अंसल	80.00
एक और पंचवटी	कुसुम अंसल	70.00
शिखर और शून्य	गुरमुख सिंह जीत	55.00
प्रश्नों के रेगिस्तान	कु. इन्दिरा	35.00
चेतना की परतें	शकुन्तला दुबे	35.00

आलोचना/निबन्ध

महीप सिंह का कथा-संसार	डॉ. कमलेश सचदेव	200.00
कथाकार महीप सिंह	सं. डॉ. गुरचरण सिंह	150.00
आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में महानगर	डॉ. कुसुम अंसल	200.00
डॉ सुदर्शन मजीठिया : सृजन के धरातल	सं. डॉ. गुरचरण सिंह	200.00
हिन्दी उपन्यासों में प्रशासन	डॉ. सुधाकर अदीब	250.00
कबीर ग्रंथावली में प्रेमा भक्ति	डॉ. शकुन्तला श्रीवास्तव	150.00
कुसुम अंसल का कथा साहित्य	नग़मा जावेद मलिक	90.00
लेखक और अभिव्यक्ति की स्वाधीनता	सं. डॉ. महीप सिंह	60.00
साहित्य और दलित चेतना	सं. डॉ. महीप सिंह, डॉ चन्द्रकांत बांदिवडेकर	120.00
समकालीन हिन्दी कहानी: स्त्री-पुरुष सम्बन्ध	सुनंत कौर	80.00
हिन्दी कहानी: समकालीन परिदृश्य	डॉ. सुखबीर सिंह	50.00
मध्यकालीन बोध: मानवीय प्रयोजन	डॉ. भगवान दास वर्मा	30.00
साहित्य, संस्कृति और सम्प्रेषण	डॉ. भगवान दास वर्मा	60.00

नाटक/व्यंग्य/विविध

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी व्यंग्य : सृजन की यात्रा	सं. सुदर्शन मजीठिया, डॉ. बालेन्दु शेखर तिवारी	300.00
शहीद ऊधम सिंह	सत्येन्द्र श्रीवास्तव	25.00
रेखाकृति	कुसुम अंसल	100.00
पालतू	भगवान अटलानी	20.00
भैंस के आगे बीन	रामावतार चेतन	40.00
गंजत्व दर्शन	श्याम गोइन्का	40.00
ऐसे जैसे कुछ हुआ ही नहीं	सरोज वशिष्ठ	75.00
श्राउड	कु. इंदिरा	40.00

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी अकादमी, दिल्ली
राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली सरकार
समुदाय भवन, पदमनगर, किशनगंज, दिल्ली-7

आपकी सेवा में

लोकप्रिय योजनाएँ एवं कार्यक्रम

1. पुरस्कार एवं सम्मान :

1. हिन्दी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में समग्र योगदान के लिए प्रतिवर्ष साहित्यकारों को शलाका एवं साहित्यकार सम्मान, हिन्दी के श्रेष्ठ हास्य व्यंग्य के लिए लेखक/व्यंग्यकार को काका हाथरसी सम्मान।

2. चुनी हुई श्रेष्ठ एवं स्तरीय कृतियों एवं बाल साहित्य की उत्कृष्ट रचनाओं को साहित्यिक कृति एवं बाल साहित्य सम्मान।

3. अहिन्दी भाषी, हिन्दी तथा हिन्दी भाषाओं के विद्वानों एवं साहित्यकारों को सम्मान एवं उनका अभिनंदन।

2. संस्थाओं को सहयोग :

हिन्दी की स्वयंसेवी संस्थाओं, विद्यालय/विद्यालयों, सरकारी, गैर सरकारी संस्थाओं, विभागों को कार्यक्रम सहयोग तथा उनके साथ मिलकर संयुक्त कार्यक्रमों का आयोजन।

3. रोजगारोन्मुखी कार्यक्रम :

1. दिल्ली के बारहवीं तथा स्नातक उत्तीर्ण बेरोजगार युवाओं (अधिकतम आयु ३० वर्ष) को अलग-अलग एक वर्षीय हिन्दी कम्प्यूटर प्रशिक्षण।

2. दिल्ली के ऐच्छिक/अनिवार्य हिन्दी विषय सहित स्नातक उत्तीर्ण युवाओं के लिए हिन्दी अनुवाद एवं संपादन कला का एक वर्षीय प्रशिक्षण।

3. हिन्दी टंकण एवं आशुलिपि का दिल्ली के विभिन्न स्थानों पर प्रशिक्षण।

4. प्रकाशन सहयोग :

पाण्डुलिपियों पर पुस्तक प्रकाशन के लिए लेखकों को 7500/- रुपये का आर्थिक सहयोग।

5. नवोदित लेखकों को पुरस्कार

नवोदित लेखकों तथा विद्यालय/महाविद्यालय के विद्यार्थियों के लिए विभिन्न कार्यशालाओं एवं प्रतियोगिताओं का आयोजन एवं पुरस्कार।

6. विविध

1. महत्त्वपूर्ण अवसरों/साहित्यकारों की जयंतियों के अवसर पर साहित्यिक संगोटियों/सम्मेलनों, कवि-सम्मेलनों एवं सांस्कृतिक कायक्रमों का आयोजन।

2. दिल्ली के विभिन्न क्षेत्रों में पुस्तकालयों एवं वाचनालयों का संचालन।

3. महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का प्रकाशन एवं उपयोगी साहित्यक और शैक्षिक महत्त्व की पुस्तकों का अन्य भाषाओं से हिन्दी में अनुवाद और प्रकाशन।

नयी सहस्राब्दी को हिन्दी सहस्राब्दी बनाने के लिए कृतसंकल्प हिन्दी अकादमी के कार्यक्रमों में सहयोगी बनें।

दूरभाष : 3621889, 3533448
फैक्स : 3536897

(डॉ० रामशरण गौड़)
सचिव

E-Mail Address hindiacademy_delhi@vsnl.net

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहज संवाद हो

संचेतना का ताज़ा अंक मिला। दंगों के बारे में विचार पढ़े। मैं समझता हूँ कि हिन्दू मुसलमानों को शक की निगाह से देखना बंद करें और मुसलमानों के दिल में झाँकें तथा मुसलमान इस राष्ट्र को अपनी भीतरी भावना से राष्ट्र समझें और विश्व की घटनाओं के परिप्रेक्ष्य में राष्ट्र का साथ दें। हर छोटी-छोटी बात पर सहज संवाद हो। संवादहीनता कैसे टूटेगी, मुद्दा अच्छा है पर आज तो हम सबके बीच भी संवादहीनता पैदा हो गयी है। छोटे से रचनाकार तबके के बीच ही पहले वाला संवाद नहीं है तो समूहों में संवाद कैसे उत्पन्न होंगे। सोचिए। उसके व्यावहारिक पक्ष पर विचार कीजिए। हरदर्शन सहगल पर सामग्री छाप कर आपने अच्छा क़िया।

यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'
आशालक्ष्मी, नया शहर
बीकानेर–334004 (राजस्थान)

हिन्दी लेखकों की कथनी और करनी में अन्तर

'संचेतना' (पूर्णांक 158) की प्राप्ति ने सब कुछ छुड़ाकर पहले इसे पढ़ने को उतावला कर दिया। हिन्दी के साथ अन्य भारतीय भाषाओं पर इस अंक में आठ हिन्दी लेखकों के घिसेपिटे विचार पढ़कर कोई अचम्भा नहीं हुआ। हर साल ऐसे कसीदे पढ़ने में आते हैं, किन्तु व्यवहार में हिन्दी का प्रयोग अपने घर में, बिरादरी में, दफ्तर आदि में कौन कितना करता है इसका लेखा-जोखा दिया जाना बेहतर होता। पता चलता उनकी कथनी-करनी में कितना अंतर है? इस अंतर पर एक उदाहरण, क्योंकि मेरी जानकारी में है, यहाँ देकर हिन्दी के बुद्धिजीवी प्राणियों के आत्मदोष की तरफ उंगली उठाना नाजायज नहीं होगा। जैसे टीवी चैनलों में हम सर्वत्र फिल्मी बिरादरी छाई हुई देखते हैं वहाँ हिन्दी फिल्मों की बदौलत लाखों कमाने वाले नायक व नायिकाएँ साक्षात्कार में हिन्दी में पूछे जा रहे प्रश्नों का भी उत्तर अंग्रेजी या पाँच प्रतिशत हिन्दी वाली अंग्रेजी में देते/देती हैं। यह तो ऐसी बात हुई कि खाना हिन्दी और हगना अंग्रेजी। ये हाल अगर शेष छपे हिन्दी हिमायती साहित्यकारों के भी नज़र आयें तो उनके आदर्शों के पीछे से फरेब की बदबू पसरती प्रतीत हो जायेगी।

तो उदाहरण है अपने प्रारंभिक मित्र केवल गोस्वामी की कथनी-करनी को लेकर। वह हिन्दी के लेखक ही नहीं हैं हिन्दी अध्यापक भी रहे हैं। इसी साल के शुरू में इनके यहाँ पहली बेटी का विवाहोत्सव हुआ, जिसमें हिन्दी साहित्य के पितामह भीष्म साहनी सम्मिलित हुए और सरकारी हिन्दी अधिकारी राजकुमार सैनी भी, मैं भी था। विडंबना देखिए कि केवल गोस्वामी ने विवाह का निमंत्रण पत्र अंग्रेजी में छपवाया। हाँ, सिर्फ संस्कृत की गणेशवंदना ही उस पर नागरी लिपि में छपी थी। यदि हिन्दी के लेखक केवल गोस्वामी भी अपने छपे लेख के अंतिमांश के मुताबिक "हिन्दी के स्वाभाविक विकास की प्रक्रिया में देश के निष्ठावान बुद्धिजीवियों की अहम भूमिका होने" की कामना कर सकते हैं तो वह खुद कैसी भूमिका निभा रहे हैं, यह लिखने से पहले उन्हें सोचना चाहिए था।

'डायरी के पन्ने' स्तम्भ में कवि-कम-आलोचक डॉ. नरेन्द्र मोहन के सन् 2000 के कुछ चुनींदा दिवसों का लेखाजोखा पढ़ा। अच्छा है। डायरी लिखना-छपवाना यदि कमजोरियों को दरकिनार करके जरूरी-जरूरी हकीकत दर्ज करके साहित्य जगत का जायजा देना हो और पाठकों को सहभागी बनाना हो, डायरी की मार्फत कई साहित्यैतिहासिक सूचनाएँ मिल जाती हैं, उन्हें जानना या याद करना अच्छा लगता है, इस डायरी में डॉ. नरेन्द्र मोहन ने ज्यादातर वे ही अंश सविवरण उजागर किये हैं जो महाराष्ट्र की कलात्मकता और साहित्यप्रेम से जुड़ते हैं। स्वाभाविक था जबकि उन्हें 'अभंग गाथा' के सिलसिले में महाराष्ट्र से जुड़ना था। औरंगाबाद ऐसा ही एक कला-समृद्ध ऐतिहासिक नगर है, नरेन्द्र जी ने महसूस कर लिया होगा कि मराठी लेखकों-लेखिकाओं का साहित्य के प्रति निवेदित आचरण और साहित्यकार के प्रति आदरभाव हिन्दी वालों से या हिन्दी क्षेत्र के लेखकों से कितना भिन्न, कितना विपरीत है? किसे चर्चित करना है किसे नहीं, किसे पत्रोत्तर देना है और पुस्तक भेंट के बदले प्राप्ति-सूचना तक देनी है या नहीं, फोन पर संवाद करना है या नहीं करना इत्यादि हिन्दी क्षेत्रीय 'हमदर्दी' फतवे तथा नामवरी रवैये समान्यतः हिन्दी लेखकों को मराठी समाज की ऊँचाइयों तक नहीं पहुँचने देते, इसका कुछ जायजा 'चक्राचक्र' के व्यंग्य से जाहिर होता है।

मेरा स्वयं का अनुभव है हिन्दी साहित्य में पैंतालीस वर्ष उतना कुछ अनुकूल व्यवहार नहीं पाया जितना पुणे में दस महीने में रहकर पाया। लोग यात्रा भत्ता पाकर बहुत कुछ घूम-घाम लेते हैं और अनुभवों से डायरी रचना भी कर लेते हैं, समृद्ध साहित्य के लिए शुभ लक्षण है।

श्याम विम
विमल वाटिका, बी-9
सेक्टर-26, नोएडा-2013

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेख अच्छे लगे

'दंगे क्यों भड़कते हैं?' इस विषय पर आयोजित परिचर्चा में कन्हैयालाल नंदन, रामदरश मिश्र, शैलेश जैदी, प्रताप सहगल और चाँद खाँ रहमानी के लेख मुझे अधिक पसंद आए, इसलिए उन्हें बधाई दें।

माता प्रसाद
(पूर्व राज्यपाल, अरुणाचल प्रदेश)
20/25, इंदिरा नगर, लखनऊ

विचारोत्तेजक सामग्री

आपका दिसम्बर 2001 में प्रकाशित अंक इस समय मेरे सामने है। उसमें विभिन्न स्तम्भों के अन्तर्गत प्रकाशित सामग्री अत्यन्त विचारोत्तेजक है। साहित्यचेतना के विविध आयामों एंव विधाओं का समावेश पत्रिका की विशेषता कही जाए तो अनुचित नहीं होगा। विश्व-साहित्य, साक्षात्कार, आकलन, चिन्तन, समीक्षा, व्यंग्य, पत्रिकाएँ, गतिविधियाँ आदि स्तम्भ मुझे अत्यन्त उपयोगी लगे।

इधर हिन्दी पत्रिकाओं के प्रकाशन एंव पठन-पाठन की स्थिति चिन्ताजनक है। इस स्थिति में हिन्दी पत्रिका का प्रकाशन निस्सन्देह साहसिक प्रयास है। इसके लिए आपका मैं हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ।

'भारतीय भाषाओं की स्थिति' पर महीप सिंह जी का अग्रलेख विचारणीय एंव सराहनीय है। इसी प्रकार नोबेल पुरस्कार विजेता विद्याधर सूरज प्रसाद नायपाल पर श्री देवेन्द्र इस्सर का लेख भी सामयिक एवं समीचीन है। यद्यपि श्री नायपाल के विषय में और भी लिखा जा सकता है, और लिखा जाना चाहिए। मेरे पास उनकी लिखित चार पुस्तकें उपलब्ध हैं। मैंने इन पुस्तकों को पढ़ा भी है।

हिन्दी के अतिरिक्त भारत की अन्य भाषाओं के श्रेष्ठ लेखकों एवं उनकी कृतियों पर भी समय-समय पर कुछ सामग्री प्रकाशित की जाए तो अच्छा रहेगा। आपने जिस प्रकार चार फ्रान्सीसी कहानियों को प्रकाशित किया है, उसी प्रकार बंगला, मराठी, तमिल, तेलुगु, कन्नड़ आदि की श्रेष्ठ रचनाओं का प्रकाशन हिन्दी पाठकों का ज्ञानवर्धन करने में उपयोगी सिद्ध होगा।

गिरीशचन्द्र मिश्र, पूर्व सम्पादक पांचजन्य
6/769, विवेकानन्द पुरी,सिविल लाइन
सीतापुर–261001

सम्पादकीय समन्वय

संचेतना के पूर्णांक 159 की 'मुद्दे' के तहत प्रकाशित परिचर्चा 'दंगे क्यों भड़क उठते हैं?' में कन्हैया लाल नन्दन, रामदरश मिश्र, विनोद शाही,तारकनाथ बाली, नरेन्द्र मोहन, प्रताप सहगल आदि सभी विद्वानों के विचारों ने सोचने पर बाध्य किया। स्वर्गीया शशि प्रभा शास्त्री पर डा. वीरेन्द्र सक्सेना का संस्मरण भी बहुत अच्छा लगा।

चक्राचक्र का व्यंग्य 'परमात्मा की खुंदक से बचो' आज के माहौल पर अपनी विशिष्ट शैली में टिप्पणी करता है। जो बात परिचर्चा में विभिन्न विद्वानों ने गंभीर चिन्तन–मनन करते हुए कही है, वही बात चक्राचक्र अपने व्यंग्य में बड़े ही हल्के–फुल्के लहजे में कह रहे हैं। इस सम्पदकीय समन्वय के लिए बधाई स्वीकार करें। यदि मनाव–समाज अपने भीतर की बर्बरता को यूँ ही खुला छोड़ता रहा तो सभी धर्मों के भगवान एक दूसरे के अनुयायियों पर कहर ढाते ही रहेंगे और एक दिन न भगवान होंगे और न ही इन्सान।

अनीता कथूरिया
एफ–94, कीर्ति नगर, नई दिल्ली

सोचने पर विवश करते लेख

'संचेतना' आपके संपादन में नया प्रतिमान स्थापित कर साहित्यिक पत्रकारिता को प्रतिष्ठित कर रही है। 'दंगे क्यों भड़कते हैं?' मुद्दे के तहत डॉ. कन्हैयालाल नंदन, डॉ. नरेन्द्र मोहन, चाँद खाँ रहमानी और प्रताप सहगल के विचार व्यक्ति को नए सिरे से सोचने को विवश करते हैं। साम्प्रतिक सत्ता और राजनीति मनुष्य समाज और राष्ट्र को कहाँ ले जाकर छोड़ेगी?

इस बार मधु शर्मा की कविता 'हवा, सपने और अनुपस्थिति' अंक की उपलब्धि है।

कु. मधु गुप्ता
कछौना, हरदोई (उ.प्र.)

मन को छूती कहानियाँ

संचेतना के नए (मार्च–2002) अंक में कहानियों ने विशेष रूप से प्रभावित किया। तीनों कहानियाँ अलग–अलग परिवेश को लिए हुए हैं और तीनों ही पाठक को भीतर तक छूती हैं। सुषमा प्रियदर्शिनी की कहानी 'आवाज़ के घेरे में' स्त्री–पुरुष संबंधों में स्थितियों की दखलंदाजी और बनते–बिगड़ते स्नेह–संवेदना के दायरे मूर्त हुए हैं। चारुता सागर की मराठी कहानी 'प्रतीक्षा' बहेलिया जाति के तौर–तरीकों में बुनी हुई है और माँ–बेटी के बीच के बहुत ही कोमल एवं मज़बूत नाते को बड़ी संवेदनात्मक भाषा में व्यक्त करती है। मधु सन्धु की कहानी 'शोध तंत्र' विश्वविद्यालयों में शोध के नाम पर होने भयावह शोषण को सामने लाकर पाठक को आतंकित कर देती है। इतनी अच्छी कहानियाँ पढ़वाने के लिए धन्यवाद।

शीतल ओबेराय
14–पूसा रोड, नई दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्यिक वातावरण इतना दूषित क्यों हो रहा है?

एक चिंता सर्वव्यापी है कि मनुष्य अपने प्राकृतिक वातावरण को बड़ी तीव्र गति से प्रदूषित करता जा रहा है। यदि यह गति इसी प्रकार बनी रही तो यह संसार मनुष्य के जीवन-यापन के योग्य नहीं रह जाएगा। मनुष्य की नियति को संचालित करने वाली राजनीति भी बहुत प्रदूषित हो गई है। आतंकवाद और भ्रष्टाचार तो अपने चरम पर है ही, अणुशक्ति से सम्पन्न किसी देश का संभ्रमित शासक यदि किसी दिन इस शक्ति के प्रयोग पर उतर आया तो संसार का कितना बड़ा भाग और कितना बड़ा मानव-समुदाय इसकी चपेट में आ जाएगा, इसका केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है।

साहित्य का संसार तो बहुत छोटा है। उसमें हिन्दी संसार तो कुछ मुट्ठियों में ही सीमित हो जाता है। किन्तु इस क्षेत्र में भी कुछ महारथी एक छोटे से प्याले में समुद्री तूफान उठाने में लगे रहते हैं। विचित्र स्थिति यह है कि प्रकृति को मनुष्य से ख़तरा है। एक स्थान या वर्ग की राजनीति किसी दूसरे स्थान अथवा वर्ग की राजनीति से पीड़ित है। किन्तु किसी लेखक की पीड़ा के कारक उसके बाहर नहीं हैं। वह अपने आप से पीड़ित होता है और फिर अपनी सड़ी-गली पीड़ा से, स्वनिर्मित घावों के मवाद से पूरे साहित्यिक माहौल को दूषित करने पर आमादा हो जाता है।

कुछ लेखकों ने इस दृष्टि से सर्वाधिक ख्याति अर्जित कर ली है। उन्हें सुंदरलाल बहुगुणा और मेधा पाटकर का 'एंटीक्लाइमैक्स' माना जा सकता है। किन्हीं लेखकों पर अनर्गल आरोप लगाना, उनके लिए अभद्र भाषा का प्रयोग करना, उन्हें इस प्रकार लांछित करना कि वे किसी न किसी प्रकार साम्प्रदायिक घृणा का शिकार बन जाएँ और किन्हीं वर्गों अथवा समुदायों द्वारा न केवल तिरस्कृत हों, वरन् उनकी प्रतिहिंसा का भी शिकार बन जाएँ, इनकी वांछा होती है।

एक लेखक किसी दूसरे लेखक से खार खाकर उसके लेखन की निंदा करे, स्थिति का यह एक पहलू है। ऐसी ले-दे साहित्य में चलती रहती है। इसकी कोई अधिक चिंता भी नहीं करता। एक समय नंददुलारे वाजपेयी ने प्रेमचंद के लेखन को पूरी तरह खारिज कर दिया था। किन्तु उससे प्रेमचंद खारिज नहीं हुए। प्रेमचंद पर एक आरोप और लगा था, जो अपेक्षाकृत गंभीर था। कुछ आलोचकों ने उन्हें ब्राह्मण-विरोधी और कायस्थ-परस्त भी कहा था और प्रेमचंद के विरुद्ध एक प्रकार का जातीय विद्वेष उत्पन्न करना चाहा था। किन्तु उस आरोप को भी पैर नहीं मिले थे। आज यदि कोई ऐसी बात कहे तो वह हास्यास्पद लगती है।

पिछले दिनों राजेन्द्र यादव ने यही कुत्सित चेष्टा की। उन्होंने मेरे साहित्य-कर्म पर तो कोई टिप्पणी नहीं की, किन्तु मुझे गुजरात में हुए मुस्लिम-नरसंहार का समर्थक घोषित कर दिया। अपनी गोली का निशाना वह निर्मल वर्मा को बना रहे थे। राजेन्द्र यादव के कंधे इतने कमजोर हैं कि झूठ की भारी-भरकम बंदूक का बोझ उनसे सँभाला नहीं गया तो उन्होंने उसे मेरे कंधों पर रख कर चला दिया और स्वयं भी अच्छे खासे लहूलुहान हुए।

किसी लेखक में ऐसी मानसिक विकृति क्यों और किन स्थितियों में उत्पन्न होती है? क्यों वह पर्वर्ज़न और सैडिज़्म का शिकार बनने लगता है? एक स्थिति में आकर वह अपना मानसिक संतुलन क्यों खोने लगता है? क्यों वह एक विक्षिप्त व्यक्ति की भाँति इधर-उधर पत्थर फेंकने लगता है? और इस प्रकार वह पूरे साहित्यिक माहौल को प्रदूषण से भरना प्रारम्भ कर देता है।

प्रश्न केवल एक अथवा कुछ लेखकों का नहीं है। किसी व्यक्ति की निजी विकृतियों और कुंठाओं से कितने लोग प्रभावित होते हैं? किन्तु चिंता का विषय यह है कि ऐसी प्रवृत्तियाँ किसी संसार की, वह कितना भी सीमित क्यों न हो, सामूहिक चेतना को कितना प्रभावित और दूषित करती हैं।

हम चाहते हैं कि साहित्य-संसार का जागरूक और चेतना-सम्पन्न नागरिक इन प्रश्नों से रूबरू हो और इन पर खुलकर विचार करे। इसलिए हम इसे आगामी अंक का मुद्दा बना रहे हैं—आज साहित्यिक वातावरण इतना दूषित क्यों हो रहा है?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संवादहीनता कैसे टूटेगी?

पिछले एक हजार वर्ष से इस देश में वाद-विवाद तो बहुत हुए जिन्होंने पहले से मौजूद पूर्वाग्रहों-दुराग्रहों को गहराने में ही सहायता की लेकिन संवाद की परम्परा यहाँ कभी मज़बूत नहीं रही। अपने-अपने दायरों में सिमटे समुदाय एक दूसरे की सामूहिक घृणा का पात्र बने रहे। इसी कारण समय-समय पर एक छोटी-सी चिनगारी भी इनके बीच नृशंस रक्तपात में बदलने में सफल होती रही। सदियों पुरानी घृणा और नरसंहार के सिलसिले को तोड़ने का रास्ता केवल संवाद से ही निकल सकता है। विभिन्न समुदायों के बीच की संवादहीनता कैसे टूटेगी, इस मुद्दे पर प्रस्तुत हैं कुछ लेखकों/विचारकों के बेबाक मत।

–संपादक

माता प्रसाद (पूर्व राज्यपाल)

समतावादी और सहिष्णु समाज के लिए संवादहीनता तोड़नी आवश्यक है

भारतीय समाज को मुख्यतः तीन भागों में बाँटा जा सकता है–पहला हिन्दू समुदाय, दूसरा दलित समुदाय और तीसरा मुस्लिम समुदाय। इनके अलावा सिख, बौद्ध, ईसाई और पारसी समुदाय भी हैं जिनका क्षेत्रीय स्तर पर और कुछ का देश स्तर पर प्रभाव है।

देश के तीनो प्रमुख समुदायों की सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि अलग-अलग है। इस मत वैभिन्न्य के कारण इनमें कभी-कभी टकराव होते रहते हैं। वैमनस्य के कारण इनमें खून-खराबा होता रहता है जो भारतीय समाज के लिए शर्मिंदगी का कारण बन जाता है।

सभी समुदायों में सामाजिक सौहार्द स्थापित करने के लिए इनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि संक्षेप में जान लेना जरूरी है। हिन्दू सम्राज अपने को आर्यों की सन्तान कहता है। वे अपने को श्रेष्ठ श्रेणी का मानते हैं। इसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र श्रेणियाँ हैं–क्रमशः ये श्रेणियाँ निम्नतर मानी जाती हैं। इनके धर्मग्रन्थ; वेद, रामायण, महाभारत, गीता, मनुस्मृति और रामचरित मानस हैं। इनमें ब्राह्मणों को देवता का स्थान दिया गया है क्योंकि इनके रचयिता प्रायः ब्राह्मण हैं। इनमें जातिगत भेदभाव का प्रतिपादन है। पूर्व जन्मों के कर्म के आधार पर ऊँच-नीच जातियों में पैदा होना, मनुष्य को अवतार मानकर पूजना, कर्म-काण्ड, दानदक्षिणा, स्वर्ग-नरक, शाप का प्रतिपादन है।

अतिशूद्र, जिन्हें उस समय अन्त्यज-अस्पृश्य कहा गया उन्हें प्रताड़ित-अपमानित करने के लिए उनके शिक्षा प्राप्त करने, धन एकत्र करने पर रोक लगाई गई। ब्राह्मण को अयोग्य और नालायक होने पर भी उच्च स्थान प्राप्त करने का अधिकार है।

हिन्दू समाज में जातीय आधार पर अपमान-सम्मान दिया जाता है। यही श्रेष्ठता की भावना ही समाज में विद्वेष और संघर्ष का कारण है।

दूसरा प्रमुख समुदाय दलितों का है जिसमें अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जन-जातियाँ और घुमन्तू जातियाँ सम्मिलित हैं। इन्हें हिन्दू धर्मग्रन्थों में चंडाल, अन्त्यज, अस्पृश्य, अछूत कहा गया है। गाँधी जी ने इन्हें हरिजन नाम दिया। लेकिन दलितों ने इस नाम का विरोध किया क्योंकि दक्षिण के कुछ मन्दिरों में देवदासियों से पैदा नाजायज बच्चों को हरिजन कहा जाता है।

पुराने समय में इन्हें उत्पीड़ित, अपमानित, निराश्रित, पराश्रित किया गया। गाँव से बाहर बसाया गया। जूठा भोजन, उतरन वस्त्र दिया गया। धन एकत्र होने पर छीन लेने, वेद मंत्र सुनने पर कान में पारा पिला देने का नियम बनाया गया। पशुओं और गुलामों से भी बदतर जीवन जीने को विवश किया गया। छठी शताब्दी ईस्वी पूर्व में तथागत गौतम बुद्ध के उपदेशों से महान सम्राट अशोक के काल में इन्हें कुछ राहत मिली किन्तु उसके बाद फिर इनका दुर्भाग्य शुरू हुआ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सातवीं-आठवीं शताब्दी में सिद्ध और नाथपंथी योगियों ने और सोलहवीं शताब्दी में सन्त रविदास, सन्त कबीर तथा गुरु नानक देव ने भी जाति-वर्ण के विरुद्ध अलख जगाया। किन्तु इनका भी यथोचित प्रभाव हिन्दू समाज पर नहीं पड़ा।

भारत में अंग्रेजी सत्ता स्थापित होने पर दलितों को भी शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिला। दलितों में पैदा हुए डाक्टर भीमराव अम्बेडकर ने विदेशों में उच्च शिक्षा प्राप्त की। अस्पृश्यता के विरुद्ध और नागरिक अधिकारों को प्राप्त करने का संघर्ष छेड़ा। जाति-पाति के विरुद्ध आवाज उठाई। शिक्षित हो, संगठित हो और संघर्ष करो का नारा दिया। मनुस्मृति में दिये गये विधानों का विरोध किया। इसके परिणामस्वरूप देश भर के दलितों में चेतना आई और उनका स्वाभिमान जागृत हो गया। उन्होंने हिन्दू धर्मग्रन्थों में दलितों के लिए दी गई व्यवस्था का विरोध शुरू कर दिया। धर्म-ग्रन्थों को नकार दिया। साहित्य में हिन्दू धर्मग्रन्थों के मिथकों और अवैज्ञानिक बातों को नकार कर अपना अलग साहित्य जो समता, स्वतन्त्रता, न्याय, बन्धुता, लोकतंत्र पर आधारित है, उससे संघर्ष की भूमिका तैयार करने लगे। आज दलित प्रत्येक क्षेत्र में अपनी भागीदारी चाहता है। भारतीय संविधान के विरुद्ध लिखी गई बातों का विरोधी है। हिन्दू धर्म की प्रतिक्रिया में बौद्ध बन रहा है। हिन्दू समाज के जिन तत्वों के हितों पर दलितों के जागरण से चोट पड़ रही है वे दलितों के विरोधी हो गये हैं। राजनीतिक स्तर पर यह विरोध स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है। इसलिए हिन्दू समुदाय और दलितों के हितों के टकराव के कारण इनमें हिंसक वारदातें बढ़ रही हैं जो देश के लिए घातक हैं।

तीसरा प्रमुख समुदाय मुसलमानों का है। आठवीं शताब्दी में मुस्लिमों का देश में प्रवेश हुआ । शुरू में उनकी संख्या कम थी लेकिन शासकों के दबाव से, कुछ लालच से और बहुत बड़ी संख्या में हिन्दू जाति व्यवस्था से पीड़ित अस्पृश्यों ने इस्लाम को अपनाया। वे इस धर्म में भाईचारे और एकता की भावना से गए। इस्लामी शासकों ने बहुत-सी मस्जिदें, मीनारें और खानकाहें बनवाई। कई सदियों से साथ रहने से दोनों में सौहार्द बढ़ा। दोनों एक दूसरे के सुख-दुःख में शरीक होने लगे। दोनों की संस्कृति मिलकर साझी संस्कृति बन गई।

इधर कुछ हिन्दुत्ववादियों ने जो अपने को ही श्रेष्ठ मानते हैं, अपने धर्म को ऊँचा समझते हैं, हिन्दू पुनरुत्थान का बीड़ा उठाया है। वे देश की बहुत-सी मस्जिदों को पूर्वशासकों द्वारा मंदिरों को गिराकर बनाया जाना बताकर हवा दे रहे हैं। संभव है किसी हिन्दू धर्मस्थल पर किसी मुसलमान शासक ने मस्जिद बनवाई हो किन्तु अब इन गड़े मुर्दों को उखाड़ कर देश को रक्तरंजित करने का प्रयास हो रहा है। 6 दिसम्बर 1992 ई. की घटना इसका उदाहरण है। बम्बई भी इस दंगे में झुलसा। ताजा उदाहरण गुजरात का है जहाँ राज्य सरकार द्वारा मुस्लिमों का नरसंहार करके उनकी बहू-बेटियों से बलात्कार कर उन्हें जिन्दा जलाया गया। इस घटना को हिन्दू-मुसलमान का झगड़ा बताकर ध्रुवीकरण कर इसकी आग में राजनीति की रोटी सेंकने का प्रयास हो रहा है। देश के स्वतन्त्रता संग्राम में, देश पर दूसरे देश के आक्रमण की स्थिति में और देश के निर्माण में हिन्दुओं, मुसलमानों, दलितों, सिखों और ईसाइयों का बलिदान और योगदान रहा है। इसलिए सबको साथ लेकर चलने में देश का और सबका हित है। हिन्दुओं, दलितों और मुसलमानों में जो अलगाव, दूरी और वैमनस्य बढ़ रहा है इसे समाप्त करने के लिए संवादहीनता की स्थिति समाप्त होनी चाहिए। इसके लिए निम्न कदम उठाने चाहिए–

1. साहित्यकार ऐसे नाटक और गीत तैयार करें जो जनता के बीच प्रदर्शित हों।

2. साहित्यकार, कलाकार, सभी धर्मगुरु और स्कूलों के छात्र तथा छात्राएँ ऐसे प्रदर्शन करें जिससे सामाजिक सौहार्द को बढ़ावा मिले।

3. हिन्दू, मुसलमान और दलित समुदायों के अग्रणी लोगों की अलग-अलग समितियाँ बनाई जाएँ उन्हें प्रेरित किया जाए कि उनके समुदाय का कोई व्यक्ति यदि गलत रास्ता अपनाता है तो उसकी भर्त्सना वे स्वयं करेंगे।

4. सभी समुदायों की, जिनमें सभी धर्मगुरु भी सम्मिलित हों, सौहार्द सभाएँ हों। उनमें जिले के अधिकारी भी सम्मिलित हों।

5. संकट या आपत्ति में दूसरे सम्प्रदाय के लोगों की रक्षा यदि अन्य समुदाय के व्यक्ति ने की है तो उसे सार्वजनिक रूप से पुरस्कृत और सम्मानित किया जाए।

6. यदि कोई अन्तर्जातीय या अन्तःधार्मिक विवाह बिना दबाव या लालच के स्वेच्छा से किया जाए तो उसे जातीय या समुदाय का प्रश्न न बनाया जाए।

7. सभी धर्मों को अपनी आस्था-विश्वास के अनुसार पूजा या नमाज का अधिकार दिया जाए।

8. हिन्दुओं, मुसलमानों, दलितों, सिखों, ईसाइयों के उत्सवों के अवसरों पर अन्य धर्मों के लोग भी उसमें भाग लें और सरकार उसकी जिम्मेदारी ले। इससे उनमें सद्भाव बढ़े।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

9. सभी लोग दलितों को सार्वजनिक स्थलों का उपयोग करने से न रोकने का निर्णय करें।

10. सभी समुदायों में सौहार्द के लिए सभी समुदायों की स्त्रियों के प्रदर्शन, महिला आयोग या बालिका विद्यालयों की सभाओं का प्रदर्शन कराए जाएँ जो दंगों या झगड़ों का विरोध करें क्योंकि सबसे अधिक वही प्रभावित होती हैं।

20/25, इंदिरा नगर, लखनऊ

नासिरा शर्मा

नये समाज की बुनियाद पड़ रही है

LIBRARY Gurukul Kangri Vishwavidyalaya HARDWAR

हर समाज की रीढ़ मध्यवर्ग होता है, जो नैतिक मूल्यों की ज़िम्मेदारी अपने कंधों पर उठाता है। बँटवारे के बाद बड़ी संख्या में पढ़ा-लिखा वर्ग पाकिस्तान गमन कर गया था, जिसके कारण मध्यवर्ग एकाएक भारतीय मुस्लिम समाज से ग़ायब हो गया। उसकी ख़ाली जगह को भरने का विकल्प न निम्न वर्ग हो सकता था, न उच्च वर्ग, जो केवल दो प्रतिशत भी नहीं था। ज़मींदारी टूट गई। छोटे इलाक़ों के नवाबों, ताल्लुक़ेदारों की कमर इस बदलाव से टूट गई थी। नैतिकता को सँभालने वाला वर्ग, अपनी कमियों पर उँगली रखने वाला सामाजिक आलोचक, धर्म को सियासत से अलग करने वाला धर्मपंडित, अपने साथ हो रहे अत्याचार के विरोध में उठने वाली विद्रोही आवाज़ का दूर-दूर तक पता नहीं था। एक मायूसी, भय, गुनाह का बेजा अहसास, भटकन, शर्मिंदगी मुसलमानों का मुक़द्दर बन गई थी। उर्दू भाषा भी अपने चरम पर पहुँच गिरावट के ग्राफ़ की तरफ़ बढ़ रही थी। उसके पाठक दिन-ब-दिन कम हो रहे थे। मुसलमान मर्द एक मानसिक संताप से गुजरने लगे थे। उनको बँटवारे की हिंसा में अपनी औरतों पर हुए अत्याचार कोड़े लगाते और अपने साथियों द्वारा पराई औरत की इज़्ज़त लुटते देखने की बेबसी उन्हें तड़पाती थी। इसका नतीजा यह निकला कि अनजाने ही वे इस मनोग्रंथि के शिकार हो गए कि वे औरतों की हिफ़ाज़त में अब कोताही न बरतें और पराई औरतों से दूरी रखें। उन्होंने अपनी बेबसी और कमज़ोरी की कुंठा औरतों पर लादनी शुरू कर दी। इस पतन के समय में कोई ऐसा व्यक्तित्व नहीं बचा था, जो मुसलमानों के गिरते मनोबल को बढ़ावा देता।

चंद सुशिक्षित खुशहाल घराने बचे थे। वे देशभक्ति के उन्माद में अंग्रेज़ों को भगाने की खुशी में सियासत के फ़ुलटाइमर बन सत्ता में आ गए। ऐसे लोग उम्र ज्यादा होने की वजह से जल्द ही दुनिया से कूच कर गए। अबुल कलाम आज़ाद, रफ़ी अहमद किदवई, डॉ. ज़ाकिर हुसैन आदि जिनकी विरासत को बढ़ाने वाला जवान दूर-दूर नज़र नहीं आता था। ऐसे ख़ाली समय में मजबूरी के चलते मौलवी वर्ग की पूछ शुरू हुई । उन्हीं की राय ली जाने लगी। वे मुसलमान क़ौम के वक्ता बन बैठे। उनकी दृष्टि सामाजिक एवं सियासी मुद्दों पर इतनी साफ़ नहीं थी, फिर भी धीरे-धीरे कर वे पार्टियों के लिए वोट मैनेजर बन बैठे। उस काल का यह बड़ा दर्दनाक सच था, जो आज हमको सियासी रूप से भुगतना पड़ रहा है। जबकि पिछले पच्चीस-तीस वर्षों में मध्यवर्ग वजूद में आ गया है और काफी हद तक वह मुख्य धारा के साथ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कार्यरत है। इसके बावजूद वह मौलवी को सत्ता से हटा नहीं पाया है। आज भी राष्ट्रीय स्तर के किसी भी मुद्दे पर संचार माध्यम और संसद उनके कहे को महत्त्व देती है। किसी को फ़ुरसत नहीं है कि वह आँख खोलकर देखे कि स्वयं मुसलमान जात क्या चाहती है।

बाबरी मस्जिद के टूटने से जो संदेश लोगों तक पहुँचा, वह कई स्तर पर भारतीय मुसलमानों को तोड़ गया। उस टूटन से जो नवनिर्माण की प्रक्रिया शुरू हुई, वह बेहद सार्थक ढंग से हुई। दिमाग़ों से जाले साफ़ हुए। जहाँ उनको यह अहसास जागा कि ऐसी स्थिति में वे कैसा व्यवहार करें, वहीं अपने देश के प्रति जागरूकता बढ़ी। देश-प्रेम का जो जज्बा सोया हुआ था, वह जागा। विशेषकर 1947 के बाद पैदा लोगों में, जिन्होंने पूरी तरह दूसरों और अपने को समझाया और समझा कि हम भारतीय हैं, भारतवर्ष हमारा वतन है। मगर इस प्रक्रिया में एक और चीज़ जुड़ गई, वह थी अपनी पहचान के प्रति सजगता। उस पहचान की खोज ने जहाँ उन्हें दो क़दम आगे चलाया, वहीं दो कदम पीछे धकेला। वे धर्म और धर्म को दिखाना एक ज़रूरी क्रिया के रूप में ले बैठे। इस तरह से जो मुसलमान परिवार धर्म और धर्म के अनुष्ठानों को घर तक सीमित रखता था, वह बाहर भी दिखाने लगा, जिसमें जुमे की सामूहिक नमाज़ पढ़ना उसका एक उदाहरण है। मानती हूँ, इसका सिलसिला सदा से था, मगर कभी भी इतनी बड़ी संख्या में लोग इकट्ठा नहीं होते थे जो अब होने लगे हैं। इनमें मज़दूर, कर्मचारी, अफ़सर सभी वर्ग शामिल होते हैं।

बुनियादी रूप से आसमानी किताब कुरान और जन्म-मृत्यु के समय अंजाम दी जाने वाली धार्मिक रस्मों को एक तरह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से पूरे विश्व के मुसलमान स्वीकार करते हैं, मगर उसके अलावा कोई बात किसी दूसरे से उनकी नहीं मिलती है। उदाहरण के रूप में सभी मुस्लिम देशों की औरतें लगभग फ्रॉक पहनती हैं, छोटे बाल रखती हैं, सिगरेट पीती हैं, दूसरा विवाह करती हैं, 'खुला' (तलाक़) लेती हैं, अपनी पसंद से शादी कर सकती हैं। उनके ये तेवर इसलिए मान्य हैं, क्योंकि उनका संविधान इस्लामिक क़ानून के अनुसार बना है। उनको अपने धर्म पर चलना है। मगर इन देशों की सियासत से अवश्य औरतें पीड़ित रहती हैं, क्योंकि शासक के नज़रिए से उन्हें सब कुछ अंजाम देना पड़ता है। इराक़ में पर्दा वर्जित था। ईरान में बीस वर्ष पूर्व मुँह खुला रखने पर तेज़ाब फेंक दिया जाता था। सऊदी अरब की औरतों को संसार का सारा सुख मिला हुआ है, मगर बिना पिता की इजाज़त और शादी के बाद पति के बिना कोई काम अंजाम नहीं दे सकती हैं और न ही कहीं अकेले जा सकती हैं। यही नहीं, इस देश में कोई औरत अकेली आ भी नहीं सकती है। मगर इसका अर्थ यह क़तई नहीं है कि वह अपनी व्यवस्था, टाउन प्लैनिंग, जीवनयापन, नवीन उपकरणों और विज्ञान की हर सुविधा से परिपूर्ण अमेरिका और जापान से किसी भी स्तर पर कम है और औरत को लेकर उसके समाज का ढाँचा ज़्यादा बदलेगा भी नहीं, क्योंकि धार्मिक स्थल होने और इस्लाम की उत्पत्ति का स्रोत होने के कारण उसको इस्लामिक मान्यताओं को दिखावे के लिए सही, हमेशा समाज की संरचना में प्रथम स्थान देना पड़ेगा।

ईरान, इराक़, फ़िलिस्तीन की औरतें सऊदी अरब की औरतों के देखते अधिक पीड़ित हैं, क्योंकि वहाँ धर्म के नाम पर सियासत का पंजा अधिक मज़बूत है, चाहे वह गृहयुद्ध के रूप में हो या अमेरिका-अरब के रूप में हो या मुसलमान-यहूदी के रूप में हो या इस्लाम और ईसाइयों की मुठभेड़ों के रूप में हो। यहाँ पर बताना जरूरी है कि इस्लाम में भी कई विश्वास, कई क़बीले, कई विचारधाराएँ हैं, मगर जो मुख्यधारा हैं, वह दो हैं, पहली सुन्नी, दूसरी शिया। सुन्नी का अर्थ है, पैग़बंर की कही बातों को मानने वाला। पहले सभी सुन्नी थे। तीन सौ वर्ष की लंबी अरब गुलामी से तंग आकर ईरान ने इस्लाम तो स्वीकार किया, मगर उसको रंग आर्यों वाला दिया और अपने को अली से जोड़ा। कड़ी पाबंदियों को ढीला किया। इंसान की कमज़ोरियों के चलते नए-पुराने कानून लागू किए और अपनी आर्याई प्रकृति के अनुसार इस्लाम को एक रूप दे डाला। अपने को शिया कहा और यह अभिव्यक्ति दी कि हम बुद्धि और ज्ञान से समर्थ हैं। तामझाम और ब्राह्मणों की परिपाटी बहुत मिलती-जुलती है, जिसमें नौहाख़्वानी, सोजख़्वानी, मातम, जुलूस, इमामबाड़ा सजाना, दस दिन तक सियापे का प्रयोजन ईरान, अदन, इराक़, पाकिस्तान, भारत और हर उस देश में अपनी-अपनी तरह से मनाया जाता है। भारत में ये सारे कर्मकांड दशहरे से बहुत मिलते हैं। पूजा, आरती गाना, हर समय के लिए विशेष मंत्र, उपवास, संतोषी माँ का व्रत, ग़रज़ हर चीज़ मिलती-जुलती है। शादी-ब्याह की रस्में, चौक पूरना, कलावा बाँधना, फूलमालाओं से सजाना, गंधर्व विवाह की तरह 'मुताह' करना, नवरात्र की तरह शबरात, होली की तरह नौरोज, रावण की तरह हुसैन के दुश्मन यजीद से घृणा करना सब कुछ लगभग एक-सा है।

भारत के बहुत-से हिस्से ऐसे हैं, जिनमें मनौतियाँ एवं विश्वास एक-से हैं। काँच की चूड़ी और नाक की कील को हर जगह सुहाग मानना, माँग में सिंदूर या अफ़शा भरना, गले में मंगलसूत्र पहनना, मेहँदी लगाना, पेट और माथे पर बच्चों के जन्मदिन पर माँ की कोख और प्रियजनों के माथे पर चंदन लगाना, दुल्हन को लाल कपड़े पहनाना, दुल्हन को दहेज देना, सुहाग-गीत और गालियाँ गाना, बच्चे के जन्म पर छठी की रस्म, मरने पर सेवुम और चालीसवाँ करना—ये सारी बातें अन्य मुस्लिम देशों में रायज नहीं हैं। जैसे भर-भर हाथ चूड़ियाँ पहनना, नाक-कान छिदवाना किसी विवाहित औरत के लिए जरूरी नहीं है। सुहाग के गीत की जगह नाच-गाना लोक-धुनों पर होता है, मगर उसका कोई संबंध 'सुहाग' शब्द से जुड़ा नहीं होता है। सावन में लाल-हरी चूड़ी पहनना जरूरी नहीं, क्योंकि इन देशों में वर्षा ऋतु होती नहीं है। पकवान, खान-पान को लेकर भी कोई ताल्लुक़ भारतीय मुसलमान औरत का अन्य देशों की मुसलमान औरत से नहीं है। यहाँ तक कि पाकिस्तान को छोड़कर ईद में कहीं भी सेवईं नहीं पकती हैं, क्योंकि यह खाद्य वहाँ मिलता ही नहीं है। कहने का तात्पर्य यह कि भारतीय मुसलमान औरत धर्म को छोड़कर बाक़ी हर चीज़ में अपनी हमवतन बहन की तरह पक्की हिंदुस्तानी है।

इस्लाम दूसरे विवाह अर्थात् विधवा विवाह के घोर पक्ष में है। अन्य देशों में तलाक़ और विधवा होने के बाद परिवार वाले लड़की का विवाह कर देते हैं, मगर भारतीय मुसलमान औरतें बड़ी मुश्किल से दूसरा विवाह करने पर राज़ी होती हैं। विधवा औरतें, क्या हिंदू, क्या मुसलमान, सफ़ेद कपड़ा धारण करती हैं, चूड़ियाँ तोड़ती हैं। सिंगार न करना, ज़ेवर न पहनना, शादी-ब्याह के मौक़े पर दुल्हन की किसी चीज़ को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हाथ न लगाना, अंत में अपना जी हर तरफ़ से काटकर धर्म में रमाने लगती हैं। अगरबत्ती, मोमबत्ती, धूप और दूसरे खुशबूदार पदार्थों को धर्म-स्थलों पर उसी तरह रखती हैं, जैसे पूजा के स्थान पर जलाया जाता है। मुराद पूरी होने पर चादर या दुपट्टा चढ़ाना, फ़कीरों को खाना खिलाना, जादू-टोने, कोसने, दान-दक्षिणा, सदक़ा, पत्तों पर दिया रख नदी में बहाना, चाँद-सूर्य-ग्रहण के समय कुछ न खाना इत्यादि।

मुस्लिम समाज में चचाज़ाद, खालाज़ाद, फूफीज़ाद भाई-बहनों में विवाह हो जाता है, मगर पढ़े-लिखे परिवारों में जिस तरह तलाक़ देना, गुज़ारा-भत्ता न देना, कई-कई शादियाँ रिवाज नहीं रखती हैं, उसी तरह ऐसी शादियाँ भी बहुत कम होती हैं; मगर उसी समाज के दूसरे वर्गों में जो कम शिक्षित हैं, वहाँ आम चलन है। मुसलमानों में जात-पाँत का फ़र्क़ प्रकोप की तरह नहीं, इसलिए छोटे-बड़ों के बीच में भी शादी हो जाती है, ऐसी कोई मनाही नहीं, मगर अकसर कट्टर सोच वालों में सैयद और जुलाहे या फिर शेख़ और पठान, सुन्नी और शिया में शादी नहीं होती। मगर प्रेम-विवाह अकसर विरोध के बावजूद भी हो जाते हैं। यह छुआछूत, जात-पाँत का भेदभाव करना हिंदुस्तान की देन है, वह मुसलमानों ने उसी तरह स्वीकार किया है, जिस तरह लड़की को दहेज देना, वरना सभी मुस्लिम देशों में दहेज लेकर लड़का लड़की के घर जाता है, वहाँ छोटी-बड़ी जात का कोई वर्गीकरण नहीं है।

भारत के मुसलमानों की भाषा केवल उर्दू नहीं है, बल्कि उत्तर प्रदेश में वे उर्दू, हिंदी, अवधी तीनों भाषा बोलते हैं। वही मुसलमान दक्षिण भारत में उर्दू के स्थान पर तमिल, तेलुगू, मलयालम, कन्नड़, अंग्रेज़ी बोलता है। बिहार का मुसलमान भोजपुरी, मैथिली बोलता है। सिंधी मुसलमान सिंधी भाषा को मातृभाषा कहता है। जैसे पंजाबी, कश्मीरी मुसलमानों की भाषा उर्दू नहीं कश्मीरी और पंजाबी है। राजस्थान, मध्यप्रदेश, उड़ीसा, बंगाल, मेघालय, सभी इलाक़ों के लोगों की अपनी मातृभाषा है और मुसलमान उससे पृथक् नहीं है, मगर दिलचस्प बात यह है कि भारतीय मुसलमान जिस भाषा में धर्म का पालन करता है, वह भाषा उसको नहीं आती, वह विदेशी भाषा है, जिसको वह निष्ठा के कारण पढ़ना जानता है। यही हाल पहनावे और खानपान का है। दक्षिण भारत के मुस्लिम घरों के खाने उत्तर प्रदेश के व्यंजनों और स्वाद से बिल्कुल अलग होते हैं। उत्तर प्रदेश में बूढ़ी औरतें सूफ़ियाना रंग पहनती हैं, मगर दक्षिण भारत में बुजुर्ग औरतें गहरे कपड़े धारण करती हैं। बालों में फूलों की वेणी लगाती हैं।

जैसा कि मैं आरंभ में कह चुकी हूँ, भारत एक विराट देश है। यहाँ कुछ भी स्वीकार किया जा सकता है यदि दिल में खुलापन हो। इसका उदाहरण हुसैनी ब्राह्मण हैं, जो हुसैन के लिए लड़े थे। ये आज भी भारत में पुष्कर, गुरदासपुर, इलाहाबाद, बनारस में रहते हैं। चंद्रगुप्त, जो इमाम हुसैन के हमजुल्फ़ थे, उन्होंने हुसैन की मदद के लिए अपनी फ़ौज इराक़ भेजी थी। हुसैनी ब्राह्मण शियों की तरह मोहर्रम मनाते हैं। जिस इंसान ने अपने साथ बेटों का बलिदान दिया था, उसका नाम 'रहाब' था। शियों को हुक्म था कि अपनी दुआओं में उसका याद करें। भारतीय समाज का यह पक्ष जहाँ दुर्लभ है, वहीं चकित करने वाला भी है। साथ रहना अपने में एक ऐसी प्रक्रिया है, जो अनजाने में प्रभावित कर एक-दूसरे के प्रति आदर और प्यार को बोती है।

पहले हिंदुस्तान में अंतर्जातीय विवाह बहुत कम होते थे। हिंदू लड़की या लड़के से विवाह करने का अर्थ था, हमेशा के लिए घर और क़ौम से विदाई। ऐसे जोड़ों को सख्त जीवन भी बिताना पड़ता था। मगर धीरे-धीरे समय ने करवट ली। पहले शादी से इंकार, फिर रजामंदी दी गई, मगर घर आने पर मनाही, फिर घर के दरवाज़े खुले और आज 2002 तक पहुँचते-पहुँचते स्थिति यह आ गई कि ऐसी शादियों को न केवल माँ-बाप का समर्थन प्राप्त हुआ, बल्कि धूमधाम से अरेंज मैरेज होने लगी और बिना शरमाए अनेक घरों में बड़े पैमाने पर वलीमे का भोज भी दिया गया। बच्चों के नाम भी हिंदी-उर्दू के मिले-जुले रखे जाने लगे, जैसे कबीर, समर, समन, शगुन आदि। ऐसे घरों के बच्चों संपूर्ण भारत को जीते हैं। उन्हें वह सब कुछ मिलता है, जो आधा-आधा उनके माँ-बाप जीते हैं। आज बड़ी संख्या में मुसलमान लड़कियाँ अपनी मर्ज़ी से हिंदू लड़कों और मुसलमान लड़के हिंदू लड़कियों से विवाह कर रहे हैं। निस्संदेह ऐसी हालत में दोनों परिवारों के बीच मेल-मिलाप बढ़ने और सद्भावना के चलते एक नए समाज की बुनियाद पड़ रही है, जो बढ़ती सांप्रदायिकता, संकीर्णता, कटुता को कम करने में मददगार साबित होगी।

भारतीय मुसलामन यदि हर प्रांत से बुलाकर एक कतार में खड़े कर दिए जाएँ, तो साफ नज़र आएगा कि उनकी भाषा, बोली, नैन-नक़्श, रंग, पहनावा, श्रृंगार एक-दूसरे से भिन्न हैं, फिर भी वे भारतीय कहलाएँगे, जैसे भारत के विभिन्न प्रांत, जो हर बात में एक-दूसरे से अलग हैं, तो भी एकसाथ जुड़कर भारत के मानचित्र का निर्माण करते हैं और उसकी अखंडता को दर्शाते हैं।

(लेखिका की सद्यःप्रकाशित पुस्तक 'राष्ट्र और मुसलमान' का अंश)

डी–37/754, छतरपुर पहाड़ी, नई दिल्ली–30

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ. बलदेव वंशी

साम्प्रदायिकता का नासूर अभी पक रहा है

सभी बखेड़े धर्म के हैं, धार्मिकता के नहीं। धर्म के बाहरी रूप सम्प्रदायवाद फैलाने के कारण बनते हैं। धार्मिकता आध्यात्मिकता है, धार्मिक चेतना है। अध्यात्म आत्मचिन्तन, आत्मविश्लेषण की ओर ले जाता है और परम आत्म तक पहुंचता है। धर्म के बाहरी प्रतीक रीति-रिवाजों, परम्पराओं, प्रतीकों, पूजा-स्थानों तक अध्यात्म को सीमित कर देते हैं। बाहरी नियम, पूजा-पद्धतियां धार्मिक अहंकार, अपने धर्म के श्रेष्ठ होने का जुनून पैदा करते हैं, दूसरे धर्म को छोटा, ओछा मानने की मूर्खता उत्पन्न करके उन्हें दबाने की जाहिल किस्म की अपराधवृत्ति पैदा करते हैं। जबकि धार्मिकता, अध्यात्म, आत्मचेतना लोगों को एक परम-आत्मचेतना में जोड़ कर मानवीय, स्वतंत्र, संवेदनशील, आत्मवान, उदार, दयावान, क्षमाशील मनुष्य प्राणियों का समाज रचती है।

किसी भी धर्म के मूल ग्रंथ मानवीयता की सीख ही देते हैं। 'अहं ब्रह्मास्मि, 'द बिग बैंग', 'अनलहक', 'एक ओंकार'–किसी को भी ले लें–वे हिन्दू, ईसाई, मुस्लिम, सिख सभी धार्मिक सिद्धांतों के मूल तक ले जाकर हमें व्यक्ति के आत्म और सृष्टि के परम-आत्म तक पहुंचाते हैं, जहां सारी भिन्नताएं व्यर्थ सिद्ध होती हैं। यही सीख हमारे सभी हिन्दू, जैन, बौद्ध, ईसाई, सूफी संत देते हैं। ब्रह्मसूत्र हो या उपनिषद या कुरान, बाइबिल हों सभी सर्वव्यापक ब्रह्मचेतना तक पहुंचाते हैं। आधुनिक चिंतक कृष्णमूर्ति, ओशो भी अपनी सम्पूर्ण चिंतना के द्वारा इसी तथ्य को सिद्ध-पुष्ट कर रहे हैं। इतना ही नहीं, अधुनातन अनुसंधान और अध्यात्म के तुलनात्मक अध्ययन भी मानव और उसके स्व एवं स्वात्म को ही महत्त्व देते हैं। 'थाट एंड रियेल्टी : हैगेलियनिज्म एंड अद्वैत' के लेखक डॉ. पी.टी. राजू ने भी उक्त तथ्यों को ही निष्कर्ष रूप में उपलब्ध ा-स्थापित किया है। अतः आदिशंकराचार्य, नामदेव, कबीर, रैदास, नानक, बुल्लेशाह, शेख फरीद, दादू, मलूक आदि संत उक्त सोच की प्रमाणिक जीती-जागती मिसाल हैं। किन्तु ध र्मप्राण भारत में जितना कहर धर्म के कारण बरपा है, उतना प्राकृतिक आपदाओं के कारण भी नहीं बरपा। धर्म प्रचारक निजी स्वार्थों में ऐसे अंधे हो गए हैं कि उन्होंने धर्म के साथ मनुष्य और मनुष्यता को भी विक्री के लिए बोली पर लगा दिया है। गली-मुहल्लों, गांव-बस्तियों में जो कथावाचन करते थे, वे आज हाई प्रोफाइल हाई-टेक होकर कथावाचक से उन्नति करके गुरु, सतगुरु और युगसंत कहलाने लगे हैं। सिर पर मुकुट बांधकर, संगीत की धुनों पर नाच-गाकर भक्तों को मुग्ध करते, आनंद-विभोर करके धर्म कमा रहे हैं। धर्म खा रहे हैं। धर्म के भंडार भर रहे हैं और लोग हैं कि धर्म की वास्तविक पहचान खोकर लुटे-ठगे से भीतर अकेले, निराश और हताश है। पंडाल से निकलते ही पहले के जैसे ईर्ष्या, असमानता, अहंकार से भरे, दूसरों को हीन, शत्रु, अपने से नीचे मानकर अधार्मिक अमानवीय व्यवहार करते मिलते हैं।

यों सम्प्रदाय किसी भी धर्म की शक्ति ही होता है। उसी के बल पर स्थिति, स्थिरता और धार्मिक नियमों के पालन का दायित्व होता है, किन्तु जब सम्प्रदाय अपनी शक्ति को बढ़ाने के लिए अपने को दूसरों से श्रेष्ठ मानकर उन्हें दबाने के विचार पाल लेता है और किसी भी कीमत पर विस्तारवादी प्रवृत्ति का जुनून उसके सिर पर चढ़ कर बोलता है, तब वह साम्प्रदायिकता से ग्रस्त हो हत्या, हिंसा, अत्याचार और दमन का रास्ता ले लेता है, जो कि सर्वथा घृणा के, निंदा के काबिल है। इसी सांप्रदायिक जुनून के कारण विभिन्न धर्मो में संप्रदायगत विभाजन होते गये हैं। हिन्दुओं में किसी समय शैव, शाक्त, वैष्णव रक्तरंजित संघर्षों में डूबते रहे और ईसाइयों में कैथोलिक प्रोटेस्टेंट खूनी खेल खेलते रहे हैं, मुसलमानों में शिया-सुन्नी का रक्तप्लावन तो अब भी देखने को मिलता है।

यह मात्र संवादहीनता का प्रश्न नहीं है, बद्धमूल धारणाओं को भी ढीला करके संवाद की स्थिति लायी जा सकती है। जैसे कि गये दिनों में बाबरी मस्जिद-रामजन्म भूमि विवाद सुलझाने के प्रयत्नों से दोनों सम्प्रदायों के लोग मिले और संवाद बनता लगा, किन्तु दोनों सम्प्रदायों के निहित स्वार्थी नेता उसे फिर-फिर भंग कर देते हैं। एक तो बुनियादी साम्प्रदायिक विचारों के कारण और उनकी ओट लेकर और दूसरा अपनी शक्ति-प्रभुत्व मनवाने की खातिर। दोनों ही, हिन्दू और मुसलमान धार्मिक नेतृत्व अपनी पुरानी धार्मिक मान्यताएं और विद्वेष छोड़ने को तैयार नहीं हैं, इस कारण कभी एक ओर से तो कभी दूसरी ओर से भ्रमों-भयों की गांठें कसती जाती हैं। धार्मिक पुरातन धारणाएं जो शत्रुता बनाए हुए हैं, उनमें परिवर्तन लाने को कोई तैयार नहीं, जबकि युग बदल गया, विश्व-परिदृश्य भी बदल गया है। इनकी शत्रुता नहीं बदल रही। उसकी शैली और आधार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कायम हैं। मुस्लिमों को छोड़कर शेष लोग काफिर हैं, धर्मशत्रु हैं तो हिन्दुओं को अतीत में खोई हुई अपनी श्रेष्ठ धार्मिक पहचान को पुनः उपलब्ध करने के लिए एक नहीं, तीन मुख्य धर्मस्थल मुक्त कराने हैं– अयोध्या, काशी, मथुरा।

भारत में राजनीति ही प्रभावी है, जिसमें धर्म, जाति, सम्प्रदाय के विचारों का दबदबा इतना उदग्र है कि लोकतंत्र त्राहि-त्राहि कर रहा है। जिसके हाथों में जहां भी सत्ता है, वहां दुरुपयोग अबाध गति से हो रहा है। अपने ही देश के अभिन्न भाग कश्मीर से अल्पसंख्यक हिन्दुओं को लूट-मारकर भागने, दर-दर भटकने को बाध्य कर दिया जाता है, तो शेष भारत में धार्मिक माहौल बहुसंख्यक में व्याप्त विष से अप्रभावित कैसे-कब तक रहेगा? अतः धर्म-संप्रदाय के आधार पर स्थापित वर्चस्वों को ये शक्तियां आसानी से छोड़ने वाली नहीं है बल्कि चुनावों के समय फतवे देकर अपना वर्चस्व सिद्ध करती रहती हैं। शासन-व्यवस्था जनता को अशिक्षित रखने में अपना हित मानती है, तो धार्मिक सत्ता व्यवस्था अपनी पुरानी धर्म-विचारणा के बल पर उसकी अज्ञानता, अशिक्षा, निःसहायता का लाभ उठाकर राजनीति करती है। हिस्सेदारी वसूलती है। यह एक ऐसा घिनौना चक्र है, जिससे समूचे भारतीय समाज को खतरा और बढ़ता जा रहा है। जनता अशिक्षित ही नहीं, असंगठित भी है। इधर इन कारणों से, साम्प्रदायिकता का नासूर अभी पक रहा है। वरना एक समय था सन् 1857 का स्वतंत्रता संग्राम, जब हिन्दू-मुसलमान मिलकर एक जान होकर अंग्रेजों से भिड़े थे। तब एक साझा उद्देश्य था। अब अपने-अपने स्वार्थ सामने हैं। यह भी एक दुर्भाग्यपूर्ण तथ्य है कि जहां-जहां अस्पृश्य, उपेक्षित, अशिक्षित, पिछड़े लोग रहते हैं, रखे जाते हैं, वहीं-वहीं ज्यादा दंगे भड़कते हैं। आग लगती हैं। झुग्गियों-झोपड़ियों की बस्तियां तबाह होती हैं। क्योंकि एक तो ये लोग ऐसी निरीह घास की तरह होते हैं, जिन्हें राजनेतारूपी बैल चरते, खूंदते, लीदते रहते हैं, दूसरा ये किसी भी संप्रदाय से संबंध रखते हों–ऐसी सूखी ईंधन का काम करते हैं कि जहां एक ही चिंगारी फेंकने पर तुरंत आग भड़क उठती है, फिर चिंगारी चाहे देशी हो या विदेशी शत्रुता द्वारा फेंकी जाये। ये जलने-मरने-कटने को तैयार रहते हैं। इन्हें इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अधिकांशतः इकट्ठे और नगर, गांव के बाहर बसाया जाता है। इससे इनकी पहचान भी आसान रहती है और उपलब्धता भी।

समरस, स्वस्थ, सहिष्णु समाज बनाने की चाहना वाले लोग अति अल्प हैं, असंगठित हैं अप्रभावी हैं, और उपेक्षित हैं। आधुनिक संचार माध्यमों तक इनकी उतनी निर्बाध पहुँच नहीं जितनी राजनीति करने वालों की। अतः ये लोग अनुकूल वातावरण नहीं रच सकते। शेष वृहत्तर समाज, राजनीतिक, शक्तियाँ, सभी प्रकार के शक्ति संस्थान एवं संचार माध्यम उन्हीं के हाथों में हैं जिन्हें समरस समाज रास नहीं आता। इन वर्चस्वधारी शक्ति समूहों–पक्ष-विपक्ष–का सत्ता में आने पर स्वरूप बदलता रहता है, चरित्र नहीं बदलता।

एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि संस्कृतिकर्मी भी एक या दूसरे पक्ष में बँटे हुए हैं। निजी हित-स्वार्थ पहले देखते हैं। जीवन की अनिवार्यताओं की निर्बाधता के वशीभूत वे लाचार हैं। समाज की सोच और वरीयता बदली। स्वातंत्र्योत्तरकाल में राजनीतिक पतन ने संस्कृति-साहित्य-कला को सबसे ज्यादा हानि पहुँचाई है। आजादी की लड़ाई में कंधे से कंधा मिलाकर चलने वालों को राष्ट्रीय महत्ता के मंच से उतारकर नीचे बैठा दिया और अपने साथ ले लिया क्रिकेट और फिल्मों के नायकों को। आज संस्कृतिकर्मी नायक नहीं, राजनीतिकों के रहमोकरम पर निर्भर हो गये हैं। समाज के अगुवा की भूमिका से वे पिछलग्गू, पुछल्ले और तीसरे दर्जे के नागरिक बना दिये गये हैं, क्योंकि राजनेतृत्व को इन्हीं से अधिक खतरा होता है। हो सकता है। और कुछ जो स्वतंत्र चिंतक-सर्जक हैं वे इतने अधिक सृजन-केंद्रित हैं कि सृजनकर्म को ही वास्तविक एवं मूल धर्म मानकर वृहत्तर सामाजिक आंदोलनों में सक्रिय हिस्सेदारी नहीं निभाते। जबकि देश-काल-परिस्थिति की माँग है कि वे सब संगठित हो जाएं। ऐसा होने से अपेक्षित परिणाम अवश्य सामने आयेंगे। इसके लिए उन्हें पक्ष-विपक्ष की राजनीति छोड़कर तीसरी निष्पक्ष सर्जक सत्ता का निर्माण करना होगा। राष्ट्रीय चिंतन और चेतना का पक्ष ही वर्तमान संकटों और भावी-आसन्न आपदाओं से देश-समाज को बचा सकेगा। राजनीतिकों के लिए अब संस्कृति एवं भाषा आदि के कोई मायने नहीं रहे। देश की एकता-अखंडता की दूरदर्शन पर अपील करने के लिए उन्हें सदैव नये उक्त नायक ही दीखते हैं। शब्दशिल्पी साहित्यकार बड़ा खतरा हैं। इन्हें पीछे धकेले रखने में ही उनकी सुरक्षा है। ऐसे सांस्कृतिक, राष्ट्रीय, सामाजिक महासंकट की घड़ी में उन्हें अपने स्व को पहचानना होगा। राजसी सत्ता से ऊपर ऋषि-सत्ता की भारतीय आर्ष-परम्परा का वर्चस्व पुनः स्थापित करने के लिए सजग-सचेत-सक्रिय हों ताकि निरंकुश सत्ता पर अंकुश का कार्य कर सकें।

ए–3/283, पश्चिम विहार, नई दिल्ली–110063

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शोभनाथ यादव

धर्मांधता देश के लिए खतरनाक रवैया

मेरी मान्यता है कि हम साहित्य-सृजन के नाम पर शब्दों की सीमित दीवारों में ही सिकुड़े रहेंगे, तो जीवन और सृजन के मूल सरोकारों की अहमियत को नहीं महसूस कर पायेंगे। पर रचनाकार के नाते इन साहित्येतर सरोकारों के सही संदर्भों और इनकी विकृतियों को पहचानने के लिए खुली बहस करना बेहद जरूरी है।

जीवन और समाज के विकृत होते ये मूल सरोकार क्या हैं, जो देश की आजादी से लेकर आज तक लगातार भयावह और मारक बनते जा रहे हैं? राजनीति, धर्म और सांप्रदायिकता का सतत विकृत होता स्वरूप आज भयावह एवं आतंकवादी स्वरूप धारण कर चुका है। राजनीति आज देश और समाज के विकास की सैद्धांतिक धुरी नहीं रह गयी है, उसमें आत्मपरकता, मौकापरस्ती तथा सत्ता-लोलुपता अपनी चरम सीमा पर मौजूद है। राजनीतिक दलों के नेताओं की दृष्टि अब राष्ट्रप्रेम से नहीं, गिद्ध-दृष्टि से आपूरित है। आज की राजनीति में 'माफिया' तत्त्व इस कदर हावी हो गया है कि उसका एकमात्र उद्देश्य बन चुका है 'आतंक' के मार्फत अपने निजी स्वार्थों की पूर्ति में सतत संलग्न रहना। केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें भी अब एकदलीय न होकर बहुदलीय हो गयी हैं। इसलिए उनकी विवशता बन चुकी है कि अपने 'ग्रांड गठबंधन' को येन केन प्रकोरण बनाये रखा जाए और सत्ता की कुर्सी पर स्वयं को काबिज रखा जाए। कुर्सी हिले न, देश और समाज भले हिल जाएं। इसके चलते, राजनीति से देश और समाज की खुशहाली की उम्मीद कैसे की जा सकती है?

आज की इसी विद्रूप राजनीति ने देश को धर्म और जाति के आधार पर खंडित करने की कोशिश की है। इस देश में धर्मांधता तो पहले से ही कुंडली मार कर बैठी है। पूरे देश और विश्व की आदमीयत को ईश्वर, धर्म, संप्रदाय और जाति के आधार पर वैसे ही सदियों से खंडित किया जाता रहा है। ईश्वर का भी जो सार्वभौम अखंड स्वरूप था, उसे भी तोड़ा गया है और उसे जाति-संप्रदाय के मुलम्मे में जकड़ दिया गया है। इसलिए अलग-अलग देशों, समाजों में अलग-अलग मनुष्य पैदा किये गये हैं, जो विभिन्न धर्मों और संप्रदायों के जरिये टुच्ची एवं संकीर्ण दीवारों में कैद होते गये हैं। यहीं से संपूर्ण मनुष्यता को खंडित और शोषित करने का अभियान बड़े संजीदा ढंग से धर्माचार्यों द्वारा चलाया जाता रहा है। यहीं से ईश्वर और धर्म की बेहोशी वाली शीशियां लोगों को सुंघा दी जाती हैं और मनुष्य की रूह की निचली तहों तक उस बेहोशी को आराम से उतार दिया जाता है।

धर्म, संप्रदाय और जातियों की इस बेहोशी का आज यह आलम है कि गोधरा और गुजरात में आंखों के सामने आदमियों को हैवानियत के स्तर पर उतरकर कत्ल किया जा रहा है। क्या इससे यह संदेश नहीं जाता कि एक-न-एक दिन पूरे देश को 'कत्लगाह' में तब्दील किया जा सकता है? क्या आदमी भेड़-बकरियों से भी गया-गुजरा है कि उसके कत्ल होने की आह का एहसास भी न किया जा सके और सामान्य नेताओं, लेखकों तथा संस्कृतिकर्मियों के कानों पर जूं तक न रेंगे? हमारी समाज के प्रति ऐसी भयावह तटस्थता हमें भी हैवानियत की कोटि में खड़ा कर देती है।

धर्म का अभिप्राय होता है सभी मनुष्य एक हैं, सभी में एक ही इनसानी लहू बहता है, सभी के जज्बात एक हैं, सभी एक साथ अमन-चैन से रहना चाहते हैं। यदि खंडित ईश्वर भी आए, तो आदमी को बौना न बनाए, धर्म और जाति भी आए, तो आदमी को अंधविश्वास के अंधेरे में न भटकाए। मनुष्य की संपूर्ण अर्हता का सर्वांगीण विकास हो। किसी देश में पनपने वाला धर्मवाद क्या व्यक्तिवाद है, क्या सचमुच यह फासिस्ट तरीका है, क्या यह हिटलरशाही है, जो अपने एकछत्र आधिपत्य के आतंकवादी शिकंजे में सभी समाजों को जकड़ लेना चाहती है? क्या इस बढ़ते आतंकवाद के विरोध में हम एकजुट होकर खड़े न हों? या फिर अपने लिजलिजे व्यक्तिवाद की खोह में सिकुड़े रहें?

इस व्यक्तिवाद में धर्म का विकृत रूप विकसित है। करुणा, भ्रातृत्व, अहिंसा और सहनशीलता का मानवीय रूप कतई नहीं है। धर्म की ऐसी विकृति से पूरा समाज और देश भी विकृत स्वरूप अख्तियार कर लेगा। इस पर नियंत्रण जरूरी है।

देश के विभिन्न संप्रदायों में एकता और सौमनस्य का प्रयास आवश्यक है। इसके अभाव में संवेदनहीनता का माहौल बना रहता है और असामाजिक तत्त्व ऐसे माहौल का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगातार फायदा उठाते रहते हैं।

सभी नागरिकों के जीवन और संपत्ति की सुरक्षा की गारंटी देश की सरकारों का प्रथम दायित्व है। लेकिन इस दायित्व को सरकारें अपेक्षित ढंग से आज तक नहीं निभा सकी हैं। देश के संविधान में समाजवाद, प्रजातंत्र के साथ धर्मनिरपेक्षता का विधान जरूर है, पर आज संविधान के ये तीनों मूलाधार हाशिये पर चले गये हैं। समाजवाद तो खुले विदेशी बाजारवाद के तहत नेस्तनाबूद-सा हो गया है, प्रजातंत्र माफिया और स्वार्थलोलुपता के कारण निरर्थक हो चला है और धर्मनिरपेक्षता का स्थान धर्म-सापेक्षता ने ग्रहण कर लिया है। इसमें मरती है जनता, पिसते हैं समाज और देश! मौन होकर निष्क्रिय बने हुए नागरिक भी इसके लिए कम दोषी नहीं हैं। हमारे लिए अपना स्वार्थ और निजी जीवन महत्वपूर्ण है, समाज और देश के सरोकार गैर-जरूरी हो गए हैं। ऐसे में गैर-असामाजिक तत्त्वों की जरूर बन आती है। इस दिशा में हमारी कोई रचनात्मक सक्रियता नहीं है।

किसी भी सभ्य समाज में कानून का राज या कानूनी व्यवस्था ही उस समाज के विकास के लिए सर्वोपरि होती है। किसी धर्म, मज़हब या पंथ का आदेश समाज की संपूर्णता का द्योतक न होकर स्वार्थपूर्ण खंडित इकाई का प्रतीक होता है। वह अपने निहित स्वार्थ में संपूर्ण सामाजिकता की सामासिकता को खंडित करता है और फासिस्ट, आतंकवादी रवैया अख्तियार करता है। इस गैर-सामाजिक प्रवृत्ति को कतई बढ़ावा नहीं देना चाहिए।

कोई भी समुदाय या संप्रदाय संख्या-बल में भले ही कम-ज्यादा हो, पर इपने इरादों में यदि वह स्वार्थी, विध्वंसक, फासिस्ट चेहरा लिए हुए हो, तो उसे समाज और राष्ट्र के स्तर पर कतई बरदाश्त नहीं किया जाना चाहिए।

हमारे देश के बुद्धिजीवियों और संस्कृतिकर्मियों का यह सामूहिक एवं सामाजिक दायित्व होना चाहिए कि वे इस धर्मांधता और गैर-असामाजिकता का डटकर विरोध करें। व्यक्ति और संप्रदाय की अपनी धार्मिक मान्यताएं और आस्थाएं विशिष्ट हो सकती हैं, पर वे राष्ट्र और समाज की सर्वमान्य आस्थाओं और मान्यताओं से ऊपर नहीं हैं।

सम्पादक– 'प्रगतिशील आकल्प'
पंकज क्लासेस, जोगेश्वरी पूर्वी
मुम्बई–400060

डॉ. कमलकिशोर गोयनका

विश्व में एक धर्म, एक ग्रन्थ की धारणा ही समरसता की शत्रु है

मेरे विचार में कोई भी समाज पूर्णतः समरस और सहिष्णु नहीं होता। समाज की जैसी रचना है, उसमें भिन्न-भिन्न विश्वासों और आस्थाओं को मानने वाले लोग रहते हैं। यहाँ तक कि एक ही नस्ल, एक ही धर्म और एक ही भाषा बोलने वाले मनुष्य समाज में भी भिन्न-भिन्न सोच के व्यक्ति मिल जायेंगे और उनके बीच भी असहिष्णुता पनप सकती है। ईसाई और इस्लामी देश परस्पर लड़ते रहे हैं और आज भी ऐसा हो रहा है। विश्व में सम्पूर्ण मनुष्य समाज एक धर्म, एक मत और एक सोच का नहीं हो सकता। जो धर्म ऐसा चाहते हैं तथा ऐसे एक मत एवं एक धर्म के अनुयायी वाले विश्व की रचना करने के ईश्वरीय आदेश की कल्पना करते हैं वे प्रकृति और सृष्टि के मूलभूत सिद्धान्तों के विपरीत सोचते और व्यवहार करते हैं। प्रकृति बहुरूपी, बहुरंगी और बहुवचनीय है और मनुष्य समाज भी ऐसा ही रहेगा। प्रकृति ने अपने क्रियाकलापों में समरसता बनाई हुई है, पर मनुष्य अभी तक सफल नहीं हुआ है। इस असफलता के मूल में ऐसे धर्मो का ईश्वरीय आदेश रहा है जो भोली-भाली भेड़ों और अविश्वासी काफ़िरों का धर्मान्तरण करके विश्व में एक ही धर्म की स्थापना करना चाहते हैं। यदि समरस एवं सहिष्णु समाज बनाना चाहते हैं तो ऐसे ईश्वरीय आदेशों को त्यागकर सब धर्मों को एक ही दृष्टि से देखना होगा।

यह सच है कि हिन्दू धर्म ने अस्पृश्यों को मुख्यधारा से अलग रखा तथा उनका शोषण किया। वे शिक्षा से दूर रखे गये और उनका मानसिक विकास अवरुद्ध हो गया। वे निश्चय ही संवाद के योग्य नहीं माने गये, लेकिन यह भी सच है कि इनमें कुछ ऐसे निकले जिन्होंने अपनी प्रतिभा और ज्ञान से सम्मानपूर्ण स्थान बनाया, पर इनकी संख्या बहुत अधिक नहीं है। अस्पृश्यों का आक्रोश उचित ही है, परन्तु लोकतन्त्र में स्थिति बदली है। उनमें शिक्षा बढी है ओर वे उच्च पदों पर हैं। विगत 50 वर्षों से उन्हें आरक्षण का लाभ मिल रहा है। अब संवाद हो सकता है और विगत से शिक्षा लेकर एक समरस समाज की रचना हो सकती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आप ठीक कहते हैं कि मुस्लिम समाज हिन्दू समाज से घुल-मिल नहीं पाता है जैसा वह अपने धर्मावलम्बियों के साथ रहता है। इसके अनेक ऐतिहासिक कारण हैं। मुसलमानों में स्वयं को श्रेष्ठ और बलशाली शासक तथा हिन्दुओं को कायर और व्यापारी समझने का भाव है। मुसलमानों ने सैकड़ों वर्षों तक हिन्दुस्तान को गुलाम बनाया, उस पर शासन किया, अतः वे स्वयं को हिन्दुस्तान के शासक मानते रहे हैं। भारत का मुसलमान स्वयं को गजनवी, गौरी, बाबर, अकबर, औरंगजेब आदि से जोड़ता है और हिन्दू इन्हें विदेशी आक्रमणकारी एवं हिन्दुस्तान का शत्रु मानता है।

मेरे विचार में बहुसंख्यक हिन्दू समाज मुस्लिम समाज के बारे में अपने विचारों में परिवर्तन ला रहा है। उसने देश के सर्वोच्च पदों और शक्ति-केन्द्रों पर मुसलमानों को बैठाया है। आज भी हिन्दू-मुसलमान अधिकांश स्थानों पर शान्तिपूर्वक रह रहे हैं, लेकिन हिन्दू समाज मुसलमानों के तुष्टीकरण की नीति और झूठी धर्मनिरपेक्षता से व्यथित होता है और सोचता है कि इस नीति के कारण पाकिस्तान बना और अब काश्मीर पर निगाह है। बांग्ला देश तो हिन्दुस्तान ने बनवाया पर वह भी इस्लामी देश बनकर आतंकवाद का अड्डा बनता जा रहा है। भारत में इस्लामी आतंकवाद की जो आक्रामक कार्यवाही चल रही है, मदरसों में जो आतंकवाद पढ़ाया जाता है तथा मुल्लाओं द्वारा जो फतवे जारी होते हैं, उन पर मुस्लिम समाज प्रायः चुप रह जाता है या उनके समर्थन में तर्क देने लगता है, जैसे उर्दू अखबारों में छपना कि पार्लियामेंट पर हमला खुद सरकार ने कराया था या कारगिल की लड़ाई भारत सरकार ने शुरू की थी। यह वही मानसिकता है जो क्रिकेट में पाकिस्तान की जीत पर लड्डू बाँटती है और हिन्दुस्तान की जीत पर मातम करती है। अगर मुस्लिम समाज हिन्दुस्तानियों की तरह सोचे और व्यवहार करे तो कोई कारण नहीं कि हिन्दू समाज की बद्धमूल धारणाएँ छिन्न-भिन्न न हो जाएं। प्रेमचंद ने 'हंस' के पहले अंक में यही शिकायत की थी कि हिन्दुस्तानी मुसलमान 'पहले हिन्दुस्तानी' की तरह नहीं सोचता, वह जो कुछ करता है मुसलमान के रूप में ही करता है। अब इस स्थिति को बदलना चाहिए।

दोनों समाज पुरानी 'लीगेसी' को लेकर चल रहे हैं, परन्तु लोकतन्त्रीय समाज में कुछ परिवर्तन आ रहा है। हिन्दू समाज में एक ऐसा वर्ग है जो प्रतिक्रिया में पनपी साम्प्रदायिकता की भी कटु आलोचना करता है, परन्तु मुस्लिम समाज में ऐसे लोग बहुत कम हैं।

यह आवश्यक है कि देश के विभिन्न समुदायों, धर्मों के बीच संवाद हो। इसके लिए पहली शर्त यह है कि सभी यह मानें कि वे भारत-भूमि की सन्तान हैं, उन्हें साथ-साथ जीना-मरना है और इस देश की संस्कृति, परम्परा, दर्शन आदि के सभी अंग हैं। सभी अपना-अपना धर्म पालन करने के अधिकारी हैं, परन्तु एक-दूसरे के धर्म का सम्मान और स्वीकृति आवश्यक है। यदि कोई धर्म आज के मनुष्य, समाज देश के लिए कुछ अनुचित आदेश देता है तो उन्हें छोड़ने के लिए तैयार होना चाहिए। कोई भी ईश्वरीय आदेश अन्तिम तथा स्वीकार्य नहीं हो सकता जब तक कि वह सभी मनुष्यों को समान न समझे तथा जो सभी के लिए कल्याणकारी न हो। संस्कृतिकर्मियों को सामने आना चाहिए तथा दो भिन्न संस्कृतियों के समान तत्त्वों को उजागर करते हुए उन्हें निकट लाने का प्रयत्न करना चाहिए। धर्म का काम मनुष्य में मनुष्यत्व को जीवित रखना है, उसके मन के शुभ और देवत्व को जागृत करना है, न कि मेमनों, भेड़ों और काफ़िरों को अपने धर्म में दीक्षित करना। हमारे संस्कृतिकर्मी धर्म की इस अवधारणा को बेहतर तरीके से समाज को समझाकर सहिष्णुता और सामरस्य को उत्पन्न कर सकते हैं।

ए–98, अशोक विहार, फ़ेज प्रथम, दिल्ली–110052

हबीब कैफ़ी

आत्ममंथन करना पड़ेगा

निश्चित रूप से दंगे बर्बर मानसिकता को व्यक्त करते हैं। ऐसी मानसिकता का किसी मज़हब, धर्म, जाति आदि से ताल्लुक नहीं होता। एक जनसमूह को दूसरे जनसमूह के खून के प्यासे बना डालने के मुख्य कारकों में से एक फंडामेंटलिज़्म या बुनियादपरस्ती है, यह बात विश्व स्तर पर सर्वमान्य भी है। अन्य कारकों में कुर्सी और सत्ताप्राप्ति की प्रबलतम इच्छा है। इसके लिए तो एक जनसमूह को रक्त पिपासु बना देना कुछ भी नहीं है, वास्तविकता यह है कि यहां निकटतम रक्त-सम्बन्धों की भी परवाह नहीं की जाती-भाई भाई के खून का प्यासा हो जाता है, बेटा बाप की हत्या कर डालता है, पत्नी पति को मरवा डालती है, भाई सगी बहन से शादी कर लेता है। ऐसे उदाहरणों से इतिहास भरा पड़ा है। मौजूदा दौर में अपने देश भारत में तो अब यह बहुत आसान हो गया है कि धर्म के नाम पर वोटों की राजनीति कर के सत्ता हथिया ली जाए। इस बहाने से नाज़ीवाद की झलक भी साफ-साफ देखने में आ रही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूलतः मनुष्य दो पैर वाला हिंसक जंतु ही है। इसे सभ्य बनाने के लिए समय-समय पर जो कोशिशें की गईं, इन्हीं कोशिशों का नाम धर्म-मज़हब वग़ैरह दे दिया गया। लेकिन स्वार्थों के चलते मनुष्य में आसुरी प्रवृत्ति का प्रभुत्व है। यही मुख्य कारण है कि वह करुणा, भाईचारा, अहिंसा और सहनशीलता जैसे गुणों को दरकिनार करता रहता है। लेकिन फिर भी इन गुणों को उसने सिरे से ख़ारिज नहीं किया है और न ही ऐसा करेगा। यह समग्र रूप से मानव का स्वभाव भी है।

विभिन्न समुदायों के बीच संवादहीनता ने ही इतना तूफ़ान मचा रखा है और इसके कारण खुद धर्मग्रन्थों और आचार-संहिताओं में निहित हैं। कोई भी पंडित-पुजारी मुंह खोलकर यह नहीं कहता कि अन्य सम्प्रदाय के लोगों से संवाद करना मनुष्यता के लिए और ख़ास तौर से इस भारत देश के लिए अत्यंत ही आवश्यक है। यहां तो हाल यह है कि अपने ही धर्म के शूद्रों तक से दूरी बनाए रखने के निर्देश हैं। यही हाल मुल्लाओं और पादरियों का है। फिर इनकी भी कुछ जरूरी मजबूरियां हैं–धर्म के ठेकेदारों, स्वार्थी तत्त्वों और निहित स्वार्थ वाले राजनेताओं का डर! धर्म की दुहाई देने वाले और धर्म की राजनीति करने वाले ये तथाकथित नेता यदि अपनी ही आचार-संहिता के अनुसार परिभाषित 'राजधर्म' को निभाते तो सन् चौरासी में सिखों के ख़िलाफ़ और दो हज़ार दो के मार्च-अप्रैल में गुजरात के मुसलमानों के विरुद्ध एकतरफा कार्रवाई नहीं होती। स्पष्ट है कि इन पचपन बरसों में कोई भी सरकार 'सभी नागरिकों' के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा करने में सफल नहीं रही है।

यह एक सीधा-सा और सामने का गणित है कि सौ संख्या वाले समुदाय के पंद्रह या बीस लोग पांच-सात अल्पसंख्यक समुदाय के लोगों पर टूट पड़ने के लिए तैयार हैं। अब देखिए कि बहुसंख्यक अस्सी लोगों की ऐसे अवसर पर महती भूमिका हो सकती है, जो नहीं चाहते कि अल्पसंख्यक लूटकर कत्ल कर दिए जाएं। लेकिन इनकी अपराधपूर्ण चुप्पी और गतिहीनता के सबब गुंडा तत्त्व पंद्रह-बीस लोगों का दुस्साहस काम कर जाता है--निर्दोष मारे जाते हैं। इसमें पुलिस-प्रशासन-नेता के रोल को किसी तरह अनदेखा नहीं किया जा सकता। आत्ममंथन तो सभी समुदाय के लोगों को करना चाहिए, बल्कि करना ही पड़ेगा।

देश को और देश की सीमाओं को अगर मानना है तो इसके कानून को भी मन से मानना पड़ेगा। संविधान और क़ौमी तराने का सम्मान करना ही होगा। इसमें धर्म, मज़हब, पंथ आड़े नहीं आना चाहिए। लेकिन पैंतरे बदलने में माहिर चरमपंथी लोग ऐलान के साथ कहते हैं कि हम कोर्ट-कानून को नहीं मानते। अभी-अभी इन्होंने घोषणा भी की है कि समुदाय विशेष के लोगों को गुजरात की तरह कैम्पों में रहने की तैयारी कर लेनी चाहिए। कानून और संविधान का मजाक उड़ाने वाले ऐसे तत्वों के खिलाफ इस देश में ही कोई कार्रवाई नहीं होती। एक बात और भी है कि इसकी प्रतिक्रिया अच्छी नहीं होने वाली है। फिर देश की छवि भी तो बिगड़ रही है। अतः सभी समुदाय-पंथ के लोगों को कानून और संविधान को पूरे मन से मानने की ज़रूरत है।

हमारे देश के बुद्धिजीवी और संस्कृतिकर्मी निश्चित रूप से इस भयानक चक्रव्यूह के वेधन में अपनी सार्थक भूमिका निभा सकते हैं। बल्कि कुछ लोग इस सिलसिले में मैदान में भी उतरे हैं, अपनी जान भी गंवाई है (उर्दू लेखक ज़की अनवर) लेकिन जिस पैमाने पर यह सत्कर्म होना चाहिए जिससे कि इसे सार्थकता मिले, वैसा कुछ हो नहीं रहा है। इसका मुख्य कारण खुद हमारे बुद्धिजीवियों का इस तरफ से उदासीन रहना ही है और फिर ज्यादातर बुद्धिजीवी स्वयं को प्रतिष्ठित और महान् एवं चर्चित करा लेने में लगे दिखाई देते हैं। ऐसे में इन्हें ऐसे फालतू काम के लिए फुर्सत ही कहां है? इन बुद्धिजीवियों और संस्कृतिकर्मियों की अपनी अलग राजनीति भी है। इसके अतिरिक्त राजनेता के कहे-किए का फौरन असर होता है, जबकि शेष सभी लोगों का प्रभाव गौण रहता है अथवा बहुत ही धीमी गति से होता है। ज़रूरत इस बात की है कि राजनीति (राज की नीति) साफ़-सुथरी हो और राजनेताओं का आचरण संदिग्ध, निंदनीय और अपराधियों जैसा न होकर पारदर्शी और अनुकरणीय हो।

159–ज़ाकिर हुसैन कॉलोनी, जोधपुर–342004

डॉ. वीरेन्द्र सक्सेना

कथनी और करनी एकरूप हों

स्वतंत्रता से पहले जब भी दंगे होते थे, उसका दोष अंग्रेजों के सिर मढ़ दिया जाता था कि वे 'फूट डालो और राज करो' की राजनीति अपना रहे थे। लेकिन स्वतंत्रता के बाद जब भारत में अपना संविधान लागू हुआ, तो उसमें 'लिंग, जन्मस्थान, जाति, वंशमूल या धर्म के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव न किए जाने' की बात कही गई। तब उम्मीद बँधी कि देश के विभाजन तक जो हो गया, सो हो गया, अब कम से कम धर्म के आधार पर दंगे नहीं होने चाहिए।

लेकिन हुआ क्या? पिछले 50-55 वर्षों में, न केवल धर्म के आधार पर कई बार भीषण दंगे हुए और रक्तपात हुआ, बल्कि जाति, वंशमूल या जन्मस्थान (क्षेत्रीयता) के आधार पर भी दंगे हुए या कराए गए। 'संचेतना' के पिछले अंक (पूर्णांक 159) में इन दंगों के कारणों पर अनेक लेखकों-विचारकों ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कई दृष्टिकोणों से विस्तार से चर्चा की है, किंतु मेरे विचार में इन सभी दंगों के पीछे प्रमुख कारण 'फूट डालो और राज करो' का ही है।

आज हमारे देश में जनतंत्र है और प्रायः चुनी हुई सरकारें ही राजकाज चलाती हैं, किंतु उन सरकारों के चुने जाने की जो पद्धति है, उसमें लिंग, जन्मस्थान, जाति, वंशमूल या धर्म के भेदभाव को ही महत्त्व दिया जाता है और योग्यता की बजाय इसी भेदभाव के आधार पर वोट-बैंकों का आकलन किया जाता है। और यह एक खेदजनक तथ्य ही है कि अधिकांश राजनेताओं ने सत्ता के लोभ में इस भेदभाव को बढ़ाया ही है, संविधान की भावना के अनुसार उसे कम करने की जरा भी कोशिश नहीं की। अगर की होती, तो क्या काश्मीर से हिंदू निष्कासित होते और वहाँ आतंकवाद को आश्रय मिलता? क्या स्वर्ण मंदिर में आपरेशन ब्लू स्टार की जरूरत महसूस होती और इंदिरा गाँधी की हत्या तथा निर्दोष सिखों का संहार होता? क्या तथाकथित बाबरी मस्जिद गिराई जाती और उसके बाद मुंबई के दंगे होते और क्या गुजरात जैसा व्यापक नरसंहार होता? धर्म के अलावा जाति या क्षेत्रीयता के आधार पर भी जो दंगे हुए या हो रहे हैं, उनके पीछे भी मुख्यतः राजनेताओं की 'फूट डालो और राज करो' की सत्ता-नीति ही रही है।

इसी क्रम में समाज के विभिन्न वर्गों में व्याप्त व्यापक संवादहीनता संबंधी जो प्रश्न आपने उठाए हैं, उनमें अधिकांश के पीछे हमारे राजनेताओं की सत्ता-लोलुपता और स्वार्थ-सिद्धि ही रही है। इन राजनेताओं का अनुसरण करते हुए या इनकी देखा-देखी समाज के अन्य वर्ग, यथा नौकरशाह, शिक्षक-गण, उद्योगपति और व्यापारी आदि भी अपना वर्चस्व कायम करने के लिए भेदभाव के हथकंडे अपनाने लगे हैं। यहाँ तक कि बुद्धिजीवी वर्ग माने जाने वाले लेखक और पत्रकार भी किसी न किसी गुट में शामिल होकर गुटबंदी करने लगे हैं और संवाद की बजाय प्रतिवाद पर जोर देने लगे हैं।

ऐसे में उपाय क्या है? क्या आशा की कोई किरण अभी शेष है? आशा यही है कि हम निराश होते हुए भी अभी हताश नहीं हुए हैं। और हर स्थिति में कुछ न कुछ सकारात्मक सोच सकते हैं। आपको याद होगा कि 'आपातकाल' के दौरान अनेक लेखकों-पत्रकारों और संस्कृतिकर्मियों ने उसका विरोध किया था और उसके लिए एकजुट भी हुए थे। तभी आपातकाल के बाद 'भारतीय लेखक संगठन' की नींव भी पड़ी थी और अनेक वर्षों तक उसके माध्यम से विभिन्न नगरों में परस्पर मेल-मिलाप और संवाद जारी रखने के प्रयत्न किए गए थे। लेकिन 'भारतीय लेखक संगठन' हो या 'आथर्स गिल्ड आफ इंडिया' या इसी तरह की अन्य लेखकों-संस्कृतिकर्मियों की संस्थाएँ, धीरे-धीरे जड़ता की ओर उन्मुख होने लगती हैं, अतः परस्पर संवाद से भी विमुख होती जाती हैं। उन पर भी राजनीति या व्यक्तिगत वर्चस्व हावी होने लगता है, जिससे वे सकारात्मक समाजोन्मुख सोच की दिशा में कोई सार्थक पहल नहीं कर पातीं।

गुजरात के दंगों के परिप्रेक्ष्य में, और इससे पहले भी जब-जब देश में दंगे हुए, समरस समाज उभारने और सार्थक संवादशीलता को बढ़ावा देने के उपाय सुझाए गए, किंतु महात्मा गाँधी की तरह उन पर अमल बहुत ही कम लोगों ने किया। फलतः 'कथनी और करनी' का अंतर भी बढ़ता गया और सहिष्णुता की बजाय घृणा ही बढ़ती गई। अतः समग्रतः यही कहा जा सकता है कि जो सकारात्मक और सार्थक सुझाव सामने आएँ, उन पर अमल भी किया जाए। इसी आधार पर सभी लोग (लेखक, पत्रकार, संस्कृतिकर्मी भी) आत्मविश्लेषण तो करें, किंतु दूसरों का छिद्रान्वेषण करने से बचें। मेरे विचार में यही वह उपाय है जिससे समरस समाज बनाने और सार्थक संवादशीलता स्थापित करने में भी मदद मिल सकती है।

6118/4, पाकेट डी-6
वसंतकुंज, नई दिल्ली–110070

मजीद अहमद

राजनीति के छल को पहचानना होगा

मनुष्यता के जो जीवन-मूल्य हैं, मनुष्य द्वारा सबसे अधिक उन्हीं की उपेक्षा की गयी है। 1947 के बाद इस दिशा में और अधिक गिरावट आयी। कारण ऐतिहासिक और राजनीतिक दोनों हैं। गाँधी के नैतिक मूल्य और क्रांतिकारियों की क्रांति-चेतना दोनों के साथ छल किया गया। राजनीतिक नेतृत्व ने उन्हीं साम्राज्यवादी ताकतों की गुलामी करने की राह अपनायी, जिनसे लड़कर हम आजाद हुए थे। शुरू में ब्रिटिश साम्राज्यवाद और बाद में अमेरिकी साम्राज्यवाद ने हमारे भद्र वर्ग को जिस प्रकार अपनी सभ्यता और संस्कृति की गुलामी के लिए प्रेरित और प्रोत्साहित किया, उसी के प्रभाव समग्र भारतीय समाज पर पडे। साम्राज्यवादी ताकतों के हित इस देश को विभिन्न स्तरों पर बाँटने और कमजोर बनाये रहने में सुरक्षित थे, इसलिए पूँजीवादी विकास और धर्म, सम्प्रदाय के नाम पर हमारी बुनियादी सामाजिक समरसता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को बर्बाद करने की लगातार कोशिशें जारी हैं। अपने जीवन-मूल्यों के विरुद्ध हमारे विकास के आसमानी सपनों ने भारतीय समाज को आज अपनी वास्तविक सच्चाइयों से बुरी तरह काट कर रख दिया है।

भारतीय समाज में सवर्ण होना समृद्ध होना ही रहा है। जो समृद्ध थे, उन्हीं के हितों को संरक्षित करने के लिए एक ज़माने में पुरोहितों या तथाकथित बौद्धिकों ने सत्ता के पक्ष में समृद्धि को एक शास्त्रीय और दैविक आधार दिया तथा श्रमिक वर्ग के शोषण को ईश्वरीय/भाग्यवादी विधान कहकर महिमामण्डित किया। कहा गया कि जो कुछ भी आपके हिस्से में है, वह पूर्वजन्म के कर्मों का फल है। आपको उतना ही मिलेगा, जितना विधाता ने आपके भाग्य में लिख दिया है... और विधाता से यह पूछता ही कौन कि उसने भाग्य में यह सब क्यों और किसलिए लिखा है। मनु ने इस सब को अपनी स्मृति के द्वारा सर्वोपरि विधान के रूप में स्थापित किया, जो आज भी शोषक ताकतों का हथियार बनी हुई है। जैन और बौद्ध मतों ने इस विधान के विरुद्ध सबसे पहले आवाज़ बुलन्द की और समाज के पिछड़े, दलित वर्ग को एक नयी मानवीय चेतना की ओर प्रवृत्त किया। मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन तक बौद्धों और मनुवादियों के खूनी संघर्ष के इतिहास को दोहराने की यहाँ जरूरत नहीं, लेकिन भक्ति आन्दोलन मूलतः कामगार वर्गों की मुक्तिकामी चेतना का ही आन्दोलन था। धार्मिक वितण्डावाद और भाग्यवादी जड़ता के खिलाफ संत कवियों ने धर्म को मनुष्य के पसीने के साथ जोड़कर देखा और समाज को इंसानियत के व्यापक मूल्यों के साथ जीने की हिमायत की। लेकिन उसके बाद सत्रहवीं शताब्दी तक भारतीय समाज को जिस तरह के नये राजनीतिक यथार्थ का सामना करना पड़ा, उसने भक्तिकालीन चेतना को कई तरह से अवरुद्ध किया। हमारे आन्तरिक संघर्ष जो हमें बेहतर मनुष्य में तब्दील कर सकते थे, वे नितान्त बहिर्मुखी हो चले। ऐसे में जो पद-दलित थे, वे और अधिक उपेक्षित होते चले गये और उपेक्षा किसी भी मनुष्य और समाज को अपने भीतर से ही कमजोर नहीं करती बल्कि कमजोर करने वाली ताकतों के खिलाफ कई बार कुण्ठित तो कई बार मुखर आक्रोश से भी भर देती है।

भारतीय मुस्लिम समाज आज तक भी अपने बाहरी होने के अभिशाप से स्वयं को मुक्त नहीं कर पाया। यह एक यथार्थ है, लेकिन इस यथार्थ को एक दुर्भाग्यपूर्ण अवधारणा की तरह उसके हृदय में बद्धमूल करने में बुनियादी कारक बहुसंख्यक समाज ही रहा है। इस्लाम इस देश में धर्म की तरह नहीं, विजेता की तरह आया था, क्योंकि विजेता का भी एक धर्म था। भारतीय सत्ताधीशों ने विजेता के लुटेरे चरित्र को रेखांकित करने की बजाय उसके धर्म को रेखांकित किया, ताकि वे जनता को धार्मिक आधार पर ही अपने साथ जोड़ सकें। भारतीय सत्ताधीशों का धर्म के आधार पर विदेशियों के खिलाफ जनता को साथ लेना देखा जाये तो उस शोषण को अनदेखा करने की एक चाल थी, जिसके वे स्वयं कर्ता थे। यानी, एक सत्ता ने दूसरी सत्ता के खिलाफ जनता को धर्म के आधार पर बाँटने की कोशिश की, शोषण के आधार पर नहीं, क्योंकि इस मुद्दे पर दोनों में कोई मतभेद नहीं था। हुआ यह कि इस प्रक्रिया में बहुसंख्यकों का जो गरीब तबका मुस्लिम हो गया, उसे दोहरे शोषण का शिकार होना पड़ा। देखा जाये तो आज मुस्लिम समाज का यही हिस्सा सर्वाधिक बदहाली का शिकार है। और यही हिन्दू-मुस्लिम सवर्णवादियों के निहित स्वार्थों के लिए इस्तेमाल हो रहा है। धार्मिक अलगाववाद के बुनियादी कारणों तक वह अपनी गरीबी और अशिक्षा के चलते पहुँच ही नहीं पाता। जहाँ तक विश्व इस्लामिक अवधारणा से उत्पन्न अलगाव का सवाल है तो इस का सम्बन्ध भी मुस्लिम समुदाय के उच्च वर्ग तक ही सीमित है। गरीब मुस्लिम समुदाय इसके लिए सिर्फ इस्तेमाल हो रहा है, क्योंकि उसके और बहुसंख्यक गरीब हिन्दुओं के हित अलग-अलग नहीं है। जिस दिन बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक मेहनतकश सत्ताधीशों की साजिश को समझ लेगा, उसी दिन उनके हित समान हो जायंगे और वे धर्म के नाम पर अलगाववाद की भावना के शिकार भी नहीं होंगे।

देश का बहुसंख्यक हिन्दू समाज मुसलमानों के प्रति अगर अपनी बद्धमूल अवधारणाओं से मुक्त नहीं हो पा रहा तो इसके पीछे अल्पसंख्यक समुदाय की अपनी भी एक भूमिका है। अल्पसंख्यक समुदाय ने सर सैयद अहमद खाँ जैसे आधुनिक सोच-समझ वाले बौद्धिकों के प्रयासों के बावजूद आजादी के बाद भी स्वयं आधुनिक शिक्षा के बुनियादी ढाँचे से कटे रहने में ही अपनी पहचान समझी। जरूरत सबके साथ-साथ चलने की थी। इससे बहुसंख्यक समाज के उच्च वर्णों को यह कहने का अवसर मिला कि मुस्लिम समाज अपनी ही धार्मिक रूढ़ियों का शिकार है और वह भारतीय समाज की तथाकथित मुख्यधारा में शामिल नहीं होना चाहता। इसका फायदा हिन्दू और मुस्लिम धर्मों में मौजूद कट्टरवादी ताकतों ने उठाया है और इस फायदे को वे किसी भी कीमत पर गँवाना नहीं चाहतीं। दोनों ही धर्म-परम्पराओं की जीवन-संस्कृति में मनुष्यता के स्तर पर कोई भी बुनियादी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भेद नहीं है, इसके बावजूद कट्टरवादी ताकतें उनकी बाहरी धार्मिक अलामतों को बढ़ावा देने में लगी हुई हैं। उदाहरण के लिए आज जो मदरसा और शिशु मंदिर संस्कृति इस देश में पनप रही है, वह घातक है, इस बात को गम्भीरता से लेना चाहिए। ये दोनों ही शिक्षा पद्धतियाँ समरस समाज को एक बड़े खतरे की ओर ले जा रही हैं। दोनों समुदायों की जनता को भी इसे आँख-ओझल नहीं करना चाहिए। जरूरत इस सब को आँख खोलकर देखने की है।

विभिन्न समुदायों में सार्थक संवाद तभी सम्भव है, जब प्रत्येक समुदाय यह समझने को तैयार हो कि हम सब एक ही नाव में सवार हैं और हमें मिलकर उस पार जाना है। हमारे दुःख क्या हैं, सरोकार क्या हैं और लक्ष्य क्या हैं? क्या हम अलग-अलग रहते हुए समृद्ध होना चाहते हैं या सबके साथ? व्यक्तिवाद पूँजीवाद का बुनियादी चरित्र है। धर्म, सम्प्रदाय हो या आर्थिक समृद्धि का सिलसिला—उसे तोड़कर और बाँटकर देखना उसके फलसफे और फितरत में शामिल है। इसे समझना होगा और तमाम समुदायों के समझदार कहे जाने वाले बुद्धिजीवियों को इस दिशा में अपनी सक्रियता निभानी होगी। अशिक्षा, धार्मिक रूढ़िवाद तथा अज्ञानग्रस्त अपने-अपने समुदायों की जनता के बीच जाकर बात करनी होगी। यह चुप रहने का समय नहीं है। हमारा वर्तमान विभिन्न चेहरों वाली जिन फासीवादी ताकतों को निरन्तर मजबूत होते हुए देख रहा है, उन्हें अनदेखा नहीं किया जा सकता।

द्वारा, श्रीदरगाहीलाल सियाराम
कछौना, हरदोई (उत्तर प्रदेश)

अशोक गुप्ता

संवेदना को बचाइए

दंगों के संदर्भ में संवादहीनता की स्थिति तोड़ने की कोशिश एक सार्थक कदम है, और निश्चित रूप से इस दिशा में पड़ताल की जानी चाहिए। इस सिलसिले में मुझे पिछले पचास वर्षों के दंगों की संरचना और उनकी प्रकृति की जाँच-परख जरूरी लग रही है।

पहले कभी समय का एक दौर था जिसमें भावुकता को एक मानवीय मूल्य की तरह पहचाना जाता था और पारस्परिकता एक समाजगत सहज व्यवहार थी। दूसरी ओर आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और काफी हद तक व्यक्तिगत स्तर की विषमताएँ भी समाज में अपनी जगह बनाए हुई थीं। ऐसे में, यदाकदा ऐसे अवसर जरूर आते थे जब अनजाने-अनचाहे किसी से किसी दूसरे वर्ग की कोमल भावनाएँ आहत हो जाती थीं और एक हलचल उठ खड़ी होती थी। हमारे देश में हिंसा, हर काल में, हलचल का एक अनिवार्य घटक रही है, जैसे उत्तेजना का अर्थ ही हिंसा हो। कोमल भावनाओं के आहत होने की स्थिति से उपजी हिंसात्मक हलचल को, समय के उस दौर में दंगा कहते थे। उस समय ऐसे दंगों का उपसंहार हमेशा उत्तेजना की समयगत शिथिलता से होता था। दोनों पक्षों का अपना-अपना पछतावा सामने आता था और पारस्परिकता फिर वापस लौटने लगती थी। कुल मिलाकर, इस दौर के दंगे आमूल रूप से सामान्यजन को समेटकर उपजते और शांत होते थे और प्रायः अंत में प्रगाढ़ता के साथ पारस्परिकता भी गहराती थी।

कालांतर में, जिसे समय का एक दूसरा फर्क दौर कहा जा सकता है, वह परिवेश आया जिसमें दलगत राजनीति के ऐसे तेवर पैदा हुए जिन्हें दंगों की स्थिति में कुछ निजी और राजनैतिक हितलाभ सधने की संभावना सूझने लगी। राजनेता, दंगों की स्थिति में कुछ खास दृष्टि से दिलचस्पी लेने लगे। यह नजर उन्होंने शायद अंग्रेजों से पाई, जो 'फूट डालो और राज करो' का मंत्र उन्हें दे गये। इस दौर के राजनीतिक दल ऐसे मौकों की तलाश में रहने लगे, जहाँ लोगों की भावनाएँ भड़काने की संभावना बनती हो। इस दौर में दंगे कुछ कुछ प्रायोजित प्रकल्प की शक्ल अख्तियार करने लगे, भले ही इस दौर के दंगों में भी मूल भागीदारी आम जन की ही रही और दंगा पनप उठने का कारण वही भावुकताजन्य उत्तेजना, जिसे अपरिपक्वता भी कहा जा सकता है। इन दंगों का उपसंहार भी कमोबेश पहले दौर के दंगों की तरह होता था लेकिन इस दौर के दंगे समाप्ति के बाद भी, राजनीतिक दुष्प्रवृत्तियों के कारण विभिन्न वर्गों में एक महीन-सी गाँठ छोड़ जाते थे। ये दंगे पारस्परिकता के बीच छद्म पारस्परिकता का दुराव एक नई संस्कृति की तरह लाये...

समय और बीता...लोगों की समझदारी बढ़ी। भावुकता कम होते-होते नगण्य हो गई। और किसी के यूँ भड़ककर दंगा कर बैठने की स्वाभाविक जनसंभावना न्यून से न्यूनतर होती चली गई। इस बीच देशव्यापी स्तर पर, व्यावसायिकता अपनी जड़ जमाने लगी. कुटिल और जटिल होते-होते राजनीति भी पूर्णकालिक व्यवसाय में बदल गई। देखते-देखते वक्त यह आ गया कि चुनाव, सभाएँ, जलसे, जुलूस सबसे जनतत्त्व एकदम गायब हो गया और ये पूरी तरह राजनीतिक आयोजन हो गये। दंगों ने भी इसी पंगत में एक रणनीति की तरह अपना स्थान बना लिया। प्रोफेशनल समर्थक, ताली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पीटक, विरोधक, पुतला फूँकक और दंगई अपना-अपना बाजार लेकर राजनैतिक दलों की छत्र-छाया में बैठ गये। अब, इनके दम पर दंगे शक्ति-प्रदर्शन का शिल्प भी हो गये। शत-प्रतिशत जन-शून्य, राजनीतिक दलों के प्रायोजित दंगे अपने लक्ष्य को निशाना बनाने लगे। वर्ष 1984 में कांग्रेस का राजीव गाँधी का प्रोजेक्ट और अभी हाल में गुजरात में अद्यतन जारी नरेन्द्र मोदी/आडवाणी का प्रोजेक्ट ठीक इसी राजनीतिक बर्बरता-भरी नरभक्षी महत्त्वाकांक्षा का आयोजन कहा जा सकता है।

आज के इस दौर के दंगे, जो शत-प्रतिशत जन-विहीन हैं, जिनके पीछे घोर आपराधिक राजनैतिक दुर्भावनाएँ हैं, जो किसी राजनैतिक दल विशेष का हथियार नहीं, बल्कि तमाम राजनीतिक दलों का सर्व-स्वीकृत हथियार हैं, जो अपने उपसंहार के बाद भी केवल अट्टहास छोड़ते हैं, क्या उन्हें भी बस दंगे ही कहेंगे हम...?

हमारी भाषा क्या सचमुच इतनी भोथरी है? नहीं...!

गुजरात के व्यापक स्तर पर आयोजित नरसंहार में, जिसमें अल्पसंख्यक स्त्री, पुरुष और गर्भस्थ बच्चे तो मारे ही गये, वे इतर लोग भी मारे गये जिन्होंने इनको बचाने का, शरण देने का प्रयास दिया और इस तमाम प्रकल्प का मुआइना करते नरेन्द्र मोदी अपनी पुलिस और प्रशासन के साथ गर्वान्वित होते रहे। आडवाणी परोक्ष में इसे उचित ठहराते रहे... इसे भी दंगा ही कहना एक गंभीर भूल होगी। यह तो अपराध शिल्प में रचा शक्ति-प्रदर्शन का सोचा-समझा तरीका है। इसे इस तरह से समझें कि चाहे कोई भी राजनैतिक पार्टी हो, सत्तर-अस्सी के दशक में... अपराधियों-माफिया गिरोहों ओर तस्करों का अपने हित साधने में खुल कर सहारा लेतीं थीं...इन्हें पाल कर रखती थीं। नब्बे का दशक पार होते-होते स्थिति यह आ गई कि यही लोग राजनीति में खुलकर उतर आए... हिंसा और युयुत्सा जिनकी सामान्य आचार संहिता हो उन्हें सरकार बनाने से लेकर सरकार चलाने में जनशक्ति की जरूरत कहाँ होगी?

इतने शब्दों का अपव्यय मुझे जरूरी लगा.. क्योंकि सन् सैंतालीस के आस-पास का दंगा उस नजरिये से बहुत परे है, जो मोदी ने ताजा तौर पर पेश किया है। इस अंतर को ध्यान में रखे बगैर, शायद समूचे विषय-संदर्भ के साथ न्याय संभव नहीं है...

संवाद... अब यहाँ से मूल चर्चा शुरू करूँ।

संक्षेप में कहूँ कि लबरेज भावुकता का एक युग था, जो धीरे-धीरे खत्म हुआ और ठीक ही खत्म हुआ। शिक्षा, शहरीकरण, बाजार, पाश्चात्य सभ्यता का विस्तार, जो भी कारण गिना जाए, उसने अपना असर दिखाया और भावुकता का आइसक्यूब पिघल गया... गड़बड़ी यह हुई कि जहाँ भावुकता की समाप्ति ने एक निर्वात रचा, वहाँ संवेदना आकर बैठ जानी चाहिए थी, जो नहीं बैठी... दरअसल, भावुकता का ही संवेदना में रूपांतरण हो जाना चाहिए था... भावुकता और संवेदना दोनों में ही परदुख-कातरता के तत्त्व अवयव शामिल हैं, लेकिन भावुकता आदमी को भाव-विह्वल करके, उसमें विचार तंत्र को बाधित कर देती है, जबकि संवेदना व्यक्ति की वैचारिक क्षमता को और पैना करती है, उसे अन्वेषी बनाती है... मैं समझता हूँ अन्वेषी होना जुड़ाव पैदा करने की अनिवार्यता रचता है... जुड़ाव का सीधा अर्थ संवाद है। जरूरी नहीं, संवाद शब्दों से ही हो। वह किसी भी शिल्प में हो सकता है और संवेदना उस प्रस्तुति से अर्थ खोजकर उसे उजागर करती है और जुड़ाव सघन हो जाता है।

निश्चित रूप से, किसी भी अमानवीय, बर्बर और घोर स्वार्थी प्रकल्प से, चाहे वह किसी भी व्यवस्था की उपज हो, निपटना केवल एकजुट होकर ही संभव है। एकजुटता अर्थात् जुड़ाव, संवाद जिसका सेतु है और संवाद बिना संवेदना के उपज नहीं सकता। इस नाते चर्चित संकट का एक मात्र हल है, संवेदना का परिवेश जिसका होना मानवीयता का लक्षण है।

लेकिन दोस्त, यह हल इतना सरल नहीं है। संवेदना के भी अपने खतरे हैं।

मसलन...?

मसलन, संवेदनशीलता सहज और निश्छल परिवेश में ही पनपती है। जबकि बाजार और स्पर्धा के चलते जो स्थिति संवेदना की माँग कर के हमारा ध्यान खींचती नजर आती है, प्रायः उसके छद्म होने की संभावना को नकारा नहीं जा सकता... मेरा एक दोस्त जो एक कंपनी में मार्केटिंग मैनेजर है वह अपना तर्क देता है, कि सारे घुड़सवारों के पास बाबा भारती के घोड़े हैं और जो घोडे पर नहीं हैं, जमीन पर हैं, वह भी खड्गसिंह ही हैं..

मैं उस मित्र से कहना चाहता था कि यह तर्क जो वह संवेदना-मानवीयता के खिलाफ दे रहा है, खुद, लंबे दौर में कच्चे-पक्के खड्ग सिंह के भी खिलाफ जाता है, उनके लिए खतरा खड़ा करता है। लेकिन वह मित्र व्यस्त था, वह सुन नहीं पाया।

लेकिन, आप तो व्यस्त नहीं हैं न..? तो सुनिये..

संवाद की फसल के अनुकूल आबोहवा संवेद्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दृष्टि-व्यवहार से ही बनेगी। संवेदना के प्रति न्याय सतही शिष्टाचार और अनुमानित "इफ एण्ड बट" के रोके रुककर नहीं किया जा सकता। यह अवधारणा हमें अपने लिए बनानी होगी कि कहीं कुछ भी नितांत निजी, गोपनीय या व्यक्तिगत उस हद तक नहीं होता जिस हद तक हम मान रहे हैं। हम सामान्यतः आपसी स्तर पर भी ऐसे प्रसंगों से बचना चाहते हैं और ठीक वहीं संवाद स्थगित हो जाता है, जहाँ घोर अनिवार्यता है।

संवाद केवल वाचिक नहीं होता... जहाँ कोई निर्दोष कमजोर पिट रहा हो वहाँ पल भर ठहरकर खड़ा हो जाना भी आततायी को किंचित कमजोर करता है लेकिन आज की स्थिति में ऐसा नहीं है। प्रत्यक्ष तो क्या, अप्रत्यक्ष भी, अखबारों में पाठकीय उपस्थिति दर्ज करते पत्रों के कॉलम में केवल गिने-चुने और वही-वही नाम दिखते हैं और इसी के चलते, ट्रेन में पंद्रह वर्षीय बच्ची के साथ बलात्कार करना सरल हो जाता है। अखबारों के शौकीन लोग भी सामने देखकर अपना मुँह अखबार के पीछे छुपा लेते हैं। अगर कोई उठकर वहाँ आ खड़ा ही होता तो शायद स्थिति कुछ बदल जाती लेकिन ऐसा होता तो तब, जब संवेदना कहीं उनके आस-पास आ ठहरी होती।

दूसरी संक्षिप्त-सी बात..

प्रबुद्ध संरचना का जार्गन से लदा-फंदा संवाद, जो सिर्फ किताबी होता है, न संवेदना उपजाने की सामर्थ्य रखता है, न उसमें जनमानस में पैठने की गति होती है। इसलिए संवेदनशील होकर प्रबुद्ध मुद्रा में चिंतन-विचार मंथन जरूर हो, लेकिन संवाद बहरहाल सरल हो, ग्राह्य हो, जैसा रघुवीर सहाय, धूमिल, नागार्जुन या भवानी प्रसाद मिश्र ने किया।

आमीन...!

बी-11/45, सेक्टर-18, रोहिणी
दिल्ली-110085

कहाँ तो तय था चिरागां हरेक घर के लिए,
कहाँ चिराग़ मयस्सर नहीं शहर के लिए।
(दुष्यन्त कुमार)

संचेतना

आगामी अंक का मुद्दा

साहित्यिक वातावरण इतना दूषित क्यों हो रहा है?

साहित्यिक क्षेत्रों में पिछले कुछ समय से यह अनुभव किया जा रहा है कि लेखकों की अपनी शालीनता और गरिमा का दिनोंदिन ह्रास हो रहा है और दोषारोपण की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। साहित्य में गुटों और गिरोहों की चर्चा हम कर ही चुके हैं, किन्तु लेखकों की बीच की आपसी आपाधापी, दोषारोपण और गाली-गलौज तक पहुँची मानसिकता सभी मर्यादाओं को तोड़ती दिख रही है। इसके क्या कारण हैं?

- क्या इस आपाधापी के पीछे व्यावसायिकता की होड़ काम कर रही है?
- क्या लेखन के नये और चुनौती भरे स्रोत सूखते जा रहे हैं और कुछ लेखकों के पास इसके अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं बचा है कि वे चौंकाने वाले सस्ते मुद्दे उछालकर और एक-दूसरे को लांछित करते हुए अपने को चर्चा में बनाए रखें?
- क्या कुछ नया न सृजित कर पाने का संकट किसी लेखक को मानसिक रूप से विकृत (पर्वर्ट) कर देता है? क्या यह विकृति इस प्रदूषण का मुख्य कारण है?
- क्या कारण है कि साहित्यिक प्रदूषण को बढ़ाने और फैलाने में उन लेखकों/आलोचकों/संपादकों की भूमिका अधिक अहम है जो वरिष्ठ हैं, अपने क्षेत्र में बहुख्यात हैं और सृजन-कार्य से लगभग निवृत्त हो चुके हैं? अब फतवे देने और दोष-दर्शन के अतिरिक्त उनके पास कोई विधायक कार्य नहीं है?
- इस स्थिति का विकल्प क्या है? नये लेखक निरन्तर लिख रहे हैं और बहुत अच्छा लिख रहे हैं। क्या इन कथित वरिष्ठ लेखकों/आलोचकों/संपादकों की विकृति उनके व्यक्तित्व और सृजन को भी प्रभावित नहीं कर रही है?

ये कुछ प्रश्न है जो आज हमारे सामने चुनौती बनकर खड़े हैं। हम चाहते हैं कि इस संदर्भ में आप अपना सुविचारित मत व्यक्त करें जिससे साहित्य की स्वस्थ परम्पराएँ बाधित न हों।

आपके विचार हमें शीघ्र प्राप्त होंगे ऐसी अपेक्षा है।

—संपादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मीरा सीकरी

एक सवाल

भेड़ाघाट (जबलपुर-मार्बल रॉक्स) जाने की इच्छा तो बहुत दिनों से थी पर जाना संभव नहीं हो पाया था। होली पर अचानक कार्यक्रम बन गया। दो छुट्टी लेने से बीच के शनिवार-इतवार की वजह से लगभग पूरा हफ्ता बन रहा था। चमत्कार कहिये कि गाड़ी और होटल दोनों में आरक्षण भी मिल गया। एक दिन जबलपुर, दो-तीन दिन भेड़ाघाट और दो दिन 'कान्हा राष्ट्रीय उद्यान' के लिए।

29 मार्च को जब स्टेशन पर पहुंचे तो सवा दो बज चुके थे। गाड़ी दो चालीस पर जाती है। डिब्बे में पहुंचने पर देखा कि डिब्बा तो बिल्कुल खाली है। बाहर चार्ट पढ़ा। हमारे नामों के अलावा दो नाम और थे। यह सब होलिका-दहन का दिन होने के कारण है या गुजरात गोधरा के साम्प्रदायिक दंगों का परिणाम! राजनीतिक परिदृश्य की वजह से मन का आशंकित होना स्वाभाविक था। सोचती हूं अगर अकेली होती तो यात्रा स्थगित करने की निर्णय ले लेती। क्यों पैदा हुआ मन में यह सवाल? मुझे नदी अच्छी लगती है, पहाड़ अच्छे लगते हैं, मुक्त मन से अपने देश के विविध हिस्सों को देखना अच्छा लगता है पर तभी जब आप सुरक्षित हों। कुछ दिन पहले समाचार पत्र में पर्यटन वर्ष का उद्घाटन करते प्रधानमंत्री का वक्तव्य पढ़ा था– "पर्यटन को बढ़ावा मिलना चाहिए क्योंकि इससे आपस में सौहार्द बढ़ता है।"

सौहार्द तो तभी बढ़ेगा जब एक दूसरे पर भरोसा होगा। आज के परिदृश्य में क्या किसी पर भरोसा किया जा सकता है? पर मन के भावों को चेहरे पर नहीं आने देती हूं। यह तो अच्छा हुआ अपने भय की प्रतिक्रियास्वरूप ए सी ऑन करने के लिए आए हुए कर्मचारी को मैंने कुछ कह नहीं दिया। वह खुद ही सफाई दे रहा था–"गाड़ी खाली है, इसलिए ऑन करने में देर लगा दी वरना तो आध घंटा पहले ही ए सी ऑन कर देते हैं।"

तीस की सुबह जबलपुर पहुंच गए थे। 'कलचुरी' में कमरे भी तैयार थे। यह अलग बात है कि कमरों में अच्छे से डस्टिंग नहीं हुई थी। कहने पर मैनेजर का जवाब था–"मैडम, होली की वजह से स्टाफ नहीं आया। यहां तो रंगपंचमी तक होली चलती है। किसी के आते ही साफ करवाता हूं।"

भेड़ाघाट जाने के लिए मैनेजर के द्वारा ही सांई ट्रैवल्ज से गाड़ी का इन्तज़ाम हो गया था पर हमने जोड़ दिया था, "आज शाम होटल में क्या करेंगे–भेड़ाघाट का चक्कर लगवा दीजियेगा क्योंकि बाकी साइट सींग तो कल होनी है।" शाम पांच बजे गाड़ी आनी थी पर फोन पर सांई ट्रैवल्स के अशोक जी कह रहे थे, कोई भी लड़का होली की वजह से नहीं आया। बार-बार फोन करने पर अन्ततः अशोक जी स्वयं हमें भेड़ाघाट ले कर गए। धुआंधार फॉल्ज पहुंचने में देर हो गई थी, इसलिए सीधे नर्मदा पर ही पहुंचे। अशोक जी को धन्यवाद दिया कि अच्छा किया वे हमें यहां ले आये। सोप स्टोन की बनी वस्तुओं से भरा बाज़ार महाबलीपुरम की याद दिलाता है। नर्मदा तट पर अंधेरा हो चुका था। आसपास की धीमी रोशनियों में मार्बल रॉक्स की छवि, नदी के कटावदार मोड़, जल के बीच में खड़ी बड़ी चट्टान की रहस्यमयी छाया, दूर से आती फॉल्स की आवाज़ विचित्र रहस्यमय जादुई लोक की सृष्टि कर रही है। नाव से आगे जाने का मन होता है पर एक तो अंधेरा, उस पर नाव खेने वाले लड़कों के मुंह से आती शराब की दुर्गन्ध मन में शंका पैदा करती है। अशोक जी कहते हैं कल दिन में जाइयेगा बंदर कूदनी और फॉल्स तक। तो चांदनी की रहस्यमयी परतों में मार्बल रौक्स देखने का सपना पूरा नहीं होगा–अपने मन के भय के कारण या आज के राजनीतिक परिवेश की वजह से, जहां मनुष्य पर से मनुष्य का विश्वास खत्म होता जा रहा है!

तीन की शाम नवभारत टाइम्स (जबलपुर संस्करण) में छपे एक समाचार पर नजर गई–"ब्रिटेन में शेरनी ने फिर एक हिरण–शिशु को गोद लिया। पहले गोद लिए हिरण–शावक को शेर ने मार डाला था।" मेरे मन में एक रोशनी कौंधती है–सत्ता की बागडोर संभालने वालों को संवेदनशील शेरनी की तरह स्त्री–सुलभ करुणा और संवदेना को अपने में धारण करने की ज़रूरत नहीं है क्या, जिससे हिरण–शावक भी सुरक्षित हो सकें? मेरी यह आकांक्षा वास्तविकता का रूप ले सकेगी?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इकतीस की सुबह भेड़ाघाट जाते हुए 'मदन महल' देखना था। भैया समाचार पत्र पढ़ते हुए बता रहे थे कि अहमदाबाद में अभी साम्प्रदायिक दंगे यथावत चल रहे हैं और जम्मू के रघुनाथ मन्दिर में बम विस्फोट हुआ है। हममें से कोई कुछ कहता, इससे पहले ही गाड़ी का ड्राइवर रवि कह रहा था–"यहां जबलपुर में हिन्दू-मुसलमान आपस में बिल्कुल नहीं लड़ते। मेरी होश में तो मैंने दंगे देखे नहीं। सर, हम जहां पहुंच रहे हैं यह 'फोर्ट एरिया' कहलाता है। मदन महल सीढ़ियां चढ़कर जाना होगा पर सबसे पहले मैं आपको बैलेन्सिंग रॉक दिखने ले जा रहा हूं।"

और हम देख रहे थे गोल बड़े आकार की बेसहारा चट्टान जो अपना संतुलन साधे हुए थी। "यह तो सारा इलाका इस तरह की बैलेन्सिंग रॉक्स से भरा हआ है–सन् 1997 का भूकम्प भी कुछ नहीं बिगाड़ सका इनका।" रवि कह रहा था और मैं सोच रही थी क्या दंगाई इलाकों में मनुष्य अपने संतुलन को नहीं साध सकता–प्रकृति का अंग होते हुए भी वह प्रकृति से यह सब क्यों नहीं सीखता?

विशाल चट्टान पर बना मदन महल जबलपुर के बसे हुए इलाके में होने पर भी सुन्दर पहाड़ी दृश्य प्रस्तुत करता है। इसका उपयोग रानी दुर्गावती के राज्य में निरीक्षण चौकी के रूप में होता था। महाराज हृदय शाह ने जब अपनी राजधानी 'गढ़ा' से मांडला स्थानान्तरित की, तभी देखभाल के लिए इस किले का निर्माण करवाया।

कुछ देर पहले रवि ने जिस साम्प्रदायिक एकता की बात कही थी, वापस आते हुए अपनी आंखों से देख ली–बीच राह एक तरफ 'चांदशाह बाबा' का मज़ार है और पीछे अकबर के समय की मस्जिद। उसकी बगल में ही शिव मन्दिर है–भगवान और खुदा का यह भाईचारा मन को शान्त और प्रसन्न ही नहीं, मुक्त भी कर गया।

'धुआंधार फॉल्स' को देख भैया कहने लगे– "यह तो बिल्कुल 'नियाग्रा फॉल्स' जैसा है, उसका मिनी संस्करण।" तो मैंने भारत में ही नियाग्रा देख लिया।

शाम संगमरमरी चट्टानों को देखने के लिए नौका-विहार करते हुए मन चमत्कृत हो गया। दोनों तरफ ऊंची चट्टानें और कहीं नर्मदा इतनी संकरी कि ऊपर चट्टानों पर बन्दर आमने-सामने कूद जाए और कहीं-कहीं इतना फैलाव बीच में कि लगा 'मैकनाज गोल्ड' के पहाड़ी प्रदेश में आ गए हैं। कल्पना नहीं की थी कि दिन इस जादुई सौन्दर्य को आँखों के सामने खड़ा कर देगा। ऐसा लग रहा था कि डिस्कवरी चैनल का कोई अद्भुत प्रदेश देख रहे हैं या दूरदराज किसी विदेशी परिवेश की फिल्म। परिवेश के जादू को और अधिक मुखरित करते है यहां के गाइड जो अपनी व्यंग्यात्मक चुटकियों से पत्थरों में प्राण फूंक देते हैं। कुछ उनका रटा हुआ है और कुछ प्रतिभाशाली अपनी सूझबूझ और अभिनय से उसमें और रंग भर देते हैं। हिन्दी फिल्म 'गाइड' ने इन सभी गाइडों को देवानन्द वाला 'राजू' बना दिया है, भले ही वह राजेश हो या अली बख्श। प्रत्येक गाइड 'राजू' ही है। हमारा राजू कह रहा है–

"हल्का नीला लाइट बिल्यू-यहीं से करते हैं गाइड कमेन्ट्री शुरू और देखेंगे आप दोनों साइड-सामने में सफेद के साथ थोड़ा गुलाबी-टॉप में पिंक, बाकी वाईट पिंक एण्ड वाईट...यहीं फिल्म की शूटिंग में रेखा की साड़ी भी हो गई गई थी पिंक...।" अचानक नदी का परिदृश्य बदल जाता है नौका को खड़ी कर गाइड कहता है–

"सामने वाली जगह का नाम है भूल भूलैयां– कनफ्यूजन पॉइंट। यहां से चलना है किस साइड, पूछ रहा है गाइड, गाइड को बताइये साइड।"

थोड़ा आगे ऊपर मक्खियों के छत्ते से पत्थर को दिखा कहता है–

"पत्थर मारो शहद खाओ/सेंगल से डबल हो जाओ पहला पत्थर मारो डिस्को।/दूसरा मारो तो डिस्को डान्स/तीसरा मारो तो नीचे से ऊपर का चांस।"

अगर अंधेरे में नौका पर निकल जाओ तो शायद नीचे से ऊपर का चांस तभी बन जाये, यह मेरे मन का भय है। पर गाइड की हंसी की फुलझड़ियां कब इसको चिंगारियों में बदल देंगी, आज के आग उगलते साम्प्रदायिक परिवेश में कहा नहीं जा सकता। अभी-अभी सौन्दर्यविभोर हुआ मन अपने ही मन की खड़ी की गई बाधा से परेशान हो उठता है। उस परेशानी को गाइड का सामाजिक छींटा और विकराल कर देता है–

"यह साइड का ऊँचा वाला पहाड़/इसी को बोलते सुअसाइड प्वाइंट। जो कॉलेज में लड़का लड़की फेल, वो डायरेक्ट यहां से पास/चौबीस घंटे के बाद मिलती उनकी लाश/यह जगह है खास।" ऐसी ही जगहों पर घटनाओं को दुर्घटनाएं बनाया जाता है। मेरा मन उदास हो जाता है। सुन्दरता तभी तक सुन्दरता है जब तक वहां सुरक्षा हो।

दो और तीन अप्रैल के लिए 'कान्हा राष्ट्रीय उद्यान' में आरक्षण था। भेड़ाघाट से तीन या चार घंटे का रास्ता है। जाने से एक दिन पहले मैनेजर हमसे कह रहे थे–"कल रंगपंचमी है, आप लोग जल्दी निकल लीजियेगा। यहां इस दिन खूब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होली होती है।"

बहुत जल्दी तो नहीं पर जल्दी ही निकले थे। दिल्ली की ट्रैफिक-भरी सड़कों की तुलना में खाली खूबसूरत रास्ता–सड़क के दोनों तरफ हरीतिमा के वैभव से समृद्ध खूबसूरत जंगल–भवानी प्रसाद मिश्र की कविता 'सतपुड़ा के जंगल' याद हो आई। बीच रास्ते में जो छोटी ग्रामीण बस्तियां भी मिलीं, वहां झोंपड़ियां तक नीले, भूरे, गुलाबी रंगों से चित्रित एवं साफ-सुथरी। मांडला पार कर चुके थे। ऐसा लग रहा था, अब उद्यान के बहुत पास पहुंच गए हैं। कहीं-कहीं से तो गेट दिखाई देने का भ्रम हो रहा था। वहीं कहीं अचानक ड्राइवर ने गाड़ी रोक दी।

"जिसका डर था था, वही हुआ साहब...सामने रंग खेलने वालों की जीपें सड़क पर खड़ी हैं।" अब क्या करेंगे, सोच भी नहीं पाये थे कि हमारी गाड़ी होली के हुड़दंगियों से घिर गई थी। ड्राइवर को उन्होंने रंग दिया था–"बाहर आ जाइये...।" सामूहिक मस्त स्वर सुनाई दे रहा था। कुछ लोगों ने हमारी गाड़ी को अगली तरफ इकट्ठे पकड़ उठा लिया था। ऐसे में घबराना स्वाभाविक था। प्रार्थना करती आवाज़ों में हम कह रहे थे– "हमें रंगों से एलर्जी हो जाती है...।" "तो चंदा दे दीजिए...?" सुनकर हमने जल्दी से सौ का नोट पकड़ा अपनी जान छुड़वा ली थी। पर मन में सवाल उठ रहा था कि साम्प्रदायिक दंगे हों या उत्सवी रंगरलियों के नाम पर मस्ती-भरी भीड़ की मानसिकता का हुड़दंग, इनके नियंत्रण का दायित्व क्या प्रशासन का नहीं है? किसी भी जाति, धर्म के नागरिक और देशी-विदेशी पर्यटक की रक्षा शासन का कर्त्तव्य नहीं है?

अगर है तो यह सब अव्यवस्था क्यों?

चार अप्रैल को दिल्ली लौटना है। तीन की शाम नवभारत टाइम्स (जबलपुर संस्करण) में छपे एक समाचार पर नजर गई–"ब्रिटेन में शेरनी ने फिर एक हिरण-शिशु को गोद लिया। पहले गोद लिए हिरण-शावक को शेर ने मार डाला था।" मेरे मन में एक रोशनी कौंधती है–सत्ता की बागडोर संभालने वालों को संवेदनशील शेरनी की तरह स्त्री-सुलभ करुणा और संवदेना को अपने में धारण करने की ज़रूरत नहीं है क्या, जिससे हिरण-शावक भी सुरक्षित हो सकें? मेरी यह आकांक्षा वास्तविकता का रूप ले सकेगी?

ई–230, अमर कॉलोनी
लाजपत नगर–4,
नई दिल्ली–110024

बहुचर्चित गीतकार शैलेन्द्र के जीवन और
कृतित्व पर आधारित महत्वपूर्ण प्रकाशन

जनकवि शैलेन्द्र

संपादक
डॉ. इंद्रजीत सिंह

भीष्म साहनी, फणीश्वर नाथ 'रेणु', बाबा नागार्जुन, राजकपूर, अरविन्द कुमार, डॉ. राजेन्द्र अवस्थी, कमलेश्वर, डॉ. महीप सिंह, डॉ. गोपाल दास 'नीरज', कैफ़ी आज़मी, डॉ. कन्हैयालाल नंदन, आचार्य डॉ. विष्णुदत्त राकेश, गुलज़ार, निदा फाज़ली, योगेश, मन्ना डे, विजय आनंद, डॉ. बुद्धिनाथ मिश्र, डॉ. धनंजय सिंह, प्रो. प्रहलाद अग्रवाल, प्रो. हरिमोहन, डॉ. गिरिजाशंकर त्रिवेदी, शारदा पाठक, आलोक भट्टाचार्य, डॉ. एस.सी. सक्सेना, डॉ. ब्रजवल्लभ मिश्र, डॉ. पद्मनाभ जोशी, संतोष ठाकुर, पूरन पंकज

की रचनाओं सहित

मूल्य – सजिल्द : 175.00 रुपये
पेपर बैक : 100 रुपये

प्रकाशक
अमृत पब्लिशिंग हाउस
बी-70/72, लारेन्स रोड,
इंडस्ट्रियल एरिया, दिल्ली-110035

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शरण कुमार लिंबाले

मेरा यह इतिहास

मराठी दलित लेखक शरण कुमार लिंबाले की आत्मकथा 'अक्करमाशी' का यह अंश जहाँ शरण कुमार की निजी व्यथा को व्यक्त करता है वहीं सदियों पुरानी जाति व्यवस्था की अमानवीयता को सामने लाकर उसके प्रति आक्रोश जगाते हुए उसके समाप्त होने की अपरिहार्यता को रेखांकित करता है।

संचेतना के लिए यह संतोष का विषय है कि हिन्दी में 'अक्करमाशी' का प्रकाशन सबसे पहले संचेतना में हुआ। जनवरी 1989 से इसे संचेतना में धारावाहिक रूप से प्रकाशित किया गया था। संचेतना में प्रकाशित हाने के साथ ही यह लोकप्रिय होने लगी थी। अब तो हिन्दी में पुस्तक रूप में उसके अनेक संस्करण आ चुके हैं। इसके अतिरिक्त पंजाबी, गुजराती, कन्नड़ आदि अनेक भाषाओं में भी इसके अनुवाद प्रकाशित हुए हैं।

शनिवार-रविवार को मैं गांव निकल जाता। फिर सोमवार को ही वापस आता। गांव में घूमता-फिरता। अस्पृश्यता से चिढ़ होती। शिक्षा के कारण स्वाभिमान उभर रहा था। जातीयता से मन कटु होता। गांव में शिवराम का होटल था। वहां अछूतों के लिए बाहर अलग से कप-सॉसर रखे हुए होते। मैं कई बार उन कप-सॉसरों को देखता। रास्ते में घूमते समय भी पूरी स्वतंत्रता नहीं थी। इन स्थानों पर अछूतों की उपेक्षा होती, अपमान होता। गांव के स्त्री-पुरुष जहां हगते थे, वहां हमारा निवास था। इस गांव के प्रति कोई प्रेम मुझमें नहीं था। हां, भय जरूर था और आतंक भी। जन्म के पूर्व ही अछूत का लेबल लग गया था। जब गर्भ में था, तभी अछूत स्त्री का गर्भ कहकर मुझसे जाति चिपकाई गई थी। मृत्यु के बाद भी अछूत का प्रेत कहकर अछूतों की श्मशान-भूमि में चार अछूतों के कंधों के सहारे ही तो जाना है।

हम गांव में स्वाभिमान से घूमते। इस कारण गांव के युवक खार खाते। उन्हें नहीं चाहिए था हमारा स्वाभिमान। स्वाभिमान में एक अलौकिक ताकत होती है—इसका एहसास मुझे हो रहा था। हम थोपी गई शूद्रता में जलकर राख नहीं होना चाहते थे। छटपटाते थे। शिवराम के होटल के बाहर रखा गया कप-सॉसर हमें हमारी जाति का अपमान लगता। पुरानी पीढ़ी उस अपमानित कप-सॉसर में चुपचाप चाय पीती। रामबाप शिवराम के होटल में जाता, बाहर के आले में रखा कप-सॉसर उठाता। उसी आले में जर्मन का एक गिलास रखा हुआ होता। ऊपर से पानी दिया जाता। रामबाप पानी पीता। चाय पीता। कप-सॉसर धोकर वहीं रख देता। जमीन पर पैसे रख देता अथवा ऊपर से देता। हाथ में पैसे देना अपराध था। मैं रामबाप से बातचीत करता। रामबाप कहता, "अपनी जाति ही निम्न है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी यही चल रहा है। हम कर क्या सकते है? गांव के खिलाफ चलकर यहां कैसे जी सकते हैं?"

कभी तो गांव के खिलाफ जाना ही होगा। कितने दिन मौन होकर जिएं? कितनी पीढ़ियों को इस प्रकार की जिंदगी जीनी होगी? कभी तो इन सबको नकारना होगा।

मैंने और परश्या ने सोचा कि शिवराम पर कानूनी कार्रवाई की जाए। पर उसके होटल में चाय पीने के लिए पैसे नहीं थे। दादा की भी हमाली नहीं थी। दादा के पास दस पैसे थे। उनकी सभी जेबों की तलाशी ली। बीड़ी के लिए उन्होंने दस पैसे बचाकर रखे थे। मैं जिद कर रहा था। दादा से पैसे लिये। मैं और परश्या शिवराम के होटल की ओर आंधी की तरह चले।

ऊपर से पानी परोसा गया। परश्या ने कप-सॉसर धोया। मैंने जमीन पर पैसे रख दिए। फैम्या ने पैसे लिये। ऊपर से चाय डाली। उस चाय को लेकर हम दोनों सीधे पुलिस स्टेशन पहुंचे। हवलदार खैनी खाते बैठा था। पुलिस चौकी में जाने का यह पहला अवसर। मेरे बदल पर फटी बनियान और नीचे फटा टॉवेल लपेटा हुआ था। परश्या चौकी के दरवाजे पर खड़े होकर पूछ रहा था, "मे आय कम इन, सर?" मैं परश्या के पीछे थरथराते हुए खड़ा था। हवलदार पागल की तरह हमें देख रहा था। हवलदार शायद हमारी बात को समझ नहीं पाया, इसलिए चिल्लाया, "क्यों बे मूर्खो?"

परश्या और मैं भीतर घुस गए। परश्या ने सारी स्थिति स्पष्ट की। कप-सॉसर सामने रखे। हवलदार ने कप-सॉसर और हम दोनों को बारी-बारी से देखा था। उसकी नजर में हम और सॉसर दोनों एक सरीखे थे। शिवराम के होटल में हवलदार की उधारी थी। हवलदार हमें ही दबाने लगा। कहने लगा, "तुम्हें अंदर कर दूंगा।"

हमारे इस साहस का पता घरवालों को नहीं था। हम दोनों परेशान हो गए। बेकार में बेवकूफी हो गई। हम क्या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रोज वहां चाय पीने जाते थे! घरवालों को पता चल जाए तो क्या होगा? शिवराम तो हमारी जान ले लेगा। लोग क्या कहेंगे?

"हमें भी पकड़ो तथा शिवराम को भी!" मैं रुआँसी आवाज में कहने लगा। परश्या भाग जाने की तैयारी में था। मुझे मुख्यमंत्री, प्रधानमंत्री के पते मालूम नहीं थे। उन्हें कैसे लिखा जाए, यह भी मालूम नहीं था। मैं पूरी शक्ति से कहने लगा, "हम मुख्यमंत्री, प्रधानमंत्री को प्रार्थना-पत्र भेज रहे हैं।" हवलदार थोड़ा-सा परेशान हुआ। शिवराम को बुलवाया गया। शिवराम पुलिस चौकी में आने वाला है, यह सुनकर हम और भी परेशान हो गए।

शिवराम के आने के बाद हवलदार ने उसे सब कुछ वही कहा जो हमने उसे बताया था। शिवराम चिढ़ गया, "आज बीस वर्ष हुए, सारी दलित बस्ती इसी प्रकार से चाय पीती है। इन्हें ही क्या हुआ? इन्हें अगर होटल के भीतर लूं तो मेरे अन्य ग्राहक टूट जाएंगे।"

हमारी ओर वह घूर-घूरकर देख रहा था। मेरी तो घिग्घी बंध गई। शब्द निकल नहीं रहे थे। शिवराम ने चौकी में चाय मंगवाई। मुझे और परश्या को उसने अच्छे कप-सॉसर में चाय दी और गालियां भी देने लगा, "बेवकूफो, मेरे घर आओ, मैं अपनी थाली में तुम्हें खिलाऊंगा।"

हम दोनों चौकी के बाहर आए। इस संबंध में किसी से कुछ न कहा जाए—हमने सोचा। जो हुआ, उसे भूल जाने का हमने निर्णय लिया। हम दोनों बस्ती की ओर निकले। पर गांव तथा बस्ती एक हो चुके थे। आश्चर्य कि दलित भी हमारी ओर नहीं थे। शाम को काका आए। काफी चिढ़े हुए थे, "शरण्या, किस पर केस किया है? तुझे क्या पड़ी थी? तेरा सिर मैं सांप की तरह कुचल दूंगा! खुद को समझा क्या है?"

मैं खामोश बैठा रहा। काका निकल गए। संतामाय मुझे लिए बैठी कह रही थीं, "अब पहले जैसी स्थिति नहीं है। मेरी पीढ़ी ने तो इससे भी अधिक जुल्म सहन किए हैं।

"उन दिनों गांव में कोई जानवर मर जाता था तो पूरा गांव दलितों पर चिढ़ जाता। बस्ती को परेशान करता। पूरी बस्ती के दलितों को खंभे से बांधकर जानवर की तरह पीटते, 'तुम लोगों ने ही जहर देकर हम लोगों के जानवर को मारा है।' ऐसे आरोप लगाते। औरतें-बच्चे रोते। सारे पुरुष पीटे जाते। बस्ती को बहिष्कृत किया जाता। खेतों में मजदूरी नहीं दी जाती। पैसों के बावजूद दुकान से सामान नहीं दिया जाता। सभी ओर से उन्हें परेशान करते। दलित कसम खाते, छटपटाते।

"गांव के लोग जब दलितों को बहिष्कृत करते तब सातू बाप गांव का काम करता। वह गांव में घूमता। दलितों को परचून की दुकान से सामान लाकर देता। मृत जानवरों को अकेला खींचता, छीलता, फाड़ता और सबके घरों पर मांस पहुंचाता। अब समय बदल गया है।"

संतामाय की बातें सुनकर भीतर-ही-भीतर कसमसाता। अत्याचारों के कारणों का पता ही नहीं चलता। संतामाय की बातें बेचैन करतीं। लगता, यह एक ऐसी मार है, जिसके खिलाफ बोलना भी मना है। किसान हमें खेत की सीमा पर भी नहीं घुसने देते। बकरियां चराने हेतु जवान दलित औरतें जंगल में गईं कि किसान चिढ़ते। कहते, 'हमारे खेतों की ओर न जाओ। हमारे जानवरों को घास की जरूरत होती है। तुम चोर हो। तुम खेत पर मत आओ। तुम्हारी बकरियां हमारी फसलें नष्ट करती हैं।' और किसान दलित स्त्रियों का अपमान करते। गंदी गालियां बकते। पीटते। कभी-कभार किसी का आंचल खिसका देते और कभी किसी को खड़ी फसल में खींच ले जाते।

जीजाबाई ने जैसे शिवाजी को वीरकथाएं सुनाई होंगी वैसे ही संतामाय मुझे अन्याय की कहानियां सुनातीं। उनकी आंखों से टपकने वाले आंसू मुझे महाकाव्य की तरह लगते। उनकी एक-एक कहानी मुझे महायुद्ध की चिनगारी का एहसास दिलाती। जिस भूतकाल को हम जी चुके हैं, वह कितना भयावह है, इसका एहसास मुझे होने लगा। मेरी व्यथा मुझ तक सीमित नहीं है। वह व्यथा आज की नहीं है। इस अन्याय की जड़ें हजारों वर्षों के इतिहास में फंसी हुई हैं। मेरा दुःख बुद्ध द्वारा देखा गया दुःख है। मैं आज उसी दुःख को झेल रहा हूं। इसके बावजूद मेरे भीतर का बुद्ध जाग क्यों नहीं रहा है?

मेरे नाना, दादा, पड़दादा इस कोठी की रक्षा करते रहे हैं। पटेल जब तहसील जाते तो इस कोठी की रक्षा वे रात-भर करते रहते। पर उन बेवकूफों के मन में एक बार भी यह विचार नहीं आया कि कोठी में खाट पर सोई पटेल की पत्नी का चेहरा भी कभी देख लें। इसके उलटे उन्होंने अपनी बहू-बेटियों को रात के अंधेरे में इन कोठियों के अधीन कर दिया। इन कोठियों के निर्माण में अपनी ही बलि दे दी। उनकी जूठन पर जीने में ही अपनी जिंदगी को सार्थक मानते रहे। मेरा यह इतिहास! मैं बाल शिवाजी की तरह बेचैन हो जाता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जसवन्त सिंह विरदी

कफन की जेबें

बच्चा अगवा हो जाने से शहर भर में तनाव था। पुलिस वाले भी उस तनाव की तपिश महसूस कर रहे थे। कोतवाल हर तरफ फोन किये जा रहा था–'हैलो! हैलो!' फिर कोतवाल ने सुना, दूसरी ओर से आवाज़ आ रही थी–'और बताइये, श्रीमान जी, बच्चे का क्या करें?'

'कौन बोल रहा है?' कोतवाल ने पूछा तो उधर से फिर आवाज आई–'नहीं पहचाना?'

'कौन, मटका?' कोतवाल ने फिर पूछा तो उत्तर मिला–'हां, आपका मटका....'

'अच्छा।'

'फिर बताइये।'

कोतवाल ने पूछा–'आपस में कुछ तय हुआ था?'

रिसीवर ने कहा–'नहीं...'

'फिर?' कोतवाल ने कहा तो उत्तर मिला–'मगर तय ही होता है...'

'क्या?'

'आधा-आधा...?'

'मुझे नहीं पता।' कहकर कोतवाल ने रिसीवर रख दिया। वह परेशान लग रहा था। वह पानी पीना चाहता था मगर उसने देखा कि उसका पी.ए. उसके सर पर खड़ा था। कोतवाल ने घबराहट में उससे पूछा–'क्या बात है?'

पी.ए. ने बताया–'सर, शहर में फसाद हो गया है...'

'किसलिए?'

'उस बच्चे के लिए...'

'आश्चर्य है....'

'जी हां....' पी.ए. ने फिर कहा–'और लोगों को अपने-अपने बच्चों की चिन्ता होने लगी है....'

'लोग भी अजीब हैं....'

'हां सर!' पी.ए. ने फिर कहा,और बताया–'सात नम्बर चौकी को आग लगा दी गई है...'

कोतवाल चीखने लगा–'और पुलिस फोर्स...?'

'सर, गोली चली...'

'फिर?'

'मौतों की गिनती नहीं हो सकी...'

कोतवाल ने घबराहट में पूछा–'और हालात?'

'काबू में हैं...'

'भगवान का शक्र है.... ।' कोतवाल ने भरपूर सांस लेकर कहा–'चलो ठीक है...'

पी.ए. जाने लगा तो कोतवाल ने उसे रोककर पूछा–'मटके के साथ कुछ तय होता है?'

पी.ए. ने कहा–'कभी-कभी ही....?'

'कभी-कभी....कब?'

'जब पुलिस का भी बीच में हाथ हो...?

'और अब?'

'देखना पड़ेगा कि बच्चा किसका है?'

'मुझे नहीं पता...' कोतवाल ने कहा–'तुम बताओ!'

'सर, मैं पता करता हूं।' कहकर पी.ए. बाहर चला गया तो कोतवाल सोचने लगा–'मैं नया आया हूं...क्या यह मेरी परीक्षा तो नहीं हो रही?' फिर उसके मन में आया–'हर शहर में मटके पैदा हो गए हैं....विकलांगों की भांति....परजीवी... मगर?' और वह बच्चे के बारे में सोचने लगा–'बेचारा।'

बच्चे का बाप किसी कारखाने में कारीगर था और वह ओवरटाइम लगाकर ही घर जाता था, जिससे कुछ अतिरिक्त आमदनी हो जाती थी। उस अतिरिक्त आमदनी से उसने अपने पुत्र को अंग्रेजी स्कूल में प्रवेश ले दिया था। वह लड़का भी शेष बच्चों के साथ राजकुमारों की भांति स्कूल को जाता-आता था। बड़े लोगों के बच्चों के स्कूल में पढ़ते हुए उसकी भी गरदन अकड़ने लगी थी....

मगर एक दिन वह रास्ते में ही रह गया...

देखने वाले लोगों ने बताया कि कुछ लोग गाड़ी लेकर घूम रहे थे। वे उसे गाड़ी में बिठाकर ले गए–

'अरे साब बहादर, चलो हमारे साथ....'

पता नहीं चला, गाड़ी दनदनाती हुई किधर गई।

बच्चे के बाप ने चौराहे में जाकर 'हाय!' का नारा लगाया तो सबसे पहले बड़े घरों के लोगों ने, और फिर आम लोगों ने भी अपने काम बन्द कर दिये, सड़कों पर निकल आये। उन्होंने काले बिल्ले लगाकर शहर भर में जुलूस निकाले। औरतें छाती पीट रही थीं...

'हाय री सरकारे! तेरे देखे उल्टे कारे।'

औरतें इस तरह छातियां पीट रही थीं जैसे एक ही समय में सबके बच्चे अगवा हो गए और घरबार वीरान पड़े थे...

शहर भर में निरन्तर शोकसभाएं होती थीं, मगर जब लड़के के माता-पिता भूख हड़ताल पर बैठ गए तो पुलिस भी हरकत में आ गई, उसकी नींद टूट गई–'यह फिरौती लेने वालों का काम है...?' लोग पूछते–'कौन हैं वे लोग?'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'आपको नहीं दिखते?'

'दिखते हैं...'

'फिर दे दो दो लाख!'

'कहां से दें?'

'संकट के समय रिश्तेदार नहीं काम आते?'

'हमारा कोई नहीं–'

'तो घर-घाट?'

'वह तो कायम है....'

'फिर बेच दीजिए बेटे के लिए। बड़ा होकर खुद ही नया घर बना लेगा...।'

'क्या ऽ ऽ ?'

'हां ऽ ऽ...फिरौती अवश्य दे दो....'

'आप हमारे साथ हैं कि फिरौती लेने वाले के साथ?

'हम तो पुलिस हैं...सरकार...'

'फिर अपना काम कीजिए....'

'वही कर रहे हैं...'

'कौन-सा?'

'अमन-कानून का...'

'अच्छा जाइये!'

'और आप?'

'हमारा बच्चा है...'

'हां, वह है ही...'

'हर किसी के बच्चे हैं...'

'यह भी ठीक है...'

'फिर हमारा साथ दो सरकार जी...'

'कहा नहीं–दे दो फिरौती...'

'लाख लानत!'

'क्यों?'

'आपका बच्चा...'

'क्या बच्चे अपराध हो गए?'

'नहीं...फिर करो प्रदर्शन...'

शहर जलता गया....

जुलूस निकलता रहा...

तपिश थी हर तरफ...

इस शहर में कोई कोतवाल नहीं रहता था। लड़कियों के/बच्चों के अपहरण आम थे। लोग अधिक बिलबिलाते तो राजनीतिक दबाव से कोतवाल को बदलवा दिया जाता... जिससे कुछ समय के लिए माहौल शान्त हो जाता....हर कोई सोचता–'हम बच गए!'

और फिर, लोग भयभीत होकर कहते–'यह अवश्य ही किसी कुटिल साजिश का परिणाम है...'

कुछ और लोग पूछते–'आप क्या कहना चाहते हैं कि कोई विदेशी शक्ति?'

'नहीं...'

'तो फिर?'

'शहर में ही बहुत शक्तियां हैं...'

'मगर सात घर तो बिल्ली भी छोड़ लेती है...'

'बिल्ली नहीं, डायन कहिये...'

'एक ही बात है...'

'हम आपस में ही न लड़ते जाएं...'

'बात ठीक है...पुलिस हमारी ही पिटाई करेगी...'

'इसलिए....'

'क्या?'

'खामोश....'

कोतवाल ने पी.ए. को फिर बुलाया और कहा–'तू सात नम्बर से मेरी बात करवा...'

पी.ए. ने कहा–'सर...लाइन डैड है....'

'और कहीं?'

'जहां आप चाहें...'

'कोई खबर?'

पी.ए. ने कहा–'बाहर कुछ पत्रकार बैठे हैं...आपसे मुलाकात चाहते हैं...'

'ज़रूरी है?'

'सर, अगर आप चाहें....'

'वे किसलिए आये हैं?'

'उसी बच्चे के लिए...'

'मिल लें?'

'सर, अवश्य मिलिए...' पी.ए. ने कहा–'मगर मासूमियत बनाए रखें....'

'अच्छा बुलाओ।'

पत्रकार भीतर आये तो कोतवाल ने आंसू-भीगी आवाज़ में कहना शुरू कर दिया–'मुझे बहुत अफसोस है–मगर मैं विवश हूं...'

पत्रकार क्षण भर के लिए रुक गए, मगर फिर पत्रकार संघ के अध्यक्ष ने कुर्सी पर बैठते ही कहना शुरू कर दिया–'कोतवाल साब! इस केस में से न कुछ पुलिस को मिलने वाला है और न ही किसी माफिया डॉन को!'

कोतवाल ने पूछा–'हमें क्या चाहिए?'

एक पत्रकार ने कहा–'हिस्सा!'

'बिल्कुल गलत!' कोतवाल चिल्लाया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'इसी तरह होता रहा है।' एक और ने कहा।

'मगर अब नहीं होगा!' कोतवाल फिर चिल्लाया।

'किस कारण?' अध्यक्ष ने क्रोध से पूछा।

'मेरे कारण!' कोतवाल ने गरदन अकड़ाकर कहा तो पत्रकार संघ का अध्यक्ष कहने लगा–'यह ठीक हो सकता है क्योंकि आप की ईमानदारी की बहुत प्रशंसा सुनी है...मगर बाकी लोग तो...?'

कोतवाल ने पूछा–'बाकी लोग कौन?'

उत्तर मिला–'माफिया डॉन...'

'वे कौन हैं?'

'आप नहीं जानते?'

'नहीं!' कोतवाल ने मासूमियत से कहा और गम्भीर हो गया। कई आवाज़े उभरनें लगीं –'मगर वे तो हर शहर में होते हैं...'

'होंगे...' कोतवाल ने निर्लिप्त भाव से कहा तो पत्रकार संघ के अध्यक्ष ने पूछा–'आप कोई एक्शन लेंगे?'

कोतवाल दनदनाया–'क्या मतलब?'

'मतलब यह कि शहर जल रहा है...'

कोतवाल उत्तर न दे पाया तो एक और पत्रकार ने कहा–'गोली चल गई है...लोग मर गए हैं...मगर आप दफ्तर में आराम से बैठे हैं...'

कोतवाल ने आराम से कहा–मैंने अपने गुप्तचर कुत्ते भेज दिये हैं...'

'कुत्ते?' कई आवाज़ें आईं–'कुत्ते?'

'हां S S...' कोतवाल ने दृढ़ता से कहा–'केवल वही ईमानदार रह गए हैं...फिलहाल...'

'और शेष?'

'आपके सामने ही हैं...'

एक पत्रकार ने कहा–'मगर शंका की सूई पुलिस की ओर बढ़ रही है....'

कोतवाल ने कहा–'इसकी खोजबीन हो रही है...'

उस समय उसके विचार दो तरफ लगे हुए थे। एक तो वह सात नम्बर क्षेत्र की सूचना चाहता था, दूसरा उसे मटके के फोन की प्रतीक्षा थी। कुछ लोग उसने लड़के के मां-बाप के पास भी भेजे थे–'आप कुछ दे-दिलाकर अपना बच्चा छुड़वा लीजिए...केवल हम पर निर्भर न कीजिए...'

मगर अभी तक कहीं से भी कोई सूचना नहीं आई थी, और उसके मन में आ रहा था–'कितना आवश्यक काम कितनी सुस्त चाल से चल रहा है...'

फिर वह सोचने लगा–'शायद इसलिए कि इस काम को चांदी के पहिये नहीं लगे हुए।'

उस समय उसके मन में वे मामले भी घूमने लगे जहां कोई सुबह के समय अगवा हुआ था तो दुपहर होने से पहले ही फिरौती की रकम पहुंच गई थी। इधर फिरौती पहुंची और उधर लड़का अथवा लड़की (जो कोई भी था) माता-पिता की गोद में थे।

'मगर अब मटके से कैसे तय हो?' और वह कल्पना में ही भेड़ियों की मांदों की ओर बढ़ता, फिर लौट आता–'मैं इस शहर में नया हूं और मुझे अमन-कानून की व्यवस्था में सुधार करने के लिए यहां भेजा गया है। मेरा विरोध करने वाला कोई छिपकर गोली भी मार सकता है...और मेरे बच्चे?'

उसे बच्चों का भी ध्यान आया, मगर वे पूरी तरह सुरक्षित थे। वे गारद के साथ गाड़ी में बैठकर स्कूलों को जाते थे–कोई उनकी हवा की ओर भी नहीं देख सकता था। हाथ कोई कैसे लगा सकता था?

जब से फिरौतियों का सिलसिला शुरू हुआ था, पुलिस विभाग ने अलग स्कूल बना लिए थे। बच्चों के लाने-ले जाने के लिए पुलिस की गाड़ियां नियत हो गई थीं। वे शहर भर में दनदनाती हुई घूम रही थीं–

'खबरदार!'

लोग कहते–'वाह!'

कोतवाल को खामोश देखकर पत्रकार उठ खड़े हुए–

'अच्छा, हम चलते हैं...मगर हमें पूरी उम्मीद है कि आप लड़के की खोज कर ही लेंगे...'

कोतवाल ने पूछा–'कैसे?'

पत्रकार संघ के अध्यक्ष ने कहा–'पुलिस सब जानती है...'

'आप कैसे कहते हैं?'

'हम कैसे?'

'हां...S S...'

'यह तो हमें भी पता है कि लड़का किस मटके के माफिया ने उठाया है...पुलिस नहीं जानती?'

कोतवाल हां या नहीं न कह पाया तो अध्यक्ष ने फिर कहा–'दरअसल गलत लड़का अगवा हो गया है। लड़के के मां-बाप तो रोटी भी मुश्किल से खा पाते हैं, फिरौती क्या देंगे?'

एक और ने कहा–'फिरौती दे सकने वालों ने अपने बच्चे तहखानों में छिपा लिए हैं...'

कोतवाल ने पत्रकारों की बातों को गौर से सुना मगर कुछ कहा नहीं–'क्या कहूं?'

पत्रकार चले गए तो कोतवाल सोचने लगा–'सभी मां-बाप यही कहेंगे कि उनके बच्चे गलत उठाए गए हैं....वे फिरौती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं दे सकते...क्या किया जाए?'

उसके मन में आया, बच्चों के मां-बाप को बुलाकर कहे–'जिस दिन बच्चे का जन्म हो, उसी दिन से सोचना शुरू कर दो कि बच्चा अगवा होकर रहेगा। इसलिए बच्चे के जन्म के साथ ही फिरौती के लिए पैसे जमा करने शुरू कर दो, और पुलिस पर विश्वास मत करो।'

वह कहना चाहता था–'आप हर काम के लिए पुलिस पर उम्मीद रखते हो, पर बताओ तो सही, आप पुलिस के लिए क्या करते हैं? कभी हमारे बारे में भी सोचा है? आखिर हम भी इंसान हैं....अगर हर समय मटकों की मांदों पर रेड करते रहेंगे तो हमारी पुलिस फोर्स मुकाबले में नहीं मरेगी? और आप समझते क्या हैं अपने आप को?'

उसी समय सात नम्बर थाने के प्रभारी ने फोन किया–'सर, थाने को आग लग गई है...और मैं आपको किसी घर से फोन कर रहा हूं...'

कोतवाल ने पूछा–'गोली कैसे चली?'

'मजबूरी थी सर...'

'कैसी मजबूरी?'

'भीड़ को भगाने के लिए'

'फिर हुए सफल?'

'नहीं सर...'

'कितने लोग मरे?'

'अठारह!' थाना प्रभारी ने कहा–'मगर हम नहीं मानते कि पुलिस ने गोली चलाई है...उन्होंने थाने को आग लगाई...'

'और शवों का पोस्टमार्टम?'

'नहीं होगा...'

'क्यों?'

'हमने शव नदी के पानी में फेंक दिये हैं...और थाना जलकर राख हो गया है...'

कोतवाल ने कहा–'शाबाश!'

शाबाशी का शब्द सुनकर थाना प्रभारी ने फिर कहा–'सर आप मटका से फोन पर बात करें!'

कोतवाल ने पूछा–'क्यों?'

'सर, लड़का उनके पास है...'

कोतवाल ने कहा–'वह हिस्सा मांग रहा है...'

थाना प्रभारी ने कहा–'गलती हो गई...'

''कैसे?'

'गलत बच्चा अगवा किया गया है...'

'वह कैसे?'

'कई बार हो जाता है...' थाना प्रभारी ने फिर कहा–'इस लड़के के मां-बाप कुछ नहीं दे सकते...इसलिए...'

कोतवाल ने कहा–'मटका नहीं मानता...'

'क्यों सर?'

'वह हमसे हिस्सा मांग रहा है।' कोतवाल ने फिर कहा तो थाना प्रभारी ने निवेदन किया–'आप सर, लड़का खोज निकालने के लिए सरकार की ओर से एक लाख रुपये की घोषणा कर दीजिए...'

कोतवाल ने पूछा–'यह क्यों?'

थाना प्रभारी ने उत्तर दिया–'लाख रुपये तो सरकार के खाते से जाएंगे...'

कोतवाल ने पूछा–'और हम?'

'हम सर, आधा मटके को देकर लड़का बचा सकते हैं...बाकी आपका हमारा....'

'अच्छा!' कहकर कोतवाल ने रिसीवर रख दिया।

'कितनी जेबें लगी हुई हैं हमारे कफन में?' कोतवाल ने बेचैनी से सोचा–'वह किसने कहा था कि साथ कुछ नहीं जाएगा। बिल्कुल मूर्ख होगा यह बात कहने वाला....लोग तो ट्रकों के ट्रक भरे जा रहे हैं अगले जहान में ले जाने के लिए...और सड़कों पर पुल बन रहे हैं...'

फिर उसने बौखलाहट में कई थानों में फोन किया और आदेश दिया–'कुछ कीजिए...जल्दी कीजिए। आप भी समय के संकट को समझिए। एक बच्चे की जान बहुत ही मूल्यवान होती है...एक बच्चा किसी भी कीमत पर नहीं मिल सकता...'

दूसरी तरफ कुछ खुसर-फुसर होती और फिर रिसीवर बन्द हो जाता–'क्या करें?' कोतवाल सोच रहा था–'लोग मारे गए, थाना भी जल गया, और हम लोग रोष का शिकार भी हुए...मगर हाथ क्या आया?'

फिर उसके मन में आया–'हां, लड़का छुड़वा लेने में हम सफल हो गए तो मेरी शक्ति का डंका बज जाएगा...और फिर शीघ्र ही पदोन्नति...पुलिस में यही होता है....!'

कोतवाल अभी तक सोच ही रहा था जब मटके का फोन आया–'फिर क्या सोचा है?'

'किस बारे में?'

'बच्चे के बारे में....'

'उसके मां-बाप कुछ नहीं दे सकते...'

'फिर आप दीजिए।' मटके ने चीखकर कहा–'हमारे पेट बहुत बड़े हैं...भरिए!'

कोतवाल ने कहा–'मैं सरकार से बात करके लाख रुपये के पुरस्कार की घोषणा करवा दूंगा...'

मटके ने कहा–'तब तक शहर की भीड़ हमें खा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाएगी....'

'भीड़ से डरते हैं?'

'क्यों न डरें?'

'फिर ये धंधा क्यों करते हो?'

'आप पूछ रहे हैं?'

'हां ऽ ऽ....'

'आपके स्टाफ के पेट बहुत बढ़ गए हैं, भरते ही नहीं....'

कोतवाल कुछ न कह पाया तो मटके ने फिर कहा–'क्या कहते हैं....हमें पचास हज़ार अभी ही चाहिए....'

कोतवाल ने पूछा–'मैं कहां से दूं?'

मटके ने कहा–'कल को कोई बड़ा शिकार भी आपके हाथ लग सकता है...जहां से बीस-तीस लाख भी....'

कोतवाल ने कहा–'मैं इस धंधे के पक्ष में नहीं हूं!'

'मगर बाकी लोग?'

'मैं देखूंगा उन्हें....'

'पहले हमारे साथ तो हिसाब करो....'

कोतवाल ने कहा–'करेंगे, अवश्य करेंगे...'

वह बुरी तरह बौखला गया था और शहर के थानों में फोन करता हुआ आदेश दिये जा रहा था–'हां, आज ही...मैं आज ही एक्शन चाहता हूं...बेशक हरेक भेड़िये की मांद में रेड करनी पड़े...समझ गए...मैं एक्शन चाहता हूं...आज ही...हर हाल में....'

दुपहर के समय वह खाना खाने के लिए अपनी कोठी में चला गया, तब भी मोबाइल उसके कान से चिपका हुआ था। खाना खाते भी वह सोच रहा था–'यह नहीं हो सकता कि पुलिस फोर्स मेरे आदेश से कुत्तों की मांदों पर रेड न करे...आखिर हमारी इज़्ज़त का सवाल है...'

खाना खत्म करके जब वह टेबल से उठकर सोफे पर जा बैठा तब किसी थाने से उसे आवाज़ सुनाई दी–'सर! मुबारक! खुशखबरी! बच्चा मिल गया है...'

'शाबाश!' कोतवाल प्रसन्न होकर पूछने लगा–'जीवित?

'नहीं सर!'

'फिर....?'

'बच्चे का शव!' उधर से आवाज आई–'हमारा काम तो अगवा बच्चे की खोज करना ही था...'

'हूं...ऽ ऽ!'

'हां ऽ ऽ सर!'

96–गोल्डन एवेन्यू
फेज–1, जालन्धर–144022

प्रतिष्ठित कथाकार

महीप सिंह

के कथा-मानस पर
विभिन्न कोणों से प्रकाश
डालती आलोचनात्मक कृति

महीप सिंह
का
कथा-संसार

डॉ. कमलेश सचदेव

पृष्ठ : 208 मूल्य : 200 रुपये

अभिव्यंजना
बी–70/72, डी.एस.आई.डी.सी. काम्प्लेक्स, लारेंस
रोड, दिल्ली–110035

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजेश लाल

एक अलग वजह

महानगर की बहुमंजिला इमारत के एक फ्लैट में दोपहर के समय जब मैं कुछ देर आराम करने की तैयारी में था, ढोल-ताशे बजने की चिर-परिचित ध्वनि सुनाई पड़ी। यह स्वर इतना परिचित था कि मैं उछलकर बालकनी में आ गया।

"लगता है, मुहर्रम का जुलूस निकल रहा है," मैं खुशी से चीख पड़ा और बाहर की ओर देखने लगा। थोड़ी दूर सड़क पर वाकई मुहर्रम का छोटा-सा जुलूस जा रहा था।

मैं मंत्रमुग्ध-सा उसे देखता रहा। पत्नी भी बाहर निकल आईं। वह जुलूस नहीं, मुझे आश्चर्य से देखने लगीं।

"यह क्या छोटे बच्चे की तरह उछल रहे हैं? इसमें ऐसा क्या है?" वह बोलीं।

"अमां, तुम अभी मुझे डिस्टर्ब न करो, देखने दो।" मैं फिर उसी में डूब गया।

वह झुंझलाकर अंदर चली गयीं।

मैं जुलूस को तब तक देखता रहा, जब तक कि उसका मन्द पड़ता स्वर लुप्त नहीं हो गया। मैं कुर्सी डालकर वहीं बैठ गया। पत्नी दो-एक बार झांक गयीं–

"आज आराम नहीं करोगे क्या?"

"थोड़ा रुककर।" मैं बोला।

उस बेचारी को क्या पता कि मुहर्रम मेरे जीवन की कितनी स्मृतियां संजोये है। मैं वाकई कुछ देर के लिए बच्चा ही हो गया था और उन क्षणों को पूरी शिद्दत से जी रहा था, स्मृतियों में खोया हुआ।

मेरे पैतृक गांव और उधर के इलाके में मुहर्रम बड़े जोर-शोर से मनाया जाता था। महीनों पहले से ढोल-ताशे बजने लगते और खास ताजिया के दिन तो रात भर मेला चलता। स्त्री, पुरुष और बच्चे सभी झुण्ड गांव-गांव घूमकर ताजिया देखते, लोबान का अगियार देते और मलीदा खाते।

बच्चे जब बीमार पड़ते तो तुरन्त हसन-हुसैन की मनौती मान दी जाती–"हे हसन-हुसैन बाबा! बच्चे को सेहत बख्शो, ठीक हो जाएगा तो इसे तुम्हारा सिपाही बनायेंगे।"

बच्चे ठीक हो जाते। ताजिया के दिन उसे पीला जामा जोड़ा पहनाया जाता, कमर और छाती पर पट्टा कसा जाता। हाथ में लोबान सुलगता मिट्टी का पात्र और मोर-पंख पकड़ा दिया जाता। फिर वे नंगे सिर, नंगे पैर रात भर गांव-गांव घूमकर तिजारत करते। उन्हें सख्त ताकीद की जाती कि ताजिया उठने तक वे बैठें नहीं। ऐसे अनेक किशोर उस दिन सजे-संवरे दिखते। थके हुए पर प्रसन्नचित्त। कई बार मुझे भी 'सिपाही' बनाया गया था। इसमें हिन्दू-मुस्लिम का कोई भेदभाव नहीं था। ज्यादातर सिपाही तो हिन्दू ही होते थे। बाजा बजाने, ताजिया उठाने तथा अन्य इन्तजाम में भी ज्यादातर हिन्दू ही होते थे।

काफी बड़े हो जाने पर मालूम हुआ कि ताजिया तो मातम का त्योहार है। बचपन में तो अन्य त्योहारों की तरह मुहर्रम भी मौज-मस्ती का एक मौका लगता था। वहां मातम जैसा कुछ दिखता भी न था। मुस्लिम औरतें कोई दर्दभरा गीत गाती तो थीं पर समझ में न आने के कारण वह भी त्योहारों में गाये जाने वाला कोई गीत ही लगता।

सबसे ज्यादा भीड़ सिद्दीक मियां के यहां होती थी। वह एक गरीब दर्जी था। साल में आठ-दस महीने वह परदेस कमाने चला जाता पर मुहर्रम के एक-दो माह पहले नमूदार हो जाता। घर में औरतें सुई-तागे से कपड़ा सिलतीं और सिद्दीक मियां नंगे बदन, गमछा लपेटे बकरी चराते या घास छीलते दिखते। परदेस की सारी कमाई वह ताजिये पर होम कर देते थे। उनकी ताजिया सबसे बड़ी होती पर यह कोई खास आकर्षण नहीं था।

सबसे बड़ा आकर्षण तो यह था कि ताजिये की रात ठीक बारह बजे हसन-हुसैन उसके सिर पर आ जाते थे। फिर तो वहां ऐसा कौतुकपूर्ण दृश्य बनता कि देखने वालों की भारी भीड़ जमा हो जाती। पहले तो वह ताजिये के आगे चुपचाप बैठा रहता। रात के ठीक बारह बजे वह झूमने लगता। धीरे-धीरे उसका वेग और दायरा बढ़ता ही चला जाता। रह-रहकर विचित्र किस्म की आवाजें निकालता जो शर्तिया किसी इन्सान की नहीं हो सकती थीं। वह अचानक उठता और किसी भी दिशा में तेजी से लपकता। सामने कोई भी चीज आ जाये–दीवार, छप्पर का बांस या ताजिया ही, वह धड़ाम से टकरा जाता। लोग दौड़कर उसे पकड़ते और बीच मैदान में फिर बिठा देते। कई बार उसे चोट लगती। वह कतई होश में नहीं रहता, सारा शरीर हिलता रहता और गोल-गोल घूमकर झूमता रहता। कुछ बड़बड़ाता और बीच-बीच में जोर की हुंकार भरकर, दोनों हाथ बड़ी तेजी से पटकने लगता–"हुम्....हुम्...हुम्...हुम्..."

"आ गये–आ गये, हसन-हुसैन आ गये।" भीड़ से शोर उठता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

औरतें जल्दी-जल्दी उसके पैर छूतीं, बच्चों का सिर जमीन पर छुलाकर सलाम करवातीं और अपनी-अपनी मुरादें मांगने लगतीं।

यही तमाशा बराबर चलता रहता।

अगले दिन जब ताजिये का जुलूस चलता तो सिद्दीक मियां उसी भावावेश में झूमते हुए चलते। उसके लिए जुलूस के बीच काफी जगह छोड़ दी जाती। जहां कहीं ताजिया मुकाम करती, वहीं उसका वेग अचानक ही बढ़ जाता। वह हाथ-पांव पटकता, हुम्...हुम्...के नारे लगाता और जमीन पर लोटने लगता। लोग मेला-तमाशा छोड़, उसी को देखने दौड़ते। जुलूस में भी आकर्षण का केन्द्र वही बना रहता। कर्बला तक वह साथ जाता और ताजिया दफन हो जाने के बाद ही होश में आता।

इसके बाद वह कई दिनों तक अपनी झोंपड़ी में पड़ा रहता। उसका शरीर इतना टूट-फूट जाता कि वह चल-फिर भी नहीं पाता। उसे हल्दी-दूध पिलाया जाता, तेल में अजवाइन पकाकर मालिश की जाती और चोटों पर नागफनी की पुल्टिस बांधी जाती। डॉक्टरी दवा देने की मनाही थी। घर के लोग कहते, "डाक्टरी दवा देने से हसन-हुसैन खफा हो जाते हैं।" हफ्ता-दस दिन में वह फिर चलने-फिरने लायक हो जाता।

कहते हैं, हर व्यक्ति अपनी निजी पहचान के लिए तरसता है। सिद्दीक मियां की यही निजी पहचान थी। एक नाचीज-सा इंसान, कम से कम मुहर्रम भर सबकी श्रद्धा और आदर का पात्र बन जाता था।

पर मेरे लिए तो वह पूरे वर्ष श्रद्धा का पात्र बना रहता था।

दरअसल उसके जीवन का एक दूसरा भी पक्ष था जिसे इलाके में मेरे अलावा कोई नहीं जानता था। मैं भी कभी न जान पाता, यदि संयोगवश एक घटना न घट जाती।

मुझे कई कामों से गांव से पचास-साठ किलोमीटर दूर प्रमुख शहर में अक्सर जाना पड़ता था।

ऐसे ही एक बार किसी काम से मैं शहर गया हुआ था। समय बच रहा तो सोचा कि चलो एक पिकनिक-स्पॉट ही टहल लिया जाए। यह जगह शहर के बाहर पड़ती थी। एक बड़े नाले के किनारे-किनारे जंगल थे। वहीं कुछ जगह घेरकर खूबसूरत पार्क बना दिया गया था और जानवरों तथा चिड़ियों के घेरे भी बना दिये गये थे। शहर के लोग फुर्सत पाने पर तफरीह करने यहां आ जाते थे।

वहां पहुंचकर मैं एक बेंच पर बैठ गया। प्रकृति की सुन्दरता का आनन्द लेता रहा। अनेक किशोरवय जोड़े वहां आये और उनमें से कई एकांत झाड़ियों में दुबक गये। कुछ आधुनिक फैशनेबुल जोड़ों को दुबकने की भी जरूरत नहीं महसूस हो रही थी। मुझे अजीब-सी ईर्ष्या होने लगी। अपना वक्त याद आया। शादी के तीन दिन बाद, जीवन की प्रथम स्त्री—अपनी पत्नी—के दर्शन हुए थे—भारी कपड़ों और गहनों से लदी, उबटन की महक से तर।

"उफ!" मैं उठकर टहलने लगा और धीरे-धीरे उस छोटे पार्क को पार कर, नाले के किनारे-किनारे पगडंडी पर चलने लगा। यहां प्रकृति के साथ कोई छेड़छाड़ नहीं की गयी थी। मूल रूप से वह और अधिक आकर्षक लग रही थी।

करीब एक फर्लांग आगे निकल जाने पर मुझे एक खुली जगह दिखी जो एक निगाह में श्मशान-घाट होने का बोध देती थी। वहां से एक कच्ची चौड़ी सड़क कस्बे की ओर निकल गयी थी।

मैं वहां पहुंचा ही था कि कच्ची सड़क पर एक रिक्शा आता हुआ दिखा। उस पर कुछ गठरीनुमा लदा था और रिक्शावान पैदल ही उसे घसीटकर लिए आ रहा था।

मैं खड़ा हो गया। यहां सन्नाटे में रिक्शा कैसे?

रिक्शा कुछ करीब आ गया तो गठरी में से दो टांगें बाहर निकली हुई दिखीं। जाहिर है वह कोई लाश थी।

मेरा मुंह सूख गया। मैं हतप्रभ खड़ा रहा। रिक्शावाला सिर झुकाए उसे घसीटे ला रहा था। काफी करीब आ जाने पर उसका चेहरा साफ हुआ। उसे देखते ही मेरे रोंगटे खड़े हो गये। बेसाख्ता मेरी चीख निकल गयी—"सिद्दीक मियां.... ऽ ऽ...."

उसने अपना सिर उठाया। मुझे देखते ही उसके हाथ से हैंडिल छूट गयी। वह हक्का-बक्का मुझे देखता रह गया। दुआ-सलाम की सुध भी न रही। हम दोनों सिर्फ एक-दूसरे को देख रहे थे—चुपचाप। उसके चेहरे पर अजीब-अजीब से भाव आ-जा रहे थे।

धीरे-धीरे चलकर मैं उसके पास आया। लाश शायद सड़ चुकी थी क्योंकि उसमें से तेज दुर्गंध उड़ रही थी। मैंने किसी तरह हिम्मत बांधी और कहा—"सिद्दीक मियां! यह क्या? यह सब क्या है? तुम यहां, इस हालात में!"

उसका हाथ पकड़कर मैं उसे कुछ दूर ले गया ताकि लाश की दुर्गंध से बचा जा सके। वह दारू के नशे में धुत था। देशी ठर्रे का भभूका उसके मुंह से फूट रहा था।

वह धम्म से जमीन पर बैठ गया, दोनों हाथ सिर पर रखकर। फिर वह सुबकने लगा—"बाबूजी! किसी से कहिएगा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं।"

"पर तुम पूरी बात तो बताओ, मुझे तो यह सब देखकर बड़ा ताज्जुब हो रहा है।"

"कहीं कहना नहीं, वचन दीजिए...।" वह घिघियाने लगा।

"चलो, मैंने वचन दिया। अब जल्दी बताओ।"

वह कुछ देर शान्त रहा, फिर तफ्सील से शुरू हो गया–"बाबूजी! मैं कहीं परदेस कमाने नहीं जाता, यहीं चला आता हूं। झोंपड़पट्टी में रहता हूं। कहीं मुस्तकिल काम नहीं मिला तो रिक्शा चलाने लगा। एक दिन थाने के दारोगा ने पकड़ लिया। एक लावारिस लाश थी। उसे दफ्न करना था पर कोई भी रिक्शे पर ढोने के लिए तैयार नहीं था। जब कई रिक्शेवाले मुकर गये, बेंत और गाली खाकर भी तैयार न हुए तो मुझसे देखा न गया। बिल्कुल ताजा लाश थी। आदमजात की लाश! उसे देखकर तरस आ रहा था। कोई नहीं मिलेगा तो पुलिस वाले कहीं भी ठेल आयेंगे। उसे तो गिद्ध, कौए और जानवर नोंच डालेंगे। उसे धरती मैया की गोद तो मिलनी ही चाहिए।

"बाबूजी! मैं तैयार हो गया। दारोगा ने खुश होकर पचास का नोट दिया और एक सिपाही साथ कर दिया। यहीं घाट पर लाकर उसे दफ्न कर दिया।

"इसके बाद तो मैं बदनाम हो गया–लाश ढोने वाला–"कोई भी मेरे रिक्शे पर नहीं बैठता था। मैंने भी सवारियां ढोनी बन्द कर दीं। अब तो केवल लाशें ही ढोता हूं। इधर दो-तीन थाने वाले हमें जानते हैं। रोजाना का यही काम है। कभी लाश ढोकर पोस्टमार्टम के लिए अस्पताल ले जाता हूं और फिर उसे लाकर दफ्न करता हूं। कभी-कभी सड़ी-गली लाश मिलती है, कई दिनों की, नदी-नाले से या जमीन से खोदकर निकाली गयी। कोई पास खड़ा भी नहीं हो सकता, गश खा जाये। उस दिन पेट भर दारू पी लेता हूं और उसी झोंक में उसे भी लाद यहीं दफ्न कर देता हूं। आज इसीलिए खूब दारू पी रखी है।

"मेरे अलावा इस इलाके में कोई दूसरा यह काम नहीं कर सकता। मैं न करूं तो कोई दूसरा करने वाला नहीं है। सैकड़ों लाशें ठिकाने लगा चुका हूं।"

मैं उसकी बातें सुन रहा था। अन्त समय में यह आदमजात की लाश को थोड़ी गरिमा दे देता है, वरना वाकई मरे हुए जानवर जैसी ही दशा हो। सड़ी-गली लाशों को मीलों घसीटना कितने जीवट का काम है। फिर जाति-बिरादरी और धर्म का भय अलग से है।

मैंने उसके कंधे पर धीरे से हाथ रखा–"तुम ठीक ही तो कर रहे हो। यह तो बहुत बड़ा काम है। तुम नहीं करोगे तो कौन करेगा? इत्मीनान रखो, मैं किसी से कहूंगा नहीं।"

इतनी देर के बाद वह थोड़ा मुस्कराया। पैर छूकर बोला–"बाबूजी! इज्जत आपके हाथ है, जाति-बिरादरी से बाहर कर दिया जाऊंगा। तीन-तीन बेटियां हैं। कहां मुंह दिखाऊंगा?"

"ठीक है, तुम निश्चिंत रहो।"

मैं चला आया। खबर इतनी जोरदार थी कि रोके रुक नहीं रही थी पर मैंने अपना मुंह सी लिया।

सिद्दीक मियां वैसे ही मुहर्रम मनाते रहे। मैं जानबूझकर उसके सामने नहीं पड़ता था। एक-एक करके उसने तीनों लड़कियों की शादियां कर दीं।

कुछ सालों बाद सिद्दीक मियां गुजर गये। एक दिन थाने की जीप आई और गांव में उसकी लाश छोड़ गयी। दारोगा जी आये थे पर उन्होंने किसी को यह नहीं बताया कि सिद्दीक मियां मरे कैसे?

पर मेरी उत्सुकता का अन्त न था। मैंने दारोगा जी को घर बुलाकर चाय पिलाई और एकान्त पाकर बोला–"जिस रहस्य को आप जानते हैं उसे मैं भी जानता हूं। यहां केवल मैं ही हूं जिसे मालूम है कि वह शहर में क्या करता था। मैं यह जानने के लिए उत्सुक हूं कि सिद्दीक मियां मरे कैसे?"

"अब आप जानते ही हैं तो क्या छिपाऊं पर कहीं जिक्र न करियेगा, नहीं तो उसकी मिट्टी खराब हो जायेगी। सिद्दीक मियां मरे भी वही काम करते हुए। लू और गर्मी का प्रकोप तो आप देख ही रहे हैं। कल की बात है, वह पेट भर दारू पीकर, एक लाश लादकर दफनाने गया था। उसे मीलों रिक्शा खींचना पड़ा। लू लग गयी। सड़क किनारे ही लेट गया। उल्टियां होने लगीं और वह बेहोश हो गया। आसपास कोई नहीं, कहीं पानी भी नहीं। साथ का होमगार्ड भागकर थाने आया। हम लोग जब तक पहुंचे, वह मर चुका था। उसने थाने की बड़ी सेवा की थी तो मैंने सोचा कि उसकी लाश उसके घर तक पहुंचा आयें।"

इसके बाद दारोगा जी चले गये।

मुझे याद आया कि हसन-हुसैन भी अन्तिम समय में प्यास से तड़पते हुए ही मरे थे।

प्रभारी
प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र
कछौना, हरदोई
(उ.प्र.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुरेन्द्र तिवारी

जंग जारी : किसके विरुद्ध?

सातवें दशक के कहानीकारों में सतीश जमाली का नाम एक प्रतिबद्ध, जुझारू और प्रगतिशील कथाकार के रूप में लिया जाता है। पिछले तीन दशकों से वे लगातार लेखनरत भी रहे हैं किन्तु यह देखकर आश्चर्य होता है कि इतने लम्बे समय में उनकी कहानियों की संख्या मात्र तीस है। यह आवश्यक नहीं कि बहुत ज्यादा लिखने वाला ही अच्छा लेखक माना जाता हो परन्तु उसकी सक्रियता का आभास तो इससे होता ही है। सतीश जमाली की इन समग्र कहानियों को एक जिल्द में 'जंग जारी' शीर्षक से प्रकाशित किया गया है जो पाठकों के लिए अवश्य ही उपयोगी है।

सतीश की कहानियां संख्या में भले ही कम हों गुणवत्ता में कम नही हैं, इस बात को इस संकलन की अधिकांश कहानियां प्रमाणित करती हैं। 'ठाकुर संवाद', 'बच्चे', 'युद्ध', 'थके-हारे', 'अर्थतंत्र', 'जन-साधारण' आदि उनकी पुरानी चर्चित कहानियां तो हैं ही, उनकी नई कहानियां 'हड़ताल', 'प्लेटफार्म', 'पुराना मकान', 'फुर्सत का एक दिन' तथा 'जंग जारी' भी उनकी प्रतिबद्धता को प्रतिपादित करने वाली कहानियां हैं। वास्तव में सतीश की कहानियों में हमें उन लोगों के दर्शन होते हैं जो समाज द्वारा उपेक्षित, शोषित और प्रताड़ित हैं। साथ ही मजदूर वर्ग की पीड़ा को कई कहानियों में निकट से देखा-समझा जा सकता है। 'निर्णय', 'हड़ताल', 'आवाज', 'युद्ध', 'हातो' आदि कहानियां मजदूर-जीवन को यथार्थतः रेखांकित ही नहीं करतीं, उनकी दशा-दिशा पर सोचने को विवश करती हैं। सतीश खुद कारखानों में काम कर चुके हैं इस कारण मजदूरों के शोषण को, उनकी दुर्दशा को, उनकी विवशताओं को, असहायता और परवशता को आत्मलीन होकर देखा-जाना है और उन्हीं अनुभवों को, बल्कि अपने समक्ष घटी बहुत सारी घटनाओं को इन कहानियों में उतारा है। निजी अनुभवों से छनकर आयी ये कहानियां इसी कारण अधिक विश्वसनीय और प्रभावशाली बन पड़ी हैं।

लेकिन दैनिक मजदूरों की विवशताओं और उनके शोषक मालिकों के अत्याचारों को 'ठाकुर संवाद' और 'बच्चे' में जितनी सच्चाई से लेखक ने उभारा है, वह अवर्णनीय है। 'ठाकुर संवाद' में रोज के हिसाब से रिक्शा चलाने वाला ठाकुर अपनी एक छोटी-सी गलती के कारण जिस तरह रिक्शा मालिक द्वारा लताड़ा जाता है, वह असहनीय है, परन्तु अपनी रोजी-रोटी की बात सोचकर ठाकुर वह सब चुपचाप सहता है। इसी तरह 'बच्चे' में बिल्लू नामक बच्चा एक दुकानदार के लिए सिनेमाहाल में जाकर पापड़ बेचा करता है। एक दिन भीड़ में धक्का खाकर उसके सारे पापड़ बिखर जाते हैं, दर्शकों के पैरों तले रौंदे जाते हैं। वह निर्दोष है पर दोषी करार दिया जाता है। दुकानदार उसकी मजबूरी को नहीं समझता, उसे मारता-पीटता है और काम पर से हटा देता है। वस्तुतः ये दोनों कहानियां एक ही कथा-बिन्दु को छूती हैं, क्षेत्र भले ही अलग-अलग हैं। दोनों जगह लाचार, मजबूर, गरीब व्यक्ति धनी, समर्थ मालिकों द्वारा प्रताड़ित होता है, रोजगार-विहीन कर दिया जाता है। मालिक वर्ग को न तो किसी की भूख से मतलब है न लाचारी से, न विपन्नता से। ये कहानियां यह भी प्रमाणित करती हैं कि शोषण सिर्फ 'बड़े लोगों' द्वारा ही नहीं होता, समाज का हर समर्थ आदमी अपने से कमजोर व्यक्ति का शोषण करता है, कर रहा है। रिक्शा मालिक जो खुद एक मजदूर से रिक्शा मालिक बना है, दूसरे रिक्शा चालकों के दर्द को नहीं समझता बल्कि अपने आपको, अपने स्वार्थ को सर्वोपरि मानकर वह उन्हें प्रताड़ित-पीड़ित करता है। पापड़ बेचने वाला दुकानदार भी एक साधारण आदमी ही है फिर भी वह दुर्बल गरीब बच्चों के श्रम और शरीर का शोषण करता है। 'प्रथम पुरुष' में यह काम बड़ी फैक्ट्री के मालिक-मैनेजर करते हैं, उसका स्वरूप अलग है, पर शोषण हर जगह है।

सतीश जमाली अपने को वामपंथी प्रगतिशील लेखक मानते रहे हैं, उनकी कहानियां भी चर्चित इसी कारण रहीं कि वहां पीड़ितों और शोषितों का जीवन है, उनके दुख-दर्द को, उनकी आर्थिक-सामाजिक विसंगतियों को समझने की कोशिश है, परन्तु यहीं, इन कहानियों को एक साथ पढ़ने के बाद प्रश्न यह भी उठता है कि इतनी असह्य स्थितियों के बावजूद सतीश के कथा-पात्र विरोध में खड़े क्यों नहीं होते? किसी भी कहानी का कोई भी प्रमुख पात्र हाथ ऊपर उठाता हुआ नजर क्यों नहीं आता? सभी स्थितियों को चुपचाप स्वीकारते हुए ही लोग क्यों दीखते हैं? क्या स्थितियों का यथावत चित्रण ही लेखक का दायित्व है? यहां तक कि सतीश की बहुचर्चित कहानी 'थके हारे' का नायक, जो लगता है कि सामाजिक बुराइयों के खिलाफ कदम उठायेगा, अन्त में स्वयं ही बुराइयों का पोषक नजर आता है। जिस लड़की को आठ-दस लोग मिलकर भोगते हैं, उनका विरोधी न होकर वह उनका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहभागी बन जाता है। लेखक की दृष्टि में यह कौन-सा सामाजिक उत्थान है या प्रगतिशीलता है, ऐसे चरित्रों के माध्यम से लेखक कहना क्या चाहता है, इस पर विचार करना आवश्यक है। छोटे-से-छोटा बच्चा भी अपने ऊपर हर घड़ी अन्याय और अत्याचार सहन नहीं कर पाता, कभी-न-कभी उसकी आंखों में लाली आ ही जाती है, परन्तु जमाली का एक भी पात्र ऐसा नजर नहीं आता। यहां सिर्फ लगातार अत्याचार सहते, मार खाते, प्रताड़ित होते लोग हैं या अपना दोहन कराती खामोश औरतें। सिर्फ एक कहानी 'जंग जारी' इस दृष्टि से कुछ अलग नजर आती है, जहां विरोध में लोग संगठित होते हुए नजर आते हैं। संभवतः एकदम ताजा कहानी होने के कारण और समय के साथ सतीश के अन्दर आये कुछ वैचारिक परिवर्तनों के कारण यह संभव हुआ है अन्यथा अन्य किसी भी कहानी में कहीं भी कोई संघर्ष नजर नहीं आता। सारे पात्र यथास्थिति को चुपचाप स्वीकारते चलते हैं और यह स्थिति आज के किसी भी लेखक के लिए शुभ नहीं है।

सतीश जमाली की कहानियों में कोई कृत्रिमता नहीं है, बुनावट नहीं है। सीधी सपाट कहानियां हैं ये। लेखक कहीं भी न तो शिल्पगत प्रयोगों में उलझा है, न ही भाषा का चमत्कार पैदा करने की कोशिश की है। एक-दो जगह उसने ऐसा प्रयास किया भी है तो असफल रहा है, उन कहानियों का कथ्य छिटककर दूर जा पडा है, जैसे 'शेरश्री' और 'सडक' में हुआ है।

यह सच है कि भारत में गरीबों और मजदूरों का जीवन हर जगह प्रायः एक जैसा ही है, एक तरह से ही वे जीते-मरते पाये जाते हैं, फिर भी उनमें सिर्फ कायरता, कापुरुषता और हीनता ही नहीं होती, उनके बीच भी कोई-न-कोई ऊर्जावान व्यक्ति होता ही है, विपरीत स्थितियों से लड़ने-जूझने वाले व्यक्तियों की भी कमी नहीं होती, परन्तु सतीश की इन कहानियों में वह 'व्यक्ति' लापता है और अपनी तमाम खूबियों के बावजूद इन कहानियों का यह 'अभाव' खटकता है। जंग तो जारी है, परन्तु जंग करनेवाला है कौन–शोषक या शोषित, इन कहानियों से यह समझना मुश्किल है।

जंग जारी: सतीश जमाली; प्रकाशन संस्थान, 4715/21, दयानंद मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली; पृष्ठ: 344; मूल्य: 300 रुपये।

बी–3/76, सेक्टर–16 रोहिणी
नई दिल्ली–110085

डॉ. वीरेन्द्र सिंह

यथार्थ की अभिव्यक्ति में विलोम का द्वन्द्व

वीरेन्द्र आस्तिक की संवेदना और विचार का दायरा हमेशा विस्तृत ही होता रहा है, यह उनके पूर्व प्रकाशित तीन संकलनों–'परछाइ के पांव' (1982), 'आनंद! तेरी हार है' (1987) तथा 'तारीखों के हस्ताक्षर' (1992) में देखा जा सकता है। इसी क्रम में उनका नया गीत संकलन 'आकाश तो जीने नहीं देता' आकाश तथा पृथ्वी के आदिम आद्यरूपों (आर्केटाइप्स) के द्वारा विलोम के द्वन्द्व (डाइलेक्टिस आफ अपोजिट्स) को प्रस्तुत करता है जो अनेक रूपाकारों के द्वारा आज के यथार्थ को संकेतित करता है। यह यथार्थ भी द्वन्द्वात्मक है, और धरती और आकाश भी–

कुछ कम नहीं है दर्द
धरती का मगर
आकाश तो जीने नहीं देता

तर आम जीवन ही गया होता मगर
वह 'खास' तो जीने नहीं देता

हर बार आगत का हुआ स्वागत मगर
इतिहास तो जीने नहीं देता
(पृष्ठ 56–57)

यहां 'आम' और 'खास', 'आगत' और 'इतिहास' भी विलोम हैं, पर इस विलोम के द्वन्द्व में कवि धरती के दर्द का पक्षधर है, आकाश तो उसके लिए एक चुनौती है जिसे वह धरती की सापेक्षता में वह महत्त्व देना नहीं चाहता जो सदियों से इतिहास देता आया है। अंतिम बंध में आगत और इतिहास को कवि भविष्य तथा अतीत के अर्थ में लेता है, पर इतिहास की अवधारणा मात्र अतीत नहीं है वरन् वह अतीत, वर्तमान तथा भविष्य की रेखीय एवं चक्रीय गति है।

'आकाश तो जीने नहीं देता' में यथार्थ बहुस्तरीय है, उसमें परम्परा, इतिहास, जीवन क्रम, सृजन दृष्टि, प्रकृति, लोक, राजनीति, कालबोध, धर्म तथा पारिवारिक बिम्ब आदि का न्यूनाधिक रचनात्मक परिदृश्य है और इस परिदृश्य में धरती और आकाश के भिन्न रूपाकार अपनी उपस्थिति को दर्ज करते हैं। इस गीत संकलन का यह एक महत्त्वपूर्ण अंग है क्योंकि यह यथार्थ के भिन्न रूपों को इंगित करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि के यथार्थ बोध में सृजन के भिन्न आयाम प्राप्त होते हैं और इसी से कवि शब्द और अर्थ, शब्द और मिथक तथा शब्द और अभिव्यक्ति–इनके मध्य एक संवाद चाहता है, और यह भी उसकी नियति है कि वह इन शब्दों के द्वारा जो संसार को देना चाहता है, वह पूरी तरह से दे नहीं पाता है–यही तो अभिव्यक्ति की त्रासदी है:

चंद शब्दों से अधिक
हम कुछ न दे पाये कभी / और कितना चाहते हैं / ये बता पाए नहीं (पृष्ठ 123)

दूसरी ओर, वे शब्द जो रचना के धरातल पर व्यक्त होते हैं और बार-बार अर्थों में घूमते हैं, कुछ नया सृजित नहीं करते हैं, तो ऐसे शब्दों का क्या महत्व:–

कोल्हू-से अर्थों में बार-बार घूमे
बंधे-बंधे मिथकों से, खुल कर क्या झूमे
आत्ममुग्ध होकर अपने को ही छलते
हम ऐसे शब्दों को जीकर क्या करते
(पृष्ठ 33)

कहने का तात्पर्य यह कि कवि उन्हीं शब्दों और अर्थों के द्वारा यथार्थ रूपों को पकड़ने का प्रयत्न करता है, जिसमें परम्परा, प्रकृति, लोक जीवन, राजनीति आदि के आशय एवं बिम्ब अपनी अर्थवत्ता को न्यूनाधिक प्रकट करते हैं।

कवि की रचना-प्रक्रिया में राजनीति की विडम्बना, बाज़ार संस्कृति, भूमंडलीकरण तथा प्रजातंत्र के आशय आज की विडम्बना को अपने तरीके से अर्थ देते हैं। प्रजातंत्र के नाम पर चुनाव का जो विडम्बित रूप समक्ष आता है, उसे कवि पशु-पक्षियों के माध्यम से प्रस्तुत करता है जो कवि का एक नया प्रयोग है:–

अब की चुनाव में, बाघिन से मृग
जीत गया, जंगल में दावत है
तोता, मंत्री शिक्षा का,
पढ़ा रहा पिंजरे की भाषा
मद्य विभाग, पपीहा देखे
जन्मों की मिटी पिपासा

टूट विपक्षी दल से आया
भालू कितनी आवभगत है
(पृष्ठ 50)

इस प्रकार चुनाव एक तरह का जंगल है और इस जंगल में 'शतरंजी कसरत' है। बिम्बों के द्वारा आज की राजनीति तथा चुनाव का चेहरा एक व्यंग्यात्मक रूप में सामने आता है। इस पूरे विडम्बित परिदृश्य में कौन प्रकाश में है (नेता आदि) और कौन अंधकार में (जन)–

अपने दिन अंधियारों में,
जिनका बदला समय, वही उजियारों में। (पृ. 63)

कवि के रचना-संसार में मानव-जीवन के त्रासद रूप के साथ जीवन के रहस्य को भी संकेतित किया गया है। कवि का मानना है–

जीवन कोई गणित नहीं
जिसका सब कुछ हो नपा-तुला,
भटके-भटके पांवों से ही
हर मंज़िल का द्वार खुला (पृ. 128)

मानव-जीवन और प्रकृति का एक गहरा संबंध रहा है, और कवि प्रकृति के त्रासद तथा सरस मानवीय–दोनों रूपों को एक साथ प्रस्तुत कर 'विलोम' के रूप को ही संकेतित करता है। कवि ने एक ओर जहां प्रकृति के मनोरम दृश्यों का संकेत किया है, वहीं कहीं-कहीं उसके त्रासद रूप का भी। यह तथ्य उसके वर्षा-दृश्यों और भूकंप के चित्र द्वारा प्राप्त होता है। वर्षा का यह चित्र लें–

वन, उपवन के पैर उखाड़े
कली कली रोये मुंह फाड़े
पागल पुरवा धूल उड़ाए
कैसे वर्षा के दिन आए (पृष्ठ 36)

दूसरी ओर प्रकृति का प्रकोप भूकंप के रूप में है जो गुजरात के भूकंप की याद दिलाता है:–

उन्हें मालूम है सब कुछ–
लुट जाने का बोझ
सीने पर
पत्थर जैसा होता है
जिसे खिसकाना मुश्किल होता है (पृष्ठ 99)

कवि सूर्य तथा पलाश के माध्यम से अपने अस्तित्व की सार्थकता और निरर्थकता दोनों को एक साथ 'विलोम' की स्थिति में व्यक्त करता है जो सृजन की दृष्टि से महत्व रखता है:–

हम सूरज हैं तो उगते हैं
हम प्रकाश के दावेदार नहीं

हम पलाश-वन हैं, झरते हैं
हम पलाश के दावेदार नहीं (पृष्ठ 125)

व्यापक रूप में कहें तो कवि काल के परिदृश्य को पकड़ना चाहता है, कभी आगत और इतिहास के द्वारा, कभी नदी के द्वारा, कभी प्रत्यक्ष समय की भूमिका के द्वारा तो कभी स्मृति (शहर, गांव आदि) के द्वारा। ये सभी तथ्य यह प्रकट करते हैं कि कवि का मानस यथार्थ के रूपों से टकराता है और वह काल की भूमिका को, 'स्व' की सापेक्षता में एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रासद रूप देता है:–

सृष्टि के जन्मांक में
बारूद का मौसम लिखा
चार दिन की जिन्दगी में
वक्त की यह भूमिका! (पृष्ठ 131)

अंत में, कवि की यह स्वीकृति उसके रचना-दर्शन की आधार-भूमि है कि अनुभव की व्यापकता के आगे सिद्धांत और दृष्टांत बेमानी लगते हैं और साथ ही सूर्य के समान अस्त और उदय–ये दोनों 'विलोम' कवि को प्यारे लगते हैं:–

अपने अनुभव के आगे सब
सिद्धांत मुझे कच्चे लगते

अपने सूरज को दोनों प्यारे हैं
अस्त-गमन भी और उदय (पृष्ठ 141)

इन गीतों से गुज़रने पर कभी-कभी महसूस हुआ कि गीत और मुक्त छंद की कविता, दोनों में यथार्थ को व्यक्त किया जा सकता है, भेद संरचना का तो रहेगा ही। अतः गीत और कविता रूप की दृष्टि से भिन्न होते हुए भी, कथ्य की दृष्टि से समान हैं, व्यंजना की दृष्टि से भिन्न। यह सत्य यह प्रकट करता है कि गीत में भी वही कहा जा सकता है जो कविता में कहा जाता है, अंतर केवल संरचना और विस्तार का है।

दूसरी बात यह कि अधिकतर उन्हीं रूपाकारों का अर्थ-रूपांतरण प्राप्त होता है जो प्रचलित तथा प्रदत्त रहे हैं, नये रूपाकारों का प्रयोग कम ही दिखाई पड़ा जैसे 'मिसाइल', 'टैंक का पहिया', 'टेलीविजन' तथा 'कैसट'–ये सभी रूपाकार तकनीक एवं प्रौद्योगिकी से संबंधित हैं, अन्य ज्ञान क्षेत्रों के प्रतीक-रूपाकार अत्यंत अल्प हैं।

'आकाश तो जीने नहीं देता' में कुछ रचनाएं ऐसी हैं जो स्वयं बोलती हैं, किसी दूसरे के कथन की मुहताज़ नहीं हैं। ऐसी कुछ रचनाएं हैं–'छन्द नहीं टूटेगा', 'शब्द समाधि', 'विकास चुनाव', 'होश में आए' तथा 'जीने नहीं देता' आदि। अतः वीरेन्द्र आस्तिक का यह गीत संकलन नई संभावनाओं के द्वार खोलता है और विचार-संवेदना के भिन्न आयामों को अर्थ देता है।

आकाश तो जीने नहीं देता (गीत संग्रह): वीरेन्द्र आस्तिक; शब्द-सेतु प्रकाशन, 100 फुट रोड, कबीर नगर, शाहदरा, दिल्ली-94; संस्करण-2002; मूल्य: 150 रुपये

5 झ 15, जवाहर नगर
जयपुर (राजस्थान)–302004

वडवराव विजय नागनाथ

दलित समाज का एक और आत्मवृत्त

भारतीय समाज विभिन्न जातियों, धर्मो, सम्प्रदायों, वर्गों आदि में विभाजित है। हमारी रूढ़ियां, परम्पराएँ, धर्म, नीति, मूल्य, संस्कृति एक वर्ग ने अपनी सुविधानुसार बनाई हैं। निम्न जाति, वर्ग या नारी को सदा छला है, प्रताडित किया है, और उन्हें कष्ट दिए हैं। कोल्हाटी समाज भी भारतीय समाज का एक शोषित, पीड़ित, अभिशप्त अंग रहा है। उस समाज की सोच ही इस तरह बनाई गई है कि वह उसी गर्त में जीने के लिए विवश हो। उसी व्यवस्था का भेद खोलने के लिए डॉ. किशोर शांताबाई काले ने 'छोरा कोल्हाटी का' में अपने आत्मवृत्त को हमारे सामने रखा है।

मानव जीवन है तो उसे सुख-दुःख, वेदना का सामना तो करना ही पड़ेगा। लेकिन हर एक बात की एक सीमा होती है। इस रचना में किशोर हो, उसकी मां हो, समाज की अन्य स्त्रियां हों, उन्हें दर्द ही दर्द मिले हैं। यह समाज किशोर जैसे हजारों बालकों और नाचने वाली स्त्रियों को न किए हुए गुनाहों की सजा दे रहा है। अशिक्षा और अज्ञान के कारण वे यह नहीं जानते कि उनका शोषण हो रहा है। कौन कर रहा है? किस तरह कर रहा है?

किशोर का जीवन तो दर्द से भरा पड़ा है। मां से अलग रहने का दर्द, लोगों द्वारा दी गई गालियां, ताने सुनने का दर्द, पढ़ने की इच्छा होकर भी पढ़ाई को समय न दे पाने का दर्द।

किशोर की मां का दर्द तो हमें रुलाता है। अपने बच्चे से अलग होना, अपना सपना पूरा न होना, अपनी इच्छा न होते हुए भी नाचना आदि अनेक कार्य उसे करने पड़ते हैं।

किशोर की मां तरह अन्य नाचनेवाली स्त्रियां कोल्हाटी समाज के साथ-साथ अन्य जाति-वर्गों की भी हैं। वे सभी किसी-न-किसी मजबूरी के कारण ही यह काम करती हैं। सबसे प्रताड़ित पात्र यहां हम 'जीजी' के रूप में देख सकते हैं।

दीपक किशोर का भाई है। उसे भी दुःख का सामना करना पड़ता है। हम सोचते हैं वह मां-बाप के पास है लेकिन वह हमेशा नाना से सहमा-सहमा पेश आता है।

नाचने वाली की जिंदगी में प्यार का कोई स्थान नहीं है। नीली नाम की लड़की मुकेश नाम के लड़के से प्यार करती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है लेकिन कोल्हाटी समाज उन्हें मान्य नहीं करता।

घर में तथा घर के बाहर, जीवन के हर क्षेत्र में नारी का शोषण होता रहा है। इस रचना में किशोर की मां नाचने वाली अन्य स्त्रियां जीजी आदि का कोल्हाटी समाज का पुरुष वर्ग और यह व्यवस्था पूरी तरह शोषण कर रही है।

नारी को अपनी मुक्ति के लिए खुद प्रयास करने चाहिए। तमिल के 'मोपासा' कहे जाने वाले डी.जयकान्तन की कहानी 'युगसन्धि' की नायिका जब पिता पर आश्रित थी तो सोच-विचार करती ही नहीं थी। जब वह आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होती है तब वह अपने मन, स्वप्न, इच्छा, आकांक्षा के बारे में सोचती है।

शिक्षा आदमी को ऊंची सोच देती है। शिक्षा ग्रहण करने की अदम्य इच्छा हो तो आदमी हर मुसीबत, हर समस्या का सामना कर सकता है। इसका उदाहरण बाबासाहेब अम्बेडकर हैं। उन्हीं का आदर्श, प्रेरणा ग्रहण कर किशोर ने अपनी ऊंचाई पा ली है। यही किशोर कोल्हाटी समाज के साथ-साथ अन्य समाज के हजारों किशोरों का प्रेरणास्रोत बन गया है।

इस आत्मकथा में 'चिरा' शब्द आया है। यह 'चिरा' एक समस्या के रूप में हमारे सामने आता है। 'चिरा' क्या है? किसी स्त्री के घरवालों को पैसे देकर उसके साथ दो-तीन साल तक सम्बन्ध रखना और बाद में उसे छोड़ देना।

क्या कोई स्त्री इस प्रकार के सम्बन्ध चाहती है? किन्तु उसके माता-पिता या भाई मजबूर कर देते हैं और उसका 'चिरा' उतार देते हैं। उससे मिलने वाले पैसे से वे अपनी गृहस्थी चलाते हैं। इसमें शांता और उसकी बहनें भी इस 'चिरा' प्रथा की शिकार हो चुकी हैं। खुद किशोर ने कहा है--मैं भी चिरा के रस्म से पैदा हुआ था।

हर एक समाज की अपनी भाषा होती है, बोली होती है। उसका अलग शब्द-समूह होता है। किशोर ने अपनी आत्मकथा अपनी भाषा में प्रस्तुत की है। हमें कई शब्द अश्लील लगते हैं लेकिन उस शब्द के बिना वह अभिव्यक्ति अधूरी रह जाती।

किशोर ने अपना और समाज का दर्द हमारे सामने रखने का प्रयास किया है। किशोर एक निमित्त है, एक प्रवक्ता है। वह अपने माध्यम से अपने समाज को हमारे सामने रखता है। जैसे निराला ने कहा है–

"मैंने मैं शैली अपनाई, देखा एक दु:खी निज भाई!
दु:ख की छाया पड़ी हृदय पर, झट उमड़ वेदना आई।"

कोल्हाटी समाज के रीति-रिवाज, खान-पान, रहन-सहन, रुढ़ि-परम्परा, नीति-मूल्य, संस्कृति, यात्रा, विवाह, व्यवसाय आदि का वर्णन किशोर ने खुलकर किया है। उसने तटस्थता के साथ पूरी ईमानदारी से उसे हमारे सामने रखा है। लेखक कोल्हाटी समाज का स्वयं को देखने का दृष्टिकोण, नारी के प्रति देखने का दृष्टिकोण, अन्य समाज का कोल्हाटी समाज की ओर देखने का दृष्टिकोण हमारे सामने रखने का प्रयास करता है। इससे हमारे मन में कई सवाल पैदा होते हैं। कोल्हाटी समाज की मानसिकता कब बदलेगी? यह कब तक चलता रहेगा?

कोल्हाटी समाज की नारियों का शोषण स्वयं कोल्हाटी समाज भी कर रहा है। कोल्हाटी समाज की नारी की विवशता, कोल्हाटी समाज में प्रचलित कुरीतियों और अज्ञान को लेखक ने हमारे सामने रखा है। जाति के नाम पर किशोर को कितना संघर्ष करना पड़ा है इसका चित्रण उसने इसमें किया है। फिर भी वह इस व्यवस्था को बदलने की बात नारे के तौर पर नहीं करता। उसकी आत्मकथा ही हमें सोचने पर मजबूर करती है।

डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर मराठवाडा विश्वविद्यालय,
औरंगाबाद

डॉ. मीना साकल्ले

पौराणिक चरित्रों से उपजी सामाजिक प्रवृत्तियों का खुला दस्तावेज

'यह जग काली कूकरी' सूर्यकांत नागर का दूसरा चर्चित उपन्यास है। इसमें भारतीय समाज के कई चरित्र, कई आख्यान, कई घटनाएं हमारे सामने आती हैं। उपन्यासकार ने किसी एक परिवार को लेकर कथा नहीं लिखी, बल्कि जो चरित्र रखे हैं उनका प्राचीन इतिहास भी सामने रखा है। अपने कथानक को आकार-प्रकार देने से पहले लेखक ने कई पौराणिक आख्यानों, चरित्रों आदि का भी वर्णन किया है। ऐसे वर्णन प्रस्तुत कर वह यह उद्घाटित करना चाहता है कि उसके ये पात्र आज की उपज नहीं, बल्कि सदियों पुराने भारतीय समाज में भी इसी प्रकार के चरित्र हुए हैं। ऐसे प्रसंग रखकर वह यह स्पष्ट करना चाहता है कि अवैध संतानों के बीजारोपण के समय प्रेम या समर्पण की भावना नहीं होती जो विवाह-प्राप्त संस्कारों से जुड़ी होती है। इसलिए आगे चलकर इनका व्यक्तित्व-निर्माण भी कुप्रवृत्तियों से भरा होता है।

कथानक अत्यन्त संक्षिप्त है। तत्कालीन महाराजा नरसिंह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के राज्य में गंगाधर शास्त्री राजपुरोहित हैं। अपनी विद्वत्ता के कारण उनका बड़ा आदर-सम्मान है। दो बेटियां का विवाह के बाद ससुराल में हैं। राजा के यहां कोई संतान न होने से शास्त्री जी पुत्र-प्राप्ति हेतु यज्ञ करा रहे हैं। इस बीच पत्नी के मरणासन्न होने पर भी वे समय से उसके पास नहीं पहुंच पाते और उसकी मृत्यु हो जाती है। अकेले जीवन कटता नहीं और वंश के नाम पर कोई पुत्र नहीं, इसलिए बहन के आग्रह पर गांव की निर्धन ब्राह्मण सुकन्या 24 वर्षीय कंचन बाला से पुनः विवाह कर लेते हैं। बेटी बराबर पत्नी को ढलती उम्र के शास्त्री जी वह सुख नहीं दे पाये, जिसकी वह अधिकारिणी थी। इसलिए वह घरेलू नौकर बहादुर के प्रति आकर्षित हुई। इस आकर्षण का परिणाम पहली संतान के रूप में हुआ। अनिंद्य सुन्दरी और बलिष्ठ यौवना का यह क्रम चलता रहा और शास्त्री जी के मरने के बाद भी तीसरी संतान को जन्म दिया। यही संतानें किन संस्कारों में पली-बढ़ीं, यहीं से कथानक मुख्य चरित्रों में परिवर्तित हो जाता है।

लेखक ने तत्कालीन भारतीय समाज एवं संस्कृति, वातावरण, स्वतंत्रतापूर्व राजाओं की स्थिति, अंग्रेजों के बढ़ते अत्याचार के विरोध में स्वतंत्रता की पुकार, गांधी जी का जन-आंदोलन, कवियों और लेखकों के इसमें योगदान का भी चित्रण किया है। प्रथम एवं द्वितीय विश्व-युद्ध में भारतीय सैनिकों का उपयोग तथा स्वतंत्रता आंदोलन के प्रारंभ से देश स्वतंत्र होने के बाद गांधी जी की मृत्यु–सभी का सटीक वर्णन किया है। कुछ ऐसे राजनीतिक संदर्भ भी लेखक ने दिए हैं, जो इतिहास के गर्त में छिपे हुए हैं, जैसे आजाद हिंद फौज और आजाद हिन्द सरकार की स्थापना करने वाले महान क्रांतिकारी राजा महेन्द्र प्रताप थे। राजनैतिक घटनाओं को रखने का यही उद्देश्य था कि राजनैतिक परिवर्तन के साथ-साथ समाज भी परिवर्तित हो रहा था।

भारतीय संस्कृति की उत्कृष्टता को बनाए रखते हुए उपन्यासकार ने बीच-बीच में पौराणिक आख्यानों के प्रसंग देकर पात्रों के चरित्र गठन को मजबूत ही किया है। 'धृतराष्ट्र, पाण्डु और पांचों पांडवों की उत्पत्ति नियुक्त पुरुषों द्वारा हुई थी। द्रोपदी पांच पुरुषों में बंटी थी। ययाति पुत्री माधवी तो पति के कारण अविवाहित रहकर भी तीन राजाओं तथा एक महर्षि की भोग्या बन प्रत्येक को एक-एक पुत्र देने को विवश हुई थी।' (पृष्ठ 39) लेखक यह बताना चाहता है कि कोई भी युग ऐसा नहीं है जब जारज संतानों का जन्म न हुआ हो। जब बीजारोपण ही स्वस्थ वातावरण में न होकर बेमेल हो तो उनका भविष्य या संस्कार कुप्रवृत्तियों से युक्त होंगे ही।

इस प्रकार कथानक दो भागों में बंटा है चरित्रों के निर्माण की पृष्ठभूमि और चरित्रों का अंकन। कंचन ने तीन अवैध पुत्रों को जन्म दिया--दयाशंकर उर्फ दया भैया, मनोजशंकर उर्फ प्रखर और नर्मदाशंकर उर्फ एन.एस. पाराशर। तीनों के व्यक्तित्व का स्वरूप एक ही परिच्छेद में लेखक ने इस प्रकार व्यक्त कर दिया है, "....दयाशंकर, नर्मदाशंकर और मनोजशंकर जैसी संकर औलादों ने जिसके बारे में कहा जाता है कि वे दोगली होती हैं, देश में संकर-व्यवस्था को ही जन्म दिया। वैध को काटकर अवैध का झंडा गाड़ा। अवैध धंधे, अवैध मतदान, अवैध निर्माण, अवैध संबंध, अवैध नियुक्तियाँ, अवैध लेखन, सब कुछ अवैध। संस्कार विहीन लोगों के योग से उत्पन्न जारज संतानों से और क्या अपेक्षा की जा सकती थी।" (पृष्ठ 59)

लेखक की यह परिभाषा तीनो चरित्रों में सटीक उतरी है। जिन पात्रों के व्यक्तित्व-निर्माण में लेखक ने इतने पृष्ठ रचे, उनका अंत, अंतिम तीन-चार पृष्ठों में बड़ी शीघ्रता से कर दिया। ऐसे लगता है लेखक इनकी कारगुजारियों से स्वयं ही घबरा चुका था। बहरा, अंधा और लूला बनाकर एक ही अस्पताल में रखकर, लाइलाज रोगों से ग्रस्त दिखाकर पटाक्षेप कर दिया गया।

उपन्यास में ये तीन पात्र ही महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु अन्य छोटे-मोटे पात्रों का चित्रण इनके व्यक्तित्त्व को उभारने के लिए हुआ है। तीनों की पत्नियां राधा, आरती, नंदा अपने पतियों की कारगुजारी का पर्दाफाश भी करती हैं। आरती कहती है, "तंग आ चुकी हूं, तुम्हारे इस दोहरे मापदंड से। नहीं बोला जाता मुझसे झूठ। झूठ बोलते, बहाने बनाते मेरी आत्मा काँपती है।" (पृष्ठ 99)

उपन्यास का सबसे सशक्त पक्ष है नागर जी की सुन्दर भाषाशैली। भाषा सशक्त है और लेखक का इस पर पूरा अधिकार है। लेखक ने हिन्दी के मुहावरों एवं लोकोक्तियों का खुलकर प्रयोग किया है।

एफ–37 स्लाइस–5,
सैक्टर–बी, स्कीम नं. 78
टाउनशिप शालीमार के सामने
ए.बी. रोड, इन्दौर
(म.प्र.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जगतार की पंजाबी कविता

वसीयत

मैंने अपना क़त्लनामा पढ़ लिया है
ज़रा ठहरो
दरख़्तों की वसीयत कर लूँ मैं
मेरे यारो
मेरे बाद
तुम्हें 'कश्ती' भी बनना है
तुम्हें 'रंगीला पीढ़ा' भी बनना है
तुम्हें 'चर्ख़ा' भी बनना है
मगर, 'कुर्सी' नहीं बनना

मेरे यारो
मेरे बाद
तुम्हें हर हाल में
गिरती छत की थम्मी तो बनना है
मगर तलवार का
दस्ता नहीं बनना

मेरे यारो
मेरे बाद
किसी माँझी का चप्पू तो बनना है
पर द्रोणाचार्य की
ढाल नहीं बनना
किसी 'पूरन' की 'मुंदरें' तो बनना है
किसी राम की
खड़ाऊँ न बनना
किसी चरवाहे की बाँसुरी तो बनना
किसी राजमहल में
तिलक के समय
शहादत की उँगली न बनना
मेरे यारो
मेरे बाद
तुम छाँव के रूप में
हवाओं के रूप में
तुम फूलों
फलों, सुगधों के रूप में
दुआएँ ही बने रहना
कभी शाप न बनना
मेरे यारो
मेरे बाद
जब सर्द मौसम बीत जाए
जब हर शाख की नग्नता ढक जाए
जो अपने बसेरे छोड़ गए हैं
वे परिन्दे
वापस आ जाएँ–
तुम एक जश्न करना

जश्न, उस मिट्टी का
जो पीले मौसमों में क़त्ल होकर भी
जड़ों में सदा
महफ़ूज़ रहती है
न मरती, न मिटती
सिर्फ आकार बदलती रहती है!

अनुवादः डॉ. कीर्ति केसर

1086/ई, गोविन्दगढ़, जालंधर

राजेन्द्र नागदेव

खूँटी पर टँगे कपड़े

दीवार पर ठुकी खूँटी पर टँगे कपड़े
ऐसे लगते हैं
जैसे फाँसी के फंदे पर
कोई आदमी लटका हो निष्प्राण
...मुझे इस तरह टँगे हुए कपड़े
अच्छे नहीं लगते।

मुझे अच्छा नहीं लगता
लोगों का फाँसी पर चढ़ाया जाना,
हो सकता है कि, उनमें से कुछ ने
फाँसी पर लटकने जैसा
कुछ किया ही न हो,
हो सकता है
कि, उनमें से कुछ
लटका दिये गए हों
उस गवाही के आधार पर
जो ऐन कत्ल के समय
मीलों दूर कहीं किसी ढाबे में
समोसे और चाय बेच रही हो
या फिर, वहीं कहीं
ठर्रे की पूरी बोतल में नहाकर
कीचड़ में औंधे मुँह पड़ी हो,
यद्यपि, की गई हों औपचारिकताएँ
न्याय की सभी पूरी
यद्यपि, दिया गया हो उस ग़रीब को
उसकी रक्षा में सरकारी वकील भी
और उसके बोलने की बारी
आई भी ज़रूर हो
पर शब्द कोई बोलने से पहले ही
उसकी ज़बान काट दी गई हो।

इस धूर्त समय में
किसी ज़बान को काटने के लिए
चाकू बिल्कुल ज़रूरी नहीं
'रिमोट कन्ट्रोल' से काटी
और फेंक दी जा सकती है ज़बान
कचरे के ढूह पर
और बटन अनगिनत हैं इन दिनों
'रिमोट कन्ट्रोल' में,
दबा दो कोई भी,
एक बटन किशोर बेटा है
एक बटन युवा होती बेटी है
एक बटन बूढ़ा पिता है
एक बटन सीधी-सादी पत्नी है
एक बटन स्कूल जाता पोता है,
भेड़ियों को सही-सही पता होता है
कि, पंजा किस बटन पर रखना है
और काट देनी है खच्च् से कब ज़बान।

ज़बानें दो कटती हैं एक साथ
'टू इन वन' की तरह
एक उसकी जिसने कत्ल
संभवतः किया ही नहीं
दूसरी उसकी जिसने
अभी-अभी अनमने भाव से
कागज़ पर लिखकर कुछ
कलम तोड़ी है।
मैं अब कपड़े खूँटी पर नहीं टाँगता
और इस तरह
अपने तरीके से बचाता हूँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी निर्दोष को फाँसी के फंदे से,
मैं वस्तुतः स्वयं को यूँ
फाँसी की यंत्रणा से
रोज़ गुज़रने से
बचा लेता हूँ।

सी–57/वाय–3 डी.डी.ए. फ्लैट्स,
दिलशाद गार्डन, दिल्ली–110095

सच्चिदानंद विशाख

हर बिन्दु

हर बिन्दु एक दूसरे की जगह ले रहा है
अपनी जगह वह बैठा था;
वह उठ खड़ा हुआ
उसकी कहानी फिर से गढ़ी गई
उसने सुधार दिया खुद को
आगे से उसे दूसरे रूप में जाना जाएगा
वह खुद ही अपने पर गौर करेगा

वह बहुत सामान्य हो जाएगा आगे से।
जो बातें घर-घर पाई जाती हैं
उसके घर भी रहेंगी
आदर्श वह खुद ही बन जाएगा
अपने पेट में रुई भरकर
वह खुद ही बहुत बड़ा दिखेगा
धर दबोचेंगे उसे उसके साथी
वह पूरा खुला रह जायेगा
अपनी औकात भी सौंप देगा
वह बराबर दिखेगा
सभी के सर के बराबर उसका सर होगा
उसके पैर पूरी तरह स्थिर हो जाएँगे।

कोई हार नहीं होगी उसकी आगे से
वह सीधे बढ़ जाएगा
चौहद्दी की राह पर
रोड़े बहुत ढीले पड़ जाएँगे
आवाज बहुत नरम वैसे भी है उसकी
अब हाथ-पैर भी हिलेंगे नहीं
या हिलेंगे तो कोई बात भी नहीं है
गाँव की सड़क बहुत ज्यादा तैयार है
गाँव के लोग कुछ और ज्यादा तैयार हैं
और वह खुद भी हर समय तैयार है।

मुहल्ला

उस आदमी को
काले रंग से रंग देंगे
इस आदमी को उजले रंग से
सभी को उठाया जायेगा
घुसा दिया जायेगा मोटे नाले में
सभी तैयार हैं।
लपेटकर सुलाया जा सकता है सभी को

सभी शीशे में कैद हो सकते हैं
उँगलियों पर खड़े होकर
सभी पुराना राग ही गाते हैं
सभी को मालूम है अपना बचाव
अपना अड़ान सभी पहचानते हैं।
सभी चले आते हैं अपने बिल में

दुलहीन बाजार, पो. बेहहौरी, पटना

हेमन्त गुप्ता 'पंकज'

निर्लिप्त

मत जगाओ उसे
सोने दो उसे
जी भर कर
डूबने-उतराने दो उसे
निद्रा के अथाह में
लेने दो सपने
सपनों में सपने
लेने दो उसे
मत जगाओ उसे
सोने दो उसे
जी भर कर
इस निर्मम भयावह
राही के जर्जर आँचल में
होने दो उसे
दिन भर की थकन से मुक्त
सोने दो उसे

उत्प्लावित होने दो उसे
मृतप्राय उमंगों की
भ्रांत हिलोरों में
साँस भी न लो
उसके निकट
कोई भी आहट होने न दो दूर तक
सोने दो उसे
जी भर कर
कि बहुत जागा है वह
कि बहुत रोया है वह
निढाल
लथपथ
मत जगाओ उसे
कि उसे
युगों के बाद
मिला है
यह विश्राम
सोने दो उसे
निर्लिप्त

के आर डब्ल्यू–23,
जलदाय विभाग कॉलोनी
प्रताप नगर, दादाबाड़ी, कोटा

वीरेन्द्र सिंह गूम्बर

व्यवस्था

कुछ चुनींदा शब्द
बगिया के फूलों की
सुगंध से सम्मोहित
इतरा रहे हैं
और
कुछ दूसरे
परित्यक्त, आवारा
हठधर्मी शब्द
दुर्गन्ध-सनी मछलियों से
आजिज़
मुक्ति की राह
तलाश रहे हैं।

एफ–73, विष्णु गार्डन
नई दिल्ली–110018

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चक्राचक्र

देने वाला जब भी देता...

अपने मज़बूत कंधों पर समस्याओं और समाधानों की बोझिल गठरी उठाए पं. बिहारी लाल आम तौर पर मेरे ग़रीबखाने पर तशरीफ लाते हैं। लेकिन इस बार उनका इसरार था कि यह इकतरफा आवाजाही बदली जानी चाहिए। मैंने कहा–''कोई बात नहीं पंडित जी, इस बार मैं आपके दौलतखाने पर आकर हाज़िरी बजाऊंगा।''

मेरी बात सुनकर उनकी भँवों पर बल पड़ने लगे। बोले–''सुनो, तुम्हारी यह ग़रीबखाने और दौलतखाने वाली जुबान मुझमें बड़ी बेचैनी पैदा कर देती है। एक अमीरजादे की शानदार कोठी 'ग़रीबखाना' है और मुझ जैसे फक्कड़ आदमी का टूटा-फूटा घर 'दौलतखाना' है। दिल को भुलावा देने वाली ऐसी बनावटी बातें मुझमें खीझ पैदा कर देती हैं। मुझे लगता है, सामने खड़ा आदमी खामखा मुझे बेवकूफ बना रहा है।''

जब मैं उनके घर पर पहुंचा तो उनके रेडियो पर एक फिल्मी गाना चल रहा था–देने वाला जब भी देता, देता छप्पर फाड़ के। मुझे देखकर उन्होंने रेडियो का स्विच आफ कर दिया।

''यार, आजकल तो छतें छप्पर की होतीं नहीं। सब तरफ कंक्रीट की पक्की छतें बन गई हैं। अगर देने वाले के मन में कभी आ गया कि चलो, इस गरीब ब्राह्मण को भी कुछ दे दिया जाए तो उसे मेरे घर की पक्की छत फाड़कर देना पड़ेगा। घर में छत का टूटना कुछ कम खतरनाक बात नहीं है।''

मैंने कहा–''वाह पंडित जी, दौलत भी पाना चाहते हो और छत भी तुड़वाना नहीं चाहते? दो-चार ईंटें अगर सिर पर गिर भी गईं तो क्या होता है। छत फाड़कर जो दौलत बरसेगी वह जख्मी सिर पर रामबाण का काम करेगी।''

वह कुछ सोचने लगे। फिर एकाएक बोले–''तुमने खबर पढ़ी? उत्तरांचल में किसी स्थान पर बादल फट गया और बहुत-से लोग पानी के बहाव में बह गए?

मैंने कहा–''मैंने यह खबर तो नहीं पढ़ी, लेकिन एक बात मुझे सूझ रही है।''

वह बोले–''एक बात मुझे पक्के तौर पर मालूम है। तुम्हें कभी कोई पाज़िटिव बात नहीं सूझती है। जब भी सूझती है, कोई ऊटपटांग बात ही सूझती है। खैर...बोलो...क्या सूझ रहा है?''

''मैं सोचता हूं कि हमें सदियों पुराने इस मुहावरे में कि देने वाला छप्पर फाड़कर देता है–कुछ बदल करना चाहिए। इसका नया रूप होना चाहिए–देने वाला बादल फाड़कर देता है।''

वे कुछ देर मुझे बुझी-बुझी आंखों से देखते रहे। फिर उनकी आंखें चमकने लगीं।

''तुम ठीक कहते हो। पंजाब में पूरे पांच साल बादल सरकार रही। जिस किसी पर यह बादल फटता था, वह निहाल हो जाता था...।''

मैंने टोक कर कहा–''पंजाबी में एक मुहावरा है–लहरां बहरां होना। इसका मतलब है–मालामाल होना। बादल से जल फूटेगा तो लहरें तो पैदा होंगी ही।''

बिहारी लाल जी उमगते हुए बोले–''जिस दिन पंजाब पब्लिक सर्विस कमीशन के चेयरमैन रवि संधू के बैंक लाकरों से मैंने पांच-पांच सो की गड्डियों को गिरते देखा, मुझे लगा सचमुच मेरे सामने जैसे स्वच्छ-पवित्र नीर का अद्भुत झरना बह रहा है। क्या नज़ारा था! देखकर आंखें तृप्त हो गई थीं। सचमुच यह नज़ारा किसी छप्पर के फटने से नहीं पैदा हो सकता। इसके लिए तो किसी बादल को ही फटना चाहिए था। बादल फटा और दौलत का झर-झर करता हुआ प्रवाह हमारी आंखों के सामने आ गया। धन्य हो बादल...बरसो... लगातार बरसो....इसी तरह हुमहुमाकर बरसो....।''

मुझे पंडित जी पर हँसी आने लगी।

''पंडित जी, आप इतना खुश क्यों हो रहे हैं? वहां बादल जितना भी बरसे, उसके छींटे आप तक तो आने से रहे।''

''तुमने वही मूर्खों वाली बात की न। अरे भाई, बादल के भाई-बंधु सारे देश में बादल बनकर बरस रहे हैं। कहीं वे पशुओं के चारे पर बरस पड़ते हैं, कहीं खेतों में डाली जाने वाली खाद पर बरस पड़ते हैं। दूर-संचार उपकरणों की खरीद के समय ऐसा एक बादल जिस पर फटा था वह राम का नाम लेकर इतना सुखी है कि अपने राज्य में वह ऐसे ही विकास के झंडे झुला रहा है।''

मैंने पूछा–''पंडित जी, एक बात बताइए। इस समय इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देश में दो नाम परमात्मा के सहस्र नामों में शामिल हो गए हैं और जिसे देखें वही बड़ी श्रद्धा से इनका जाप करता हुआ दिखाई देता है। एक शब्द है 'घोटाला' और दूसरा है 'भ्रष्टाचार'। ये शब्द इतने 'लोकप्रिय कैसे हो गए?''

पंडित जी किसी धर्मोपदेशक संत की मुद्रा बनाकर बोले–'वत्स, हर शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, उसके कई रंग होते हैं। जो शब्द जितने विविध अर्थ देता है, वह उतना ही महत्त्वपूर्ण होता है। चलो, घोटाला शब्द को ही ले लो। यह घोटने से बना लगता है। शिवजी के भक्त उनकी बूटी को सिल-बट्टे पर घोटते हैं। बूटी को जितना अधिक घोटा जाता है, उसका रंग उतना ही चढ़ता है। उसे पीने वाले को उतना ही अधिक आनंद मिलता है। केवल इतना ही नहीं, अच्छी घुटी हुई बूटी हमें परमानंद के पास ले जाती है। घोटाले का भी यही अर्थ है। जिस घोटाले को जितना अधिक घोटा गया, उसने उतना ही अधिक सरूर पैदा किया। बोफोर्स तोपों का घोटाला देखो, जिस परिवार का नाम इससे जुड़ा, उसे पुश्त-दर-पुश्त राजसत्ता में बने रहने का वर मिल गया। भोले भंडारी के घर में कुछ कमी तो है नहीं। बिहार में जो व्यक्ति पशुओं का चारा खा गया वह भी राज कर रहा है और उसकी बीवी भी राज कर रही है।

''यह तो हुई घोटाले की बात। अब भ्रष्टाचार की बात लो। हम लोगों में हर शब्द के साथ बड़े-बड़े विशेषण लगाने की बड़ी बुरी आदत है। आचार बस आचार है। वह कभी भ्रष्ट नहीं हो सकता। जिन्हें हम भ्रष्टाचारी कहते हैं, वे केवल आचार करते हैं। उन पर बादल बरसकर कुछ फल दे जाए तो उस फल को भ्रष्ट कहना कुदरत की बेइज़्ज़ती करना है।''

मैंने एक श्रद्धालु श्रोता की भांति प्रश्न किया–''आप यह कहना चाहते हैं कि हर आचार का किसी अच्छे अचार की तरह जायका होता है। हर इंसान को ऐसा जायका लेने का हक है।''

''तुमने बिल्कुल ठीक समझा।'' पंडित जी बोले–''मुझे एक बात का बड़ा दुःख है। लोग भ्रष्टाचार की बात कर-करके अपनी छाती पीटने लगते हैं। उनमें देशभक्ति की भावना तो रह ही नहीं गई है। उन्हें इस बात का गर्व होना चाहिए कि केवल दो-तीन बातें ही ऐसी हैं जिनमें हमारे देश की गणना संसार के पांच-सात देशों में होती है। जिसे लोग भ्रष्टाचार कहते हैं वह उनमें से एक बात है।''

एकाएक पंडित जी पूछ बैठे–''तुम प्रेमचंद को बड़ा लेखक मानते हो?''

अच्छी घुटी हुई बूटी हमें परमानंद के पास ले जाती है। घोटाले का भी यही अर्थ है। जिस घोटाले को जितना अधिक घोटा गया, उसने उतना ही अधिक सरूर पैदा किया। बोफोर्स तोपों का घोटाला देखो, जिस परिवार का नाम इससे जुड़ा, उसे पुश्त–दर–पुश्त राजसत्ता में बने रहने का वर मिल गया। भोले भंडारी के घर में कुछ कमी तो है नहीं। बिहार में जो व्यक्ति पशुओं का चारा खा गया वह भी राज कर रहा है और उसकी बीवी भी राज कर रही है।

''मानता हूं।''

''यह भी मानते हो कि लेखक भविष्यद्रष्टा होता है।''

''यह भी मानता हूं।''

''तुमने उनकी कहानी 'नमक का दारोगा' पढ़ी है?''

''पढ़ी है।''

''उसे याद करो। मुंशी वंशीधर जब नौकरी की खोज में निकले थे तो उनके अनुभवी पिता ने क्या समझाया था–'नौकरी में ओहदे की ओर ध्यान मत देना, यह तो पीर का मजार है। निगाह चढ़ावे और चादर पर रखनी चाहिए। ऐसा काम ढूंढना जहां कुछ ऊपरी आय हो। मासिक वेतन तो पूर्णमासी का चांद है, जो एक दिन दिखाई देता है और घटते-घटते लुप्त हो जाता है। ऊपरी आय बहता हुआ स्रोत है जिससे सदैव प्यास बुझती है। वेतन मनुष्य देता है, इसी से उसमें वृद्धि नहीं होती। ऊपरी आमदनी ईश्वर देता है, इसी से उसकी बरकत होती है।'

''भ्रष्टाचार इसी रिश्वत का संस्कारित, परिमार्जित, अधिक व्यापकता लिए रूप है। इसकी महत्ता सुखराम से पूछो। कोई सीमा है उनके सुख की? कितना अच्छा हो, राम ऐसा सुख सभी को दें।''

मैं पंडित जी की बादलील बातों से पूरी तरह बेदलील हो चुका था। मैंने अपनी एक और जिज्ञासा उनके सामने रखी।

''पंडित जी, पंजाब के एक अकाली विधायक के घर से सत्रह सौ बोतल शराब निकली। क्या एक आदमी और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसका परिवार इतनी शराब पी सकता है? क्या उसके घर पर जो बादल फटा था उससे शराब की बारिश हुई थी?''

पंडित जी ने मुझे बहुत घूरकर देखा। ''तुमने समुद्र-मंथन की कहानी सुनी है?''

''सुनी है।''

''समुद्र-मंथन से अमृत निकला था, विष निकला था और शराब भी निकली थी...निकली थी कि नहीं?''

''निकली थी।''

''यह कार्य उस युग की दो विरोधी शक्तियों–देवताओं और दानवों–ने मिलकर किया था।''

''किया था।''

''आज यदि कोई कार्य कांग्रेस और भाजपा मिलकर करें तो यह माना जाता है कि उसके पीछे सभी की सहमति है।''

''माना जाता है।''

''उसी तरह समुद्र-मंथन था। देखो, उसमें से निकला विष तो शिवजी अकेले ही गटक गए। केवल अमृत और शराब ही ऐसी चीज़ें थीं जिसका सेवन लोगों ने मिल-बांटकर किया था।''

''यह बात तो ठीक है।''

''जिसके घर से सत्रह सौ बोलत शराब निकली उसका इरादा मुझे बहुत सर्वजन हितकारी लगता है। वह उस नायाब चीज से अपने परिजनों को, अपने पूरे क्षेत्र को निहाल करना चाहता था, उसे सराबोर करना चाहता था। इसमें ऐसी चौंकने वाली या सिर धुनने वाली क्या बात है? अगर उसके घर से सत्रह सौ बोतल अमृत की निकल आतीं तो कोई उस पर भ्रष्टाचार का अरोप लगाता?''

कुछ देर हम दोनों चुपचाप बैठे रहे। मैं उनकी छत की ओर देख रहा था।

''पंडित जी, आपकी छत बड़ी जर्जर हो रही है। जगह-जगह से पलस्तर उखड़ गया है। आप इसकी मरम्मत क्यों नहीं कराते?''

उन्होंने बड़ी गहरी सांस ली–''सोचता हूं, अगर देने वाला किसी दिन मेहरबान हुआ और बादल फटा तो वह छत फाड़कर देगा। बाद में उसकी मरम्मत तो करानी ही पड़ेगी। दो-दो बार पैसा क्यों खर्च करूं?''

फिर वे मेरी ओर मुख़ातिब हुए–

'तुम्हारे मकान के पीछे थोडी-सी जगह खाली है न?''

''हां....क्यों?''

''तुम वहां एक छप्पर डलवा लो। तुम्हारी औकात मैं जानता हूं।''

अभिव्यंजना द्वारा प्रकाशित कुछ नए कविता-संग्रह

मुझे आवाज़ देना

(कीर्ति केसर)

कीर्ति केसर की कविाओं के सम्बन्ध में वरिष्ठ कवि/आलोचक डॉ. नरेन्द्र मोहन लिखते हैं-इन कविताओं के भीतर झाँके तो पाएँगे कि कविताएँ जितनी बाहरी हैं उससे कई गुना अधिक बाहर के संदर्भ में आंतरिक द्वन्द्वों और संतापों की कविताएँ है।

मूल्य : 100 रुपये

ख़त्म नहीं होतीं यात्राएँ

(मधु शर्मा)

विविध अनुभवों से भरी जीवन की अनंत यात्राओं को स्वर देने वाली कविताएँ

मूल्य : 100 रुपये

सबूत क्यों चाहिए

(इंदु जैन)

समय-चेतना को उजागर करती प्रख्यात कवयित्री इंदु जैन की नई कविताएँ

मूल्य : 80 रुपये

मेरा होना

(कुसुम अंसल)

गहरी संवेदनशीलता के कारण मन को छू जाने वाली कुसुम अंसल की नई कविताएँ

मूल्य : 70 रुपये

आरंभ से हाशिये तक

(अनिता वर्मा)

संवेदनाओं को आत्मसात करती और कविता में जीती अनिता वर्मा की नई कविताएँ

मूल्य : 60 रुपये

अभिव्यंजना

बी–70/72, डी.एस.आई.डी.सी. काम्प्लेक्स,

लारेंस रोड, दिल्ली–110035

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुरेन्द्र तिवारी

लघु पत्रिकाओं के कुछ विशिष्ट अंक

'वर्तमान साहित्य' (सं. से.रा. यात्री, विभूति नारायण राय, 1-2, मुकुंद नगर, हापुड़ रोड, गाजियाबाद–1) लघु पत्रिकाओं के बीच अब एक चर्चित पत्रिका है। हर वर्ष इसका कोई-न-कोई विशेषांक सामने आता है जो रचनाकारों और पाठकों के लिए आकर्षण का केन्द्र होता है। इस वर्ष इसका 'शताब्दी आलोचना' पर एकाग्र विशेषांक भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इस अंक का संपादन संयोजन अरविन्द त्रिपाठी ने किया है। तीन खंडों में प्रकाशित यह विशेषांक बीसवीं सदी की हिन्दी आलोचना का एक अपेक्षाकृत स्पष्ट चेहरा हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। पहले खंड में आलोचना के नवरत्नों और प्रमुख आलोचनात्मक कृतियों का मूल्यांकन है। इन नवरत्नों में महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, नंददुलारे वाजपेयी, हजारी प्रसाद द्विवेदी, रामविलास शर्मा, नामवर सिंह, मुक्तिबोध, विजयदेव नारायण साही और अज्ञेय सम्मिलित हैं। आलोचनात्मक कृतियों के अन्तर्गत 'सीमान्तनी उपदेश' से लेकर कुंवर नारायण की 'आज और आज से पहले' तक की सत्ताईस कृतियों की विवेचनात्मक चर्चा है। दूसरे खंड में 'विवाद, वाद, संवाद और मूल्यांकन' के अन्तर्गत साठ विचारोत्तेजक विषयों पर लेखों का संचयन है जिसमें 'ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली का विवाद' से लेकर 'कथा में गांव बनाम शहर की बहस' भी है, 'आज की कविता बनाम आज की आलोचना' भी है और 'मार्क्सवादी आलोचना पर पुनर्विचार' भी है। 'मूल्यांकन' के अन्तर्गत मुकुटधर पांडेय, नलिन विलोचन शर्मा, देवीशंकर अवस्थी, उग्र आदि की कृतियों का मूल्यांकन महत्त्वपूर्ण है। तीसरे खंड में कुछ महत्त्वपूर्ण रचनाकारों के साक्षात्कारों के माध्यम से आज की आलोचना को समझने-समझाने की कोशिश की गई है और इस कारण यह खंड पूर्व दोनों खंडों की अपेक्षा संक्षिप्त भी है। शिवदान सिंह चौहान, नामवर सिंह, नेमिचन्द्र जैन, पूरनचन्द्र जोशी, लक्ष्मीकांत वर्मा, विश्वनाथ त्रिपाठी, अशोक वाजपेयी, विजयमोहन सिंह, नन्द किशोर नवल, कुंवर नारायण आदि विशिष्ट रचनाकारों के विचार आज की आलोचना को अलग-अलग ढंग से विश्लेषित-परिभाषित करते हैं। एक हजार से अधिक पृष्ठों में फैला यह विशेषांक बीसवी सदी की आलोचना और आलोचकों को समझने के लिए एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है।

कोलकाता से प्रकाशित 'समकालीन सृजन' (सं. शंभुनाथ, 20, बाल मुकुंद मक्कर रोड, कोलकाता–7) का नया अंक 'आधुनिकता की पुनर्व्याख्या' पर आधारित है। आधुनिकता की यह जांच-परख आज क्यों जरूरी है, संपादकीय में खुलासा इसका करते हुए शंभुनाथ कहते हैं–"बीसवीं सदी के अंत तक भी यह स्पष्ट है कि दुनिया का कोई समाज पूर्णतः आधुनिक नहीं हो पाया। पश्चिम के तथाकथित विकसित समाजों सहित दुनिया के सभी समाजों में अभी भी पुरा जातीयता, जाति, नस्ल, वर्ग, पितृसत्तात्मकता, लिंग भेद, धार्मिक अंधविश्वास, क्षेत्रीयतावाद जैसे परंपरागत ढांचे अपनी गहरी जड़ों के साथ बरकरार हैं। यह धारणा गलत साबित हुई है कि आधुनिकीकरण, औद्योगीकरण और शहरीकरण की प्रक्रिया में परंपरावाद का ध्वंस करके आधुनिकता पूरी तरह आ जायेगी।" इन्हीं विचारों को पुष्ट करते हुए परमानंद श्रीवास्तव 'उत्तर-आधुनिक समय में आधुनिकता की चुनौतियां' की खोज करते हैं तो योगेश अटल 'परंपरा एवं आधुनिकता : प्रतिमानों का पुनरीक्षण' करते हैं। 'आधुनिकता की समझ' (सकलदीप सिंह), 'आधुनिकीकरण और आधुनिकता', (धनंजय वर्मा), 'आधुनिकीकरण बरक्स उत्पीड़ितों की धार्मिकता' (पूरनचंद्र जोशी), 'हिन्दी नवजागरण और आधुनिकता' (कर्मेन्दु शिशिर) आदि आधुनिकता को सही परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने वाले विचारोत्तेजक लेख हैं। 'दस्तावेज' के अन्तर्गत रामचन्द्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, रामधारी सिंह दिनकर, रामविलास शर्मा और कुबेरनाथ राय के आधुनिकता संबंधी विचारों को प्रस्तुत कर संपादक ने एक सराहनीय कार्य किया है। इससे स्पष्ट है कि आधुनिकता की चिंता आज ही नहीं, पहले भी की जाती रही है।

अब इन्दौर से प्रकाशित एक नई पत्रिका 'संप्रति' (सं. प्रताप सिंह सोढी, 109, श्रीनगर मेन, इन्दौर, म.प्र.) का पहला अंक सामने है। परन्तु इस अंक की रचनाओं और रचनाकारों को देखकर यह आभास नहीं होता कि यह किसी लघु पत्रिका का प्रथमांक है। चन्द्रकांत देवताले, सरोजकमार, राजकुमार कुंभज, लीलाधर मंडलोई, रमेश सोनी, चन्द्रसेन विराट आदि की कविताओं, महीप सिंह, विलास सप्रे, प्रमोद त्रिवेदी, मंगला रामचंद्रन आदि की कहानियों, जवाहर चौधरी के व्यंग्य तथा अनेक लघु कथाओं एवं समीक्षाओं के साथ इस अंक में जो विशिष्ट सामग्री है वह है 'साहित्य और टेक्नोलॉजी के आन्तरिक संबंधों' पर विशेष लेख। देवेन्द्र इस्सर, नरेन्द्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मोहन, राममूर्ति त्रिपाठी, रामदरश मिश्र, यश गुलाटी, हरदयाल, सत्यव्रत सोनी, प्रताप सहगल और ब्रजराज किशोर के विचारों से इस विषय पर एक नई बहस छिड़ सकती है कि टेक्नोलॉजी के व्यापक प्रसार, उसके सर्वग्रासी प्रभाव और इस्तेमाल ने यथार्थ की गुत्थी को कुछ और उलझा दिया है या नहीं। किसी भी पत्रिका के प्रवेशांक में ही इतनी महत्त्वपूर्ण सामग्री का होना संपादकीय सतर्कता और समझ को दर्शाता है। एक विचारोत्तेजक पत्रिका के रूप में 'सम्प्रति' का स्वागत होना चाहिए।

एक लम्बे अंतराल के पश्चात् गुजरात से प्रकाशित हिन्दी पत्रिका 'आकार' (सं. बसंतकुमार परिहार, 1/1, पत्रकार कालोनी, अहमदाबाद–13) का नौवां अंक सामने आया है। कविता-प्रधान इस पत्रिका में राष्ट्रपति अब्दुल कलाम की कविता के अनुवाद को देखकर कुछ आश्चर्य होता है। एक महान वैज्ञानिक होने के साथ-साथ वे तमिल में कविताएं भी लिखते रहे हैं, यह जानकारी बहुतों के लिए नई है। यहां उनकी एक लम्बी कविता 'जीवनवृक्ष' का अनुवाद छपा है जो रोचक और पठनीय है। इसके अतिरिक्त इस अंक के अन्य कवियों में रामदरश मिश्र, नंद चतुर्वेदी, नरेन्द्र मोहन, बलदेव वंशी, प्रताप सहगल, शशि सहगल, राजकुमार कुंभज आदि हैं। जसवंत सिंह विरदी की व्यंग्य कहानी 'गऊपूजा' और हरिमोहन की कहानी 'अबुल चाचा और डायनासोर' पठनीय हैं। आज जब पत्रिकाओं के दाम आसमान छू रहे हैं, आकार को निःशुल्क बांटना हिम्मत का ही काम है।

गत 36 वर्षों से प्रकाशित त्रैमासिक पत्रिका 'संबोधन' (सं. कमर मेवाड़ी, चांदपोल, कांकरोली, राजसमद, राजस्थान) अपनी साहित्यिक सजगता और सोच के कारण सदैव रचनाकारों के बीच चर्चित-प्रशंसित रही है। नये अंक में स्वयं प्रकाश से पल्लव की बातचीत पठनीय तो है परन्तु उससे अधिक विचारोत्तेजक स्वयं प्रकाश का लेख 'एक ऐसे भी नया साल मुबारक' है जिसमें आज की क्रूर और विसंगत स्थितियों का सीधा-सच्चा रेखांकन है। विष्णुचन्द्र शर्मा का संस्मरणात्मक वक्तव्य 'काशी का ही अनकहा इतिहास हूं' काशी के अनेक अनछुए संदर्भों और इतिहास को हमारे सामने प्रकट करता है। काशी के अनेक रचनाकारों के जीवन में झांकने का अवसर देता है। विशिष्ट कविता के अन्तर्गत अभिज्ञात की कविताएं प्रभावित करती हैं। इस युवा कवि की संभावनाओं को 'संबोधन' ने रेखांकित किया है, यह प्रशंसनीय है। युवा प्रतिभाओं को उभारने में, पाठकों के समक्ष लाने में लघु पत्रिकाओं का जो योगदान है, वह अतुलनीय है।

'आधारशिला' (सं. दिवाकर भट्ट, आर्यभट्ट कालोनी, तल्ली बमौरी, हल्द्वानी, नैनीताल) भी यों तो एक पुरानी पत्रिका है, गत सत्रह वर्षों से प्रकाशित हो रही है, परन्तु प्रचार-प्रसार कम होने के कारण कुछ साहित्यिक लोगों के बीच ही सिमटी हुई है, जबकि इसके कुछ विशेषांक बहुत ही चर्चित रहे हैं। अभी इसका पिछला अंक ही प्रसिद्ध शायर वामिक जौनपुरी पर केन्द्रित था। जहां वामिक की मृत्यु की खबर भी देश के अनेक पत्र-पत्रिकाओं ने छापना जरूरी नहीं समझा, वहीं इस पत्रिका ने उन पर एक विशेषांक निकालकर विशिष्ट कार्य किया ही है। इसका नया अंक जून-जुलाई 2002 भी कुछ खास रचनाओं के कारण आकर्षित करता है। शैलेश मटियानी की आत्मकथा का अंश पढ़कर उस जीवट वाले रचनाकार के आत्मसंघर्ष और जीवन-संघर्ष को आसानी से समझा जा सकता है। रामदरश मिश्र, उषा त्यागी और श्याम विमल की कहानियां, इंदु जैन, उषा महाजन और अल्पना मिश्र की कविताएं और सुधीर विद्यार्थी की डायरी के कुछ बेतरतीब पन्ने अंक को पठनीय बनाते हैं।

ऐसी लघु पत्रिकाएं जो अल्प साधन के बावजूद लगातार और अच्छे ढंग से निकल रही हैं, ज्यादा से ज्यादा पाठकों तक कैसे पहुंचें, इस पर विचार करना बहुत आवश्यक है।

बी–3/76, सैक्टर-1
रोहिणी, नई दिल्ली–11008

अनेक वर्षों से अप्राप्त

साहित्य और दलित चेतना

अब नए संस्करण में उपलब्ध

संपादक :
डॉ. महीप सिंह, डॉ. चंद्रकान्त वांदिवडेकर

मूल्य
सजिल्द 200 रु., पेपर बैक 120 रु.

अभिव्यंजना
बी–70/72, डी.एस.आई.डी.सी. काम्प्लेक्स,
लारेंस रोड, दिल्ली–110035

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ. कमलेश सचदेव

मैं जसदेव सिंह बोल रहा हूँ

जसदेव सिंह भारतीय प्रसारण-क्षेत्र का महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व हैं। आकाशवाणी का लगभग 30 वर्ष का दौर ऐसा था जब 'कमेंट्री' जसदेव सिंह का और 'जसदेव सिंह' कमेंट्री का पर्याय जैसे हो गए थे। हिन्दी खेल कमेंट्री के विषय में जसदेव सिंह के बिना सोचा ही नहीं जा सकता था। उन्होंने जितना कुछ हिन्दी प्रसारण जगत को दिया है, देश-विदेश के श्रोताओं, सरकार तथा अन्य संस्थाओं से उन्हें मान-सम्मान तथा प्रेम-स्नेह के रूप में उससे कम प्राप्त नहीं हुआ है। जसदेव सिंह इसे खुलकर स्वीकार भी करते हैं। इस दृष्टि से उनकी आत्मकथा 'मैं जसदेव सिंह बोल रहा हूँ' एक आत्म-सन्तुष्ट एवं जीवन के प्रति कृतज्ञ व्यक्ति की कहानी है।

लेकिन जैसाकि कहा जाता है कि किसी दिन का मूल्यांकन करने के लिए शाम तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। जसदेव सिंह ने अपने कैरियर का पूरा संघर्ष-दिन बिताकर शाम को फुरसत में उसका मूल्यांकन करते हुए अपनी आत्मकथा लिखी है। यहाँ 'कैरियर' का पूरा दिन साभिप्राय कहा गया है क्योंकि जसदेव सिंह ने अपने सम्पूर्ण जीवन-जिसमें उनका निजी, पारिवारिक और सामाजिक जीवन भी शामिल है–और व्यक्तित्व को प्रसारण-कैरियर के संदर्भ में ही परिभाषित किया है। वे अपने माता-पिता, अध्यापकों, पत्नी और बच्चों के प्रति कृतज्ञ हैं कि उन्होंने उन्हें इस ऊँचाई तक पहुँचाने में सहायता की, उनके साथ कष्ट झेले लेकिन उनका आत्मसंतोष अपने कैरियर में प्राप्त सफलता के साथ ही जुड़ा हुआ है।

अस्तित्ववादी दर्शन के अनुसार व्यक्ति तब तक कुछ नहीं है जब तक वह स्वयं को कुछ बनाता नहीं है यानी अपने अस्तित्व को कुछ अर्थ नहीं देता। जसदेव सिंह ने अपने अस्तित्व के लिए अर्थ 19 वर्ष की आयु में ही निर्धारित कर लिया था। महात्मा गाँधी की अंतिम यात्रा का आँखों देखा हाल रेडियो पर जाने-माने समाचार-वाचक और कमेंटेटर स्व. मेलविल डिमेलो ने अंग्रेजी में प्रस्तुत किया था। तब हिन्दी में भी आँखो देखा हाल रेडियो से प्रसारित किया गया था। लेकिन "डिमेलो का एक-एक शब्द, भावों और उद्‌गारों को कुछ इस प्रकार व्यक्त कर रहा था कि सुनने वाले अपने आँसू नहीं रोक पा रहे थे।" जबकि हिन्दी कमेंट्री में वह बात नहीं थी। तभी मन में निश्चय कर रुँधे गले से जसदेव सिंह ने अपनी माँ से कहा था–"बीजी! मैं तो हिन्दी में कमेंटेटर बनूँगा।" और जसदेव सिंह हिन्दी कमेंटेटर बने तो मेलविल डिमेलो ने अंग्रेजी कमेंट्री में जो मुकाम हासिल किया था, उससे कहीं ऊँचा मुकाम उन्हें हिन्दी कमेंट्री में हासिल हुआ। इसका एक कारण यह था कि कमेंट्री की भाषा के तौर पर अंग्रेजी पहले से स्थापित थी लेकिन कमेंट्री में हिन्दी भाषा की क्षमता को उसकी पूर्णता में व्यक्त करने वाले सर्वप्रथम व्यक्ति जसदेव सिंह थे। उन्होंने खेलों और हिन्दी भाषा को जोड़कर देश के जन-जन तक खेलों को पहुँचाया।

जसदेव की इस आत्मकथा से यह दुर्भाग्यपूर्ण तथ्य एक बार फिर रेखांकित हो जाता है कि इस देश में किसी भी क्षेत्र की प्रतिभा को पनपने से रोकने के पूरे अवसर मौजूद हैं। यहाँ कोई भी व्यक्ति यदि किसी क्षेत्र में किसी शिखर को छूता है तो यह मुख्यत: उसके अपने अध्यवसाय और निष्ठा का परिणाम होता है और उसकी बहुत सारी ऊर्जा एवं समय अपने विरुद्ध किए जाने वाले षड्‌यंत्रों तथा राह में आने वाले अड़ंगों से निपटने में व्यर्थ हो जाती है। जसदेव सिंह का व्यक्तित्व इस दृष्टि से अत्यन्त सशक्त है कि वे इस प्रकार की बाधाओं से हार नहीं गए और एकाग्र होकर अपने कार्य में लगे रहे। इसी का परिणाम है कि आकाशवाणी में स्टाफ आर्टिस्ट के पद पर भर्ती हुए जसदेव सिंह दूरदर्शन में उपमहानिदेशक (खेल) पद से रिटायर हुए।

अपने कैरियर के कुछ जगमगाते पलों को जसदेव सिंह ने इस पुस्तक में अपने पाठकों के साथ साझा किया है। इनमें से अधिकांश जसदेव सिंह के लिए जितनी अहमियत रखते हैं उतने ही अहम देश के लिए भी हैं। ऐसा एक अवसर है 1975 में कुआलालुमपुर में तीसरे विश्व कप हॉकी के फाइनल में भारत की विजय। इस मैच के लिए मैलविल डिमेलो और जसदेव सिंह क्रमशः अंग्रेजी और हिन्दी में कमेंट्री कर रहे थे। घड़ी में यह हिसाब लगाकर कि खेल के अंतिम कुछ मिनट डिमेलो के हिस्से आएं, डिमेलो ने कमेंट्री शुरू की। दोनों को दस-दस मिनट का समय बारी-बारी से मिलना था। मध्यांतर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के बाद खेल के शुरू के पाँच मिनट जसदेव सिंह को मिलने थे लेकिन पता नहीं कैसे डिमेलो ने माइक्रोफोन संभाल लिया। इससे खेल-समाप्ति के पहले के कुछ मिनट जसदेव सिंह को मिल गए। और उन्हीं के शब्दों में—"देश की जीत का समाचार सुनाने के लिए वर्षों से मन में जो वाक्य मैंने सँजो रखा था, वह आप ही आप मेरे मुँह से फूट पड़ा—'दूर देश मलेशिया की राजधानी कुआलालुमपुर से मैं आप देशवासियों को यह शुभ समाचार सुना रहा हूँ कि भारत अब विश्व कप हॉकी चैम्पियन है।"

इसी प्रकार का एक और जगमगाता अवसर है भारत-सोवियत संघ की संयुक्त अंतरिक्ष उड़ान की कवरेज। यह अवसर देश के इतिहास का अविस्मरणीय पल है और इसकी कवरेज भी उतनी ही अविस्मरणीय एवं रोमांचक रही थी—दर्शकों के लिए भी और प्रस्तुतकर्ताओं के लिए भी। यह पूरा प्रसंग जसदेव सिंह के साथ-पाठकों को भी उस रोमांच के रूबरू ले जाता है। 3 अप्रैल 1984 को बाईकानूर कॉस्मोड्रोम से अंतरिक्ष-यात्रियों की विदाई के बाद रात को डायरी में लिखे अंश उन्होंने आत्मकथा में उद्धृत किये हैं जो अंतरिक्ष यात्रा की शुरुआत का पूरा चित्र प्रस्तुत कर देते हैं। इस सन्दर्भ में सबसे रोचक सूचना वे यह देते हैं कि लांचिंग पैड से कुछ पहले ही अंतरिक्ष-यात्रियों की बस और मीडिया की कार रोक दी गई। कारण पूछने पर पता चला—"प्रथम अंतरिक्ष-यात्री यूरी गगारिन लांचिंग पैड की ओर जाते हुए वहाँ लघु शंका के लिए कुछ देर रुके थे। तभी से अंतरिक्ष-प्रस्थान के लिए अपने रॉकेट की ओर जाते हुए सभी अंतरिक्ष-यात्री वहाँ कुछ क्षण के लिए अवश्य रुकते हैं। यह एक परंपरा बन गई है। बिल्कुल वैसे ही, जैसे कॉस्मोनॉट होटल छोड़ने से पहले वे गगारिन के कमरे में भी अवश्य जाते हैं। एक अन्य कमरा है जहाँ जाकर दीवार पर वे अपने हस्ताक्षर ज़रूर करते हैं।" अंतर्राष्ट्रीय प्रसारण की महान् सफलता का वह पल भी इसी दौरान आया जब दिल्ली में बैठी प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी ने अंतरिक्ष-यात्रियों से जो बातें कीं, उन्हें भारत और सोवियत संघ में एक साथ टी.वी. पर देखा और सुना गया। इंदिरा गाँधी के पूछने पर कि ऊपर से भारत कैसा दिखता है, भारतीय अंतरिक्ष-यात्री स्क्वाड्रन लीडर राकेश शर्मा ने कहा था—"सारे जहाँ से अच्छा।" उनका यह उत्तर आज भी देशवासियों के मन में गूँजता है। इसके बाद जसदेव सिंह द्वारा आकाशवाणी के लिए प्रस्तुत किया गया अंतरिक्ष-यात्रियों के धरती पर उतरने का आँखों देखा हाल और तुरन्त हेलीकाप्टर से कूदकर उनके साथ की गई बातचीत कैसे दूरदर्शन पर प्रसारित हुई और पूरे देश ने उन क्षणों को जिया—केवल पढ़कर ही इस पूरे प्रसंग का आस्वाद लिया जा सकता है। इस प्रसंग में जसदेव सिंह ने अपने साथ गए दूरदर्शन के अंग्रेजी कमेंटेटर राजीव मेहरोत्रा द्वारा जसदेव सिंह की आकाशवाणी के लिए की जा रही हिन्दी कमेंट्री को दूरदर्शन के लिए प्रयोग करने, अंतरिक्ष-यात्रियों के साथ जसदेव सिंह के इंटरव्यू को उन्हें बताए बिना कैमरे पर उतार कर दूरदर्शन पर प्रसारित करवा देने को अपने प्रसारण-जीवन का एकमात्र ऐसा अनुभव बताया है जिसमें एक सहयोगी ने अपने साथी की कमेंट्री और कवरेज को अपने से अच्छा मान उसे महत्त्व दिया हो। राजीव ने बाद में जसदेव सिंह को बताया था—"जसदेव जी, हैलीकॉटर पर मैं भी अंग्रेज़ी में कमेंट्री कर रहा था, लेकिन जब हिन्दी में आपके कुछ शब्द सुने और देखा कि आप उस ऐतिहासिक दृश्य में जिस तरह समाहित हो, जिन हृदयग्राही शब्दों में विवरण दे रहे थे, मैंने अपनी कमेंट्री छोड़ टी.वी. का माइक्रोफोन भी आपके मुँह के सामने कर दिया।" राजीव का यह कथन जहां जसदेव सिंह की कमेंट्री कला का सम्मान है, वहीं हिन्दी भाषा के सामर्थ्य की स्वीकृति भी है।

हिन्दी के अनेक पंडितों से कहीं अधिक अधिकार जसदेव सिंह को है कि वे हिन्दी के प्रसार पर अपने अनुभव के आधार पर राय दें। सन् 1980 में भारत सरकार के शिक्षा तथा समाज कल्याण मंत्रालय ने खेल-कूद के तकनीकी शब्दों की हिन्दी में पारिभाषिक शब्दावली तैयार करने के लिए एक समिति बनाई थी जिसमें जसदेव सिंह को भी रखा गया था। इसकी पहली ही बैठक में उन्होंने इन मुद्दों की तरफ ध्यान दिलाया था—"खेल यदि विदेशी है तो उसके तकनीकी शब्द भी उसी विदेशी भाषा से ही होंगे। दूसरी बात यह कि उन खेलों में दिलचस्पी रखने वाले खिलाड़ी, दर्शक और श्रोता मूल तकनीकी शब्द ही समझते हैं। अन्य किसी भाषा में उन शब्दों का अनुवाद न तो किसी के गले उतरेगा और न ही वे उनका उपयोग कर पाएँगे। तीसरे यह कि कितने ही तकनीकी शब्द ऐसे हैं, जिनका सटीक अनुवाद हो ही नहीं सकता और यदि हो भी गया तो हास्यास्पद होगा।" इस समिति ने अधिकांश शब्द ज्यों के त्यों रखे लेकिन कुछ शब्दों का अनुवाद किया गया जिन्हें भारी खर्च कर छपवाया गया लेकिन कोई लाभ नहीं हुआ क्योंकि प्रशिक्षकों, खिलाड़ियों, टी.वी., रेडियो और समाचार पत्रों ने इन शब्दों को नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनाया। कुछ अनूदित शब्दों के उदाहरण देखने से पता चल जाता है कि ये कितने अव्यावहारिक हैं–फ्री किक : मुक्त प्रहार, गुड लैंथ बाल : अच्छी लम्बी गेंद, पैनल्टी कॉर्नर : दण्ड कोना, साइडपास : पार्श्व पास, साइड स्क्रीन : पृष्ठ पर्दा।

विडम्बना यह है कि हिन्दी कमेंट्री को अंग्रेजी कमेंट्री के मुकाबले हीनतर स्थिति से निकालकर जसदेव सिंह ने उसे जिस ऊँचाई पर पहुँचाया, आज वह उससे ऊपर जाने की बजाय निरन्तर ह्रासमान है। इस स्थिति पर जसदेव सिंह सबसे अधिक दुःखी हैं। आज कमेंटेटर या तो अंग्रेजी शब्दों का घालमेल कर भाषा को खिचड़ी बना देते हैं या फिर अंग्रेजी शब्दों और मुहावरों का हास्यास्पद अनुवाद कर कमेंट्री का स्तर गिराते हैं। अंग्रेजी में है–'प्ले वाश्ड अवे' और हिन्दी कर दी जाती है– 'मैच धुल गया।' जसदेव सिंह को लगता है कि "सीधे-सीधे क्यों नहीं कहा जाए, 'बारिश के कारण मैच नहीं हो सका या रोक दिया गया।' वे मानते हैं कि दूरदर्शन जो खिचडी कमेंट्री परोस रहा है उससे कुछ अंग्रेजीपरस्त लोगों के इस कथन को ही बल मिलता है कि हिन्दी अथवा अन्य किसी अंग्रेजी-इतर भाषा में कमेंट्री हो ही नहीं सकती जबकि यह ग़लत है–"इस तरह हिन्दी जैसी समृद्ध और संस्कारी भाषा को हम हास्यास्पद बना देने पर तुले हैं। हिन्दी में माधुर्य है, अपना एक रस है, उसे अंग्रेज़ी के मुक़ाबले के चक्कर में खराब करना दुखदायी है।" दूरदर्शन और आकाशवाणी ने एक समय अच्छे-अच्छे हिन्दी कमेंटेटर दिए थे जो बेहद लोकप्रिय हुए थे। ऐसा अब भी हो सकता है यदि सही, निष्पक्ष और नियमानुसार चयन हो।

जसदेव सिंह ने यादों को कलमबद्ध करने के इस सिलसिले में सहज रूप से ही कुछ व्यापक महत्त्व के मुद्दों पर विचार किया है। इन्हीं में से एक मुद्दा है हमारे यहाँ अल्पसंख्यक खिलाड़ियों के साथ कभी अनजाने में ही होने वाले भेदभाव को पाकिस्तानी मीडिया द्वारा हिन्दू-मुसलमान के साम्प्रदायिक भेदभाव की रंगत देना। टोकियो में अली सईद कुछ ही मैचों में खेले। मैक्सिको कांस्य पदक के लिए खेले गए मैच में ही इनामुर्रहमान को रखा गया। कुआलालुमपुर में असलम को सेमी फाइनल में अंतिम दस मिनटों में मैच में लाया गया। ऐसे मौकों पर पाकिस्तानी कमेंटेटर और पत्रकार बातचीत के दौरान कहते थे, "तुम लोग दुनिया-दिखावे के लिए अपनी टीम में एकाध मुसलमान ले आते हो, पर उसे खेलने का अवसर नहीं देते।" यों बाद में असलम, जफ़र इकबाल, मोहम्मद शाहिद, शकील अहमद आदि के कप्तान बनने से इस आक्षेप का उत्तर उन्हें मिल गया होगा लेकिन इस विषय में हमें अधिक सचेत रहने की आवश्यकता तो है ही कि खिलाड़ियों के चयन में पारदर्शिता हो ताकि इसे साम्प्रदायिक रंगत दिये जाने के अवसर कम से कम हो सकें।

जसदेव सिंह की आत्मकथा धर्म और भाषा के आपसी रिश्ते का मुद्दा भी उठाती है। यों इसे एक मुद्दे के तौर पर उन्होंने नहीं रखा है पर कई स्थलों पर कई प्रकार के लोगों द्वारा जसदेव सिंह के सिख होने पर उनके अच्छी हिन्दी बोल सकने पर सन्देह जताने का संदर्भ आया है। जसदेव सिंह ने अपने काम के जरिये उन सबको उत्तर दिया है लेकिन सवाल यह है कि धर्म को भाषा के साथ क्यों जोड़ा जाए? किसी मुसलमान या सिख को हिन्दी विद्वान के रूप में देखकर आज भी हम आश्चर्य क्यों करते हैं? किसी हिन्दू को पंजाबी या उर्दू लेखक के तौर पर देखना हमें अजीब-सा क्यों लगता है? इस तरह की मानसिक हदबंदियों से बाहर आने की आवश्यकता को जसदेव सिंह से अपने काम से और इस आत्मकथा के माध्यम से भी व्यक्त किया है।

'मैं जसदेव सिंह बोल रहा हूँ' में जसदेव सिंह ने अनेक मर्मस्पर्शी, रोचक, ज्ञानवर्धक अनुभव अंकित किए हैं लेकिन जापान और रूस में अपनी भाषा के प्रति प्रेम विशेष रूप से रेखांकित करने योग्य है। वे लोग अच्छी अंग्रेज़ी जानने के बावजूद विदेशियों से दुभाषिये के माध्यम से अपनी भाषा में बात करते हैं। अंग्रेज़ी में पूछे गए प्रश्नों का उत्तर तक नहीं देते। भारत जैसे अंग्रेज़ीभक्त देश से गए लोग उनकी इस भाषा-निष्ठा से लज्जित हो उठते हैं।

जसदेव सिंह अपने 'बोलने' और उस 'बोलने' से मिले प्रेम एवं सम्मान से संतुष्ट और कृतज्ञ दिखाई देते हैं लेकिन उनके भीतर का कमेंटेटर कहीं आज भी उन दिनों को जीते रहना चाहता है। उनके भीतर एक कसक है कि उनकी अवकाश-प्राप्ति के पश्चात् आकाशवाणी और दूरदर्शन ने उनकी सेवाओं का उपयोग बहुत कम किया है। उनकी इस कसक में फ्रांसीसी लेखक मोपासां की कहानी 'अतीत नृत्य' के उस अपने समय में प्रसिद्ध रहे बूढ़े नर्तक की वेदना की झलक मिलती है जो दोपहर के एकांत में एक उद्यान में जाकर नृत्य की भाव-भंगिमाएँ दोहराते हुए अपने अतीत को जीने का भ्रम पालता है। शायद यह वेदना एक ऊँचाई तक पहुँच चुके हर कलाकार का भाग्य होती है।

सी–25, शिवाजी पार्क
नई दिल्ली–110026

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरोज वशिष्ठ

'चरणदास चोर' शिमला में

'चरणदास चोर ने रंगमंच प्रेमियों का दिल चुराया', 'चरणदास चोर ने चुराया दर्शकों का चित्त', 'शिमला के भद्रलोक को हैरत में डाल गए दिल्ली की झुग्गियों के चरणदास', 'प्रतिभा किसी वर्ग विशेष की जागीर नहीं।' ये थीं कुछ सुर्खियां शिमला में 22 जुलाई के हिन्दी अखबारों की। इन्हीं भावनाओं को सभी अंग्रेजी अखबारों ने भी व्यक्त किया। चोर तो आखिर चोर ही होता है, बेशक किन्हीं मजबूरियों के कारण वह ऐसा करता है लेकिन यह अनोखा चोर चोरी करते समय मानवता को नहीं भूलता, एक राहगीर महिला के सारे गहने अपनी वाक्‌पटुता के सहारे हथियाने के बाद उसके रोने-धोने पर तरस खाकर लौटा देता है। राजमहल के खजाने से अपनी मक्कारी के सहारे पांच मोहरें चुराकर सिपाहियों, चौकीदारों से बचने के लिए वह एक अलख निरंजन किस्म के साधु की शरण में पहुंच जाता है। बचने के लिए चरणदास को साधु के कहने पर पांच वचन देने पड़ते हैं–जिसमें सोने की थाली में भोजन न करना, हाथी की सवारी न करना, किसी रानी के प्रस्ताव रखने पर भी उससे शादी न करना, मौका मिलने पर ताज स्वीकार न करना और झूठ न बोलना शामिल हैं। संयोगवश उसे यह पांचो प्रस्ताव एक-एक कर अस्वीकार करने पड़ते हैं और वह भी तब जब चुराई हुई पांच मोहरों के कारण रानी के समक्ष उसकी पेशी होती है। रानी को क्या पता था कि वह चरणदास पर मर मिटेगी। वचन में बंधे होने के कारण चरणदास को रानी का प्रस्ताव ठुकराना बहुत महंगा पड़ता है। रानी उसे एक झूठे आरोप में फंसवा कर मरवा देती है। दिल्ली की झुग्गियों में रहने-पलने वाले यह छः से सोलह साल के बच्चे हबीब तनवीर के गत पैंतीस बरसों से बहुचर्चित, अनेकों बार मंचित और फिल्माए गए, छत्तीसगढ़ी नाटक 'चरणदास चोर' को कैसे मंचित कर पाए और वह भी शिमला के उस ऐतिहासिक सभागार गेयटी में जिसमें पृथ्वीराज कपूर, कामिनी कौशल, मनोहर सिंह, अनुपम खेर, राजा भसीन, अमला राय, भूपेन्द्र जैसे दिग्गज कलाकार नाटक खेल चुके हैं! जैसा कि नाटक में उपस्थित हिमाचल के राज्यपाल माननीय सूरजभान जी ने कहा–"मैं नहीं जानता कि इनमें से कौन पृथ्वीराज कपूर और कौन कामिनी कौशल या मनोहर सिंह और अनुपम खेर बनेगा, लेकिन ये बच्चे वह गुलाब हैं जो रहते तो चट्टानों, पत्थरों में हैं लेकिन ये खूब महक रहे हैं।" इस महक को बनाए रखने का श्रेय जाता है एशिया की पहली महिल[ा] पायलट, इंडियन एयरलाइन्स में कार्यरत कैप्टन इंद्राणी सिं[ह] को। इंद्राणी को बचपन से ही कुछ हटकर करने की चाह थी। यही चाह उसे आसमान की ओर खींच ले गई और अब अप[नी] नौकरी, अपने घर-घाट की जिम्मेदारियों के साथ-साथ ए[क] गैर सरकारी संगठन 'लिटरेसी इंडिया' के माध्यम से वह इ[न] उपेक्षित बच्चों को शिक्षा-दीक्षा दे रही है। यह तो सर्वविदि[त] है कि नेक काम करने वालों का कारवां खुद बन जाता है। शिमला में पली, पढ़ी ईश अमितोज ने अपना रंगकर्म अमल[ा] राय के निर्देशन में गेयटी से ही सात साल पहले आरम्[भ] किया था। पंजाब विश्वविद्यालय के भारतीय रंगमंच विभाग [से] रंगकर्म में एम.ए. और एन.एस.डी. के रंगमण्डल में कार्[य] करने के बाद वह बम्बई में स्वतन्त्र रूप से निर्देशन कर रह[ी] है। ईश का भी अपना अलग अन्दाज़े ज़िंदगी है। लोग-बा[ग] अपनी सालाना छुट्टियों में घर आते हैं, मौज-मस्ती करते हैं लेकिन ईशा जाती है लिटरेसी इंडिया के बच्चों के साथ रंगकार्यशाला के माध्यम से नाटक तैयार करने। गत व[र्ष] इनके द्वारा तैयार 'अली बाबा चालीस चोर' के दिल्ली औ[र] कोलकाता में सात शो आयोजित किए गए और इस व[र्ष] दिल्ली में 'चरणदास चोर' के चार मंचन करके इन 24 अबो[ध] बच्चों ने शिमला के अभिजात्य वर्ग को अभिभूत कर दिया। एन.एस.डी. के स्नातक और इस नाटक के सह-निर्देशक श्री वर्द्धन त्रिवेदी ने इस अनूठी संध्या का कुशल संचालन करते हुए गेयटी जैसे नामी सभागार में अनिवार्य और पर्याप्त सुवि[ध]ाओं की गैर-मौजूदगी की आलोचना करने से परहेज नहीं किया। बेचारे स्थानीय रंगकर्मी चीखते-चिल्लाते रहते हैं लेकिन गेयटी पर 'सैनिक शासन' के रहते कोई भी सकारात्मक सुधार सम्भव नहीं है लेकिन यह एक अलग कहानी है। महत्त्वपूर्ण यह है कि राजस्थानी शैली में इस अनूठी प्रस्तुति में बच्चों का आत्मविश्वास, उनकी मासूमियत, उनका इठलाना, मसखरी भरा अन्दाज, पलाश सेन और शिवानी कश्यप का गायन और अभिषेक राय का संगीत अपना अलग ही रं[ग] जमाता रहा।

शिमला में सरकारी स्तर पर नाटक और सांस्कृति[क] कार्यक्रम कभी-कभार प्रस्तुत किए जाते हैं लेकिन बि[ना] सरकारी अनुदान मांगे (दरअसल मांगने का वक्त ईश अमितो[ज] के पास था ही नहीं) इस तरह की भव्य प्रस्तुति एक बड़[ी] उपलब्धि है। बिना नाम गिनवाए मैं यह दर्ज करना चाहत[ा] हूं कि जिससे जो मांगा–छत, भोजन, वाहन, बच्चों को दे[ने] के लिए उपहार, धन– बिना झिझक उपलब्ध करवाया गया।

सी–13, मकान नं. 20, विकास न[गर]
शिमला–171009 (हिमाचल प्रदेश)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ. नरेन्द्र मोहन

देवेन्द्र इस्सर की कहानियों की रंग-प्रस्तुति

खाली मंच–एक खास संयोजन में ऊपर-नीचे, साथ-साथ सटे हैं बिल्डिंग ब्लाक्स जिन्हें खुद अभिनेता अपनी मनोदशाओं और दृश्यों की ज़रूरतों के हिसाब से बदलते हैं। यह स्टेज डिजाइनिंग महानगर के कथा-पात्रों और स्थितियों के खालीपन, अजनबीपन, खोए हुए वजूद के प्रतीकार्थों को एक साथ कई स्तरों पर उसारती है। एक-एक करके अभिनेता प्रेक्षागृह से स्टेज पर आते हैं और उनके प्रवेश के साथ ही संगीतात्मक आलाप की ध्वनियां उभरनी शुरू होती हैं। बीच-बीच में ड्रम बजता है, पहले धीमे-धीमे, यकायक तेज एक लय में और फिर डूबती हुई ड्रम बीट के साथ आलाप–सधा हुआ और गूंजता। उसी में से उभरते संवाद कभी तेज-तल्ख, कभी कोरे-कर्कश, कभी तन्हा, कभी बागी, कभी आत्मघाती, कभी उदास अकेलेपन में, कभी खौलते अंधेरे में...जी हां, पिछले दिनों इंडिया इंटरनेशनल सेंटर के ऑडिटोरियम में प्रदर्शित यह एक नाट्य-प्रयोग है आर्की थियेटर की तरफ से देवेन्द्र इस्सर की चार कहानियों–'बच्चा रो रहा है,' 'मफ़रूर', नींद' और 'बिजली का खंबा' को लेकर। ये कहानियां हिप्पी और बीटनिक युग की याद दिलाती हैं, उस दौर के संगीत, कला और कविता की, कामू, काफ्का और सार्त्र की। अस्तित्ववादी विचारों की चर्खी पर एक कथा-क्रम घूमने लगता है और एक ऐसा थियेटर सामने आता है जो रस के बजाय विचारों पर खड़ा है। मुझे याद आती है अरविन्द गौड़ निर्देशित प्रस्तुति 'फाईनल सोल्यूशन' और सुभाष चन्द्र बोस पर आधारित, एन.एस.डी. रंगमंडल की प्रस्तुति 'दिल्ली चलो' जहां विचारों की रंग-सक्रियता और टकराहटें उच्च कोटि के अभिनय के भीतर से फूटती हैं। मैं खुद से पूछने लगता हूं यहां विचारों की रेल-पेल के बावजूद वैसी वैचारिक और रंग-सक्रियता क्यों नहीं है।

अमूर्त कला की हदों को छूती इन कहानियों को मंच पर उतारने में निर्देशक इफ्तिखार मुल्क चिश्ती ने कड़ी मेहनत और कल्पनाशीलता से काम लिया है। अन्तरालों की मदद से उसने झीने-से प्रतीकों और रूपकों में गुंथी कथाओं को आज से जोड़ने, हाड़-मांस प्रदान करने का काम किया है। मानवीय स्थिति के एक साथ कई पहलुओं को उसने स्टेज डिजाइनिंग, शास्त्रीय संगीत के लंबे आलापों और कुछ नये प्रकाश-प्रयोगों के ज़रिए मूर्त करने का प्रयत्न किया है। कुशल और मंजे हुए अभिनेताओं के अभाव में, कई बार रंग-युक्तियों के बहुल प्रयोगों से भी प्रस्तुति लुढ़कती दिखती है हालांकि निर्देशक रंग-कर्म के कौशलपूर्ण उपयोग से उसे उबारने का बार-बार प्रयत्न करता है।

मैं सोचता हूं मंच डिजाइन, अंधेरे में टार्चों का उपयोग, कई तरह के उतार-चढ़ाव में दो घंटों तक दर्शकों को निनादित करता बेहतरीन आलाप पूरी प्रस्तुति को क्यों नहीं बांध पाता? क्या प्रस्तुति की प्रतीकधर्मिता से ऐसा हुआ? क्या कहानियां इस हद तक अमूर्त थीं कि मंचन उसे पकड़ नहीं पाया? क्या अनुभवी अभिनेताओं की कमी से ऐसा हुआ? जो भी हो, मैं इन प्रयोगों में देवेन्द्र इस्सर को ढूंढ़ता रहा और खूशबू और तितलियों के बजाय मेरे हाथ में आई महज़ उनकी धुंधली परछाइयां।

239–डी, एम.आई.जी. राजौरी गार्डन
नई दिल्ली–110027

बलात्कार तथा अन्य कहानियाँ

मीरा सीकरी

मीरा सीकरी की ये कहानियाँ आज की दुनिया में फैली हिंसा और आतंक के विविध रूपों को पाठक के समक्ष रखती हैं। यह आतंक विश्व के लगभग सभी भागों में मनुष्य की चेतना को त्रस्त किए हुए है। विश्व के अनेक देशों का भ्रमण कर चुकी लेखिका हिंसा के आतंक में जीते मनुष्य की मन:स्थितियों के साथ ही उसके कारणों की भी पड़ताल करती चलती है।

मूल्य : 90 रुपये

अभिव्यंजना

बी–70/72, डी.एस.आई.डी.सी. काम्पलेक्स, लारेंस रोड, दिल्ली–110035

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'सींगधारी' नाटक मराठी में

पिछले दिनों औरंगाबाद में एक महत्त्वपूर्ण लोकार्पण समारोह और संगोष्ठी सम्पन्न हुई जिसमें डॉ. नरेन्द्र मोहन का नाटक 'सींगधारी' मराठी में अनूदित होकर व्यापक चर्चा का विषय बना। मराठी में पुस्तक रूप में इसका अनुवाद 'नेत्याला फुटलंय शिंग' नाम से श्रीनाथ तिवारी ने किया है जिसके प्रकाशक हैं कीर्ति प्रकाशन, औरंगाबाद। इस अवसर पर विशेष रूप से आमंत्रित डॉ. नरेन्द्र मोहन ने कहा कि अपने नाटक को मराठी में भाषांतरित हुआ देखना अपनी आंखों अपनी कृति को पुनर्जन्म पाते देखना है। उन्होंने कहा कि जिस तरह मराठी का हर महत्त्वपूर्ण नाटक हिन्दी में अनूदित और मंचित हुआ है वैसे ही हिन्दी के नाटक भी बड़ी संख्या में मराठी में आने चाहिए।

अध्यक्ष पद से बोलते हुए मराठी के प्रख्यात नाटककार श्री दत्ता भगत ने कहा कि इस नाटक का मराठी में आना एक घटना है। यह महज़ अनुवाद नहीं, मराठी में एक तरह का पुनःसृजन है। नाटकीय शब्द के ज़रिये विद्रोह करने की स्वतंत्रता के पक्ष को रेखांकित करते हुए उन्होंने कहा कि नुक्कड से रंगमंचीय नाटक की जो रंग-यात्रा लेखक ने तय की है और जो नाटक के भीतर से अपना प्रकाश बिखेरती है, वह मराठी रंगकर्मियों के लिए नया अनुभव ही नहीं है, प्रयोग के लिए चुनौतीपूर्ण भी है।

मराठी के चर्चित रंगकर्मी केशव देशपाण्डे ने कहा कि वर्तमान विसंगति को स्वर देने में यह नाटक शब्द और रंग के कई स्तरों पर एक सशक्त और सफ़ल कृति है जिसके प्रयोग मराठी रंगभूमि पर बार-बार किए जाएंगे। इस नाटक में सहज रंग-शिल्प की एक अलग बानगी और अभिनय की भाषा की तरफ संकेत करते हुए उन्होंने कहा कि इसका मंचन वे अपनी रंगमंडली के साथ जल्द करेंगे।

नाटक का लोकार्पण करते हुए प्रसिद्ध नाट्य समीक्षक डॉ. चन्द्रकांत धांडे ने नाटक में दो कथाओं –लोक-कथा और वास्तविक जीवनकथा के समानान्तर विन्यास की चर्चा की। सूत्र-संचालन किया मराठी कवि विश्वास वसेकर ने। इस अवसर पर रवीन्द्र किम्वहुने, लक्ष्मीकांत तांबोली, शशि वरहाणपुरकर, माधव सोनटक्के, रंगनाथ तिवारी, बाबा भांड, मंगला वैष्णव, गणेशराज सोनाले, श्री दि ईनामदार, महावीर जोंधले, के.ई. हरिदास, प्रतिभा येरेकर जैसे प्रसिद्ध लेखक, समीक्षक, रंगकर्मी और बुद्धिजीवी उपस्थित थे।

प्रस्तुति– डॉ. गणेशराज सोनाले

जब तक मुश्किलें रहेंगी, कविता रहेगी!

नयी दिल्ली के त्रिवेणी सभागार में किताबघर प्रकाश की ओर से कवि अमरनाथ 'अमर' के सद्यःप्रकाशि कविता-संकलन 'स्पन्दित प्रतिबिम्ब' का लोकार्पण समारो आयोजित किया गया। कवि अमर ने कविता-पाठ से पू वक्तव्य दिया–मैं कभी कविता की विधाओं की परिभाषा नहीं उलझा। मेरे लिए कविता मन की भावनाओं और संवेदनाओं की सहज अभिव्यक्ति रही। संघर्ष में जिंदगी की परिभाषा की दिशा और दशा की तलाश रही। और, इसी के बीच चांद रातों में, फूलों की क्यारियों में, हसीन घाटियों में एक तस्वी हमेशा झिलमिलाती रही, जो प्रेम की कविताओं का स्पन्द बनी।...जीवन के संघर्ष की पगडंडियों पर उसने सहारा दिय लड़ने की हिम्मत दी, मूल्यों को सम्बल दिया, आत्मविश्वा की बुलन्दी दी और मैंने यथार्थ की दुनिया का स्पर्श किया

चर्चा-प्रवर्तन करते हुए कथा-लेखिका चित्रा मुद्गल ने कहा–ये कविताएं मन के कोनों में ले जाती हैं, जिन्हें ह व्यावहारिकता से तोप देते हैं। मुझे बच्चन, भारती याद आ गये और लगा मैं उन दिनों में पहुंच गयी हूं जब कविता ह विचार, दृष्टि, सरोकार देती थी और शायद आज कविता ने हमसे नाता तोड़ लिया है! 'स्पन्दित प्रतिबिम्ब' की कविता पढ़ते हुए अचरज हुआ कि प्रकृति के साथ जो आवाजा है–चाहे वह रात का अंधेरा हो, वर्षा की टिपटिपाती बूंदें हों सुबह के ओस-कण हों, पहाड़ों की धाराएं हों, पेड़-पौधे व जंगल हों–उससे कवि की प्रतिबद्धता है। आज समाज कहीं छिटक गया है, हर ओर ह्रासमान मूल्यों की बात हो रही है–तो अंधेरा और क्या है? सच, कविता मैं भीतर तक जाक पढ़ती हूं और कभी उसकी समीक्षा नहीं कर सकती! कवि को सुनकर ही जानना मात्र चावल का एक दाना है।

डॉ. रामदरश मिश्र की टिप्पणी थी–कवि अमर के कविताओं में प्रकृति की छवियां हैं, लोक-जीवन के प्रति रागात्मक संपृक्ति है और आधुनिक जीवन की न जाने कितन विषमताएं और विडम्बनाएं हैं, लेकिन इनके बीच एक ची निर्भ्रान्त भाव से उपस्थित है–वह है कवि की मानववादी मू दृष्टि। कवि चाहता है कि दुनिया प्रेम से भरी हो, नये-पुरा में, व्यक्ति और समाज में एक सन्तुलन स्थापित हो। हवा थपेड़ों के साथ नवचेतना की जागृति बनी रहे, आदमी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मामूलियत के प्रति झुकाव बना रहे, सप्तरंगी किरणों की मोहक छवि से स्फूर्तिदायी आलोक फूटता रहे।

संगोष्ठी के अध्यक्ष कमलेश्वर ने कहा–कविता जरूरी सवाल उठाती है। आज उसकी छांव में अकुलाहट है। यह समय ऐसा है, जब मनुष्य को कविता करने लायक नहीं छोड़ा गया है। अब ऐसे समय जब हवाएं विषाक्त होने लगी हों, कविता स्पन्दित करती है। हम चाहते हैं शब्दों के साथ अनाचार न हो, वे जीवन-मूल्यों की रक्षा करें। कविता लिख जाने के बाद जो कुछ कहने लगती है, वह कितनों को रास आता है? इसलिए आज कविता से संवाद बहुत मुश्किल हो गया है।

संगोष्ठी में उपस्थित थे–डॉ. कन्हैयालाल नन्दन, पद्मा सचदेव, दिनेशनन्दिनी डालमिया, रामकुमार कृषक, मजीद अहमद, महेश दर्पण, डॉ. शेरजंग गर्ग, कुंवर बेचैन, नीलम शर्मा, लक्ष्मीशंकर वाजपेयी, विनीता सिंह, डॉ. आर.बी. लाल, राधेश्याम तिवारी, राजकुमार गौतम आदि। कवयित्री अलका सिन्हा ने सफल मंच-संचालन किया।

प्रस्तुति–मजीद अहमद

द्वितीय अवितोको हिन्दी नाट्य लेखन प्रतियोगिता का आयोजन

अवितोको (अक्षर विश्व का तोष व कोष) शिक्षा, प्रशिक्षण, साहित्य, रंगमंच, महिला व बाल विकास, जनकल्याण आदि के क्षेत्र में काम करने वाला संस्थान है। हिन्दी में लिखे जा रहे मौलिक नाटकों को बढ़ावा देने, संरक्षित करने व अन्य रंगकर्मियों को उपलब्ध कराने के उद्देश्य से समसामयिक विषयों पर द्वितीय अवितोको हिन्दी नाट्य लेखन प्रतियोगिता का आयोजन किया गया है। नियम व विवरण इस प्रकार हैं:

1. लेखक की उम्र या नाटक की विषयवस्तु या नाटक की लंबाई का कोई बंधन नहीं है।

2. प्रविष्टि कागज के एक तरफ साफ अक्षरों में लिखी या टंकित हो और तीन स्वच्छ प्रतियों में भेजी जाए। हाथ से लिखी रचना होने पर काली स्याही का प्रयोग करें।

3. प्रतियोगिता में भेजी गई रचना लौटाना संभव नहीं है। अतः उसकी एक प्रति अपने पास रखें। प्रविष्टि प्राप्ति की सूचना के लिए पता लिखा पोस्टकार्ड भेजें।

4. नाटक मौलिक, अमंचित व अप्रकाशित हो। लेखक इस आशय का प्रमाणपत्र देंगे "मैं घोषणा करता / करती हूं कि मेरा नाटक (शीर्षक) मौलिक, अमंचित व अप्रकाशित है तथा प्रतियोगिता का निर्णय होने तक इसे कहीं भी मंचन या प्रकाशन के लिए नहीं भेजा जाएगा।"

5. निर्णायकों का फैसला अंतिम व सर्वमान्य होगा। उस पर कोई भी पत्राचार असंगत होगा।

6. पुरस्कृत व अन्य चुनींदा रचनाओं का सर्वप्रथम प्रकाशन अवितोको द्वारा होगा।

7. पुरस्कृत रचनाएं अवितोको के अधिकार क्षेत्र में रहेंगी। अन्य संस्था द्वारा उसे मंचित करने के लिए अवितोको से लिखित अनुमति लेनी होगी।

8. सर्वोत्तम तीन नाटक प्रतिभा पुरस्कार (रु. 2500/–), प्रेरणा पुरस्कार (रु. 2000/–) व पहचान पुरस्कार (रु. 1500/–) से सम्मानित किए जाएंगे। इनके अतिरिक्त विशेष परिस्थितियों में प्रयास पुरस्कार (रु. 1000/–) भी दिए जाने का प्रावधान है।

9. लेखक अपना नाम केवल पहले पृष्ठ पर यानी रचना के शीर्षक के बाद लिखें।

10. लिफ़ाफे के ऊपर द्वितीय अवितोको हिन्दी नाट्य लेखन प्रतियोगिता अवश्य लिखें। अधिक जानकारी के लिए नीचे दिए पते व फोन पर संपर्क करें या लिखित जानकारी के लिए अपना पता लिखा हुआ व उचित डाक टिकट लगा लिफ़ाफा भेजें। अपनी प्रविष्टि 31 दिसंबर 2002 तक इस पते पर भेजें– विभा रानी, 504/बी, लिलाक गार्डन्स, चारकोप, कांदीवली (पश्चिम), मुबंई–400067, फोन–022–8694643 ई मेल-quitoko@rediffmail.com

प्रस्तुति–विभा रानी

हरदर्शन सहगल को 'पहचान' सम्मान

हिन्दी के प्रसिद्ध कथाकार एवं नाटककार हरदर्शन सहगल को अवितोको, मुम्बई की ओर से 'पहचान सम्मान' से नवाजा गया है। मैसूर असोसिशन ऑडिटोरियम किंग सर्किल, माटुंगा, मुम्बई में आयोजित भव्य समारोह में उन्हें सम्मान-पत्र, स्मृति-चिह्न एवं सम्मान-राशि भेंट की गई।

प्रस्तुति–बुलाकी शर्मा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिव्यंजना के दो नये प्रकाशन

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी व्यंग्यः सृजन की यात्रा

संपादक

डॉ. सुदर्शन मजीठिया :

डॉ. बालेन्दुशेखर तिवारी

हिन्दी के 80 व्यंग्यकारों की रचनाओं का एक अनूठा संग्रह जो हिन्दी व्यंग्य साहित्य का लगभग समग्र चित्र प्रस्तुत करता है। संपादकीय द्वारा लिखित भूमिका सहित।

पृष्ठ : 400

मूल्य : 300/- सजिल्द

150/- पेपर बैक

हिन्दी उपन्यासों में प्रशासन

डॉ. सुधाकर अदीब

उत्तर प्रदेश सिविल सेवा के अधिकारी डॉ. सुधाकर अदीब द्वारा रचित आलोचनात्मक कृति जिसमें हिन्दी उपन्यासों में प्रशासन तत्व के विविध रूपों का चित्रण बड़ी प्रामाणिकता से किया गया है।

मूल्य : 250/-

अभिव्यंजना

बी-70/72, डी.एस.आई.डी.सी. काम्प्लेक्स,

लारेंस रोड, दिल्ली-110035

महीप सिंह की अद्यतन कहानियों का संग्रह

ऐसा ही है

मूल्य-125 रु.

प्रकाशक

इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन

के-71, कृष्ण नगर

दिल्ली-110051

डॉ. महीप सिंह के बहुचर्चित निबंधो का संग्रह

कुछ सोचा : कुछ समझा

मूल्य : 150 रु.

प्रकाशक

भारत पुस्तक भण्डार

343-ई ब्लाक, सोनिया विहार

दिल्ली-110094

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिव्यंजना द्वारा प्रकाशित महत्वपूर्ण आलोचना ग्रंथ

- महीप सिंह का कथा–संसार
  डॉ. कमलेश सचदेव द्वारा प्रख्यात कथाकार महीप सिंह के कथा–संसार के सृजन का समग्र मूल्यांकन (पृष्ठ 208 मूल्य 200 रु.)
- कथाकार महीप सिंह
  महीप सिंह के कथा–साहित्य पर डॉ. गुरचरण सिंह के संपादन में 26 सुधी लेखकों / आलोचकों के महत्वपूर्ण लेख (पृष्ठ 232 मूल्य 150 रु.)
- आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में महानगर
  डॉ. कुसुम अंसल द्वारा रचित महत्वपूर्ण आलोचना ग्रंथ जिसें देश के महानगरों की पृष्ठभूमि पर लिखे गये आधुनिक उपन्यासों का विविध पक्षों से मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है (पृष्ठ240 मूल्य 200 रु.)
- कुसुम अंसल का कथा साहित्य
  प्रख्यात लेखिका कुसुम अंसल के सम्पूर्ण कथा साहित्य, विशेष रूप में उनके बहुचर्चित उपन्यास 'एक और पंचवटी' के कथ्य और शिल्प की सूक्ष्म परख प्रस्तुत करने वाली प्रो. नगमा जावेद मलिक की विशिष्ट कृति (पृष्ठ 116 मूल्य 90 रु.)
- हिन्दी उपन्यासों में प्रशासन
  डॉ. सुधाकर अदीब द्वारा रचित आलोचनात्मक कृति जिसमें हिन्दी उपन्यासों में चित्रित प्रशासन तन्त्र का प्रामाणिक चित्रण प्रस्तुत किया गया है। (पृष्ठ 288 मूल्य 250 रु.)
- कबीर ग्रंथावली में प्रेम भक्ति
  संत कबीर के काव्य में चित्रित प्रेम भक्ति–तत्व पर डॉ. कुसुम श्रीवास्तव का महत्वूर्णण शोध ग्रथ (पृष्ठ 300 मिल्य 150 रु.)
- सुदर्शन मजीठिया : सृजन के धरातल
  डॉ. सुदर्शन मजीठिया के समग्र साहित्य एवं व्यक्तित्व का मूल्यांकन करने वाली डॉ. गुरचरण सिंह द्वारा संपादित महत्वपूर्ण कृति (पृष्ठ 200 मूल्य 200 रु.)
- समकालीन हिन्दी कहानी : स्त्री–पुरुष सम्बन्ध
  समकालीन हिन्दी कहानी में स्त्री–पुरुष सम्बन्धों को विविध कोणों से चित्रित करते हुए डॉ. सुनन्त कौर ने इस पुस्तक में हिन्दी कहानी के इस पक्ष का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। (पृष्ठ 178 मूल्य 80 रु.)
- साहित्य और दलित चेतना
  दलित साहित्य की पृष्ठभूमि और कुछ प्रतिनिधि रचनाओं का डॉ. महीप सिंह और डॉ. चंद्रकांत बांदिवडेकर द्वारा संपादित संग्रह जिसने हिन्दी में दलित साहित्य की विशद चर्चा को जन्म दिया। (पृष्ठ 216 मूल्य 200 रु.)
- हिन्दी कहानी : समकालीन परिदृश्य
  हिन्दी के सुप्रसिद्ध कहानीकारों के अवदान पर डॉ. सुखबीर सिंह द्वारा संपादित महत्वपूर्ण पुस्तक (पृष्ठ 142 मूल्य 80 रु.)
- लेखक और अभिव्यक्ति की स्वाधीनता
  लेखक के सम्मुख अभिव्यक्ति की स्वाधीनता का प्रश्न सदैव महत्वपूर्ण रहा है। इस प्रश्न पर विविध कोणों से लिखे गये सुधी लेखकों के विचारों पर हिन्दी में अपने ढंग की अनूठी पुस्तका। संपादक : डॉ. महीप सिंह (पृष्ठ 144 मूल्य 60 रु.)

संचेतना के साहित्य–रसिक पाठकों के लिए सभी पुस्तकें आधे मूल्य पर

अभिव्यंजना

एच–108, शिवाजी पार्क, पंजाबी बाग, नई दिल्ली–110026

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह परिचर्चा लाजवाब रही

'संचेतना' के पूर्णांक 164 में प्रकाशित साहित्यिक पुरस्कारों के निकष पर शुद्ध सैद्धान्तिक परिचर्चा पढ़कर लगा कि हमारे साहित्य में पंकिल राजनीति के दलदल के बीच भी संतुलन और विवेक के कमल खिल सकते हैं, खिल रहे हैं। जिस प्रकार एक प्रायोजित साक्षात्कार में संदर्भ से रहित और वंचित एक वाक्य को लेकर आदरणीय कविवर श्री राजेन्द्र शाह को दिए गए ज्ञानपीठ पुरस्कार की निराधार भर्त्सना की गई और राजनैतिक बहस उठाई गई, वह निश्चय ही एक प्रदूषित एवं आत्मघाती दृष्टिकोण का प्रपंच था। आपकी यह परिचर्चा लाजवाब रही। मैं आशा करता हूं कि निष्काम द्वेष और अकारण रोष के विधायक विवेकसंगत पुनर्विचार करेंगे।

डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी, सांसद
18, विलिंगडन क्रेसेंट, नई दिल्ली-110011

दिल्ली से बाहर निकलकर देखिए

'संचेतना' (पूर्णांक 161) के 'मुद्दा' स्तम्भ के अन्तर्गत 'साहित्यिक वातावरण इतना दूषित क्यों हो रहा है?' विषय पर श्री सुरेन्द्र तिवारी का मत 'साहित्यिक प्रदूषण हमेशा के लिए नहीं है' पढ़ने का अवसर मिला। इस स्तम्भ में प्रकाशित सभी विद्वानों के लेख पठनीय, विचारणीय और मननीय हैं। किन्तु तिवारी के लेख ने मुझे थोड़ा अधिक झकझोरा है। यूं तो दिल्ली की आबोहवा में पाठक की प्रतिक्रिया की कोई औकात नहीं होती है पर फिर भी आप तक अपनी बात पहुंचाने की सोची है। बड़ी-बड़ी स्पीचों, फतवों और कालजयी (?) वक्तव्यों के बीच मेरी बात नक्कारखाने में तूती की आवाज जैसी लगेगी। पर मैं इतने से ही खुश हूं।

आज का साहित्यिक वातावरण दूषित क्यों हो रहा है? यह कौन-सा साहित्यिक वातावरण है? यह चन्द साहित्यिक लोगों का वातावरण है पूरे साहित्यिक समुदाय का नहीं। यहां बहुसंख्यक पाठक वर्ग नदारद है। थोड़े-से लोग लिखते हैं, वही पढ़ते हैं और एक दूसरे की पीठ ठोंकते हैं। चूंकि उनके हाथ में पत्रिकाओं की कमी नहीं है इसलिए छपने की समस्या नहीं है। क्या दिल्ली में बैठकर इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है कि न जाने कितने रचनाकारों की पाण्डुलिपियाँ आज भी प्रकाशन की प्रतीक्षा में हैं? और तो और यदि गाढ़ी कमाई का पैसा लगाकर छप भी जाए तो क्या उसका नोटिस लिया जाता है? यदि पता लगाने की जुर्रत की जाए तो यह बात सच होगी। अपनी सीमित जानकारी के आधार पर दस-बीस रचनाकार तो मैं स्वयं बता सकता हूँ।

दिल्ली के मयूर विहार में एक वयोवृद्ध विद्वान रहते हैं-डॉ. राम प्रसाद मिश्र। उनके 96 ग्रन्थ हैं। कभी उनका जिक्र दिल्ली की पत्रिकाओं में देखने को नहीं मिला। 'हिन्दी साहित्य का वस्तुपरक इतिहास' नामक वृहत्काय ग्रंथ उन्होंने अभी प्रकाशित किया है। इसको जांचने-परखने का काम कब होगा कह नहीं सकता। मयूर विहार के दो-चार साहित्यिक मित्रों से मैंने जिक्र किया, वे उन्हें नहीं जानते। विचारधारा आड़े आती होगी।

आलेख में तिवारी जी ने बड़ी बेधक बातें लिखी हैं। छपास वातावरण, धक्कामार वातावरण, साहित्य से अधिक 'सहित' की चिन्ता, शालीनता और गरिमा का दिनो दिन ह्रास, व्यावसायिकता की होड़, नामा-दामा का प्रचलन, अनलड़े विजेता स्वामी की जय जयकार, लेखन के नए और चुनौती भरे सूखते स्रोत, चतुराई और शोषण से मिलती प्रसिद्धि, लेखकीय व्यक्तित्व का बौना होना, लिखित पर वाचिक को तरजीह, आशीर्वचन का लावा, साहित्यिक प्रयत्नों से कीर्ति स्तम्भ का निर्माण, वरिष्ठ लेखकों का आचरण, 'यौन गंगा' में डूबता नव लेखक वर्ग, भाषा को नंगा किये जाने का सत्प्रयास आदि बातें हैं जो आज के साहित्यिक वातावरण का निर्माण करती हैं। पर ये काम भी हिन्दी के लोग ही कर रहे हैं। इसमें सात समुन्दर पार का षड्यंत्र या विदेशी हाथ होने की गुंजाइश कम दिखती है। 'स्वतंत्र भाव' से सही लेखन में जुड़े लोगों की पूछ यहां कैसे हो सकती है? पाठकों की उपेक्षा करेंगे तो गरियायेंगे भी कि वे उदासीन हैं। बहस-मुबाहसों के बीच पाठक को तुच्छ समझकर किनारे कर दिया गया है। इसी बेदिल दिल्ली में डॉ. रामविलास शर्मा जी ने आंखे मूँदी भी नहीं थीं कि यार लोग 'अट्टहास' कर उनकी 'शव-साधना' में जुट गए। यह काम उर्दू वालों, अंग्रेजी वालों, अहिन्दी भाषा-भाषियों ने नहीं, स्वयं हिन्दी वालों ने ही किया है। तो भइया, यह बताओ कि इसका दुष्परिणाम कौन भोगेगा?

लेखकीय महानता तो कोई लखनऊ की रेवड़ी है नहीं जो चेले-चपाटों को बांट हथिया ली जाए। जो महान थे उनके साथ हमने क्या किया! निराला जी शताब्दी पुरुष घोषित किए गये हैं, पर हमने उनके जीवनकाल में क्या हाल किया था। स्व. ग. मा. मुक्तिबोध के जीवन की दास्तान क्या कम पीड़ादायक है। गिनती तो लम्बी हो सकती है। अब बताइये कि अपनी इज्जत हम खुद नहीं करेंगे, आपस में ‹नहीभद्दर करेंगे तो फिर और को गरज क्या पड़े कि वह हमारी इज्जत करे। अब संत कुंभनदास की परम्परा के साहित्यकार नहीं रहे जो सीकरी जाना अपनी हेठी समझते थे। अब तो सीकरी में ही धूनी रमती है और वहां की गंदगी पूरे देश पर उछाली जाती है। जब गंदगी की बहुतायत है तो वातावरण प्रदूषित होगा ही, काहे को शिकायत और किससे? दिल्ली का पाठक समुदाय हतप्रभ होकर यह सब देख रहा है। दिल्ली से बाहर निकलकर गांवों और कस्बों में साहित्य की प्रस्तुति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देख लीजिए, साहित्य जिंदा है, वह मर नहीं सकता और उसका 'भविष्य' कदापि 'अंधकारपूर्ण' नहीं है। तिवारी जी की बात से किसी को असहमति नहीं हो सकती है।

शिवबाबू मिश्र

21, डब्ल्यू टाइप ए बंगला एरिया, आर्डनेन्स एस्टेट, जयपुर, देहरादून-248008

आत्मीय आलेख

संचेतना का 164वां अंक मिल गया है। पहले अंकों की तरह यह अंक भी महत्वपूर्ण है। साहित्यिक पुरस्कारों पर प्रसिद्ध साहित्यकारों की टिप्पणियां विशेष ध्यान आकर्षित करती हैं। यू.के. से श्रीमती उषा राजे सक्सेना की कहानी अच्छी है। मैं जब अन्तर्राष्ट्रीय इन्दु शर्मा पुरस्कार के सिलसिले में लंदन गया था तो उषा जी से मुलाकात हुई थी। वे लेखक के साथ एक बहुत अच्छी इंसान भी हैं। उन लोगों ने विदेश में भी हिन्दी के लिए काम करना नहीं त्यागा है। श्री गौतम सचदेव का व्यंग्य भी मन को छू गया। डॉ. सचदेव लेखक के साथ बहुत अच्छे आलोचक हैं। पुरस्कार समारोह में 'दारोश तथा अन्य कहानियां' संग्रह पर गौतम जी का आलेख बेहद सराहा गया था।

डॉ. कुसुम अंसल जी द्वारा लिखित सरोज वशिष्ठ का व्यक्ति-चित्र इस अंक की उपलब्धि है। हालाकि आए दिनों सरोज जी (उन्हें हम शिमला में मम्मी कहकर पुकारते हैं) पर उनके लेखन और कार्यों के सन्दर्भ में कुछ न कुछ प्रकाशित होता ही रहता है लेकिन इतना आत्मीय आलेख मैंने आज तक नहीं पढ़ा है। मैं डॉ. कुसुम जी का हृदय से आभारी हूं कि उन्होंने सरोज अम्मा के बारे में इतनी बातें की हैं। सचमुच इस उम्र में भी सरोज जी युवा हैं। इतना काम करना युवाओं के लिए भी संभव नहीं होता जितना वे कर रही हैं। ईश्वर उन्हें लम्बी उम्र दे।

एस.आर हरनोट

हि.प्र. पर्यटन विकास निगम, रिट्ज एनैक्सी, शिमला-17100

बातों-बातों में

अंक 163 एवं 164 को पढ़ लिया है। मैं चूंकि व्यंग्य में दिलचस्पी रखता हूं सो राजेन्द्र त्यागी और गौतम सचदेव जी का व्यंग्य सच में बहुत बढ़िया है। गांधी की आत्महत्या और ठेका दोनों मामले/ विषय को प्रभावी ढंग से छुआ गया है। चक्राचक्र बातों-बातों में कहां से कहां ले गया। असली व्यंग्य का मिजाज यही है। मजा आ गया। सरल भाषा ज्यादा असर करती है पाठक के मन पर। अच्छी सामग्री के लिए आप बधाई के पात्र हैं।

विपिन गोयल

29/4/43, न्यू विजय नगर, जालन्धर (पंजाब)

पठनीय एवं स्तरीय सामग्री

सृजन, संवाद एवं विचार के माध्यम संचेतना का पूर्णांक 164 पढ़ने को मिला। अंक में प्रकाशित सामग्री पाठकों को झकझोरती है तो कहीं विवश करती है । मर्मस्पर्शी रचनाएं कभी इतनी प्रभावी बन जाती हैं कि पाठक सुध-बुध खो बैठता है। वैसे संचेतना की सामग्री पठनीय स्तरीय एवं प्रभावी होती है। इस अंक को भी मैंने आद्योपांत पढ़ा। लघु पत्रिकाओं पर सुरेन्द्र तिवारी की विश्लेषणात्मक टिप्पणी अच्छी लगी। संचेतना अंत तक पाठकों को बांधे रखती है। साधुवाद स्वीकारें।

प्रवीण जोशी

7 आजाद नगर, मसाखेड़ी रोड, इन्दौर-52001 (म.प्र.)

विचारोत्तेजक संपादकीय

एक लम्बे अंतराल के बाद 'संचेतना' का अंक नवम्बर मिल ही गया। हार्दिक धन्यवाद।

आपके द्वारा चलायी जा रही संवाद की परंपरा में इस बार का 'सम्मान का निकष' तथा विचारोत्तेजक संपादकीय निश्चित रूप से सराहनीय है। बधाइयां।

राधाकान्त भारती

56, नगिन लेक अपार्टमेंट, पीरागढ़ी, नई दिल्ली-87

सभी पुरस्कार ऐसे तो नहीं

आदाब। इस दफ़ा सम्मान पुरस्कार पर लेखकों के विचार पढ़े। सरोज वशिष्ठ के विचार से मैं काफी हद तक असहमत हूं कि इनकी ठोस दलीलों के बावजूद नोबल पुरस्कार की मिसाल भी मेरे सामने है-1950 में (सौ बरस पहले!) साहित्य के लिए जिस लेखक को लियो टाल्सटाय के मुकाबले पुरस्कार हेतु चुना गया, उसका नाम और काम शायद ही किसी को याद होगा। खुद मैंने कई दफ़ा इसे याद रखने की कोशिश की लेकिन नाकाम रहा। और टाल्सटाय का नाम व काम! ज़ाहिर है कि जगजाहिर है। प्रायः लेखकों की एक ही मास्टरपीस रचना हुआ करती है। लेकिन लियो की दो मास्टरपीस रचनाएं हैं-युद्ध और शांति तथा अन्ना कारिनीना! फिर?

इसके साथ ही यह कि राजेन्द्र शाह जैसे लिखने वालों की पैरवी करना भी वशिष्ठजी की सोच को जाहिर करता है। इसका कहीं यह मतलब नहीं कि सारे ही पुरस्कार-सम्मान जोड़-तोड़ के नमूने होते हैं।

पत्रिका की अधिकांश रचनाएं पठनीय हैं।

हबीब कैफ़ी

159, डॉ. जाकिर हुसैन कॉलोनी, पांचदी चौपासनी रोड, जोधपुर (राजस्थान)

बेहतरीन पत्रिका

दिनोदिन संचेतना में बहुत निखार आ रहा है। अन्य पत्रिकाओं से हटकर इस पत्रिका की सामग्री बहुत अच्छी होती है। इस कारण पत्रिका संग्रहणीय है।

इस अंक 164 के सारे स्तम्भ विचारोत्तेजक हैं। कहानियों के पात्र, संवाद प्रेरक एवं प्रशंसनीय हैं तीनों कहानियों में गत्यात्मकता है। जो पाठकों को बांधे रखती है।

इस बेहतरीन पत्रिका को मेरी हार्दिक बधाई।

डॉ. (श्रीमती) बी. कार

मेगजीन लाइन, परासिया छिन्दवाड़ा-480441 (म.प्र.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय भाषा आयोग बनना चाहिए

भारत सरकार के मानव संसाधन मंत्रालय ने भारतीय भाषाओं के विकास, प्रचार-प्रसार तथा संवर्धन हेतु राष्ट्रीय स्तर की एक परिषद का गठन किया है जिसमें विभिन्न भारतीय भाषाओं के विद्वानों को सम्मिलित किया गया है। इस परिषद के अध्यक्ष स्वयं प्रधानमंत्री हैं और उपाध्यक्ष मानव संसाधन विकास मंत्री हैं। दो वर्ष पूर्व भी एक ऐसी ही समिति का गठन इसी मंत्रालय द्वारा किया गया था। किन्तु इस अवधि में उसकी एक भी बैठक नहीं हुई और वह अपना कार्यकाल पूरा करके समाप्त हो गई। इस पुनर्गठित समिति की नियति क्या है, कुछ समय में इसका पता लग जाएगा।

मुझे लगता है कि भारतीय भाषाओं के प्रति सरकार की स्पष्ट दृष्टि नहीं है। वह सभी भारतीय भाषाओं की उन्नति चाहती है इसके लिए वह कुछ लोगों की एक समिति का गठन कर देती है। शिक्षा सचिव जैसे किसी सरकारी अधिकारी को उसका संयोजक बना दिया जाता है। उसके पश्चात सारी बात किसी फाइल में कैद होकर रह जाती है। इस दृष्टि से न कोई स्पष्ट नीति बनती है, न कोई योजना बनती है उसके कार्यान्वयन का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

यह समझना बहुत दूभर है कि भाषाओं के प्रति सरकार की दृष्टि और उसके सभी प्रयास इतने कैजुएल क्यों हैं? स्वतन्त्रता के पश्चात से ही इस सम्बन्ध में तदर्थ नीति अपनाई जाती रही है। संविधान के निर्माण के साथ यह कहा गया था कि केन्द्र सरकार के राजकाज की भाषा देवनागरी लिपि में हिन्दी होगी, किन्तु 15 वर्ष तक अंग्रेजी को भी इस कार्य के लिए बनाए रखा जाएगा। आज 57 वर्ष होने आए। अंग्रेजी, जिसे केवल कुछ समय के लिए केन्द्र की सहभाषा के रूप में काम करना था, का पूरा वर्चस्व बना हुआ है और हिन्दी केवल अनुवाद की भाषा बन कर जीवित है। हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के बीच सौहार्द्र और सहयोग का ऐसा कोई माध्यम नहीं बना है, जिसमें केन्द्र की राजभाषा बनने के लिए उनका सार्थक समर्थन प्राप्त किया जा सकता। हुआ इसके विपरीत है। अनेक भारतीय भाषाओं में हिन्दी के प्रति दुर्भाग्यपूर्ण स्पर्धा और प्रतिद्वन्द्विता की भावना जागृत हुई है।

मेरा सदैव यह मत रहा है कि प्रश्न केवल हिन्दी का नहीं है। हिन्दी को अपना उचित स्थान अन्य भारतीय भाषाओं के सहयोग के बिना प्राप्त नहीं हो सकता। इस स्थिति का सबसे अधिक लाभ अंग्रेजी को मिल रहा है। भारतीय भाषाओं में यदि इसी प्रकार की संवादहीनता बनी रहेगी, पूरे तंत्र पर उसकी पकड़ और मज़बूत होती चली जाएगी।

इस दृष्टि से एक बड़ा अर्थपूर्ण सुझाव भी सामने आया ... भारत सरकार ने देश के अल्पसंख्यकों, पिछड़े वर्गों, दलित श्रे... महिलाओं, जनसंख्या की समस्या आदि अनेक प्रश्नों से निप... जूझने और दिशा देने के लिए राष्ट्रीय स्तर पर कुछ आयोग ग... किए हैं। एक बार गठित हो जाने के पश्चात इन आयोगों का ... एक तंत्र बन जाता है और वे अपनी दिशा में स्वतन्त्र रूप से ... करते हैं। क्यों न भारतीय भाषाओं के विकास और ... समन्वय के लिए ऐसा ही एक आयोग गठित किया जाए? ... सभी भाषाओं के प्रतिनिधि हों, उसकी स्पष्ट नीति हो और ... अपनी निर्धारित दिशा में एक स्वायत्त संस्था के रूप में कार्य ...

ऐसा आयोग इन कार्यों को हाथ में ले सकता है-

- सभी भारतीय भाषाओं के विकास, प्रचार-प्रसार ... उन्नयन के लिए योजनाएं बनाना और उनके कार्यान्वयन के ... केन्द्र एवं राज्य सरकारों से सम्पर्क करना।
- सभी भारतीय भाषाओं में आपसी संवाद, आदान-प्र... और अनुवाद कार्य को प्रोत्साहित करना, उसके लिए सा... अकादमी, नेशनल बुक ट्रस्ट तथा राज्यों की भाषा और सा... अकादमियों से सम्पर्क करना और उन्हें सलाह देना।
- भारतीय भाषाओं के लेखकों, भाषाविदों, रंगकर्मि... मिले-जुले सम्मेलन करना जिसमें सभी लोग आपस में विचार-वि... कर सकें, नई प्रवृत्तियों और रचनाओं से परिचित हो सकें।
- एक भाषा के लेखकों को दूसरी भाषा के क्षेत्र में भे... जिससे वे उस भाषा के साहित्य का अंतरंग परिचय प्राप्त कर ... और क्षेत्रीय संस्कृति की विशेषताओं से अपना तादात्म्य स्था... कर सकें।
- भारतीय भाषाओं के मिले-जुले विश्व सम्मेलन क... जिससे विदेशों में बसने वाले विभिन्न भारतीय भाषा-भाषि... सक्रिय भागीदारी उत्पन्न हो सके।
- भारतीय साहित्य के एक समग्र और समन्वित ... विकास की दिशा में ठोस कदम उठाना।
- भारतीय भाषाओं के बहुख्यात साहित्यकारों की जयंति... राष्ट्रीय स्तर पर आयोजित करना।
- सभी भारतीय भाषाओं के मध्य विचार, चर्चा तथा पत्र-व्य... के लिए हिन्दी को सम्पर्क भाषा के रूप में आगे बढ़ाना।

ऐसे कितने ही महत्वपूर्ण कार्य हैं जिन्हें ऐसे आयोग के ... से किया जा सकता है।

ऐसी आशा की जानी चाहिए कि केन्द्र सरकार द्वारा गठि... परिषद अपने कार्यकाल में सरकार को कुछ ठोस सुझाव दे ...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्या कोई भी प्रश्न न्यायपालिका की परिधि से बाहर है?

हमने प्रश्न यह उठाया था कि क्या किसी लोकतान्त्रिक व्यवस्था में, जिसका आधार कानून का शासन हो, कोई भी ऐसा प्रश्न हो सकता है जो न्यायपालिका की परिधि से बाहर हो? हमारे प्रश्न के उत्तर में विधिवेत्ताओं, चिंतकों और विविध क्षेत्रों में कार्यरत कुछ लोगों के विचार हमारे पास आए हैं जिन्हें हम इस अंक में दे रहे हैं। हमारा मानना है कि न केवल इस प्रश्न पर राष्ट्रव्यापी बहस होनी चाहिए, बल्कि सार्वजनिक क्षेत्र में सक्रिय भूमिका निभाने वाले व्यक्ति भी कानून-व्यवस्था को चुनौती देने से पहले इस प्रश्न की गंभीरता और इसके परिणामों पर अच्छी तरह विचार करें।

-सम्पादक

डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी

प्रासंगिक सोच और संतुलित न्याय-दृष्टि की जरूरत

निर्वाचकीय लोकतंत्र की अवधारणा में परम्परा से यह प्रस्थापना मानी जाती रही है कि जनता और जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों में सर्वोच्च सत्ता सन्निहित होती है। किन्तु लोकशाही के दर्शन में धीरे-धीरे यह बात भी उजागर हुई कि व्यक्तियों के अधिकारों की सुरक्षा के लिए और संवैधानिक व्यवस्था के बचाव के लिए न्यायिक पुनरीक्षण की अपनी विशेष उपादेयता है। मूलतः संयुक्त राज्य अमेरिका में इस नई प्रस्थापना का समुदय और उन्मेष हुआ और कालान्तर में इसका विस्तार पूरे विश्व में होता गया। इस संदर्भ में संयुक्त राज्य अमेरिका की संविधान व्यवस्था में कार्यपालिका, विधायिका तथा न्यायपालिका के बीच रोकथाम और संतुलन का सिद्धांत भी उल्लेखनीय है।

जब भारत की संविधान सभा ने भारत के संविधान का निर्माण किया तब उन्होंने एक ओर ब्रिटेन की संसदीय कार्यप्रणाली को अपनाया और दूसरी ओर अमरीकी पुनरीक्षण का आधार भी स्वीकार किया। यह प्रश्न कई बार उठ चुका है कि क्या भारतीय संविधान व्यवस्था में संसद सार्वभौम है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमारी सांविधानिक व्यवस्थाओं एवं व्याख्याओं का अंतरंग अध्ययन-विश्लेषण आवश्यक है। एक लम्बे अरसे तक ब्रिटेन में यह अवधारणा प्रचलित रही कि संसद सार्वभौम है और संसद द्वारा पारित कानून का पुनरीक्षण करने का अधिकार न्यायपालिका को नहीं है। किन्तु अमरीका के यशस्वी मुख्य न्यायाधीश न्यायमूर्ति मार्शल ने इस अवधारणा को निरस्त करते हुए 'मारबरी बनाम मेडीसन' के मामले में न्यायिक पुनरीक्षण की प्रस्थापना की। हमारे संविधान में न्यायिक पुनरीक्षण की व्यवस्था विद्यमान है और इसीलिए यह नहीं कहा जा सकता कि कोई कार्य या कानून न्यायपालिका की परिधि से बाहर है। हमारे देश के प्रथम प्रधानमंत्री पं. जवाहर लाल नेहरू ने कई बार न्यायपालिका के कई फैसलों पर तीखी टिप्पणियां की थीं, किन्तु उन्होंने भी इस मूल अवधारणा को स्वीकार किया था कि हमारे देश में सार्वभौम सत्ता का निवास संसद में नहीं बल्कि संविधान में है। यदि संविधान सार्वभौम है और सर्वोपरि है तो यह कहा जा सकता है कि संविधान के सिद्धान्त और प्रावधान की अवज्ञा या अवहेलना नहीं की जा सकती। वास्तव में होता यह है कि कोई भी मुद्दा या मामला जब सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष समुपस्थित होता है तो सर्वोच्च न्यायालय को ही यह निर्णय देना पड़ता है कि न्यायालय मुद्दे या मामले को अपने विचार एवं विनिर्णय के लिए स्वीकार करेगा या नहीं। अपने निर्णय की प्रक्रिया में न्यायालय को इस बिन्दु पर विचार करना होता है कि कोई मुद्दा उनके क्षेत्राधिकार की परिधि में है या नहीं क्योंकि न्यायालय को संविधान एवं कानून की व्याख्या करने का आधारभूत अधिकार है। किन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं है कि हमारे संविधान ने सर्वोच्च न्यायालय को सार्वभौम बना दिया। कई बार यह प्रश्न उभर कर आता है कि किन मामलों में किस प्रकार न्यायिक पुनरीक्षण होना चाहिए और क्या यह सही है कि न्यायपालिका केवल व्याख्या देने के उपलक्ष्य में अपनी स्वेच्छा का कोई भी कानून बना सकता है। संवैधानिक परम्परा की व्याख्या में कई बार ऐसे प्रश्न आते हैं जिन पर न्यायपालिका अपना निर्णय देने में संकोच करती रही है जिसका कारण यह है कि न्यायपालिका हर विषय पर निर्णय देने में तत्पर या सक्षम नहीं है। हमारी न्यायपालिका ने हमारे लोकतंत्र में कई आयाम जोड़े हैं और एक जीवन्त गणतंत्र में नागरिक स्वातन्त्र्य को संरक्षण दिया है। अपने वकालती जीवन के आधी शताब्दी से अधिक समय के अनुभव में मुझे लगता है कि कई बार हमारी न्यायपालिका ने व्याख्या, समीक्षा और विनिर्णयन में उत्कृष्टता के शिखर छुए हैं। किन्तु कई बार मुझे यह भी लगता है कि अपनी शक्ति और अपने अधिकार का विस्तार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते हुए संतुलन और संयम का प्रयोग नहीं किया है। मेरा यह मानना है कि यदि समग्र दृष्टि से देखा जाए तो हमारी न्यायपालिका को न्यायिक पुनरीक्षण का प्रयोग अपने वर्चस्व का विस्तार करने में नहीं लगाना चाहिए बल्कि समस्याओं के सन्तुलित एवं न्यायिक समाधान में लगाना चाहिए। कई बार ऐसा हुआ है कि हमारी न्यायपालिका के फैसलों में इस बात की बू आती है कि केवल अपनी वरीयता सिद्ध करने के लिए कोई फैसला लिया जाता है। किन्तु संयम का यह प्रश्न न्यायपालिका की अन्तरात्मा का प्रश्न भी है। सामान्यतः मेरा यह भी मानना है कि विधि के शासन के बिना लोकतंत्र का पथ प्रशस्त होने की बजाय दिग्भ्रमित होने के खतरे में पड़ सकता है। और इसलिए न्यायपालिका की निष्पक्षता और उसके अधिकार-क्षेत्र को राजनैतिक बहस का हिस्सा नहीं बनाना चाहिए।

सामान्यतः सारे विवाद किसी न किसी हद और किसी न किसी रूप में न्यायपालिका के अधिकार-क्षेत्र में आ जाते हैं और न्यायपालिका को उनका फैसला अपने विश्लेषण और सन्तुलित चिन्तन पर ही करना होता है। जिस व्यवस्था में लोकशाही और विधि का संयुक्त शासन है वहां बाहुबल से समस्या का निदान खोजना सर्वथा अनुचित है। समस्याओं का निदान पाया जा सकता है पारस्परिक संवाद द्वारा, जनता के प्रतिनिधियों द्वारा और एक हद तक न्यायपालिका में मुकदमों के माध्यम से। यदि दो समुदायों में विवाद और आपसी सहमति नहीं है तो या तो कानून बनाकर उसका समाधान किया जा सकता है या न्यायालय द्वारा उसका समाधान निकाला जा सकता है। मैं यह भी मानता हूं कि किसी विवाद को प्रथमदृष्टया न्यायपालिका से बाहर रख देना एक बड़ी विसंगति होकर बेलगाम हो सकती है। आवश्यकता होने पर संसद द्वारा विधेयक बनाये जा सकते हैं और सरकार, संसद या न्यापालिका द्वारा विवादित मुद्दे के समाधान की खोज की जा सकती है।

यह सही है कि न्याय-प्रक्रिया की दूरियों और देरियों के कारण एवं कई बार न्यायपालिका के द्वारा केवल अपने वर्चस्व को अकारण ही बढ़ाने के कारण न्याय-व्यवस्था पर प्रश्नचिह्न लग जाता है। हमारे देश में न्यायप्रणाली बहुत खर्चीली तो नहीं है किन्तु न्याय की प्रक्रिया इतनी विलम्बित है कि लोग उस पर पूरी तरह भरोसा नहीं कर सकते। सिद्धान्त की दृष्टि से न्याय-व्यवस्था और लोकतंत्र के बीच एक विरोधाभास है। विरोधाभास इसलिए उत्पन्न होता है कि क्या लाखों-करोड़ों द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों की आवाज को सर्वोच्च न्यायालय के 2 या 5 जज अनदेखा कर सकते हैं और निरस्त कर सकते हैं। संसद का संतुलित दायित्वबोध और न्यायपालिका की विश्वसनीयता किसी भी लोकतंत्र की एक बहुत बड़ी निधि हैं। उस निधि को भारतवर्ष एक विरासत के रूप में संजोकर सम्पुष्ट करे, यही सांविधानिक संचेतना और संकल्पना है।

जो प्रश्न आपने उठाये हैं वे सांसदों को, अधिवक्ताओं को और कानून के दार्शनिकों को उद्वेलित और उद्विग्न करते रहे हैं। इन प्रश्नों में कई ऐसे आयाम हैं जिनको लेकर हमारे देश में ही नहीं बल्कि दुनिया के सभी देशों में एक बहस छिड़ी हुई है और उस बहस में एक विवेकसिद्ध मार्ग को प्रशस्त करने वाला समाधान पाना व्यवस्था के लिए अत्यावश्यक है। इस बहस के माध्यम से कोई पूर्व-निर्धारित फार्मूला नहीं बनाया जा सकता; इसलिए हर मामले में सोच-समझकर फैसला देना जरूरी होता है। 'फार्मूला जस्टिस' की बजाय एक प्रासंगिक सोच की और संतुलित न्याय-दृष्टि की जरूरत है और इसीलिए संविधान में न्यायपालिका की व्यवस्था की गई है। हर संविधान में न्यायपालिका की यह अपेक्षा होती है कि वह राजनीति से मुक्त रहे और अपनी परम्पराओं के आधार पर एक स्वस्थ शैली का अनुसरण कर सके।

18, विलिंगडन क्रेसेंट, नई दिल्ली-1100..

कैलाश चन्द्र पन्त

राज्य का मेरुदण्ड न्यायपालिका होती है

भारत के संविधान ने प्रजातांत्रिक ढाँचे का वही स्वरूप अपनाया है जिसमें राज्य का संचालन करने वाली तीन इकाइयों-व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के अधिकारों के पृथक्करण का सिद्धान्त समाहित है। सैद्धान्तिक दृष्टि से देखें तो व्यवस्थापिका की सर्वोच्चता बनाए रखी गई है। व्यवहार में कार्यपालिका का वर्चस्व कायम है। संविधान के बुनियादी ढाँचे में परिवर्तन करने के अधिकार पर कुछ अंकुश जरूर हैं, परन्तु संशोधन का अधिकार तो व्यवस्थापिका के पास सुरक्षित है जिसका नियमन अंततोगत्वा कार्यपालिका ही करती है। इसका अर्थ इतना ही है कि इन तीनों संस्थाओं की गरिमा और स्वायत्तता तभी तक कायम रह सकती है जब तक इन पर आसीन व्यक्तियों का आचरण विवेकपूर्ण मूल्यों और आदर्शों के अनुरूप रहेगा। सभी संस्थाएं एक दूसरे की स्वतंत्रता और अधिकार का सम्मान करती हैं और स्वयं को अधिकार-मद से बचाए रखती हैं तो प्रजातंत्र पटरी पर चलता रहता है अन्यथा सन् 1975 में तो आपातकाल जैसे काले अध्याय जुड़ते रहेंगे।

आजादी के पचपन वर्ष बाद भी यदि न्यायापालिका के महत्त्व और प्रतिष्ठा का सम्मान करना हम नहीं सीख पाए तो कहना होगा कि हम प्रजातंत्र के योग्य नागरिक नहीं बन सके हैं। किसी भी राज्य का सुदृढ़ आधार उसकी न्याय-प्रणाली है। इसलिए न्यायपालिका की स्वतंत्रता पर सभ्य समाज सबसे ज्यादा जोर देता है। भारतीय सभ्यता हजारों वर्ष पुरानी है। हमारे देश में न्यायाधीश को सर्वाधिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्मान देने की परम्परा रही है। राजतंत्र में भी राजाओं ने, न्यायाधीश के रूप में, अपने पुत्रों को कठोर दण्ड दिया है। पंच-परमेश्वर की भारतीय अवधारणा अद्भुत है। पंचों का फैसला सिर-माथे पर स्वीकार किया जाता था। आज भी न्यायालयों के निर्णय जनता और सरकार दोनों पर ही बंधनकारी हैं। इसलिए यह कहना ही बेमानी है कि देश का कोई भी प्रश्न न्यायिक समीक्षा के क्षेत्र से बाहर है। यह बात अलग है कि न्यायपालिका स्वयं किसी प्रश्न को, विचार करने के बाद, अपने क्षेत्राधिकार से बाहर घोषित कर दे। लेकिन राज्य को सभी स्थितियों में न्यायिक समीक्षा के लिए तत्पर रहना होता है। ई.पू. 63 में रोम के शासक सीजर ने रोम के विद्रोह को दबाने के लिए आपातकालीन उपाय किये थे। सीनेट के सदस्यों ने पूरा समर्थन भी दिया था। इसके अन्तर्गत उन पाँच षड्यंत्रकारियों को बिना मुकदमे सजा देने का प्रावधान भी था। मौत की सजा देने की मांग भी की जा रही थी। लेकिन चालीस वर्षीय युवा जूलियस सीजर ने कहा था, "दिमाग जब घृणा या प्यार, प्रतिशोध या करुणा जैसी भावनाओं से भर जाता है तब वह सत्य का पता नहीं लगा पाता। जब हम निष्पक्ष निर्णय करते हैं तब उसमें पर्याप्त ताकत होती है, लेकिन जब हम भावनाओं के वशीभूत होते हैं तब विवेक अनुपस्थित हो जाता है।" सीजर के इस कथन में न्याय के सिद्धान्त की समीक्षा प्रस्तुत की गई थी। शासक को न्यायपालिका की सर्वोच्चता पर भरोसा रखना ही होता है, क्योंकि उसके निर्णय के बाद कार्यपालिका की कार्रवाई को नैतिक आधार प्राप्त हो जाता है।

विवाद चाहे धार्मिक हो, सामाजिक हो या राजनीतिक, सभी पर विचार करने और निर्णय देने के असीमित अधिकार न्यायपालिका के पास हैं। जो लोग यह मानते हैं कि धार्मिक आस्थाओं के केन्द्रों पर न्यायपालिका निर्णय नहीं दे सकती वे धर्म को संकुचित अर्थों में लेते हैं। धर्म ऐसा आचार-शास्त्र है जो मनुष्य के लौकिक और पारलौकिक जीवन को सँवारने का काम करता है। इस आचार-शास्त्र का पालन करने के लिए राज्य को संरक्षण प्रदान करना होता है। न्यायपालिका के माध्यम से ही यह संरक्षण दिया जा सकता है। लेकिन जब धर्म को कर्मकाण्ड के अर्थ में ग्रहण किया जाता है तो यह जरूर देखना होगा कि उक्त कार्य राष्ट्र की व्यापक धारणा को आहत तो नहीं करता। उदाहरण के लिए यदि कोई समुदाय नर-बलि को अपने धर्म के अनुसार बताकर न्यायपालिका के हस्तक्षेप को रोकने का आग्रह करता है तो इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। वैसे यह प्रश्न अयोध्या-विवाद की पृष्ठभूमि में चर्चा में ज्यादा आया है। जब एक पक्ष यह कहता है कि न्यायपालिका इस प्रश्न का निर्णय नहीं कर सकती कि श्रीराम की जन्मभूमि कौन सी है, तो वह गलत नहीं है। क्योंकि राम जन्मभूमि का साक्ष्य जिन ग्रंथों में मिलता है उन्हें न्यायपालिका इतिहास शायद ही मानेगी। जब दूसरा पक्ष कहता है कि वह राम जन्मभूमि नहीं, बाबर की भूमि थी तो इस पर न्यायपालिका विचार कर सकती है। परन्तु न्यायपालिका के समक्ष विवाद तो मूलतः भूमि के स्वामित्व का है। इस विवाद में समुदायों की घुसपैठ बहुत बाद में हुई है। विवाद का बिन्दु यह बन गया है कि मन्दिर तोड़कर मस्जिद बनाई गई थी अथवा नहीं? यह प्रश्न भी न्यायिक हस्तक्षेप की अपेक्षा रखता है। इस संबंध में प्रत्येक प्रबुद्ध व्यक्ति चाहेगा कि न्यायपालिका के निर्णय को पूरी ताकत से क्रियान्वित किया जाए। कार्यपालिका इस दायित्व का निर्वाह नहीं कर पाती तो मानना होगा कि राज्य की नींव कमजोर हो चुकी है।

ऐसे प्रश्नों पर आपसी सहमति के लिए कार्यपालिका को ईमानदार प्रयास करने चाहिए। लेकिन सिर्फ चाहने से कुछ नहीं होता। इन विवादों के मूल में जो कारण हैं उनकी पड़ताल नहीं की जाती। क्या आजादी की पिछली अर्धशताब्दी में हम लोगों को राष्ट्र का एक घटक बना सके हैं? क्यों नहीं हम यह अनुभूति कर पाये कि राष्ट्र और राष्ट्रीयता के सवाल पर हमारी व्यक्तिगत, सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक निष्ठाएं महत्वपूर्ण नहीं होतीं, उन्हें दरकिनार करना ही पड़ेगा। यदि भारत का प्रत्येक नागरिक स्वयं को केवल भारतीय माने तो कई समस्याएं आसानी से हल हो जाएँ।

न्यायपालिका के प्रति सामान्य जन में अविश्वास पैदा होने के पुख्ता कारण हैं। कुछ न्यायाधीशों के भ्रष्ट आचरण के प्रकरण सामने आते रहे हैं। कुछ न्यायाधीशों के फैसले कार्यपालिका प्रमुखों से रिश्तों के तहत भी हुए हैं। कुछ राजनेताओं ने न्यायपालिका की अवमानना ही नहीं की, उसका अवमूल्यन भी किया। आपातकाल की पृष्ठभूमि में इलाहाबाद उच्च न्यायालय का फैसला ही तो था। जस्टिस लाल के विरुद्ध प्रदर्शन और उन्हें सी.आई.ए. का एजेन्ट घोषित करने वाले राजनेता ही तो थे। अनेक राज्यों के न्यायाधीशों की नियुक्तियां मुख्यमंत्री और मुख्य न्यायाधीश के पारस्परिक रिश्तों से होती हैं। यद्यपि सर्वोच्च न्यायालय ने न्यायपालिका की स्वतंत्रता को बरकरार रखने के लिए कुछ उपयोगी कदम उठाये हैं और न्यायाधीशों की नियुक्तियों और स्थानान्तरण पर कार्यपालिका पर अंकुश भी लगाया है, फिर भी न्यायाधीश पद की गरिमापूर्ण आसन्दी पर बैठा व्यक्ति मनुष्य ही है। वह यदि यह माने कि जिस संस्था में वह बैठाया गया है उस पर उसे सीमित समय तक ही रहना है, परन्तु संस्था को निरन्तर बने रहना है तभी वह अपने पद के साथ न्याय करेगा और जनता का विश्वास जीतेगा। पद पर बैठा मनुष्य अस्थायी है और संस्था (Institution) स्थायी है। एक 'स्थायी' चीज की गरिमा को बढ़ाते जाना ही उस पर आसीन 'अस्थायी' व्यक्ति का कर्तव्य है। लेकिन न्यायाधीश पद पर बैठे कुछ व्यक्ति स्वयं को शायद अमर मानते हैं और इसीलिए संविधान-प्रदत्त अधिकारों का निरंकुशता से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपयोग करते हैं। इस आचरण का परीक्षण जनता करती है। उसकी आस्था अभी न्यायपालिका से टूटी तो नहीं है, पर हिल जरूर रही है। यह अविश्वास बढ़ने नहीं पाए, इसका उपचार न्यायपालिका से ही अपेक्षित है।

संक्षेप में, हमें स्वीकार कर लेना चाहिए कि एक सभ्य राष्ट्र बन जाने का सफर बहुत लम्बा है। अभी हम उस प्रक्रिया से गुजर रहे हैं। कुछ अच्छे व्यक्ति आ जाते हैं तो वे अपनी संस्थाओं में अच्छी परंपराओं का निर्माण कर देते हैं और इसके विपरीत कुछ लोग परम्पराओं को तोड़कर संस्थाओं की गरिमा गिरा देते हैं। न्यायपालिका तो राज्य का मेरुदण्ड होती है। उस पर अनास्था पैदा होना या अनास्था पैदा करने की कोशिश करना अराजकता की ओर बढ़ना है। इसलिए इस आस्था को विचार और कर्म से मजबूत करना उन सभी का दायित्व है जो प्रजातंत्र से प्रतिबद्ध हैं।

हिंदी भवन, श्यामला हिल्स रोड, भोपाल-462001

डॉ. सीतेश आलोक

भारतीय न्याय-व्यवस्था एक भ्रम है

अपने बहुत ही गम्भीर मुद्दा उठाया...यद्यपि बहुत देर से।

हालत यह है कि तलवारें खिंची हुई हैं ओर कोई भी अपनी ज़मीन से हटने को तैयार नहीं है। दोनों पक्षधरों को सुस्पष्ट पहचान मिल चुकी है...उन पर बाक़ायदा ठप्पे लगाए जा चुके हैं। हमारे बुद्धिजीवी समाज में मंदिर के पक्षधरों को संकीर्ण, पुरातनपंथी, अड़ियल, साम्प्रदायिक आदि अनेक नाम दिए जा रहे हैं और उसके विरोधियों को सेकुलर, उदारवादी, बुद्धिजीवी, मानवतावादी ख़िताब बाँटे जा रहे हैं।

इस स्थिति में, अपना मत व्यक्त करना एक जोखिम-भरा काम हो सकता है। जब मुद्रा यह हो कि क्या कोई प्रश्न न्यायपालिका की परिधि से बाहर है तो सिद्धान्तरूप में इस प्रश्न का एक ही उत्तर हो सकता है, और वह यह कि 'नहीं'। हाँ, अपवाद रूप में ऐसे अनेक प्रश्न न्यायपालिका की परिधि में नहीं आ सकते, जैसे यह कि मैं इस प्रश्न पर अपने विचार व्यक्त करूँ, अथवा नहीं। अथवा यह कि मैं कौन-सी पत्रिका पढ़ूँ। या यह कि राम को भगवान माना जाए या अवतार या मात्र एक महापुरुष? किन्तु ऐसे अपवादों एवं विवादों को उठाए बिना भी प्रश्न यह उठता है कि आपके मुद्दे का आधार क्या है! किसने कहा कि भगवान (यह सम्बोधन व्यक्तिगत आस्था का विषय हो सकता है) राम की स्मृति में मंदिर बनाने का विषय उनकी आस्था से जुड़ा है इसलिए वह न्यायपालिका की परिधि में नहीं आता? सम्भव है कुछ लोगों ने कहा हो...किन्तु कुछ लोगों का उचित अथवा अनुचित बयान समाज़ के लिए गम्भीर विषय क्यों बना जा रहा है?

वास्तव में जिस मुखर वर्ग ने हिन्दू समाज की ओर से अयो[ध्या] मथुरा एवं काशी में तीन प्रमुख स्थलों को लेकर अपनी आ[वाज़] उठाई और अपनी माँग को आन्दोलन का रूप दिया और [जिसे] कालान्तर में विश्व हिन्दू परिषद् नाम मिला, उसने अवश्य [कि]सी संदर्भ में यह कहा है कि कुछ सम्बद्ध प्रश्न हैं जिन पर कोर्ट [कोई] निर्णय नहीं ले सकता। उस बयान को, संदर्भ से काटकर, [बहुत] उछाला गया है...अक्सर उसे गम्भीर मुद्दे का रूप दिया गया है।

साधारणतया, न्याय पर आधारित व्यवस्था में कोई भी प्र[श्न] ऐसा नहीं होना चाहिए जिस पर समाज की न्यायपालिका निर्णय [न] ले सके। किन्तु यह बात किसी ईमानदार समाज में ही सम्भव है जहाँ वास्तव में एक आदर्श एवं निष्पक्ष न्यायपालिका हो।

किन्तु ऐसी आदर्श स्थिति में भी, कुछ व्यक्तिगत ही नहीं, [वर्ग] एवं समुदाय सम्बन्धी मान्यताएँ भी होंगी जो न्यायपालिका [की] सामर्थ्य के बाहर हों। उदाहरण के लिए कोई भी न्यायप्रणाली [यह] जाँचने अथवा सिद्ध करने में समर्थ नहीं है कि किसी कुमारी के ग[र्भ] से सन्तान उत्पन्न हो सकती है अथवा नहीं। या यह कि विश्व [के] रचयिता ने मानव कल्याण के लिए अपना संदेश अरबी भाषा [में] ही क्यों दिया? वास्तव में ऐसे विश्वास तर्क का विषय हो ही न[हीं] सकते- और न्यायप्रणाली के निर्णय तर्क पर ही आधारित होते हैं। यह कहा जा सकता है कि ऐसे विश्वास न्यायपालिका की क्षमता [से] बाहर हैं। कोई इसे यों भी कह सकता है कि न्यायपालिका की परि[धि] के बाहर हैं। फिर 'क्षमता' अथवा 'परिधि' के चयन को लेकर वि[वाद] को गम्भीर मान लेना अथवा आक्रोश में भर उठना भी अन्[याय] होगा।

फिर भी, इस शब्द-विवाद से परे, हमारे देश में राम मंदिर [का] मुद्दा एक गम्भीर विषय ही है जिसने देश को बड़ी निर्ममता के सा[थ] विभाजित कर रखा है और प्रगति की राह में बाधा उत्पन्न कर र[खी] है। इस मतभेद की स्थिति में, वास्तव में न्याय-प्रणाली को हस्तक्षे[प] करना चाहिए, समाज को हस्तक्षेप करना चाहिए...किन्तु शर्त य[ह] है कि पूरी तरह ईमानदारी के साथ, निष्पक्ष होकर। बात यहाँ आक[र] फिर लड़खड़ाती है कि ईमानदारी क्या है? निष्पक्षता क्या है?

वास्तविकता यह है कि न्याय-प्रणाली इस विषय में अक्षम है, अन्यथा 50 वर्ष से यह मुक़दमा अदालतों में क्यों झूल रहा है? विडम्बना यह है कि न्यायपालिका न तो इस विषय में कोई निर्[णय] ले रही है और, सम्भवतः राजनैतिक कारणों से, न खुलकर यह क[ह] रही है कि वह निर्णय लेने में असमर्थ है।

लोकतांत्रिक ही क्या, किसी भी सभ्य व्यवस्था में बाहुबल [से] समस्याओं का निदान ढूँढ लेने की बात निंदनीय है। किन्तु उ[स] व्यवस्था को बनाए रखने का उत्तरदायित्व सभी पक्षों पर समान रू[प] से होना चाहिए। सभ्य समाज में न्याय-प्रणाली को ही नहीं, अ[न्य]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्गों को भी समस्याओं का आकलन तर्क के आधार पर करना चाहिए, पूर्वाग्रह अथवा पक्षधरता के आधार पर नहीं।

यह भी निर्विवाद है कि समुदायों के बीच किसी विवाद की स्थिति में न्यायालय की शरण में जाना चाहिए। किन्तु जैसा में पहले ही कह चुका हूं, न्यायालय सभी विषयों पर निर्णय लेने में सक्षम नहीं हो सकता...। और जहाँ निर्णय ले सकता है, वहाँ भी सम्बन्धित विशेषज्ञों के साक्ष्य एवं परामर्श के आधार पर ही निर्णय लेता है। निर्णय सुनाने वाले न्यायमूर्ति भी हमारी तरह ही पूर्वाग्रह एवं पक्षधरता से ग्रसित हो सकते हैं।

किन्तु इस मुद्दे से जुड़े प्रश्नों के पीछे जो निहित प्रश्न है वह स्पष्ट रूप से यह है कि क्या अयोध्या में विवादित ढाँचे के स्थान पर ही राम मंदिर बनाना चाहिए? इस प्रश्न पर हिन्दू तथा सेकुलर समर्थित मुसलमान समुदायों के बीच किसका दावा सही है? और यह कि क्या इस विवाद में निर्णय न्याय-प्रणाली पर छोड़ा जा सकता है? अच्छा यह है कि इस विषय पर सैद्धान्तिक बहस को छोड़कर स्पष्ट बात ही हो।

मेरी स्पष्ट मान्यता यह है कि संसार का कोई कोर्ट यह निर्णय नहीं दे सकता कि राम का जन्म किस स्थान पर हुआ था। वास्तविकता यह है कि आज की किसी भी प्रणाली के पास यह सिद्ध करने का कोई साधन नहीं है कि राम का जन्म-वर्ष क्या था? वे वास्तव में जन्मे थे, अथवा वे मात्र वाल्मीकि की रचना के पात्र हैं? हिन्दुओं के पास राम के सम्बन्ध में जो साक्ष्य हैं वे आधुनिक बुद्धिजीवियों के लिए हास्यास्पद हैं, उतने ही जितने कि आज के ज्ञानियों के तर्क आस्थावान हिन्दुओं के लिए हैं। मेरा विश्वास है कि कोई भी हिन्दू शास्त्र अथवा उपलब्ध साक्ष्य यह सिद्ध नहीं कर सकता कि राम का जन्म आज अयोध्या कहलाने वाली नगरी में ठीक उस स्थान पर हुआ था जहाँ कालान्तर में बाबर के नाम पर मस्जिद बनाई गई।

इतना ही स्पष्ट एवं विचारणीय यह है कि हिन्दू समाज शताब्दियों से उस स्थान को अपने आस्थापुरुष राम का जन्मस्थल मानकर उससे भावनात्मक रूप से जुड़ा हुआ है। एक ऐतिहासिक सत्य यह भी है कि पिछले चार सौ वर्षों से हमारे वर्तमान इतिहासकारों ने वहाँ एक मस्जिद खड़ी देखी है।

विवाद की स्थिति तब बनी जब हिन्दू समुदाय ने अयोध्या, मथुरा तथा काशी की तीन मस्जिदों को 'वापस' लेने की बात उठाई। यह सर्वविदित है कि अयोध्या की भांति ही मथुरा एवं काशी भी हिन्दू समुदाय के तीर्थस्थल हैं और क्रमशः राम, कृष्ण तथा शिव-तीन प्रमुख आस्थापुरुषों से जुड़े हैं।

कोई कुछ भी कह ले किन्तु संसार की कोई न्याय-प्रणाली राम, कृष्ण तथा शिव के यथार्थ पर निर्णय नहीं सुना सकती। वे कब जन्मे, कहाँ जन्मे अथवा कभी थे भी अथवा नहीं-ये सभी विषय आधुनिक निर्धारण-क्षमता से परे हैं...अतः न्यायपालिका की परिधि से बाहर ही हैं।

अतः इस सम्बन्ध में निर्णय सम्बद्ध समुदायों को उदारता, तर्क एवं शान्ति से साथ ही लेना चाहिए था। किन्तु पूर्वाग्रहों एवं हठधर्मिता के कारण ऐसा नहीं हुआ।

यह जानते हुए भी कि इस विषय पर कोर्ट निर्णय नहीं ले सकता, यह विवाद आज़ादी के बहुत पहले से कोर्ट में लटका है। स्वयं न्याय-प्रणाली ने भी, अपनी सीमाएं जानते हुए भी, इस विषय को लटकाए रखा यह और भी दुर्भाग्यपूर्ण है। अन्यथा कोर्ट निर्णय लेने में इतना समय क्यों लगा रहा है? और अपनी सीमाएं स्पष्ट क्यों नहीं कर रहा है?

वास्तव में स्वयं हिन्दू समाज भी यह सिद्ध नहीं कर सकता, कम से कम वर्तमान ज्ञानियों को यह समझा नहीं सकता कि राम का जन्म उसी विवादित स्थान पर हुआ था, जो उनका आस्था-स्थल है। यही स्थिति मथुरा एवं काशी के स्थलों की भी है। ये तीन ही नहीं, हिन्दुओं के हज़ारों आस्था-स्थल वे भी हैं जिन्हें तोड़कर मुसलमान शासकों ने अपने शासनकाल में मस्जिदें बनाई थीं- उनमें से 27 कुतुब मीनार के पास थे, जिन्हें तोड़कर कूवते-इसलाम (इसलाम की शक्ति) मस्जिद बनाई गई थी जो आज भी खड़ी है। न तो कोर्ट ने, न समाज ने और न स्वनामधन्य 'बुद्धिजीवी सेक्युलरों' ने कभी हिन्दू समाज को यह श्रेय दिया कि उन्होंने ऐसी कोई बात नहीं उठाई। सम्भवतः शान्ति, उदारता, तर्क एवं व्यावहारिकता के नाते ही हिन्दू समाज ने हज़ारों छीने हुए मन्दिरों के बदले, केवल तीन वे स्थल मुसलमान समाज से मांगे थे जो उनकी आस्था से जुड़े थे। जहां वे तीन स्थल हिन्दुओं के लिए विशेष हैं, मुसलमानों के लिए उनकी हज़ारों मस्जिदों में से कोई तीन हैं। इसलामी आस्था में अयोध्या, मथुरा एवं काशी का विशेष महत्व न तो कभी था और न अब है।

किन्तु मुसलमान समाज ने शान्ति अथवा सद्भाव के हित में इतनी सी भी उदारता नहीं दिखाई...और राजनीति के चलते तथाकथित बुद्धिजीवियों का सहयोग पाकर उनका रुख़ निरन्तर और भी अड़ियल होता चला गया।

मेरी दृष्टि में यह विवाद इसलामी समाज के आत्म-सम्मान से जुड़ा एक अहम् मुद्दा है। आज अपनी बात पर अड़े मुसलमान यह जानते हैं कि उनके पूर्वजों ने बड़ी बर्बरतापूर्वक हिन्दुओं के हज़ारों मंदिर तोड़े थे। वे भले ही कह लें कि पूर्वजों की बर्बरता से उनका कोई लेना-देना नहीं, पर आज वे उनकी लूट की सम्पदा पर अपना अधिकार जमाए क्यों बैठे हैं? क्या उनकी गैरत को यह गवारा है कि वे अपने पुरखों द्वारा लूटी सम्पदा से चिपके बैठे रहें? उन्हें हिन्दू

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज की इस सद्भावनापूर्ण एवं व्यावहारिक माँग का सम्मान करना चाहिए कि उन्होंने शान्ति के हित में केवल तीन ही स्थल वापस मांगे। मुसलमानों के इस तर्क में कोई दम नहीं है कि यदि कोर्ट कह दे तो वे सिद्ध किया हुआ स्थल दे देंगे। यदि यही वास्तविकता है तो उन्हें कहना चाहिए कि कोर्ट जो स्थल मंदिर तोड़कर मस्जिद बनाया हुआ कहेगा, वे उन सभी स्थलों को दे देंगे। यह 'न्याय-प्रियता' केवल बाबरी ढाँचे के लिए ही क्यों? उस स्थिति में उन्हें शुभारम्भ दिल्ली में कुतुब मीनार का प्रांगण, मस्जिद सहित, वापस देकर करना चाहिए। मुझे विश्वास है कि हिन्दू समाज इस प्रक्रिया के लिए सहमत हो जाएगा।

इस संदर्भ में ही नहीं, समग्र अनुभव के आधार पर ही समाज में आम धारणा यह है कि भारतीय न्याय-व्यवस्था एक भ्रम है। आए दिन न्याय-प्रणाली को सार्थक बनाने के लिए नए-नए नियम बन रहे हैं, संविधान में संशोधन हो रहे हैं। फिर भी जनसाधारण व्यय, समय तथा सामर्थ्य की सीमाओं के कारण न्याय-प्रणाली से घबराता है। हमारी आँखों के सामने बड़े-बड़े अपराधी राजनीतिक प्रश्रय पाकर स्वच्छंद घूम रहे हैं और न्याय-प्रणाली को और भी निष्क्रिय बनाते जा रहे हैं।

इस स्थिति में न्याय-प्रणाली यदि कहीं निष्क्रियता से वास्तविक न्याय में बाधा उत्पन्न कर रही है तो उसे चुनौती देना उसे सक्रिय एवं निष्पक्ष बनाने के लिए आवश्यक है। मेरी दृष्टि में यह कार्य लोकतंत्र को चुनौती देना नहीं, लोकतंत्र को उसका वास्तविक रूप प्रदान करने के प्रयास जैसा स्तुत्य है।

इंद्रप्रस्थ कॉलेज प्राचार्य आवास, 31-शामनाथ मार्ग, दिल्ली-110054

डॉ. राजकुमार मलिक

आस्थाओं के बीच...

लोकतांत्रिक व्यवस्था के लाभ अधिक हैं इसलिए विश्वभर में इसे सर्वाधिक मान्यता प्राप्त हुई है जबकि कुछ देशों में अन्य व्यवस्थाएं भी प्रचलित हैं। लोकतंत्र में संविधान बोलने की आज़ादी देता है जिसके अन्तर्गत नागरिकों को व्यापक छूट प्राप्त है। वे कुछ भी बोल सकते हैं...प्रलाप कर सकते हैं, यहां तक कि बकवास भी कर सकते हैं। ठीक यहीं पर उनका यह अधिकार यदि किसी व्यक्ति, संस्था अथवा व्यवस्था के अपमान का कारण बनता है तो कानून मानहानि के लिए दण्ड का प्रावधान करने के लिए तैयार रहता है। यानी खुली मनमानी अथवा अनाचार की छूट इसके अन्तर्गत प्राप्त नहीं है।

कुछ लोगों का कथन है कि अयोध्या में राम की स्मृति में मंदिर बनाने का प्रश्न हमारी आस्था से जुड़ा हुआ प्रश्न है इसलिए न्यायपालिका की परिधि में नहीं आता। उन्होंने आगे कहा कि उस सम्बन्ध में न्यायालय द्वारा दिए गए किसी भी निर्णय को मानने के लिए वे बाध्य नहीं हैं। ये दोनों कथन अलग-अलग महत्व रखते हैं।

जिन लोगों ने पहली बात कही है अपनी बोलने की स्वतन्त्रता [illegible] प्रयोग किया है जिसे किसी भी मूल्य पर गलत नहीं ठहराया जा सक[illegible] वे कहने के लिए स्वतन्त्र हैं कि फलां बात इस तरह नहीं इस [illegible] है...यह मामला इसके या उसके क्षेत्राधिकार का है अथवा नहीं है। [illegible] न्यायालय का निर्णय आने के पश्चात यदि वे प्राप्त न्याय से सन्तुष्ट [illegible] हैं तो, इस न्यायालय, जहां से व्यवस्था प्राप्त हुई है, से ऊँचे न्याय[illegible] जाने के लिए स्वतंत्र हैं परन्तु न्याय व्यवस्था के अन्तिम द्वार से [illegible] निर्णय को स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई विकल्प उनके पास [illegible] है, भले ही वे उससे सन्तुष्ट हैं अथवा नहीं। कानून का काम है [illegible] करना न कि किसी को संतुष्ट करना, क्योंकि यह कभी संभव ही [illegible] हो सकता। विवाद में हमेशा दो या दो से अधिक पक्ष होते हैं और [illegible] जिस किसी के पक्ष में नहीं होगा वह असंतुष्ट हो सकता है।

अंतिम निर्णय आ जाने के बाद निर्णय को अस्वीकार करना नि[illegible] रूप से कानून की अवमानना करने के दायरे में आएगा। न्याय व्य[illegible] का आधार ही कानून मनवाना है, न मानने वाले के लिए दण्ड [illegible] प्रावधान है।

कानून का शासन किसी भी लोकतंत्र का मेरुदण्ड होता है। इस [illegible] को इस प्रकार भी कह सकते हैं कि कानून की शक्ति और दायरा स[illegible] है। लोकतंत्र में कानून सर्वोच्च मूल्य की भांति कार्य करता है। इस लि[illegible] में जो भी किसी समस्या को न्यायालय के दायरे से बाहर रखने या म[illegible] की बात करते हैं और कहते हैं कि वे न्यायालय के फैसले को म[illegible] के लिए बाध्य नहीं हैं, वे अपने विवेक का प्रयोग नहीं कर रहे हैं।

कानून का निर्माण स्मृतियों, धर्मों, मूल्यों, मान्यताओं इत्यादि को [illegible] में रखकर किया गया है। ऐसा करते समय ध्यान रखा गया कि [illegible] छोटे-से-छोटा मुद्दा भी रह न जाए। मोटे तौर पर कानून को समझने [illegible] लिए कह सकते हैं कि 'एवरी कामनसेंस इज़ लॉ'। इसके साथ ही का[illegible] में प्रावधान है कि कानून में जो कुछ भी है वह प्रत्येक व्यक्ति के [illegible] मान्य है। जो भी उस कानून के क्षेत्राधिकार में आएगा उसके नियमों [illegible] मानने के लिए बाध्य होगा। भले ही उस कानून को उसने पढ़ न [illegible] हो अथवा न जानता हो।

उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति जो दूसरे देश से भारत में आता [illegible] उसके देश में फांसी की सज़ा का प्रावधान नहीं है। भारत में आकर [illegible] कोई कत्ल कर देता है और न्यायालय द्वारा उसे फांसी की सज़ा [illegible] जाती है। इस वाद में वह यह कह सकता है कि उसके देश में [illegible] की सज़ा नहीं होती या वह नहीं जानता था कि कत्ल के लिए फांसी [illegible] सकती है अन्यथा वह कत्ल ही नहीं करता। लेकिन न जानने के का[illegible] वह सज़ा से माफी अथवा सज़ा कम कराने का हकदार नहीं हो जा[illegible] किसी भी व्यक्ति के, कानून के क्षेत्राधिकार में प्रवेश करते ही यह [illegible] लिया जाता है कि वह उस क्षेत्र के कानूनों के प्रावधानों को या तो ज[illegible]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, नहीं तो उसे जान लेना चाहिए।

जो लोग आस्था (धर्म पर आस्था) का नाम लेकर किसी व्यवस्था और उसके मूल्य को नकारने का प्रयास करते हैं उनसे मुझे पूछना है कि अर्थ पर आस्था रखने वालों को चोरी करने की आज्ञा दे दी जाए? या जरायमपेशा लोगों को यह अधिकार दे दिया जाए कि वे अपना कार्य करने के लिए स्वतंत्र हैं क्योंकि वह उनका पैतृक व्यवसाय है, या सैंकड़ों वर्षों से वे यही करते आ रहे हैं? आम नागरिक लोकतंत्र में रहता हुआ न्यायपालिका पर आस्था रखता है और ऐसा करता हुआ वह स्वयं को वैधानिक संरक्षण में पाता है। उसमें नैतिक साहस आ जाता है कि घर, परिवार, समाज में यदि उसके साथ अन्याय होगा तो उसे कानून की शरण में आश्रय प्राप्त होगा। इस प्रकार क्या दो आस्थाओं को टकराने की आज्ञा दे दी जाए? या फिर जहां आस्थाओं के टकराने की स्थिति पैदा हो वहां न्यायालय की शरण ली जाए?

ऐसा किया जाए तो निश्चित रूप से कानूनी प्रक्रिया अपना कार्य करना आरम्भ कर देगी। तथ्यों की खोजबीन, जांच-पड़ताल, गवाही, प्रमाण एवं वरीयताओं के अधार पर जो भी निर्णय होगा वह उचित होगा। क्योंकि वह निर्णय निष्पक्ष न्यायदृष्टि से एक पूरी प्रक्रिया के बाद मिलेगा। अतः लोकतंत्र में नागरिकों की आस्था और विश्वास में बढ़ोतरी होगी।

अब दूसरे कथन पर ध्यान दें जिसमें कहा गया कि उस संबंध में न्यायालय द्वारा दिए गए किसी भी निर्णय को मानने के लिए हम बाध्य नहीं हैं। यह वाक्य सीधे-सीधे न्यायालय की अवमानना करता है क्योंकि इसमें न्यायालय के औचित्य को ही नकार दिया गया है।

मित्रों को याद होगा कि भारत संघ बनाम अरुंधती राय के वाद में अरुंधती राय ने कथन किया था कि सर्वोच्च न्यायालय वादियों के मुद्दों के मामले में अधिक संवेदनशील नहीं होता। उनके इस कथन का संज्ञान स्वयं न्यायालय ने लिया था। न्यायालय की अवमानना करने का दोषी करार देकर अरुंधती राय को दो माह के कारावास का दण्ड दिया गया था। दूसरे दिन अरुंधती राय के वकील ने बिना शर्त क्षमा-याचना का प्रार्थना-पत्र दिया और दो माह की सजा को घटाकर एक दिन कर दिया गया था।

लोकतांत्रिक व्यवस्था में कोई भी प्रश्न न्यायपालिका की परिधि से बाहर नहीं होता, न ही होना चाहिए। धार्मिक स्थानों अथवा आस्थाओं के प्रश्न अथवा मतभेद भी न्यायालय की सीमा में आते हैं। अगर कहीं आपसी मतभेद हैं और सुलझ नहीं पा रहे हैं तो उन पक्षों के पास न्याय की शरण लेने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं है। यदि न्यायालय आवश्यक समझता है तो वह स्वयं भी समस्या का संज्ञान लेकर हस्तक्षेप कर सकता है अथवा उभय पक्षों को निर्देश दे सकता है। किसी स्थिति में यदि कोई समुदाय या व्यक्ति न्याय-व्यवस्था को चुनौती देते हैं तो वे न्यायालय की अवमानना करने के अपराध के दोषी हैं।

न्याय-व्यवस्था को नकारकर जो भी अपने बाहुबल के भरोसे अपनी समस्याओं का निदान तलाशने की बात करते हैं वे न्यायालय की अवमानना करते हैं। यदि वे बाहुबल से निदान तलाशने की क्रिया करते हैं तो वे उस हर अपराध के दोषी हैं जो उनके मार्ग में उनके कार्य-निष्पादन के समय उनके द्वारा किया जाएगा अथवा हो जाएगा या वे उसके उत्प्रेरण के कारण बनेंगे जो कानून में वर्णित अपराध के अन्तर्गत आते हैं।

सीधी-सी बात है कि दो समुदायों के बीच मतभेद हो जाए तो उन्हें सर्वप्रथम आपसी प्रयास करने चाहिए। इसके लिए उभय पक्षों को चाहिए वे सहिष्णु बनें, उदारमना बनें। अपने धर्म में तलाशें कि वहां सद्भाव के उदाहरण व रास्ते कहां सुझाए गए हैं। यदि तब भी मतभेद रहें तो न्याय-व्यवस्था में विश्वास और आस्था रखें। वहां भी न्यायकर्त्ता को न्यायमूर्ति कहकर ईश्वर के समकक्ष रखा गया है। वहां से निराश होने पर तो उन्हें अपने ईश्वर के न्याय की प्रतीक्षा करनी ही होगी।

ए-1/28, मियांवाली नगर, दिल्ली-110087

राधाकांत भारती

न्यायपालिका की उपेक्षा लोकतंत्र की उपेक्षा होगी

क्या कोई भी प्रश्न न्यायपालिका की परिधि से बाहर है? इस प्रश्न का सीधा उत्तर है - नहीं। किन्तु इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि हमारे भारत में अब तक प्रचलित न्यायप्रणाली, ब्रिटिश शासन की देन है जो गुलाम देश की प्रजा के लिए बनाई गई थी।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पचपन वर्ष बाद भी हम उसी प्रणाली और न्याय-पद्धति को ढोये जा रहे हैं। इस बीच देश ने प्रगति की है-सामाजिक, औद्योगिक और राजनैतिक क्षेत्रों में काफी बदलाव आया है और आ रहा है, फलस्वरूप मान और मानदंड बदले हैं। लेकिन परख की कसौटी, जो पूरी तरह घिस गई और बदरंग हो गई है- हम उसे नहीं बदल पा रहे हैं। फलस्वरूप, स्वतंत्र राष्ट्र में ऐसी अराजकता देखनी पड़ रही है।

अब मूल प्रश्न पर आयें- जब कार्यपालिका और विधायिका अपने कर्त्तव्यपालन में कमजोर पड़ने लगें तो विवश होकर न्यायपालिका को न्यायसंगत कार्य-संचालन में आगे आना पड़ता है, जिसके अनेक उदाहरण पिछले पंद्रह वर्षों में देखने को मिले हैं। धर्म, समाज और संप्रदाय में मतभेद हो और सहमति नहीं बन सके तो समाधान के लिए न्यायपालिका के शरण में ही जाना होगा जैसा कि हमारे संविधान में प्रावधान है।

यदि कोई व्यक्ति या समुदाय इसकी उपेक्षा करता है तो यह केवल संविधान की नहीं बल्कि लोकतांत्रिक प्रणाली की उपेक्षा होगी और कानूनन वह दंड का भागी होगा।

56, नगिन लेक अपार्टमेंट, पीरागढ़ी, नई दिल्ली-110087

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ. सुमन शाह

राजेन्द्र भाई से साक्षात्कार के बहाने

कवि राजेन्द्र शाह को देश का सर्वोत्तम पुरस्कार 'ज्ञानपीठ पुरस्कार' दिये जाने की घोषणा के बाद 'सहारा समय' (साप्ता.) के संवाददाता ने उनसे एक साक्षात्कार लिया था, जो उसी पत्र में छपा था। यह साक्षात्कार उस समय चर्चा का विषय हो गया जब कुछ हिन्दी लेखकों ने उसके एक अंश पर अपनी प्रतिक्रियाएं व्यक्त कीं।

उनके इन विचारो एवं मंतव्यों को लेकर जो विवाद खड़ा किया गया तथा जो कुछ कहा गया, उसमें कम से कम दो बातें अत्यंत घृणास्पद हैं-

पहली, 'सहारा समय' में भेंटवार्ता से पहले यह टिप्पणी (इन्ट्रो) दी गई है कि 'जब पूरा गुजरात कौमी दावानल में सुलग रहा था, तब कवि राजेन्द्र शाह ज्ञानपीठ पुरस्कार की प्रतीक्षा में प्रेम की कविताएँ लिख रहे थे।'

कवि के उत्तर चाहे जितने निजता लिये हों और आलोचना-पात्र हों, फिर भी यह कहना कि कवि पुरस्कार की प्रतीक्षा में था, हीन कोटि की पत्रकारिता का द्योतक है। क्योंकि इस कथन से न केवल कवि के काव्य-सर्जन संज्ञक मानवीय पुरुषार्थ का अपमान हुआ है, प्रत्युत उसका मूल्यांकन करने वाली संस्था भारतीय ज्ञानपीठ का भी घोर अपमान हुआ है। यह निरी गैर जिम्मेदारी तो है ही, इसमें से यह भी सूचित हो रहा है कि 'साक्षात्कार' लेने वाले संवाददाता को कवि के बारे में कोई जानकारी नहीं थी, सिवाय इसके कि उसे पुरस्कार मिला है।

ऐसी ही दूसरी बात है महाश्वेता देवी का यह कथन, 'व्यक्तिगत रूप से शाह से मेरा परिचय नहीं है। मुझे कहा गया कि वे एक वरिष्ठ कवि हैं इसलिए उन्हें पुरस्कार देने की अनुशंसा के प्रति अपनी सहमति दर्शाई, परन्तु गुजरात के विषय में उनके विचार खराब हैं, अतः मैं उनकी निन्दा करती हूँ।'

महाश्वेता देवी इस बार की ज्ञानपीठ पुरस्कार की निर्णायक-समिति की सदस्या हैं। वे व्यक्तिगत रूप से राजेन्द्र भाई को नहीं जानतीं, इसमें कुछ बुरा भी नहीं है, बल्कि यह बात तो पुरस्कार सम्बन्धी तटस्थ निर्णय के पक्ष में जाती है। पर उनके इस कथन से तो यह स्पष्ट हो रहा है कि वे कवि राजेन्द्र शाह को भी नहीं जानती थीं और किसी के यह कहने मात्र से कि राजेन्द्र भाई वरिष्ठ कवि हैं, उन्होंने उन्हें पुरस्कार देने का अनुमोदन किया।

उनका यह कथन नितांत अनुत्तरदायित्वपूर्ण है। पर महाश्वेता देवी के इस कथन को लेकर वैसा कोई विवाद खड़ा नहीं हुआ, जैसा कि राजेन्द्र भाई के संदर्भ को लेकर खड़ा किया गया। क्यों? क्योंकि इसमें तो साहित्यकारों की आपसी साठगाँठ होती है न। इनकी लटें एक-दूसरे से काफी उलझी हुई हैं। मैं वर्षों से इस धारणा का हो गया हूँ कि राजनीति अथवा सामाजिक प्रतिबद्धता की बातें करने वाले साहित्यकार ऐसे अवसरों पर मौन साध लेते हैं। प्रमुख साहित्यकार नेताओं की ऐसी गैरजिम्मेदाराना एवं अप्रामाणिक बयानबाजी के बारे में वे गूंगे हो जाते हैं। इनके पास भीतर और बाहर के दोहरे मापदण्ड होते हैं। प्रश्नों को चर्चा का विषय बनाकर ये लोग सम्प्रज्ञ होने का ढोंग भले कर लेते हैं, पर अपने स्पष्ट और भीतर के तात्कालिक साहित्यिक संदर्भों में चलने वाले राग-द्वेष, ग्रुपबाजी, साहित्यिक कला के श्रेष्ठ स्तरों के साथ छेड़छाड़ जैसी गंदगी के प्रति इन लोगों में मुश्किल से ही कोई सजगता दिखाई देती है। कई बार तो ये लोग ही गंदी राजनीति की अखाड़ेबाजी चलाते होते हैं। राजेन्द्र भाई से सम्प्रज्ञता की मांग करने वालों को चाहिए कि वे महाश्वेता देवी की इस गैरजिम्मेदाराना मानसिकता का भी विश्लेषण करें। इस बारे में कम से कम इतना जानंने की अपेक्षा तो रखी ही जा सकती है कि उनकी इस बयानबाजी के खिलाफ स्वयं ज्ञानपीठ ने एक संस्था के रूप में अथवा उसके अन्य किन्हीं अधिकारियों ने कोई आपत्ति उठाई है क्या? यदि उठाई है तो किस तरह की? और उसका परिणाम क्या हुआ?

इस घटना से मेरे एक दूसरे विश्वास को भी पुष्टि हुई है। हमारे यहां ज्यादातर पुरस्कार, चाहे ज्ञानपीठ के हों, चाहे अकादमी के, साहित्यिक राजनीति के प्रतिफल होते हैं। हमारे देश में लगभग प्रत्येक भाषा साहित्य में ऐसे साहित्यकारों की संख्या काफी है जो असुरक्षा की भावना से पीड़ित हैं और नाम-ईनाम के लिए लोलुप रहते हैं तथा यह संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। इसका सीधा असर निर्णय करने वाली चयन समितियों के सदस्यों पर होता है। उनमें वास्तविक जानकारी तथा तलस्पर्शी ज्ञान रखने वाले लोग कम ही होते हैं। अधिकतर वे ही लोग रहते हैं जिनके बारे में 'बड़े लोग' होने की मान्यता बन चुकी होती है। मैं अपने कुछ अनुभवों के आधार पर कहता हूँ ये लोग न तो पुरस्कार योग्य रचनाओं को पढ़कर वहां पहुंचते हैं, न ही किसी साहित्यकार की गरिमा के अनुकूल कला निर्णय का मन बनाकर आते हैं। कइयों को तो नाम 'ब्रीफ' किया होता है।महाश्वेता देवी के बयान से यह बात स्पष्ट है कि ज्ञानपीठ पुरस्कार भी इस रीत-रस्म से अलग नहीं है।

वस्तुतः यह एक ऐसा अवसर था जबकि दसवें दशक में चल रहे हमारे इस साहित्यकार का भावभरा अभिनंदन-अभिवादन (निमित्त कैसा भी हो) किया जाना चाहिए था। विशेष रूप से उसकी काव्यकला के निकट जाने का यह मौका था। अभी भी समय है, पर उसमें खरोंच पड़ गई है। अब प्रश्न यह है कि क्या ज्ञानपीठ पुरस्कार अर्पण के समय उसका सार्वजनिक विरोध होगा? और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तब कवि का मन कैसे भाव से इस पुरस्कार को स्वीकार करेगा?

परन्तु इस पूरे दुर्भाग्यपूर्ण प्रसंग के भीतर से साहित्यकार, साहित्य और सामाजिक संदर्भ को लेकर हमारे सामने कुछ विचारणीय मुद्दे उभरते हैं। हमें उनके बारे में विचार-विमर्श करना चाहिए।

1. कवि, साहित्यकार अथवा कलाकार, एक व्यक्ति है तथा उसे अपने विचार रखने की स्वातंत्रता है।

2. परन्तु उसका यह स्वतंत्र्य सामान्य नागरिक का नहीं, प्रत्युत एक बुद्धिजीवी और विद्वान का स्वातंत्र्य है।

3. अतः इस स्वातंत्र्य के कुछ दायित्व भी होते हैं।

4. अपने इस दायित्व का निर्वाह वह या तो अपने कला-सर्जन द्वारा करता रहता है, अथवा प्राप्त धर्म या कर्त्तव्यों का पालन करते हुए। (राजेन्द्र शाह एवं सुरेश जोशी इसी वर्ग के हैं)

5. या फिर अलग तरह से साहित्येतर प्रवृत्तियों के माध्यम से इस दायित्व को अदा करता रहता है। या फिर सर्जन और सर्जनेतर दोनों तरह के काम करते हुए, निर्वाह करता है। (उमाशंकर एवं 'दर्शक' इसी वर्ग के हैं, पूर्ववर्ती गोवर्धनराम एवं मुंशी भी लगभग इसी श्रेणी के सारस्वत थे।)

6. तो भी, इन्हें इस बात के लिए विवश नहीं किया जा सकता है कि सभी प्रसंगों या (गोधरा काण्ड जैसी) अमुक घटना के बारे में उन्हें अपना दायित्व-निर्वाह करना ही चाहिए। न ही इस बारे में आप कोई नियम बना सकते हैं। क्योंकि यह निर्णय तो स्वयं उस व्यक्ति को लेना होता है कि कौन-सा दायित्व अदा करने लायक है।

7. इसी तरह पृथक रूप से दायित्व अदा नहीं करने से साहित्यकार के रूप में उससे कोई बड़ी कर्त्तव्यच्युति हो गई है, इस तरह न्याय की तराजू लेकर तोलने लगना भी उचित नहीं है। वस्तुतः हमारा ध्यान इस पर जाना चाहिए कि उसने अपनी स्वतंत्रता का विनियोग करके, सर्जन की परोक्ष रीति से, कितना और किस हद तक अपने दायित्व का निर्वाह किया है?

8. दायित्व की इस बात को हमारे यहां हाल ही में कर्म-एक्शन-तक खींच दिया गया है। अर्थात् कवि, साहित्यकार या कलाकार का दायित्व मात्र विचार व्यक्त करने तक सीमित नहीं रखा जा सकता, बल्कि उसे इन्हें किसी न किसी कर्म तक विकसित करके दिखाना चाहिए (हमारे यहां यह कर्तव्यशीलता की प्रवृत्ति भूकम्प, गोधराकाण्ड जैसे प्राकृतिक एवं मनुष्यकृत संकटों के समय अधिक प्रकाश में आई है)। तो फिर देश में आतंकवाद और विदेश में घटित 'नाइन-इलेवन' जैसी घटना या अन्य क्षेत्रों में निरन्तर चल रही आतंकवादी प्रवृत्तियों के विषय में भी यह कर्मशीलता क्यों नहीं दर्शायी जाती? इस तरह कर्म का क्षेत्र स्थल और काल के भी परिमाणों में विस्तृत होता है, जो अन्त में कर्म की व्यावहारिक मर्यादा का संकेत करते हुए लौटकर हमें हमारे विचारों में ही शांत कर देगा, यह हकीकत भी नगण्य नहीं है।

9. इसका एक अर्थ यह भी लिया जा सकता है कि विचारों को जन्म देना, उनका प्रचार करना, उनकी शुद्धि के लिए विमर्श-परामर्श करना और आमंत्रित करना अर्थात् कर्मरत बने रहने के लिए जो कुछ भी कर्म करना पड़े वह करना, यह भी कर्मशील बने रहने का एक तरीका है। विचार करना ही कर्म है, इस निष्कर्ष के पास आने पर भेद मिट जाते हैं, तब फिर ऐसे विचार-कर्मशील को किसी कटघरे में खड़ा करना अर्थहीन हो जायेगा, ऐसा समझ में आता है।

10. इसी न्याय से सभी साहित्यकारों को कर्मशील होना चाहिए, हम हैं तो फिर आप क्यों नहीं? यह सोचकर झगड़ा नहीं किया जाता। वह कविकर्मशील रहा है, इस बात से भी संतोष किया जा सकता है, पर उसे इस बात का भी पूरा अधिकार है कि वह अपने कविकर्म की बलि देकर कर्मशील बना रहे या नहीं?

11. सारी बात का सारांश इतना ही कि कलाकार की चेतना ने कितनी गहराई तक विश्व को अपने में समेटा है। बात उसके 'काम्प्रिहेन्सिव विजन' की है। यह ठीक है कि इस प्रकार की जागृति एवं सजगता के अभाव में उसका सर्जन अर्थहीन या खोखला बनकर रह जाता है, पर इसकी भी पूरी संभावना है कि ऐसी जागृति एवं सजगता के बाद उसका सर्जन, सर्जन न भी रहे। कौन-सी दिशा पकड़नी है, यह वैयक्तिक रुचि का विषय है।

12. फिर भी यह युग की मांग है कि आप मात्र स्वान्तः सुखाय लिखकर न रह जायें। किसी एकान्तिक महल के निवासी बनकर नहीं रह सकते। पर इस मांग को मैं केवल आज तक सीमित करके नहीं देखता, क्योंकि सर्जक को तो जवाब देने के लिए किसी न किसी भूमिका में खड़े रहना ही पड़ता है। वस्तुतः सर्जकधर्म तो किसी भी काल में संसार के विषमता भरे दर्शनाघात से जन्म लेता है। ऐसा ही कोई दुःखद दर्शन उसे कलम उठाने को प्रेरित करता है। मैं कहना यह चाहता हूँ कि कला सर्जन का महत्तम प्राथमिक कारण तो मनुष्य जीवन स्वयं ही है, उसमें पड़ी हुई दरारें हैं, उसमें जो-जो बेसुरा है, वह सब है।

13. अतः पृथक मांग नहीं की जा सकती, यदि सर्जक प्रामाणिक हैं यानी स्वधर्म को लेकर स्थिर एवं जाग्रत हैं। अतः आवश्यकता तो प्रामाणिकता की तथा उसके सर्जन का भावानुवादन करने की है।

14. प्रत्येक सही कलाकार की दायित्व-बुद्धि के कई मूल तो उसके बाह्य संदर्भों में होते हैं- उसके जन्म, पालन-पोषण, शिक्षा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदि तथा उपलब्ध ऐतिहासिकताओं में, पर अन्य कितने ही मूल उसमें, स्वयं के होते हैं, उसकी वैयक्तिक चेतना में, उसके स्वयं के सामर्थ्य अथवा नैपुण्य में। अतः प्रश्न तो यह बनता है कि वह अपने सर्जन में इन आंतर-बाह्य मूलों का किस सीमा तक समन्वय बिठा सका है? एक विशेष प्रकार का सामंजस्य बिठाने पर उसका कला-विश्व मधुर-मधुर और प्रसन्न-प्रसन्न लगता है (उदाहरण के रूप में रवीन्द्रनाथ और राजेन्द्र शाह का सर्जन)। ये आनंद के कलाकार दिखाई देते हैं, पर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इस आनंद तक पहुंचने में इनकी सर्जकता को कई अटपटी प्रक्रियाओं से गुजरना पड़ा है-अर्थात् ये सिद्धियां निराधार नहीं होतीं। यदि उसने किसी अन्य तरह का सामंजस्य बिठाया है तो उसका कला-विश्व विषाद का वरण किये हुए करुण दिखाई देगा (उदाहरणार्थ बादलेर या रिल्के का)। यहां भी ये कवि विषाद या करुणासिक्त भले ही दिखाई देते हों पर यह नहीं भूलना चाहिए कि वे भी किसी संकुल प्रक्रिया से गुजरकर इस परिणाम पर पहुंचे हैं। तात्पर्य यह कि ये सिद्धियां भी आधारहीन नहीं होतीं। दायित्व अदा किया है या नहीं? क्यों नहीं किया? इत्यादि प्रश्न पूछने वाले को इस तथ्य पर भी खासा ध्यान देना होगा।

15. (गोधरा काण्ड के सदृश) सार्वजनिक आपत्ति से भी बड़ी आपत्ति कोई गृह-युद्ध अथवा विश्वयुद्ध मानी जायेगी। व्यापक पैमाने पर हो रहा हिंसाचार, असंख्य निर्दोषों की हत्याएं आदि। चूंकि हमें ऐसी किसी महाविपत्ति का सामना नहीं करना पड़ा, इस कारण हमारे दायित्व बोध का स्वरूप भी सतही और प्राथमिक रहा है। तुलना कर सकें इसलिए कह रहा हूं कि पश्चिमी देशों में घोषित 'कमिटेड राइटर्स' होते हैं। इनमें ज्यादातर पत्रकार होते हैं, साहित्यकार कम ही रहते हैं। 'पल्प' और 'पोर्नो' लिखने वाले होते हैं। परन्तु अविरत साधना में निरत रहने वाले साहित्यकार बहुसंख्य होते हैं। यहां ध्यान देने की बात यह है कि ऐसे साहित्यकारों को कोई यह कहकर भयभीत नहीं करता कि तुम समाजोन्मुखी क्यों नहीं हो या क्या तुममें कोई लोकेषण नहीं? आदि।

16. विचारणीय मुद्दा यह भी है कि हमें वैचारिक मतभेद सहन नहीं होते, मात्र एकमत होना ही रास आता है। हमारे भीतर यह लालसा पल रही होती है कि हमारे जैसे विचारवालों की संख्या बढ़ती चले। बात जब सर्जक कलाकारों तक पहुंचती है तब भी हमें यह विचार-भिन्नता परेशान करती रहती है। हम में ढेरों सेक्युलर हैं, इसकी जानकारी तो हमें गोधराकाण्ड के घटित होने से हुई, पर इन सेक्युलरों में कुछ तो ऐसे हैं जो पर-मत को थोड़ा भी सहन नहीं कर पाते, यही देखा गया है। सर्वधर्म सम/मम भाव तो दूर की बात है। अतः प्रश्न यह है कि (राजेन्द्र भाई जैसे) कवि या सर्जक कलाकार के पास कहीं हम इस आशा से तो नहीं पहुंचे थे कि ये भी हमारे स्वर में स्वर मिलायेंगे? और जब आशा फली नहीं तो उनके प्रति घोर असहिष्णु हो उठे। इससे यह जाहिर है कि इन तथाकथित सम्प्रज्ञों तथा इनकी श्रेणी में अपने को खपाने के इच्छुक समकालीन साहित्यकारों की सम्प्रज्ञता स्वयं ही प्रश्नार्थक हो गई है; क्योंकि सम्प्रज्ञता कभी भी दलीय, कुण्ठित और एकांगी नहीं हो सकती।

17. आखिर दायित्व वरण किये हुए साहित्यकार की पहचान क्या है? इनकी कौन-सी चेष्टा या प्रवृत्ति को समाजाभिमुखता के अन्तर्गत गिना जाये? हमारे एक मित्र, हाल ही में कहने लगे कि शहर के विषय में कविता लिखने से आधुनिक नहीं हुआ जाता। इसी तरह हमें भी यही कहना उपयुक्त लगता है कि संस्थाओं के चक्कर लगाने और गांव-खेत में आना-जाना करने से कोई समाजोन्मुखी नहीं हो जाता। घर के कोने में बैठा हुआ कोई व्यक्ति भी समाजोन्मुखी हो सकता है, इसकी पूरी संभावना है।

सम्प्रज्ञता, प्रतिबद्धता, दायित्व, जवाबदारी इत्यादि संकेतों के अर्थ उतने सरल नहीं हैं, जितने कि वे लगते हैं। राजेन्द्र भाई के साक्षात्कार ने हमें नये सिरे से उद्दीप्त किया है। आशा है उक्त मुद्दों की पृष्ठभूमि में इस पर सार्थक चर्चा करेंगे।

अनुवाद : बंसीध

सी-90, सुकृतिनगर, दिवालीपुरा, जूना पादरा रो
बड़ोदा-39001

अनेक वर्षों से अप्राप्त

साहित्य और दलित चेतना

अब नए संस्करण में उपलब्ध

संपादक

डॉ. महीप सिंह,

डॉ. चंद्रकान्त बांदिवडेकर

मूल्य

सजिल्द 200 रु., पेपर बैक 120 रु.

अभिव्यंजना

एच-108, शिवाजी पार्क, पंजाबी बाग

नई दिल्ली-110026

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ. प्रभा दीक्षित

एडवर्ड सईद : उत्तर-औपनिवेशिक विमर्श में प्रतिरोधी चिन्तन

1935 में जन्मे एडवर्ड सईद की आवश्यकता आज सारे विश्व को थी, खास तौर से तीसरी दुनिया के अविकसित देशों को। दुःख की बात है कि वे अब हमारे बीच नहीं रहे किन्तु उनका विवादास्पद साहित्य अगली सदी के अंत तक विश्व-विमर्श के केन्द्र में रहेगा। 16वीं शताब्दी के पूर्व से ही पश्चिमी चिंतकों की यह सोच रही है कि अफ्रीकी, एशियाई, अरबी एवं लातीनी अमेरिकी मुल्कों के लोग अशिक्षित, असभ्य एवं प्राकृतिक तौर पर पश्चिम के लोगों की अपेक्षा कम बुद्धिमान होते हैं। ये विचार साम्राज्यवाद के राजनैतिक पुरोधाओं के ही नहीं हैं बल्कि वहां के दार्शनिकों-समाजशास्त्रियों के भी हैं। इस बात को राजनैतिक रूप से क्रमबद्ध ढंग से खण्डित करने का काम सबसे पहले चीन के एशियापरस्त चिंतक माओत्से तुंग ने किया था। माओ ने पूंजीवादी प्रजातंत्र और सर्वहारा के प्रजातंत्र का अन्तर स्पष्ट करते हुए यह बताने का प्रयास किया है कि तीसरी दुनिया के देशों के लिए पूंजीवादी प्रजातंत्र इतने कारगर नहीं होंगे जितने सर्वहारा के प्रजातंत्र क्योंकि समान अवसरों को खरीदने की शक्ति इन देशों के आम आदमी में नहीं होगी। माओ ने आगे इस बात पर बल दिया है कि आज पूर्वी चिंतक पश्चिमी चिंतकों की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक दृष्टि से सोच रहे हैं और अतीत में सोचते रहे हैं। वह गांवों से शहरों को घेरने की क्रांतिकारी अवधारणा में विश्व स्तर पर पश्चिम को शहर और पूरब को गांवों की संज्ञा देते थे। दो शब्दों में कहा जाए तो जो काम माओ ने राजनीति के माध्यम से करना चाहा था उसी काम या चिंतन की अनुगूंज हमें एडवर्ड सईद के साहित्यिक विमर्श में भी सुनाई देती है।

साहित्य एवं संस्कृति के विखण्डन द्वारा पूर्व के शोषण पर आधारित पश्चिमी राजनीति की परत दर परत उधेड़ने वाले इस लेखक नें पश्चिमी लेखकों के उपन्यासों को उद्धृत करते हुए स्पष्ट रूप से कहा है कि पश्चिमी विभेदीकरण की नीति उनकी वैश्विक परिकल्पना की पोल खोल देती है। आज साम्राज्यवाद के मिथ्या वादों या दावों से ऊबे हुए पूर्वी देशों के चिंतक इस उत्तर औपनिवेशिक युग में सईद के चिंतन की रोशनी में उन व्यापक राजनैतिक, सामाजिक आयामों की तलाश कर रहे हैं जो विश्व-ग्राम के नाम पर सारे जग को बंधुआ बनाने का प्रयास कर रहे हैं। तीसरी दुनिया की धीमी प्रगति का श्रेय साम्राज्यवाद को ही दिया जाना चाहिए- इस सत्य का स्पष्टीकरण सईद ने अपनी पुस्तक 'ओरियन्टलिज्म' में विस्तार से किया है। पूर्वी अस्मिता को भदेस प्रमाणित करने वाले उपन्यासकारों जोसेफ कोनार्ड आदि के चिंतन का पोस्टमार्टम करते हुए एडवर्ड सईद इस नतीजे पर पहुंचते दिखाई देते हैं कि साम्राज्यवादी देश केवल तीसरी दुनिया के देशों का राजनैतिक- आर्थिक शोषण ही नहीं करते बल्कि उनकी सांस्कृतिक अस्मिता को भी समाप्त करने का प्रयास कर रहे हैं।

इजराइल-समर्थक अमेरिका में रहकर अपनी मातृभूमि फिलिस्तीन के समर्थन में इजराइल के विरुद्ध आंदोलनरत इस लेखक ने पूरी स्पष्टता के साथ अपने देश की पक्षधरता में अमेरिकी इजराइली नीति की आलोचना की है। अपनी मातृभूमि छोड़ने का दर्द अपने दिल में बसाए इस लेखक ने सही अर्थों में विश्वनागरिक बनने की अपनी भूमिका का सफल निर्वाह किया है।

प्रायः यह देखा जाता है कि साम्राज्यवादी देशों के पालित लेखक अपने देश की जनता के असंतोष को व्यक्त नहीं करते, सईद ने इस बात का खुलासा करते हुए इस अवधारणा पर काम किया है कि साम्राज्यवाद की अनीतियों को वहां के नागरिक ही दूर कर सकते हैं। ज्ञात हो कि साम्राज्यवादियों द्वारा अपनी जनता को लूट के माल में हिस्सेदारी देने की बात माओ भी करते रहे हैं। पिछले दिनों इराक युद्ध के बाद 'फोर्ड-फाउण्डेशन' के तत्वावधान में अमेरिका में बोलते हुए सुश्री अरुन्धती राय ने कहा था कि अमेरिका की विश्वस्तर की दादागीरी को कोई दूसरा मुल्क समाप्त नहीं कर सकता, केवल अमेरिकी जनता ही ऐसा कर सकती है। अमेरिका के मायने जार्ज बुश या उनकी सरकार नहीं है, बल्कि अमेरिकी जनता है। कहना न होगा कि इस अवधारणा पर सईद का लेखन एक विकल्प प्राप्त कर चुका है। अमेरिकी साम्राज्यवाद अपने हितों के अनुसार आतंकवाद को जन्म देकर पालता-पोसता रहा है और अपने विरुद्ध भस्मासुर प्रमाणित होने पर उसे समाप्त भी किया है, लादेन के विरुद्ध अफ़गानिस्तान में तालिबान के सफाये को इसी दृष्टि से देखा जाना चाहिए। आज अमेरिकी साम्राज्यवाद विश्व से आतंकवाद समाप्त करने का फतवा दे रहा है। अमेरिकी लेखकों की इस अवधारणा कि "अरब देश अपने सांस्कृतिक पिछड़ेपन के कारण आतंकवाद को बढ़ावा देते हैं," का सईद ने खण्डन किया है। दर्शन, राजनीति, साहित्य, संस्कृति पर एक साथ काम करने वाले इस लेखक ने जो ईसाई मूल के अरब परिवार में पैदा हुआ, जेरूसलम, कैरो में रहा, हार्वर्ड विश्वविद्यालय में पढ़ा, कोलम्बिया विश्वविद्यालय (न्यूयार्क) में अध्यापन करते हुए अपने देश फिलिस्तीन की मुक्ति के लिए काम करते हुए, अपने व्यवहार और चिंतन के द्वारा सही अर्थों में अपने आपको विश्व नागरिक के रूप में चिह्नित किया है। साम्राज्यवादी सत्ता और समाज के अन्तर्विरोध, आपसी तालमेल की विवशतां,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कला या साहित्य में प्रतिरोधी क्षमता एवं अन्य शोषित समाजों पर पड़ने वाले प्रभावों को चिह्नित करने का प्रयास इस लेखक की विखण्डनवादी अवधारणाओं का विशेष लक्ष्य रहा है। लेखक ने साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक गैरराजनैतिक, साहित्यिक या सांस्कृतिक मुहिम का सूत्रपात किया है जिसे साहित्य के क्षेत्र में विशेष अवदान के रूप में चिह्नित किया जा रहा है। सम्भवतः इस उत्तर औपनिवेशिक विमर्श का यह प्रभाव है कि आज 'जबरा मारे रोने न दे' की कुनीति के अनुसार अमेरिका द्वारा इराक पर युद्ध थोपा गया है और पूरी बेशर्मी के साथ उसे मुक्त कराने की संज्ञा दी जा रही है, जिसका विरोध विश्व के सभी देशों के बुद्धिजीवी एक स्वर से कर रहे हैं। प्रजातंत्र की व्यवस्था के दोहरे आयाम अर्थात् पूर्व एवं पश्चिम के प्रजातंत्रों के रखरखाव का फर्क या अर्द्ध सामंती समाजों एवं बुर्जुआ जनतंत्रों के समाजों में रहने वाले फर्क, उनके अन्तर्विरोधों तथा उनकी जनता के आपसी जुड़ाव की तीव्रता का बोध हमें सईद के साहित्य में दृष्टिगत होता है। कारण चाहे जो कुछ रहा हो किन्तु पहली बार इराक पर अमेरिकी हमले के विरुद्ध अमेरिकी जनता ने बड़ी संख्या में अपनी सरकार के विरुद्ध उग्र प्रदर्शन किया है।

अन्त में मैं इतना कहना चाहती हूँ कि कोई भी चिंतक आज की पल-पल परिवर्तित होती दुनिया की परिस्थितियों में समग्र रूप से मानवीय पक्षधरता के सम्पूर्ण आयामों पर पूर्णता में सोच सके ऐसा सम्भव नहीं है। उनके व्यक्तिवादी रुझानों अथवा जाने-अनजाने साम्राज्यवादी क्रूर रुझानों पर धुंध-दृष्टि को लेकर हम सईद से असहमत भी हो सकते हैं। हां, इस असहमति को वर्ग-शत्रु की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। इसके बाद भी आज के साम्राज्यवादी षड्यंत्रों के बीच, बाजारवादी उपभोक्ता संस्कृति के साये में पलते हुए, हम मानवद्रोही प्रवृत्ति को अपने आसपास के समाज में, सामाजिक सरोकारों में, या आपसी संबंधों में मूर्त रूप से प्रकट होते देख रहे हैं, और एक असुरक्षा के बीच मात्र जीने के लिए जी रहे हैं। ऐसे में जन-जन के द्वारा साम्राज्यवादी सत्ता के प्रति सांस्कृतिक प्रतिरोध की अवधारणा विराट अंधेरे में टार्च की सार्थकता का बोध प्रदान करती है। पश्चिमी साम्राज्यवादी चिंतन के बरअक्स पूर्वी पक्षधरता के विमर्श का लेखकीय अवदान जहां कुछ नई बहसों को जन्म देता है वहीं विश्वग्राम (भूमण्डलीकरण) का जागरूक नागरिक बनने की सही तमीज पैदा करता है। माओत्से तुंग और सईद की अवधारणाओं में काफी फर्क होने के बाद भी पश्चिम पर पूर्व के चिंतन की श्रेष्ठता का बोध एवं साम्राज्यवाद का हर स्तर पर विरोध इन्हें एक ही राह का राही बना देता है।

128/222, दाई वन ब्लॉक, किदवई नगर, कानपुर

संचेतना

आगामी अंक का मुद्दा

भारतीय भाषाओं के मध्य संवाद और सहयोग कैसे बढ़ सकता है?

भारत सरकार के मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में भारतीय भाषाओं के विकास, प्रचार-प्रसार तथा संवर्धन के लिए राष्ट्रीय स्तर की एक परिषद का गठन किया है। ऐसी परिषद इससे पहले भी गठित होती रही है, किन्तु कोई ठोस कार्य किए बिना अपना कार्यकाल पूरा कर जाती रही है।

हम यह भी अनुभव करते हैं कि स्वतन्त्रता के 57 वर्ष बाद भी भारतीय भाषाएं अंग्रेजी के समक्ष दूसरे और तीसरे स्तर की भाषाएं बनकर जीती हैं। उनकी स्वायत्तता आज भी संदिग्ध है और अंग्रेजी का वर्चस्व निरन्तर बढ़ता चला जा रहा है। दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति यह है कि भारतीय भाषाओं का आपसी संवाद बहुत कम है और जो कुछ भी है वह अंग्रेजी के माध्यम से है।

इस स्थिति में कैसे भाषाओं को उनका उचित स्थान प्राप्त हो सकता है? किस प्रकार इन भाषाओं के मध्य संवाद, सौहार्द और आदान-प्रदान को प्रोत्साहित किया जा सकता है? और सबसे महत्वपूर्ण बात यह कि किस प्रकार हिन्दी को सभी भाषाओं के मध्य सम्पर्क और विचार-विमर्श की भाषा बनाया जा सकता है।

इस मुद्दे पर हमें आपका सुविचारित मत चाहिए। यदि दस दिनों में आप अपने विचार भेज देंगे तो आगामी अंक हम शीघ्र ही प्रकाशित कर सकेंगे।

–सम्पादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ. कृष्णचन्द्र गुप्त

कितनी धार्मिकता है इस मानसिकता में?

वैष्णव देवी की यात्रा का प्रचार-प्रसार जिस रफ्तार से सनातनी हिन्दू मानस में हुआ है, वह निश्चय ही विलक्षण और विस्मयकारी है। पच्चीस-तीस वर्ष पहले धार्मिक यात्राओं के प्रति इतना उत्साह-आग्रह नहीं था, जैसा आज विवेकहीन उन्माद के रूप में दिखाई पड़ता है। सोलह किलोमीटर की चढ़ाई यद्यपि आज अनेक भौतिक सुख-सुविधाओं से सम्पन्न हो गयी है और धनिकों के लिए घोड़े-पालकी ने इसे एक तफरीह का रूप दे दिया है, पूरे रास्ते खाने-पीने और विश्राम की सुविधाओं के कारण। पौराणिक युग की कष्टकारी तपस्याएं आज भी दुर्गम तीर्थस्थान की संकटों से भरी यात्राओं में देखी जा सकती हैं, जहां कोई यांत्रिक या पशु-वाहन की सुविधा नहीं है, लेकिन जहां सुविधाएं दिन दूनी, रात चौगुनी बढ़ती जा रही हैं, उनके कारण ऐसी तीर्थयात्रा भीतर-बाहर की शुद्धि, सांसारिकता के त्याग और भोग-विलासों से वैराग्य की दीक्षा लेने की साधन न होकर, अत्याधुनिक सुविधाओं से सम्पन्न होने के कारण लक्ज़ूरियस लाइफ की पिकनिक के रूप में बदलती जा रही है। यात्रियों के लिए व्यवस्था और सुविधा उद्योग-पर्यटन की व्यावसायिकता के रंग में डूबती जा रही है। इसलिए इन यात्राओं में धार्मिकता, आध्यात्मिकता, अलौकिकता, पारलौकिकता की अनुभूति कम या दुर्लभ होती जा रही है। नित नूतन सुख-सुविधाओं के अम्बार लगते जाने के कारण एक हल्की-फुल्की मनोवृत्ति पनप रही है, जिसमें धार्मिकता और तफरीह का बदलता हुआ अनुपात देखते ही बनता है।

लेकिन यह बात तो सम्पन्न लोगों के लिए है। जो सम्पन्न नहीं हैं, वे अनेक आर्थिक एवं शारीरिक कष्ट उठाकर ऐसी यात्राओं के प्रचार-प्रसार से प्रेरित-प्रभावित होकर ऐसी कष्टकर यात्राएं करने का मन बना लेते हैं, जिन्हें आस्तिकता के बल पर ही पूरा किया जा सकता है।

वास्तव में ऐसी यात्रा होती ही तीर्थयात्रियों के लिए है। जिनमें आस्तिकता का अभाव होता है, उनके लिए यह तफरीह या पर्यटन होकर रह जाती है, जिसके कारण पर्वतीय चढ़ाई कष्टकर क्या, कभी-कभी घातक भी हो जाती है। जो तफरीह में मूड में ऐसे स्थानों की यात्रा पर निकल पड़ते हैं, उनका उत्साह शीघ्र ही भंग हो जाता है और यदि उनमें से कोई साथी आस्तिकता से संचालित होकर यात्रा करने की लालसा संजोए रखता है, उसकी आस्था के प्रति श्रद्धालु न होते हुए शंका या व्यंग्यात्मकता से यथासम्भव बचते हुए यात्रा करना वास्तव में आसान नहीं होता।

तभी तो, जब मैंने अपने मित्र डॉ. आदर्श से वैष्णव देवी की यात्रा की इच्छा प्रकट की तो उसने कहा-कोई प्रबन्ध कर देंगे, मतलब किसी को साथ कर देंगे, क्योंकि मेरी श्रीमतीजी की वैष्णव देवी की यात्रा की ललक वह कई बार देख चुका था और उनसे इस यात्रा का आग्रह भी कर चुका था, जिसमें उसका स्नेह-सौजन्य था कि इसी कारण उसके साथ हम लोग ऊधमपुर घूमेंगे-फिरेंगे; लेकिन जब कोई अन्य साथ नहीं मिला, बेचारे आदर्श को हमारे साथ चलना पड़ा। उसी के शब्दों में-जान-बूझकर कुएँ में कूदने जैसा, क्योंकि वह हम दोनों को अकेले तो नहीं जाने दे सकता था।

इस यात्रा में ब्रह्म-ज्ञान खूब हुआ। कालिदास के 'कुमारसम्भव' में कुसुम-कोमल पार्वती कामदेव के भस्म हो जाने के बाद शिव को प्राप्त करने के लिए वज्रकठोर साधना करती है। शिव और पार्वती दोनों एक-दूसरे को डिगाने के लिए सन्नद्ध। यहीं पर कालिदास ने धार्मिक अनुष्ठानी साधनाओं के विषय में एक सूक्ति लिखी है-शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्। शरीर का स्वस्थ, समर्थ होना किसी भी धर्म-साधना के लिए पहली और अनिवार्य शर्त है, लेकिन आवेश, उन्माद, प्रसिद्धि या इहलोक-परलोक की किसी कामना से वशीभूत असाध्य व्रत लेने की मानसिकता इस तथ्य को अनदेखा कर देती है और फिर गले पड़ी ढोलक की तरह न चाहते हुए भी इसे बजाने के अलावा कोई मार्ग नहीं रह जाता। इस दशा को आस्तिकता के बल पर ही झेला जा सकता है, लेकिन जिनकी आस्तिकता नष्ट हो चुकी है, जो केवल तफरीह के मूड में ऐसी यात्रा चाहे-अनचाहे शुरू कर देते हैं, उनकी दशा का अनुमान आस्तिक नहीं लगा सकते।

यही हाल मेरा और आदर्श का हुआ। मैं यों यायावरी मूड से इस यात्रा से जुड़ा। श्रीमतीजी आस्तिकता से परिचालित होकर और आदर्श! वह बेचारा दोस्ती में मारा गया। तभी उसने मजाक में कहा था-आप लोगों को तो इस यात्रा के कष्टों का अंदाज था नहीं डॉक्टर साहब! आप तो तफरीह के मूड में या प्राकृतिक सौन्दर्य का आनन्द लेने के मूड में और भाभीजी आस्तिकता से परिचालित, लेकिन मैं तो इन दोनों में से किसी के चक्कर में नहीं था। मुझे तो दोस्ती में जान-बूझकर इस कुएँ में कूदना पड़ा! तो यह यात्रा इस कारण पिछली सब यात्राओं से अलग रही।

श्रीमतीजी की मानसिकता कैसे भी इस यात्रा को धार्मिकता के कारण सम्पन्न करने की हो गयी थी। उनके अनेक सगे-सम्बन्धी इस यात्रा को कई बार कर चुके थे। वे लोग उन्हें बड़ी दया से देखते थे कि बद्रीनाथ से लेकर रामेश्वरम् तक तो वे घूम आयीं, लेकिन वैष्णव देवी की यात्रा अब तक नहीं की। यद्यपि इसका कारण आर्थिक सुविधाएं थीं, जो अन्य स्थानों के लिए उन्हें उपलब्ध हो गयी थीं, मेरे साहित्यिक और शैक्षिक कार्यक्रमों के कारण। इस बार भी पठानकोट, सुजानपुर जाने का अवसर मिला, लोकार्पण-समारोह की अध्यक्षता करने के लिए। तभी वैष्णव देवी की यात्रा का विचार पक्का हो गया, आदर्श के ऊधमपुर रहने के कारण। वैष्णव देवी का मुझे कोई विश्वसनीय पौराणिक आधर नहीं मिला। शक्ति, दुर्गा, पार्वती का अस्तित्व तो शिव से अलग है, लेकिन वैष्णव देवी-विष्णु की शक्ति-लक्ष्मी का विष्णु से अलग कोई पुष्ट प्रामाणिक या लोक प्रचलित आधार मुझे आज तक नहीं मालूम। फिर केवल तीन पिण्डियाँ, कोई प्रतिमा या चित्र नहीं। किसी अगम गुफा में प्रकट या प्रतिष्ठित ये तीन पिण्डियाँ लोक-आस्था का ज्वार कैसे उठा रही हैं, यह चिन्तन के लिए पर्याप्त चुनौती है। किसी भक्त या कलाकार के द्वारा अनगढ़ मूर्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी नहीं, मात्र तीन पिण्डियाँ, तभी तो पवित्र गुफा के बाहर अनेक स्थानों पर लिखा मिला-यहाँ कोई प्रतिमा या चित्र नहीं है। यहाँ शक्ति अपने प्राकृत रूप में है, पिण्डी के रूप में। अतः ध्यान से उसे देखिए। भीड़ का इतना रेला कि आधे-चौथाई मिनट में हाथ पकड़कर आपको दिखा दें, कुछ चढ़ाइए, सिर झुकाइए और चलते बनिए। यदि पल-भर ठहरना चाहें, इतनी कष्टकर यात्रा के लक्ष्य को देखने के लिए तो व्यवस्थापक यह नहीं करने देंगे, क्योंकि पीछे भी दर्शनार्थियों का रेला जो आ रहा है। हरिद्वार में ब्रह्मकुण्ड में एक ही डुबकी लगा सकने पर स्वयंसेवकों और पुलिस के द्वारा पकड़कर बाहर कर दिया जाता है जैसे। भांति-भांति के कष्टों को झेलकर इतनी लम्बी यात्रा करने के बाद पलक झपकते ही बाहर कर दिये जाने की व्यवस्था। इसे भी केवल आस्तिकता के बल पर ही झेला जा सकता है।

मेरे लिए तो यह ऐसा अनुभव था - न भूतो न भविष्यति। मैंने तिरुपति, मदुरै और रामेश्वरम् में भी कुछ समय रुककर दर्शन तो किये ही थे, उसी की आशा मुझे यहां भी थी, फिर मैं अपने आरामतलब और तफरीह के मूड के कारण बहुत कष्ट उठाकर यहां पहुंचा था। रावण के अनुसार - तप न होई इहि तामस देहा। रक्तचाप, भारी शरीर, आस्तिकता से शून्य मुझ जीव की जो गति इस यात्रा में हुई, उसे कहते भी नहीं बनता था। इस भय से कि लोग कहते-तो वहाँ क्या करने गये थे आप? ये कष्ट क्या आपको पहले अनुमानित नहीं थे? तीर्थयात्राओं में जाएंगे भी, नास्तिकता के कारण तीर्थयात्रियों पर व्यंग्य भी करेंगे, शरीर-कष्ट के कारण हाय-हाय भी करेंगे, अपनी इस दुर्गति का बखान किये बिना भी नहीं रहेंगे, तो भाई! बावले कुत्ते ने काट लिया था क्या?

इस यात्रा में तो श्रीमती जी का साथ देने का भाव था। शरीर- कष्ट को यथासम्भव सहर्ष झेलते हुए और उसे छिपाने की पूरी चेष्टा करते हुए चढ़ाई तो पूरी पैदल ही की, मैंने और आदर्श ने। श्रीमती जी को आठ किलोमीटर की चढ़ाई के बाद घोड़े पर बैठा दिया, उनके डरने पर भी। लौटती बार सोचा कि आदिकुमारी से घोड़े ले लेंगे। एक भी नहीं मिला। जो एकाध तैयार भी हुआ, उसने काफी रुपये माँगे। श्रीमती जी ने जवाब दे दिया- आज चलना सम्भव नहीं है, रात में चलेंगे विश्राम करने के बाद। लेकिन जब चलना ही था और घोड़े की व्यवस्था नहीं हो रही है तो उनके इस संकल्प ने जोर मारा और वे हम दोनों से आगे निकल गयीं, बायीं ओर हर्निया के कारण कई किलो बाहर निकली आँतों के होते हुए भी। एक-दो किलोमीटर भी चलना असम्भव था जिनके लिए, वे चौबीस घंटे में चौबीस किलोमीटर चढ़ाई-उतराई कर गयीं। इसे आस्तिकता का चमत्कार न माना जाए तो क्या माना जाए? और लगभग पूरे रास्ते बिना असहिष्णुता, व्यंग्य-विद्रूप और शिकायत या परेशानी के। और हम जवाँमर्दी का दम भरनेवाले घुमक्कड़ मर मिटे। कई बार कहा- किस चक्कर में पड़ गए? किस बुरी घड़ी में यह निर्णय लिया? जबकि कुसुमकोमल बच्चे और युवतियाँ तथा जर्जर बूढ़े यह सब मुसीबत झेल रहे हैं, लेकिन मुसीबत तो हम नास्तिक और तफरीहबाज मान रहे थे। वे लोग तो यह कष्ट सहन इष्ट-प्राप्ति के लिए अपरिहार्य साधना के रूप में कर रहे थे। उनके रोम-रोम से तो सार्थकता झिलमिला रही थी। शारीरिक अक्षमता उन्हें कटु या दुःखी नहीं कर सकी थी। यह दिव्य शक्ति में आस्था का चमत्कार था, जिसने हम लोगों को भी अभिभूत किया। श्रद्धा, विश्वास और भक्ति से सराबोर ऐसी अनेक मुद्राएँ रह-रहकर मझे आज भी आप्लावित कर रही हैं। वहाँ का सौन्दर्य आन्तरिक कोमलता और पवित्रता से और भी अधिक आकर्षक, भव्य और तृप्तिदायक हो उठता है दर्शक के लिए। यदि मैं इस यात्रा का कोई फल मानता हूँ तो प्राकृतिक सौन्दर्य के अलावा यात्रियों की भुवनमोहिनी, पवित्र, श्रद्धा-विगलित मुद्राएँ ही हैं, जिनके बल पर मैंने यह शारीरिक कष्ट झेला। यद्यपि श्रीमती जी का चाहे-अनचाहे साथ देने का सन्तोष तो मुझे मिला ही। यही पुण्य मेरे लिए पर्याप्त है।

पूरी यात्रा में कहीं एक भी भिखारी नहीं मिला। इस तथ्य पर मैं सुनकर विश्वास नहीं कर सकता था। यद्यपि अनेक स्थानों पर लिखा देखा- भीख मांगना अपराध है। जिस मानसिकता में भिक्षाटन अहंकार-विसर्जन का सबसे प्रमुख उपाय माना गया हो और असहायता की दशा में तीर्थस्थानों पर भीख मांगना जीवन-यापन का साधन बन गया हो, वहां वैष्णव देवी में एक भी भिखारी का न मिलना आश्चर्यजनक से बढ़कर अविश्वसनीय था और उतना ही चौंकानेवाला था मजदूरों का चाय पीने के लिए यात्रियों से दो-एक रुपये मांगना। यह भी मैंने यहीं देखा, मजदूरों को भीख मांगते हुए।

और सबसे अधिक अविस्मरणीय दृश्य पालकी ढोने वाले चार मजदूरों का। चर्र-चूँ, चर्र-चूँ की आवाज हर दस मिनट के बाद कान में पड़ती थी। शारीरिक अक्षमता के कारण पैदल यात्रा करने वालों की दशा दयनीय थी। वहीं साष्टांग प्रणाम की मुद्रा में बत्तीस किलोमीटर की चढ़ाई-उतराई करनेवाले भी विलक्षण श्रद्धालु थे। एक तो वास्तव में नाक रगड़कर यात्रा कर रहे थे, दण्डवत् मुद्रा में। वहाँ चार मजदूरों के कंधों पर लदे धनिकों की मुद्रा मुझे अरथी पर लेटे हुए मुर्दे-सी लगी। मजदूरों की शिराएँ तन रही हैं, पूरा शरीर कमान बन गया है, चर्र-चूँ, चर्र-चूँ की ध्वनि अन्दर तक चीर रही है संवेदनशील लोगों के मन को। अशक्त व्यक्तियों के लिए यह सवारी क्षम्य मानी जा सकती है, लेकिन हट्टे-कट्टे धन-पशुओं का तो यह शौक है। इसका क्या औचित्य? लौकिक-पारलौकिक कामना की सिद्धि हेतु या सिद्धि हो जाने पर यह यात्रा की गयी, यदि इसका कोई पुण्य-फल कोई दिव्य अलौकिक शक्ति न्यायपूर्वक देने बैठेगी तो इन धन-उन्मत्त लोगों को मिलेगा क्या? इसका पुण्यफल यदि मिलना चाहिए या मिले तो इन्हीं मजदूरों को मिले या मिलेगा, पशुओं से भी बदतर दशा में जो जीवित श्रद्धालुओं को ढो रहे हैं।

186/12, आर्यपुरी, मुजफ्फरनगर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'कलम ही जिद ठानकर बैठ जाती है।'

कथाकार डॉ. सूर्यबाला से डॉ. बूला कार की बातचीत

समकालीन महिला कथाकारों में शीर्ष स्थान पर अपना अधिकार जमाने वाली डॉ. सूर्यबाला का परिचय देना, सूर्य को दीपक दिखाना है उनमें दार्शनिक प्रत्ययों को सहज रूप से संप्रेषित करने की क्षमता हैं। परिवार, समाज के अन्तर्द्वन्द्व और देश-विदेश के अपने निजी अनुभवों का कथा-संसार डॉ. सूर्यबाला के गंभीर चिन्तन का परिचायक है। साहित्य की विभिन्न विधाओं-कहानी, उपन्यास, व्यंग्य आदि में सफलतापूर्वक सर्जनात्मक पड़ाव पार करने वाली डॉ. सूर्यबाला के 'मेरे संधिपत्र', 'सुबह के इन्तजार तक', 'यामिनी कथा' बहुचर्चित रहे हैं। विभिन्न सम्मानों से पुरस्कृत डॉ. सूर्यबाला से उज्जैन में एक संगोष्ठी में मुलाकात के दौरान, साक्षात्कार में से कुछ अंश यहां दिए जा रहे हैं जो औपचारिकता से दूर अपनेपन का एहसास कराते हैं।

प्रश्न - पारिवारिक जीवन के बारे में कुछ बतायेंगी?

उत्तर - यूं तो दो बेटों और बीच की बेटी का एक छोटा सा परिवार-लेकिन जाने क्यूं जब भी परिवार की बात चलती है, मैं अपने महामोही संयुक्त कुटुम्ब से काटकर अपना परिवार नहीं बना पाती। यह कुटुम्ब मेरी सबसे बड़ी उपलब्धि है। मुझे लगता है, विशेषकर आज के समय में तो ऐसे कुटुम्ब की जरूरत और ज्यादा बढ़ गई है।

प्रश्न - आपने लेखन कार्य कब से शुरू किया?

उत्तर - कहने को तो बहुत छुटपन से, अचानक और आप से आप भी। (प्रायः सभी लेखकों के साथ ऐसा ही होता है।) हाँ, नियमित लेखन की शुरुआत पहली कहानी 'जीजी' के सारिका में प्रकाशन के बाद से मान सकती हैं। लगभग उसी वर्ष पहला व्यंग्य भी धर्मयुग में प्रकाशित हुआ था।

प्रश्न - आजकल के लेखन को लेकर कैसा महसूस करती हैं आप?

उत्तर - लेखन हर विधा में बहुत संतोषजनक हो रहा है। बीच के दशकों में अतिबौद्धिकता की ओर भटक गई कविता और आन्दोलनों के पड़ावों पर दाना चुग्गा करती कहानी आज सहज और समर्थ दोनों हो गई हैं। तथ्य और कथन की दृष्टि से आज की कहानी और उपन्यास में विलक्षण प्रयोग हो रहे हैं। बीच-बीच में नये कथाकारों की ताजगी और तराश भी अभिभूत कर जाती है। लेकिन वहीं आज के लेखकों की शार्टकट से चर्चित होने की आपाधापी और अतिव्यावसायिकता चिंतित भी करती है। इससे लेखक का तो नहीं लेकिन लेखन का बहुत नुकसान हो रहा है। अपनी रचनाओं की मार्केटिंग को गलत तो किसी रूप में नहीं कहा जा सकता लेकिन कभी-कभी ये नैतिक मूल्यों की सीमाएं लांघ जाते हैं।

प्रश्न - समीक्षा के क्षेत्र में महिलाओं की स्थिति के बारे में आप क्या कहती हैं?

उत्तर - महिला लेखन का शुरुआती झुकाव मुख्यतः रचनात्मक विधाओं की ओर रहा। महिला लेखन सायास कम अनायास ज्यादा हुआ। इसकी पूंजी संवेदना थी, विचार तो बाद में आया और एक संतुलन स्थापित हुआ। दूसरी तरफ समीक्षा शुद्ध रूप से वैचारिक विश्लेषण है- लेकिन चूंकि आवश्यकता आविष्कार की जननी होती है, इसलिए समीक्षा में भी महिलाओं की पहल शुरू हो गई है। स्वयं लेखिकाओं ने भी घिसी-पिटी समीक्षा की परिपाटी को तोड़ते हुए इसे नयी ताजगी और तराश दी है। शायद उन्हें लगने लगा कि लेखन में आत्मनिर्भर होना जितना जरूरी है, उतना ही समीक्षा की किल्लत से छुटकारा पाना भी। सचमुच इस विधा में थोड़ी ताजगी और बदलाव बहुत जरूरी है। तेजी से प्रखर और प्रबल होता सभी का वैचारिक पक्ष भी इसमें सहायक होगा।

प्रश्न - लेखन में आप वैचारिक प्रतिबद्धता को कितना जरूरी समझती हैं?

उत्तर - हर विचारधारा में कुछ वैशिष्ट्य होते हैं तो कमियां भी होती हैं। लेखक के लिए किसी भी विचारधारा का हठवादी अनुकरण मेरी समझ से अहितकर है। क्योंकि उसके लिए रचना से प्रमुख विचारधारा हो जाती है। यह उसकी रचनात्मकता की सीमा छोटी करता है। उसके कथा और कथन को किसी न किसी रूप में प्रभावित अवश्य करता है। प्रायः यह विचारधारात्मकता सीढ़ी के रूप में भी इस्तेमाल की जाने लगती है। हर लेखक की अपनी दृष्टि और दर्शन होना चाहिए, होता है भी। कभी-कभी यह समय और अनुभवों के समानान्तर परिवर्तित भी होता है। लेकिन यह बदलाव भी रचनाकार की दृष्टि को विस्तार ही देता है। घेरे में बंधा लेखन रचनाकार को रचना से ज्यादा विचारधारा के प्रति कॉन्शस करता है।

प्रश्न - हिन्दी लेखन बनाम महिला लेखन पर आपके विचार?

उत्तर - महिला लेखन शब्द अगर आपत्तिजनक रहा तो उसका एकमात्र कारण इसे दोयम दर्जे का प्रमाणित करने की साजिश है। स्त्री लेखन को हमेशा एकांगी, एकरस और सम्पन्न बौद्धिक महिलाओं का शगल कहा गया। सच्चाई यह है कि उत्कृष्ट और सामान्य लेखन महिला और पुरुष दोनों कथाकारों द्वारा हुआ है। अलावा इसके, प्रायः हर लेखक की सभी रचनाएँ समान रूप से उत्कृष्ट या सामान्य नहीं कही जा सकती हैं।

महिला लेखन के शुरुआती वर्षों में ही आये 'आपका बंटी' को मैं आधुनिक समाज और स्त्री से जुड़ी प्रायः सारी समस्याओं और पक्षों का दस्तावेज मानती हूं। इस उपन्यास की नायिका शकुन बाद में आये प्रायः सभी उपन्यासों में किसी न किसी अंश में उपस्थित है।

प्रश्न - मेरा ख्याल है, आपके उपन्यास 'यामिनी कथा' में भी।

उत्तर - स्वयं मेरे मन में तो यह बात कभी नहीं आयी थी किन्तु 'यामिनी कथा' पर हुई एक संगोष्ठी में एक विदग्ध पाठिका ने इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपन्यास को 'आपका बंटी' के बाद की कड़ी कहा था। शायद इसलिए कि स्त्री द्वारा स्वेच्छा से पुनर्विवाह से जुड़ा कथ्य होने के बावजूद इनके विषय और ट्रीटमेन्ट में पर्याप्त अन्तर है। दोनों उपन्यासों में सामाजिक अवरोध-विरोध नहीं के बराबर हैं। इसके विपरीत मनोवैज्ञानिक स्तर पर उपजी समस्याओं का विश्लेषण है। बंटी की उम्र छोटी है जबकि यामिनी कथा का पुतुल चौदह वर्ष का है जो पहले माँ को विवाह के लिए प्रेरित करने के बावजूद माँ के नये पति को पिता के रूप में नहीं स्वीकार पाता।

प्रश्न - हर रचनाकार अपने समय के परिचित यथार्थ के भीतर से ही अपने पात्रों की खोज करता है। आप कहां से पात्रों को लेकर मानवीय अर्थवत्ता देती हैं?

उत्तर - मेरे साथ अत्यंत महत्वपूर्ण संयोग यह रहा कि धूप-छाँही परिवेशों ने मेरे साथ जी भरकर आँख-मिचौली खेली। कभी कस्बाई मध्य वर्ग के ठाठ-बाट और सुख-सुविधाएँ तो कभी दयनीय विपन्नता पर आवरण डालती सफेदपोश कंगाली। कभी धुर गांव के माहौल में लम्बा घूंघट, तो कभी मसाला फिल्मों की तरह मर्चेन्ट नेवी में कार्यरत पति के साथ इंग्लैंड और यूरोप तक की यात्राएँ। शायद इसीलिए 'अग्निपंखी' (उपन्यासिका) के जयशंकर और ग्रामीण परिवेश की सी ही सहजता से 'यामिनी कथा' के विश्वास को भी रच पायी हूं।

प्रश्न - कोई एक रचना कैसे रातोरात प्रसिद्धि पा जाती है? क्या इसमें कोई राजनीति का जादू...

उत्तर - राजनीति तो बेशक खुलकर होती है, मार्केटिंग और पब्लिसिटी के भी अपने करिश्मे होते हैं लेकिन सिर्फ इनके दम पर कोई कृति आज तक स्थाई महत्व नहीं प्राप्त कर पायी। बेशक उपलब्धि और ख्याति में उन्नीस-बीस का अन्तर अवश्य हो जाता है। उदाहरण के लिए पिछले दशकों में आये पहला गिरमिटिया, इदन्नमम, बेदखल, कठगुलाब, कलिकथा, आवाँ, पीली आंधी और कथा सतीसर, अल्माकबूतरी आदि सभी महत्वपूर्ण उपन्यासों की कमोबेश चर्चा हुई ही।

प्रश्न - और अंत में, कैसे करती हैं आप लेखन?

उत्तर - सच मानिये, एक अपराध की तरह। लोग इसे लेखकीय प्रतिबद्धता की कमी मान सकते हैं। लेकिन मैं एक ईमानदार आत्मस्वीकृति कर रही हूँ। कितनी ही बार लिखने की स्थितियां झकझोरने वाली रहीं लेकिन कलम चला पाने की परिस्थितियां नहीं बन पायीं! लगा कि कलम अब हमेशा के लिए छूट ही जायेगी, लेकिन हर बार जैसे कलम ही जिद ठानकर बैठ जाती है।

प्रश्न - इस जिद के साथ नया क्या लिख रही हैं?

उत्तर - दो अधूरे उपन्यास जिनमें संस्मरण और आत्मकथात्मक शेड्स भी आने हैं....लेकिन मेरी यह प्रवृत्ति और कमजोरी है, कि जब तक रचना या कृति पूरी नहीं हो जाती मैं उस पर बात करने की स्थिति में अपने आप को बिल्कुल नहीं पाती।

प्रश्न - और कौन-कौन सी जिदें?

उत्तर - जी हाँ, सनक और मूर्खता भी कह सकती हैं, अब जैसे यही कि आज तक अपनी कोई पुस्तक किसी पुरस्कार के लिए नहीं भेजी। संकोच, स्वाभिमान और एक बेपरवाह मस्ती - इन तीनों की वजह से सतह पर दिखते नुकसान तो अवश्य उठाए लेकिन प्रतियोगिता की अंधी दौड़ में शामिल न होने का आत्मिक संतोष भी बहुत मिला

प्रश्न - इधर आई नयी पुस्तकें?

उत्तर - एक व्यंग्य संग्रह 'धृतराष्ट्र टाइम्स' तथा दो कथा संग्रह क्रमशः 'इक्कीस कहानियां' तथा 'सिस्टर प्लीज आप जाना नहीं'। कथा संग्रह 'मानुष गंध' शीघ्र प्रकाश्य।

मैगजीन लाइन, परासिया, छिन्दवाड़ा-480441 (म.प्र.)

लघु कथा

मधु सन्धु

शुभचिन्तक

वह छरहरे बदन की गंदमी रंग की गम्भीर, सभ्य, सुसंस्कृत सामान्य सी लड़की थी। दो बच्चे हाई स्कूल में पढ़ते थे, पर चेहरा या शरीर उसके औरत होने की हामी नहीं भरते थे।

अभी ऑफिस पहुंची ही थी कि फोन की घंटी टनटना उठी।

"हैलो, हू इज़ ऑन द लाइन?" उसने दफ्तरी मकैनिकल स्वर में पूछा।

"मानसी, नितिन हेयर, सुबह स्कूटर में हवा कम लग रही थी, सोचा पूछ लूं, ठीक से पहुंच गई हो।" स्वर में मिश्री भी थी और आत्मीयता भी। उसने हां-हूं करके फोन पटक दिया।

घड़ी देखी। चार पचपन हुए थे। वह घर लौटने की तैयारी में थी कि ट्रीं-ट्रीं होने लगी।

"हैलो," वह जल्दी में थी।

"मानसी, मैं बोल रहा हूं अरविन्द। कल बच्चों का पेयरेंट-टीचर मीट है। तुम चाहो तो रहने देना। मैंने अपने अप्पू के लिए तो जाना ही है। तुम्हारे बेटे का भी देख लूंगा।" उसने पटाक से फोन फेंक दिया।

जब तक वह ज़िंदा था, शराब की गंध से घर गंधाता रहता। वह खीझती, कलपती, कुढ़ती रहती। काश न होता। किसी से यह तो कह पाती-'नहीं है, विधवा हूं।' कोई पूछे क्या करता है, तो इस बेकार निखट्टू के लिए झूठ गढ़ना पड़ता। त्रासदी यह कि झूठ अगली बार तक याद भी नहीं रहता था। तब शर्मिंदा होने के सिवाय कोई चारा न बचता।

पर तब ऐसे फोन कभी नहीं आए थे-उसके मरते ही इतने शुभचिन्तक?

बी-14, गुरु नानकदेव विश्वविद्यालय, अमृतसर, पंजाब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हरदर्शन सहगल

मैंने बंदूक अच्छी चलाई थी न?

बहुत छोटी उम्र से, कहना चाहिए जब से मैंने अपने शरीर को परखना शुरू किया है, अपने को सर्दी की मार का मारा पाता हूँ। जुकाम आज तक पीछा नहीं छोड़ता। पेशावर (फ्रंटियर), पंजाब, यू.पी., हरियाणा बाद में सादुलपुर की भी खूब ठंड झेली है। इसके बावजूद जैसे ठंड से लड़ने-मुकाबला करने घर से निकलता रहा हूँ, मानो मुझे मैदान तो फतह करना ही है। बचपन से माताजी के साथ सुबह चार बजे नंगे पांव सड़क पर चलते हुए रोज़ाना मंदिर भी जाता रहा हूं- जिला शेखूपुरा पंजाब में। शाहदरा-लाहौर में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का, सात रोज़ का कैंप। इसी तरह स्कूल की तरफ से स्काउटिंग कैंप, सर्दियों में अटेंड किए हैं। मास्टर साहब (बिसारिया जी) के साथ सर्दियों में पक्षियों का शिकार करने बहेड़ी (बरेली के पास) भी गया हूं। और भी न जाने कहां-कहां सर्दियों में भटका हूं। स्काउट एवं गाइड संस्थाओं से मैडल और सर्टीफिकेट हासिल किए हैं। इसके अलावा तरह-तरह के सर्टीफिकेट्स की मेरे पास भरमार है। पर बंदूक चलाने वाला सर्टीफिकेट मुझे आज तक आह्लादित किए रहता है।

बरेली कॉलेज की ओर से हमें (कुछ चुनींदा कैडिट्स को) एन.सी.सी. कैंप में शिरकत करने फैज़ाबाद ले जाया गया था। वर्ष रहा होगा 1954। पूरी कड़ाकेदार सर्दियों के दिन। तत्कालीन मनोनीत राज्यसभा सदस्य श्री पृथ्वीराज कपूर भी हमसे मिलने, गार्ड ऑफ ऑनर लेने, वहां आए थे। पूर्वाभ्यास परेड में मेरे पैर जिस तरह से पड़ रहे थे वह हमारे कमांडेंट साहब को नागवार गुज़रा। सिपाही लोग हमसे लेफ्ट-राइट करवाते मार्चपास्ट करवाते। फिर स्वयं की गर्दन को झुकाकर ज़मीन तक ले जाते। जिस-जिस लड़के की टांगों में ज़रा सा भी फर्क आ रहा होता, फौरन फुर्ती से बढ़कर उसकी टांगों पर डंडा जमा देते। हम सबको बहुत बुरा महसूस होता। हम सब अच्छे घरानों के लड़कों को ये मामूली से सिपाही मिनटों में बेइज्ज़त कर देते। लेकिन हम लोग कुछ कर नहीं पाते। उस दिन मेरी टांगों पर जैसे ही डंडा पड़ा मेरे मुंह से 'ऊई रे' निकला।

"एक तो परेड ठीक नहीं कर सकते दूसरा चिल्लाते हो...न जाने, बरेली से यहां फैज़ाबाद के लिए तुम्हारा सेलेक्शन कैसे हो गया। हट जाओ-तुम्हें पृथ्वीराज कपूर साहब के समय परेड में भाग नहीं लेना। चौपट कराओगे।"

इससे मेरे अहम् को करारी चोट लगी। तब मुझे फिर से चीनू, सहपाठी लड़के, का ध्यान आने लगा, जिसे बरेली परेड निरीक्षण के दौरान ही रिजेक्ट कर दिया गया था। इस पर वह रोने लगा था। मेरा दिल इतना पसीजा कि मैं ट्रेनर के पास जा पहुंचा और दबी ज़बान से प्रार्थना की थी कि मेरे बदले चीनू को ले जाएं।

ट्रेनर ने तपाक से सख्त लहजे में जवाब दिया-ऐसा भी कभी होता है? अब तो तुम्हीं को ले लिया गया है। तुम को चलना पड़ेगा।

अब यहां 'परेड बाहर' होने पर फिर से सोचने लगा। काश मेरी इल्तिजा मंजूर कर ली गई होती तो मैं बरेली ही रह जाता।

उस रात मुझे सर्दी का भयानक दौरा पड़ा। वैसे भी वे हमें सुबह चार बजे उठा देते थे। दूध पिला देते। और फैज़ाबाद की ठंडी-सर्द हवाओं में सड़कों पर दौड़ाते थे। मुझे अच्छी तरह याद है, दौड़ते वक्त मेरी (कुछ और साथियों की भी) नाक से दूध की मोटी-मोटी बूंदें गिरती रहती थीं। मेरे लिए यह पहली तरह का, अलग अनुभव था। खैर, उस रात, सर्दी के कारण और परेड से हटा दिए जाने के मानसिक कष्ट के कारण भी मैं सो न सका। सोचता रहा, पैर ही तो हैं। साले ठीक नहीं पड़े तो नहीं पड़े। ठीक क्रिकेट के बैट की तरह। पहली ही तेज़ गेंद के सामने लड़खड़ा गये और खिलाड़ी आउट। बरेली में पैर ठीक पड़ गए। फैज़ाबाद में नहीं पड़े। हो सकता है, चीनू के बरेली में ठीक न पड़कर, यहां फैज़ाबाद में आकर सही पड़ जाते। लेफ्ट-राइट, लेफ्ट-राइट। अजब खेल। तकदीर का खेल। किस्मत की लिखी। अगर थोड़ा-थोड़ा हीर वारस शाह की तर्ज़ पर कहने की कोशिश करूं तो तकदीर यानी भाग्य मिट्टी का एक लोटा है। पानी भर लाए तो प्यास बुझा दे। टूटकर कुएं में ही गिर जाए तो हाथ मलते रह जाइए।

सुबह उठते ही मैंने 'सिक' कर दी। यहां आए अभी मुश्किल से तीन दिन ही हुए थे कि मिलिट्री अस्पताल में दाखिल हो गया।

मुझे वहां पाकर अस्पताल के डॉक्टर, कम्पाउंडर, नर्स वगैरह-वगैरह बहुत ही खुश-संतुष्ट हुए। अस्पताल लगभग मरीज़ों से खाली था और उन्हें फोकट में जस्टीफीकेशन दिखाने के लिए एक अदद मरीज़ मिल रहा था।

डॉक्टर साहब ने निहायत शाइस्तगी से मेरी जांच की, कहा-"सीरियस।" मैं मन ही मन मुस्करा उठा। वे आगे बोले-"मर्ज़ बढ़ने न पाए। बच्चा कम्पलीट रैस्ट करना मांगता।"

मैं वहां अस्पताल में बड़ी शान से रहने लगा। लगभग सारा स्टाफ ही मेरी सेवा में लगा रहता। चेहरे पर छोटे-छोटे बालों ने जन्म ले लिया था। कमांडर साहब की हिदायत थी, "यू हैव टु शेव डेली।"

मैं कटोरे में पानी गर्म करवाता और आधा घंटा शेव करने में लगाता। अखबार आता तो मेरे पास आने में देर न लगती। पत्रिकाएं और साहित्यिक पुस्तकें मैं हर जगह अपने साथ शुरू से रखता आया हूं। उन्हें पढ़ने में, खिड़कियों से बाहर दरख्तों पर बैठी तरह-तरह की चिड़ियों को देखने में, साथ ही सामने शैल्फ पर रखे, बहुत बड़े साइज़ के रेडियो से गाने सुनने में समय निकालता। अच्छी डाइट खाने को मिलती। अंडे, ब्रेड, दूध। चावल, चपाती।

वक्त मज़े से कट रहा था। ऐसे में दिनों की गिनती करने की ज़रूरत नहीं होती : लेकिन दिनों की अपनी रफ्तार हर हाल में बरकरार होती है।

एक अटेंडेंट ने कहा-"अब तुम फिट सर्टीफिकेट ले लो। इसके बिना तुम घर नहीं लौट सकोगे। परसों तक कैंप खत्म हो जाएगा।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉक्टर साहब के आते ही मैंने फिट सर्टीफिकेट मांगा। उन्होंने जवाब दिया-'फिट नहीं। परसों तुम सबको लौटना है। कल दे दूंगा।" इतना कहकर वे अपने चेम्बर में चले गए।

तभी मैंने खिड़की से देखा कि सभी लड़के कच्चे रास्ते से लाइन बनाए तेज़ी से चले जा रहे हैं। पीछे-पीछे सिपाही ट्रेनर भी राइफल उठाए हुए चल रहे हैं। मुझे समझते देर नहीं लगी कि यह सब चांदमारी की तरफ 'बंदूक-टैस्ट' के लिए वहां पहुंच रहे हैं। मैंने यह भी सुन रखा था कि जो लड़का 'थ्री नॉट थ्री' में पास नहीं हुआ, उसका फैज़ाबाद आना-न आना बराबर। उसे कैंप सर्टीफिकेट तक नहीं मिलेगा।

यह सोच आते ही मैंने बिजली की सी फुर्ती से ड्रेस पहनी। रेस लगायी। और लड़कों की लाइन में जा शामिल हुआ। मैं थोड़ा-थोड़ा हांफ रहा था लेकिन किसी को आभास नहीं होने दिया। फिर धीरे-धीरे सामान्य ढंग से सांस लेने लगा।

बारी-बारी से हमें बोरियों के बीच थ्री नॉट थ्री राइफल थमाकर लिटाया जाता और पांच बार टार्गेट में गोलियां दगवाई जातीं। निशानी के तौर पर टार्गेट के बहुत-बहुत ऊपर एक झंडा भी लगा हुआ था।

मुझे आज तक उस घटना को सोचकर हँसी आती रहती है (यह बात मैं अपने कई दोस्तों को सुना चुका हूं) कि एक लड़के ने आखिरी गोली झंडे में ही दे मारी थी। पूछिए, कहां टार्गेट और कहां झंडा। बजाए उस लड़के को डांटने के, अफसर तक की हँसी छूट गई थी।

मेरे सारे निशाने 'अप टु दि मार्क' पड़े थे। अफसर ने मेरी पीठ ठोंकी थी, "वैरी नाइस।"

वापसी में मैं लाइन में से चुपके से गायब होकर, अस्पताल में।

शाम की चाय के बाद कुछ लड़के अस्पताल आए। कहा, आज रात सांस्कृतिक कार्यक्रम है। देखने आ सको तो आ जाना।

मैंने कहा-अपन भी एक ड्रामा खेलते हैं। वहीं उन लोगों को एक हास्य नाटक के बारे में समझाया। उन्हें ट्रेंड किया। अनुमति लेकर स्टेज पर। सामने ज़रा दूर क्लास फोर क्वार्टर वालों से दो बकरियां भी ले आए थे। हमारे नाटक में, दर्शकों को हँसाने का दम रहा हो, न रहा हो, लेकिन जब बकरियों ने स्टेज पर ही मींगनियां करनी शुरू कर दीं तो सभी लोग हँसी के मारे लोट-पोट होने लगे। नाटक सराहा गया। शाबाशी मिली।

लेकिन दूसरे रोज़ जब अस्पताल से फिट सर्टीफिकेट लेकर, कैंप में पहुंचा तो कमांडेंट ने ऐसी-तैसी कर दी। डांटते हुए बोला, "तो जनाब सिक में थे। तुम बंदूक चलाने के लिए कैसे पहुंच गए थे?"

मैंने मासूमियत से जवाब दिया-"सुना है साहब कि..."

"कि कि क्या कर रहे हो। जवाब दो। क्यों गए थे चांदमारी पर?"

मैंने बड़ी मुश्किल से अपना वाक्य फिर से शुरू किया और अंत तक ले गया कि सुना है कि जो लड़का बंदूक नहीं चलाएगा उसे सर्टीफिकेट नहीं मिलेगा।

"इस बात से मतलब..." उसने फिर तगड़ी डांट लगाई-"अच्छा तो तुम्हीं थे, रात को ड्रामा करने वाले, हीरो। अस्पताल में रहते ड्रामे में भी आ पहुंचे।"

मैं तो अपने ड्रामे और अपने रोल में अब तक खोया हुआ आत्ममुग्ध था। बड़े भोलेपन से पूछ लिया-"सर ड्रामा अच्छा था न?"

वह खा जाने वाली नज़रों से मुझे देख रहा था और दूर खड़ा अस... यह सारा नज़ारा देख रहा था। वह आया और मेरी मुक्ति हुई। उस... कमांडेंट से कहा-"लैट इट बी। बच्चे हैं।"

बरेली, घर लौटने पर मैंने खूब आराम किया, जैसे युद्ध जीतक... सालों बाद कोई फौजी घर छुट्टी पर आता है। मैंने मन ही मन फैस... कर लिया कि फौज की नौकरी नहीं करनी। वेरी टफ लाइफ।

महीने-डेढ़ महीने बाद, एक दिन बड़े बाजार से लौटते वक्त ए... बंगले की तरफ निगाह गई। बाहर नेम प्लेट लगी हुई थी-कैप्टन लैफ्टी... समझ गया यह तो वही फैज़ाबाद वाले अफसर होने चाहिए। गेट प... अर्दली बंदूक पकड़े ड्यूटी बजा रहा था।

"साहब से मिलना है।"

"कौन हो?"

"कॉलेज में पढ़ता हूं।"

"चिट पर अपना नाम लिख दो।"

मैंने नाम लिख दिया।

थोड़ी देर बाद लौटा-"चलिए अंदर।"

साहब बेड रूम में पलंग पर बैठे थे। मैं जाकर खड़ा हो गया।

"कहिए?" उन्होंने निगाह उठाकर पूछा।

"मैंने बंदूक अच्छी चलाई थी न?"

वे अचकचा गए-"क्या मतलब?"

"आप फैज़ाबाद, हमारा राइफल टैस्ट लेने आए थे न।"

"ओह! तो आप वहां थे।"

"यस सर।"

'तो अब...?" वे सोचने लगे, इसको हुआ क्या है।

मैंने धीरे से कहा-'सर्टीफिकेट चाहिए।"

"किस चीज़ का?"

"अच्छी राइफल चलाने का।"

वह मुस्करा दिये-"जो मर्ज़ी लिख लाओ। मैं दस्तखत कर दूंगा।"

दूसरे रोज़ मैंने कई दुकानों से बढ़िया से बढ़िया कागज़ देखे। पसं... नहीं आए। आखिरकार एक शीशा फ्रेम जड़ने वाले दुकानदार से मोटे... हरे रंग की मगज़ी वाला, माउंट खरीदा (जिस के बीचोबीच फोटो लगा... है।) उसमें एक टाइपिस्ट से, अंग्रेजी में अच्छी राइफल चलाने की इबार... लिखवाई। फिर से कैप्टन लैफ्टी के बंगले जा पहुंचा। उन्होंने सह... दस्तखत कर दिए। मेरे पास तरह-तरह के कई सर्टीफिकेट हैं। उनमें व... राइफल वाला सर्टीफिकेट भी मौजूद है।

सोचता हूं, जब मैंने धारणा बना ही ली थी कि मिलिट्री लाइन ... नहीं जाना तो सर्टीफिकेट क्यों लिया।

5-ई-9, 'संवाद', डुप्लैक्स कॉलोनी, बीकानेर-3340...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जसवन्त सिंह विरदी

भयभीत

एक दिन अचानक ही लोग घरों से निकलकर भीड़ बन गए तो उन्हें महसूस हुआ जैसा हर कोई, हर किसी को हिंसक नज़रों से देख रहा है। कुछेक को, कुछेक की नज़रें अपने तन-मन में चुभती हुई अनुभव हो रही थीं।

'आप?'

'हां...मैं...?'

'मगर कोई मोह नहीं, मोहब्बत नहीं...?'

'मोहब्बत क्या? आप मेरा रास्ता क्यों रोक रहे हैं?'

'मुझे आगे बढ़ने दो...।'

'आगे तो मैं ह्...'

'और मैं...?'

'आप नहीं...'

'किस कारण?'

'मेरे कारण...'

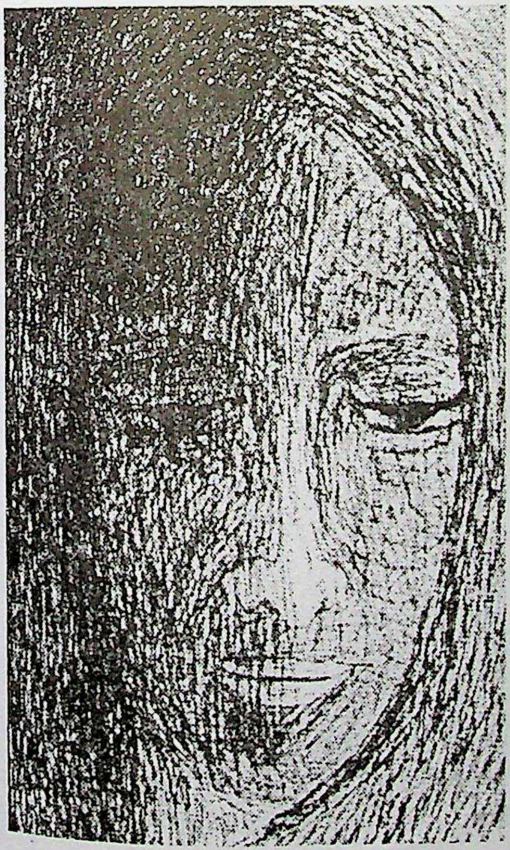

'मगर मेरे लिए तुम्हारा कोई अस्तित्व नहीं है...'

'फिर भी मेरा अस्तित्व है...'

'किसलिए?'

'मेरे शस्त्र के कारण...'

फिर भीड़ के वे लोग देखते, देश की सभी बड़ी दुकानों के बाहर-भीतर पोस्टर चिपके हुए थे।

'अब लोग अपराध से नहीं बच सकते...अपराध एक वास्तविकता है। हो सकता है, आपके साथ खड़ा पीछे वाला अथवा आप स्वयं ही अपराधी हों।'

दैनिक जीवन में लोग इस तरह के पोस्टरों को देखते थे, लेकिन गत कुछ दिनों की हिंसक घटनाओं के पश्चात् वे भयभीत हुए से सोचने लगे थे- 'किसी समय भी गोली चल सकती है...किसी समय भी बलात्कार की घटना हो सकती है...'

इस तरह के शब्द पढ़कर लोगों को महसूस होता कि कहीं न कहीं कुछ ऐसा हो रहा होगा जिसकी अग्रिम सूचना ये पोस्टर दे रहे थे मगर कहां?

वातावरण की धुंध रहस्यमय भावों से भरपूर थी। लोग गली-बाजारों में से निकलकर घरों को जाते हुए, दफ्तरों से निकलकर गाड़ी में बैठते हुए, इर्द-गिर्द, आगे-पीछे और ऊपर-नीचे शंका की नज़र से देखते थे-'पता नहीं कहाँ से गोली आ जाए।'

'अपनी सुरक्षा के लिए अपराध-विरोधी संस्था के सदस्य बनिये।'

लोगों के सामने चमकते हुए शब्दों में यह चेतावनी बेचैन हो रही थी और लोग उस संस्था के सदस्य बनने के लिए पंक्ति में खड़े थे। पंक्ति बहुत लम्बी हो गई थी पर फिर भी धीरे-धीरे आगे बढ़ रही थी। जिन लोगों को चेतावनी के शब्द दिखाई नहीं देते थे, वे भी पंक्ति में खड़े हुए, शेष लोगों के साथ आगे बढ़ रहे थे।

लोग आश्चर्य में थे। एक दूसरे को गौर से देख रहे थे। पंक्ति में खड़े सभी लोगों के चेहरे एक जैसे ही थे लेकिन वे एक दूसरे के चेहरों को ऐसे देख रहे थे जैसे वे चेहरे किसी दुश्मन देश के लोगों के हों। उनके भीतर छटपटाहट भी भरी हुई थी-'विचित्र बात है। ये चेहरे पहले कभी नहीं देखे। क्या ये चेहरे हैं कि मुखौटे? हमारे देश के लोग स्वयं को अजनबी बनाकर क्यों रखना चाहते हैं?'

गत कुछ दिनों में कुछ ऐसी घटनाएं हो गई थीं कि अचानक ही किसी सड़क पर, ड्रग स्टोर में अथवा किसी रेस्तोरां में गोली चल जाती तो लोग भयभीत होकर भागने लगते थे। उस समय कहीं न कहीं से उनके कानों में आवाज़ आती-'अपराध से बचने के लिए अपराध-विरोधी संस्था के सदस्य बनिये। बचाव का और कोई साधन नहीं है।'

लोग बिलबिलाते-'यह महानगर है कि जंगल?'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'क्या महानगर जंगल नहीं होता....?'

'पता नहीं...'

'फिर तो...'

'फिर तो...क्या?'

'अपराध-विरोधी संस्था कहां है?' लोग बहुत ही परेशान थे। मगर उनमें इतना आत्मविश्वास नहीं था कि वे ऐसी संस्था के बारे में किसी से पूछ पाते-'पता नहीं क्या उत्तर मिले...? और गोली ही न चल जाए...'

देश एक महाशक्ति था और विश्व के देशों में उसका प्रभुत्व था। देश में खाने-पीने के लिए भी बेशुमार पदार्थ थे। विदेशों में अनेक अस्त्र-शस्त्र जा रहे थे। इसलिए काम और दाम की कमी नहीं थी। खाने-पीने और रोज़गार के लिए क्यू नहीं लगाने पड़ते थे। लोगों के पास वक्त ही नहीं था कि वे क्यू लगा सकते। हर व्यक्ति जल्दी में था, प्रतिस्पर्धा का शिकार था और तुरन्त खुशहाल होना चाहता था। मगर सब कुछ घर में ही सुलभ था। देश में खुलापन बढ़ गया था। इस खुलेपन के प्रभाव से तेज़ी बढ़ गई थी, छीना-झपटी आरम्भ हो गई थी। कोई भी किसी से बात नहीं करता था। हर कोई अलग-थलग रहना चाहता था ताकि खुद के परिश्रम के फल को अकेला ही चख सके। हर कोई सोचता था-'कोई और अमीरी और खुशहाली में मुझसे बढ़कर कैसे हो सकता है...गोली न चल जाएगी?'

नारियां बन-ठनकर बाज़ारों में निकलतीं, वस्तुएं खरीदतीं मगर किसी से बात नहीं करती थीं...

महानगर के चौराहे में क्यू लगी हुई थी। लोग एक दूसरे को देखते और फिर क्यू में खड़े हो जाते थे। वे समझ रहे थे कि वे सुरक्षित हैं।

मानव के अकेलेपन ने उसे निरीह कर दिया था। हर चेहरे पर आश्चर्य था पर कोई भी कुछ नहीं बोल रहा था, कुछ नहीं कह रहा था। अगर कोई व्यक्ति अपनी जेब की ओर हाथ ले जाता तो सभी उसे गौर से देखते। कोई हाथ जेब से लाइटर निकालता तो तुरन्त कई चेहरे उसे देखते कि कहीं उसके हाथ में शस्त्र तो नहीं...।

'क्या बात भई?'

'हाथ जेब से बाहर निकालिये!'

'किसलिए?'

'हमारे लिए ख़तरा है...'

'और मेरे लिए?'

'तुम हाथ बाहर निकालो और बताओ हाथ में पिस्टल तो नहीं...'

फिर इस तरह हुआ कि अचानक ही कहीं गोली चल गई। लोग भयभीत होकर एक-दूसरे से चिपक गए मगर फिर फौरन अलग-अलग हो गए। अपनी जान बचाने के लिए वे सहमे हुए थे मगर इस बात के लिए शर्मिंदा भी हुए कि इतने सुसंस्कृत और वैभवपूर्ण राष्ट्र के प्रतिनिधि होकर वे भयभीत क्यों हुए थे। गोली तो किसी टैक्सी वाले से सवारी का झगड़ा होने के कारण चल गई थी।

'हम किसी से भी भयभीत नहीं होते।' वे चेहरे कह रहे थे।

कुछ और चेहरे पूछते-'भयभीत क्या?'

'भयभीत? मतलब है कि कैसा भय?

'नहीं समझे?...भय को नहीं समझते?'

इस देश में नारियों के कदकाठ मर्दों से भी ऊंचे होते हैं और वे हर समय मर्द की बराबरी करने के विचार से ग्रसित रहती हैं। अब उनकी परेशानी और भी बढ़ गई थी। वे देख रही थीं कि अचानक ही किसी चौराहे में, गली के मोड़ पर अथवा गहमागहमी वाले शॉपिंग सैंटर में अचानक ही कहीं गोली चल जाती है। वे पुरुषों के पुरुषत्व को तो जानती थीं...मगर गोली की शक्ति?

'अब मर्द गोली से जूझ रहे हैं, मर्दानगी से नहीं...'

गोली की आवाज़ एक प्रकार का भय पैदा करने के लिए उनके कानों में इस तरह गूंजती थी कि घमण्डी मनों का साहस भी क्षीण हो जाता था।

उनकी इस भयभीत अवस्था को देखकर पंक्ति में खड़ा कोई मर्द व्यंग्य के अंदाज में कहता-'घरों में तो यह कौम बहुत शक्तिशाली है...'

'मर्दों ने बाहर भी हमारे हाथ नहीं देखे कभी?' उत्तर मिलता।

'फिर यह भय कैसा?'

'मृत्यु का हर किसी को भय है।'

'हां, यह मृत्यु तो...?'

फिर लोग मृत्यु की बातें करने लगे।

'मृत्यु तो मृत्यु ही है और वह जीवन की अन्तिम मंज़िल है...'

'नहीं, अन्तिम नहीं...'

'तो फिर?'

'कभी भी आ सकती है...'

'कभी भी?'

'हांऽऽ...'

'मगर मैं तो अभी तैयार नहीं...?

'फिर सुरक्षा के लिए शस्त्र का प्रबन्ध करो...'

'तो क्या मृत्यु...?'

'शस्त्र से भय खाती है...'

'अर्थात् मृत्यु?'

'हांऽऽ...' क्यू में खड़े हुए लोग हंस दिये। मगर फिर अचानक ही ख़ामोश हो गए। सोच रहे थे-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'शस्त्र से भी मृत्यु कब डरती है...बल्कि शस्त्र से तो...मगर छोड़ो...'

'मगर यह मृत्यु तो समूची कौम के गिर्द फैली हुई है...'

'मगर हम हर हाल में बच जाएंगी...'

'और मर्द?'

'मर्द पहले कब जीवित थे?'

'जीवित क्यों नहीं?'

'उन्हें तो हर समय नाजायज़ ढंग से पैसे कमाने की लालसा ने जकड़ा हुआ है...'

'और नारियां?'

'वे भी मर्दों के साथ ही हैं। मर्दों के स्वभाव से नहीं प्रभावित होंगी?'

'इसीलिए यह हिंसा का युग शुरू हुआ है...'

'क्या नारियों की वजह से?'

'नारियां समय-कुसमय और सही-गलत स्थितियों में घूमती हैं...जैसे और कोई काम ही नहीं...'

'हर जगह घूमने की स्वतंत्रता केवल मर्दों को ही है?'

'फिर रेप से क्यों घबराहट...?'

'शट अप।'

'व्हाट नानसेंस?'

'खामोश...नहीं तो...?'

भीड़ आगे की ओर बढ़ने लगी। मगर हर कोई जैसे तनाव में, लड़ने के लिए तैयार था...और मन ही मन में कह रहा था-'मुझे शस्त्र ले लेने दीजिए।'

'हम इधर पंक्ति में खड़े हैं और हमारी अनुपस्थिति में हमारे घर भी लूटे जा सकते हैं...'

'घर? जहां आप रहते हैं, उस स्थान को घर कहते हो?'

'घर नहीं? वहां हमारे बीवी-बच्चे हैं...और?

'बीवी-बच्चे? क्या वे आपके हैं?'

'और किसके?'

'आपके....?'

'बकवास!'

'बात तो आपने ही...'

'आपको कोई अधिकार नहीं था कि...'

'चलिये, समझिये कि मैंने स्वयं से ही बात की है...' और बात करने वाले ने खुद को केन्द्र में रखने की कोशिश की। भीड़ के अधिक लोगों को इस सत्य को समझकर तकलीफ हुई।

'यहां आधे राष्ट्र को अपने मां-बाप का ही पता नहीं है। और यह कमीना...'

'मैंने सच ही कहा है...'

'क्यों?'

'मेरी मर्ज़ी...'

'फिर भी तुम्हें कोई अधिकार नहीं था...'

'क्यों?'

'इससे राष्ट्र का चरित्र नष्ट होता है...'

'राष्ट्र का चरित्र...क्या है?'

'बस, और एक शब्द भी कहा...तो...'

'क्या आप राष्ट्र के अधिक वफादार हैं?'

'मैं खुद ही वफादार हूँ...'

'मगर किसका?'

'पता नहीं। मैं इस शब्द का अर्थ नहीं समझता।'

'फिर शब्दकोश देखो।'

'मेरे पास वक्त नहीं है...'

'फिर यहां क्या लेने आये हो?'

'बताऊंगा...'

'कब?'

'मुझे अपराध-विरोधी संस्था का सदस्य बन लेने दीजिए। फिर...'

कई चेहरों ने उनकी हिंसक बातों को सुना, और मन ही मन में कहा-'अब प्रभु ही रखवाला है।'

अगले क्षण ही एक अवांछित और अस्थिर शान्ति स्थापित हो गई और लोग अपने आपको उस स्थिति के लिए तैयार करने लगे जब वे अपराध-विरोधी संस्था के सदस्य बन जाएंगे...तब क्या वे अपराध से बच पायेंगे?

'इंसान फिर भी इंसान है...'

'हां...इंसान भाई-भाई ही होते हैं...'

'इसलिए हमारे पूर्वजों ने जो कहा, वैसे ही व्यवहार कीजिए...'

अधिक लोग चौराहे की भीड़ को, ट्राम-कारों को और रूपसियों के मुखड़ों को देख रहे थे। कुछ और, वायुयानों की गूंज की भी कल्पना कर रहे थे। हवाई वातावरण में न्यूक्लियर बमों के विस्फोट की दनदनाहट भी सुन रहे थे...विस्फोट जो कि दूसरे देशों में होंगे। अनेक विस्फोट उनके तन-मन में भी भरे हुए थे। फिर भी वे पंक्ति में ही खड़े थे...।

'भीड़ तो भीड़ ही है...मगर किया क्या जाए...'

'यह भीड़ मित्र भी तो बन सकती है....'

'प्रतिस्पर्धा से?'

'नहीं, मुक्त व्यापार से...'

दो भयभीत चेहरे एक दूसरे को देख-देखकर विश्वास की प्रेरणा लेने की कोशिश कर रहे थे जबकि एक ने दूसरे से कहा-'क्या बात है?'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरे ने तुरन्त उत्तर दिया-'कुछ नहीं...'

'फिर भी बताओ तो सही...'

'मैं वध होते नहीं देख सकता...'

'क्यों?'

'मुझे लगता है जैसे मैं ही यातना सहन कर रहा हूँ...'

'फिर तुम वध क्यों करते हो?'

'लोग आगे क्यों बढ़ रहे हैं?'

'खुला बाज़ार है...'

'फिर मैं क्या करूँ?'

'आप से कहा नहीं कि फौरन अपराध-विरोधी संस्था के सदस्य बनिये।'

'सदस्य बनने तक भी क्या पता?'

'नहीं भई...'

'फिर भी...'

'हां, कुछ नहीं कहा जा सकता...'

'आगे बढ़ो। आगे बढ़ो।' पीछे से आवाज़ें आ रही थीं, निरन्तर आवाज़ें, तीखी और तेज़-तर्रार...।

'अगर भीड़ आगे न बढ़ी तो मैं अभी ही...'

'बस, बस...कुछ भी कहना खतरनाक हो सकता है...'

'मैं सहन नहीं कर सकता...'

'क्यों?'

'पता नहीं...'

इतने में ही वे कहीं के कहीं पहुंच गए थे।

वहां, पृष्ठभूमि में भीड़ का हाहाकार, दनदनाहट और भयभीत कर देने वाली हलचल मची हुई थी।... फिर, आवाज़ें खामोश होतीं तो ठस्स की आवाज गूंजती और हाहाकार!

रेंगती हुई भीड़ में से जब आगे वाला व्यक्ति अपराध-विरोधी संस्था वालों के काउंटर के निकट पहुंचता तो सर्वप्रथम उसे एक फार्म भरने के लिए दिया जाता, जिसमें जीवन का विवरण, स्वभाव, आस-पड़ोस और सगे-सम्बन्धियों के बारे में बातें लिखनी पड़ती थीं। फार्म के साथ पांच हज़ार मोहरें लेकर एक कृशकाय लड़की मुस्कराकर आभार व्यक्त करती और दराज में से एक रिवाल्वर निकाल कर अपराध-विरोधी संस्था के सदस्य को दे देती थी।

सदस्य पूछता-'यह क्या?'

उत्तर मिलता-'आपका विश्वास...'

'धन्यवाद।' कहकर रिवाल्वर लेने वाला व्यक्ति भीड़ में से निकलकर गली-बाज़ारों की विशाल भीड़ में खो जाता। उसके पीछे अपराध-विरोधी संस्था के वक्ता की आवाज कांपती हुई सुनाई देती-

'अब आपको कोई खतरा नहीं रहा।'

96, गोल्डन एवेन्यू, फेज-1, जालन्धर-144022

लम्बे अंतराल के पश्चात

महीप सिंह का नया उपन्यास

अभी शेष है

स्वातंन्त्र्योत्तर भारत के इतिहास का वह ऐसा कालखंड था जब निकट अतीत की व्यक्तिवादी, भ्रष्ट एवं सर्वसत्तावादी निरंकुश प्रवृत्तियाँ चरम पर पहुँच गई थीं और लोकतंत्र आधी रात को किसी भी दरवाज़े पर पड़ने वाली दस्तक के आतंक से सहमा हुआ था।

उस दौर में कुछ आवाज़ें बिना बोले भी बहुत कुछ कह रही थीं।

...और कैसे जी रहा था देश का आम आदमी?

महाकाव्यात्मक आयाम लिए उस कालखंड के भारतीय समाज की कथा, जिसमें इतिहास के साथ-साथ भविष्य-दृष्टि भी विद्यमान है।

पृष्ठ : 222

मूल्य : दो सौ पच्चीस रुपये

किताबघर प्रकाशन

24, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरचरण सिंह

प्रक्रिया

सूरज की आखिरी किरणों को नीम की फुनगी पर चिलमिलाते हुए देखता हूँ। गमले में खिले गुलाब के फूल पर तितली मँडरा रही है। तितली को गमले पर पहले कभी नहीं देखा। तितली ने मेरे ध्यान को बाँट दिया है। मैं कभी नीम की फुनगी के बदलते रंगों को देखता हूँ तो कभी पीले पंखों वाली तितली को।

रोज इसी समय में बरसाती के बाहर कुर्सी बिछाकर बैठ जाता हूँ। अरुण और विभा प्रायः आ जाते हैं। इसलिए उनके लिए भी कुर्सियां बिछा देता हूँ। उन्होंने मुझे सदा प्रोत्साहित किया है। वे आयेंगे तभी चाय बनाऊंगा। फिर अपनी ताज़ा रचना उन्हें सुनाऊंगा। फिर रचना पर चर्चा के साथ-साथ हम चाय की चुस्कियां लेते रहेंगे।

नीम की फुनगी पर धीरे-धीरे अंधेरा फैलने लगा है। अरुणिम किरणों का धीरे-धीरे रंग बदलना और फिर नीम की फुनगी, पत्तों, टहनियों का अंधेरे में डूब जाना- मैं रोज देखता हूँ। तितली के कारण आज मैं इस अद्भुत दृश्य का पूरा आनन्द नहीं ले सका। पर तितली...तितली मुझे अपनी ओर खींच रही है। उसके पीले पंखों के बीच में काले बिन्दु हैं, जो उसके सौन्दर्य को कई गुना बढ़ा रहे हैं। मैं तितली के पीछे नहीं भाग सकता। कुछ लोग अब भी तितलियों के पीछे भागते हैं। अनेक रहस्यलोकों में विचरते हैं, नये अनुभवों के बीच से गुजरते हैं, जहां रहस्य अन्य रहस्यों का कारण

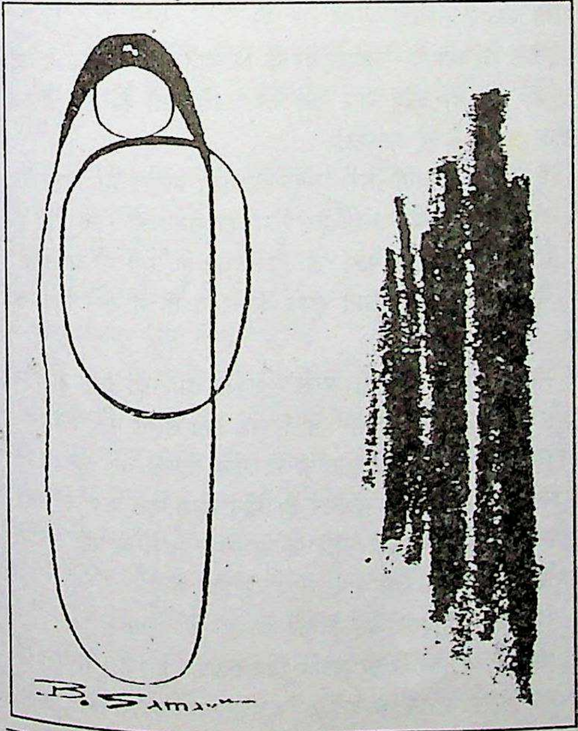

बनते हैं और वे हम सबसे काफी आगे निकल जाते हैं। बचपन में, मैं भी बहुत भागा हूं। कई तितलियों को पकड़कर अपनी कापियों-किताबों में बंद किया है। आज जब उन पंखों को देखता हूं तो खुद पर ग्लानि होती है- मैं तो सौन्दर्य का पुजारी हूँ, फिर उन्हें पृष्ठों के बीच कैसे और क्यों बंद किया? कापी-किताब में बंद पंख कभी सुन्दर नहीं लगे। पर आज...आज मैं दूर से ही उसको मँडराते हुए, पराग-पान करते हुए देख रहा हूँ। बरसाती तक वह कैसे आ गयी? मैं सोचता हूँ। और फिर से उसे मँडराते हुए देखता हूँ।

नीम का पेड़ मेरे घर के पिछवाड़े है- एक पार्क का हिस्सा। पार्क में कई अन्य पेड़ भी हैं, पर यह मेरी बरसाती के बिल्कुल पास पड़ता है। कभी छत की मुंडेर के पास खड़ा हो तो कभी कुर्सी पर आराम से अधलेटा इसे निहारता रहता हूँ। इसके लहलहाते पत्ते मुझे गांव ले जाते हैं और मैं खुद को खेतों में विचरता हुआ अनुभव करता हूं। खेतों को मैं खुद से अलग नहीं कर पाता। खेतों के कई रूप आंखों के आगे बनते-मिटते रहते हैं। रहट पर नहाना, फलों-सब्जियों को बहते पानी के पास बैठकर खाना और हवा के झोंकों में वहीं सो जाना। कितने सुखकर, आनन्ददायक दिन थे वे। वे आदमी से जोड़ते हैं- कहां है आदमी? शायद इसीलिए पिता चाहते थे कि मैं खेत-खलिहानों को छोड़ शहर जाऊं।

गांव की याद से घर जुड़ा है। घर में माता-पिता, भाई-बहन। पिताजी चाहते थे मैं पढ़-लिख जाऊं। शहर में रहूं, कोई ढंग की नौकरी करूं। मां सदा मुझे अपने पास देखना चाहती थी। पिता सख्त स्वभाव के थे। उनसे मुझे डर लगता था। वे अन्दर से बहुत कोमल हैं-इसे भी मैं जानता था। बुखार होता तो वे ही रात भर पास बैठे रहते, सिर दबाते, ठंडे पानी की पट्टियां करते। कई बार उनकी आंखों में मैंने आंसू देखे हैं।

चार साल बीत गये इस बरसाती में रहते हुए। बी.ए. की, फिर नौकरी ढूंढ़ी और फिर शहर का ही हो गया। मुझे मेरे गांव के दोस्त बुलाते हैं और मैं कभी अखबार उठा लेता हूं तो कभी फाइल और कभी कुछ लिखने-पढ़ने लगता हूँ। पर दोस्त, वे मेरी स्मृति का ही नहीं, मेरा हिस्सा हैं। मैं उनसे अलग नहीं हो सकता। मां की थपकियां और बहन। मैं आंखों को पोंछ लेता हूं।

पिताजी जब भी शहर आते हैं, वे यही कहते हैं-कोई बात नहीं बेटा, एक दिन तू जरूर तरक्की करेगा। अखबार की कई कतरनें उनकी जेब में होती हैं-यहां बैंक में एप्लाई कर, यह परीक्षा दे, आदि।

कभी-कभी कुछ तोतों को मैंने नीम के पेड़ पर देखा है, पर शाम को कुछ कौए ही कांव-कांव करते पेड़ के आसपास मँडराते रहते हैं। मुझे लगता है तितली मुझे देख रही है। मैं तितली, तोतों और कौओं के बीच कहीं अपनी जगह बनाना चाहता हूँ। मेरा हाथ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थोड़ा-सा आगे की ओर बढ़ता है-मैं उसे झटके से पीछे कर लेता हूं। मैं तितली को भगाना नहीं चाहता और न ही उसके पीछे भागना चाहता हूँ।

गर्मियों में छत पर सोते हुए मैं चांदनी में नहाता रहता हूँ-टिमटिमाते तारों को देखता रहता हूं। एक के बाद दूसरे, फिर तीसरे तारे पर आंखें ठहरती हैं और यूं ही तारों को निहारता मैं परियों के देश में विचरता रहता हूँ। कौन है जो मुझे बुला रहा है? ये संकेत किसके हैं? यह हाथ किसका हिल रहा है?

अरुण और विभा के आने का समय हो गया है-उनके आने का समय...नहीं, वे कभी भी आ सकते हैं...आते हैं। कभी साथ-साथ तो कभी अकेले। मैंने कुछ लिखा है...मैं उन्हें सुनाऊंगा।

घर के मुख्य द्वार के सामने चौड़ी सड़क है। छत से नीचे देखता हूँ तो बिजली तथा फोन की तारों के जाल के पार कारों-स्कूटरों, साइकलों को भागते हुए देखता हूं। यह भागमभाग देर रात तक रहती है। सुबह सामने के मकान की छत पर नीता को सूर्य को जल देते देखता हूँ। उसका नाम नीता है...मैं नहीं जानता। उसके होंठ लगातार बुदबुदाते रहते हैं-शायद कोई जाप करती है। कभी-कभी वापस लौटते हुए वह मुझे देख लेती है। मैं लगातार उसे देखता रहता हूं। उसे देखना तितली को देखने जैसा लगता है। तितली चली गयी है, गमला वीरान हो गया है। गुलाब का फूल अभी भी इठला रहा है। तितली से शायद उसे कोई मोह नहीं। सामने की छत पर नीता नहीं है। अंधेरा वहां भी पसर रहा है।

मैंने सुबह कुछ लिखा है, उसे पढ़ने के लिए उठाता हूं। अरुण तथा विभा आकर बैठ गये हैं। उन दोनों को इस तरह मौन पहले कभी नहीं देखा। सीढ़ियों से छत पर आते ही वे मुझे चौंकाते हैं-कैसे हो? क्या कर रहे हो? कुछ नया लिखा क्या? अच्छा सुनाओ।

मैं उन्हें कहानी सुनाता हूँ। अरुण प्रायः बीच में टोकता-बोलता रहता है, पर विभा सदा अन्त में अपनी राय देती है। मैं साथ-साथ रचना को सुधारता जाता हूँ। पहले ड्राफ्ट का कच्चापन धीरे-धीरे दूर होने लगता है। ऐसे ही ड्राफ्ट बनते हैं। अरुण तथा विभा के विचार रचना को मांजते रहते हैं। कहानी सुनाते हुए मैं बीच में पूछता हूँ- चाय पहले बनाऊं या बाद में लोगे? उत्तर विभा देती है-'कहानी सुनने और उस पर बात कर लेने के बाद में।' अरुण भी हामी में सिर हिला देता है।

मुझे दोनों के विचारों को सुनना अच्छा लगता है। दोनों को साहित्य की ही नहीं, अन्य अनुशासनों की भी अच्छी समझ है। उनके विचारों से मेरे विचार परिपक्व होते हैं- मेरी रचना निखरती है। पिछले महीने एक ही कहानी को उन्होंने कई बार सुना था। हर बार सलाह दी थी और फिर एक दिन दोनों ने एक साथ ही कहा था-हां, अब बात बन गयी है। कथा, चरित्र, भाषा सभी मँज गये हैं। अब तुम इसे छपने के लिए भेज सकते हो।

कहानी छपी...काफी चर्चा में रही। प्रशंसकों के बहुत से फ़ोन आये थे। मैंने इसका श्रेय अरुण तथा विभा को दिया था। अरुण ने मेरी पीठ थपथपा दी थी।

अरुण ने एक दिन कहा-'आपको भारत की इराक संबंधित नीति हो-इस पर लेख लिखना है।'

मैंने समझाते हुए कहा-'राजनीति, विदेश नीति, मेरा विषय नहीं है। कैसे लिखूंगा मैं?'

अरुण तथा विभा दो-तीन घंटे इसी विषय पर बोलते रहे और मैं चुपचाप सुनता रहा था। कुछ किताबों के नाम मेरे सामने रख वे चले गये थे। मैंने घड़ी देखी-दस बज गये थे। रात को ठीक से सो नहीं सका था। अरुण तथा विभा के आग्रह को ठुकराना सम्भव नहीं था। बहुत से बिन्दुओं को वे स्पष्ट कर ही गये थे। अगला सारा दिन पुस्तकालय में ही बीत गया था।

दोपहर को कुछ खाने के विचार से एक रेस्तरां में प्रवेश किया तो सामने नीता को बैठे देखा। गमले पर खिले गुलाब के फूल पर मँडराती तितली और नीम की फुनगी पर मचलती सूरज की अन्तिम किरणें। उसने ही नमस्कार किया। मैं उसके पास बैठ गया-'आप यहां कैसे?'

'मैं तो अक्सर यहां आती हूँ-इसी पुस्तकालय में। शायद आप रोज नहीं आते।'

'नहीं, मेरा आना कभी-कभी होता है। क्या खाओगी?' मैंने पूछा।

'डोसा खायेंगी आप?'

नीता ने कहा था-'आपके घर के पिछवाड़े पार्क है-पार्क में कई पेड़ हैं, पौधे हैं। आप प्रायः उन्हें ही देखते रहते हैं। उन्हें देखना अच्छा लगता है न आपको?'

मैंने उत्तर में हामी भरी-'समय ही कहां मिलता है। सारा दिन तो दफ्तर में ही बीत जाता है। शाम का समय ही होता है।'

उसने मुस्कराते हुए कहा-'तो आप डूबते हुए सूर्य को देखते हैं।'

मैंने मन में कहा-'उगते सूरज के समय तो मैं तुम्हें निहारता रहता हूँ।'

नीता के साथ यह मेरी पहली मुलाकात थी। मेरी तरह ही मौन रहने वाली। खाते हुए कभी-कभी निगाह उठा उसने मुझे देखा था, मैंने भी। चम्मच-छुरी की आवाज ही मौन तोड़ती थी। कुछ कहने से निहारना कहीं ज्यादा सुखकर है। मौन बहुत कुछ कह जाता है। उठने लगे तो उसने कहा-'मुझे अच्छा लगा। नारी के प्रति आपके विचार वैसे नहीं हैं जैसे प्रायः लोगों के होते हैं।'

'पर मैंने तो ऐसा कोई विचार प्रकट नहीं किया।'

'आपके व्यवहार से ही आपके विचार प्रकट हुए हैं।' संस्कृत के दो-तीन श्लोक बोलने के बाद वह मुझे उनका अर्थ समझाने लगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत में पहले नारी का कितना सम्मान था। आज नारी को लोग किस दृष्टि से देखने लगे हैं।

'पर इसके लिए क्या नारी स्वयं उत्तरदायी नहीं है।'

वह मुस्करा दी-'इस सम्बन्ध में फिर कभी बातचीत करेंगे।'

अरुण तथा विभा तीन-चार दिन तक नहीं आये। मैं कुछ लिख ही नहीं पाया था। आज पहला ड्राफ्ट तैयार किया था। मैं दीया-बाती करने के लिए उठता हूँ। कमरे में जाकर कमरे का तथा छत की तरफ लगे बल्ब का स्विच ऑन कर देता हूँ। प्रकाश होते ही स्वतः हाथ जुड़ जाते हैं। मुझे मां की याद आती है। दीया-बाती का काम मां का था। सूरज की अन्तिम किरणों के साथ वह यह काम कर देती थी। मैं नीम की फुनगी पर चिलमिल करती सूरज की अन्तिम किरणों को देखता हूं। तभी विभा आ जाती है-'तो लेख तैयार हो गया-चलो सुनाओ।'

मैंने सीढ़ियों की तरफ देखा तो विभा ने स्पष्ट किया-'अरुण आज नहीं आयेगा। वह लेख को कल सुनेगा। वास्तव में हम लेख पर अलग-अलग विचार प्रकट करना चाहते हैं।'

मैं दूसरी तरफ छत पर नीता को खोजता हूं। पर वहां कोई नहीं है। मेरे हाथ से सभी कुछ फिसल रहा था, टूट रहा था और मैं चुपचाप देख रहा था। युद्ध के समय नारियों पर क्या बीतती है? खाली छत। गमले पर मँडराती तितली कहीं खो गयी है। नारी घर-बाहर निरन्तर एक युद्ध लड़ती रहती है। और अकेली पड़ जाती है। पर नीता ऐसी नहीं है।

मैं विभा की तरफ देखता हूं। वह पीली साड़ी में है उस पर काले-काले वृत्ताकार काले बिन्दु हैं। पीली साड़ी में मैं उसे पहली बार देख रहा हूं। धीरे-धीरे अंधेरा फैलने लगेगा और उस अंधेरे में पीला रंग...

लेख पर विभा की कड़ी प्रतिक्रिया थी। शायद मैं स्थितियों को ठीक तरह से समझ नहीं पाया था। मुझे अपनी बात रखने का अवसर नहीं मिला। विभा ने घड़ी देखी और झटके से उठकर चली गयी। उसके विचारों को मैं तोलने-परखने लगा। रात को बैठकर लेख को एक बार फिर लिखा।

अरुण ने सुना तो उसकी मुखाकृति देख मैं डर गया। कहीं मारपीट पर उतर आया तो। 'मैंने तुम्हें प्रतिभावान, विद्वान समझा था, एक बड़े हृदय वाला। इतने संकुचित विचार हैं तुम्हारे!' वह बोलता रहा था। मेरे पास सुनने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं था। रात को फिर से लेख तैयार किया था। लेख को कभी विभा सुनती तो कभी अरुण और रोज घंटों विचार-विमर्श होता। अन्य पड़ोसी देशों के साथ इन नीतियों से क्या प्रभाव पड़ेगा। अरुण ने अपने विचार रखे। मैं भी बहस में उतर आया था-अरुण को अच्छा लगा। उठते हुए उसने कहा था-'अच्छा लगा तुम भी आज बोले। खुलकर बोला करो- यह जरूरी नहीं कि जो मैं कहूंगा वह ही सत्य है। तुम अपने सच को सामने रखो।' मेरा सत्य, मेरा सत्य शायद नीता है। सामने की छत पर कोई नहीं है। पर मैं उसकी गंध को अनुभव कर रहा हूं। लगता है वह मेरे आसपास ही कहीं है।

विभा के जाने के बाद मैं नीता को खोजने लगा था। पहली मंजिल की खिड़की के पर्दे के पीछे वह छाया-सी नज़र आ रही थी-मैं उसकी छाया बनना चाहता था।

रविवार की संध्या काफी अच्छी रही। विभा तथा अरुण दोनों ने लेख को सुना और तालियां बजाते हुए कहा-'हमें आपसे ऐसे ही लेख की आशा थी।'

मेरे सामने लहलहाता नीम का पेड़ है, क्षितिज है, डूबता सूर्य है, पर्वत है, आसमान में छाये बादल हैं, चमकती बिजली है, माथे से टपकता पसीना है और इन सभी में घुलामिला मेरा व्यक्तित्व है, जिसमें नीता है, विभा है, अरुण है और नीता की छत है।

लेख छपा, चर्चा में रहा। दो-तीन न्यूज़ चैनल से लोग इन्टरव्यू लेने भी पहुंच गये थे। अगले दिन समाचार-पत्रों तथा टी.वी. चैनलों पर लेख पर चर्चा हुई। उसके बाद गली-मुहल्ले वाले मुझे जान गये। नीता स्वयं बधाई देने आयी थी-'मुझे नहीं पता था हमारे पड़ोस में इतना विद्वान, प्रतिभाशाली साहित्यकार, चिंतक रहता है।' शाम को नीता वहीं आकर बैठ गयी थी जहां विभा बैठती है। उसके साथ उसका छोटा भाई था। मैंने कहा-'आप तो कहती थीं, मेरे हृदय में नारी के प्रति सम्मान का भाव है।' वह मुस्करा दी-'वह तो मैं जानती हूं-मेरी मां नहीं। इसीलिए उन्होंने साथ में भाई को भेज दिया।' वह कुछ क्षण चुप रही फिर बोली-'विभा को तो जानते हैं आप? नहीं, आप कहां जानते होंगे। बरसाती में रहने वाले लोग ग्राउंड फ्लोर तथा पहली मंजिल में रहने वाले लोगों से अधिक अकेले होते हैं।' उसने एक बार मुझे देखा। मैं उसे सुन रहा था। वह आगे बोली-'ये दो खाली कुर्सियां क्या आपके अकेलेपन को और गहराती नहीं हैं?' यह सवाल था। वह चाहती थी इस पर मैं कुछ कहूं। पर मैंने कुछ नहीं कहा। वह ही बोली-'हां, विभा को आप नहीं जानते-दो गलियां छोड़कर रहती है वह। मेरी सहेली है। आजकल जिस तनाव से वह गुजर रही है और जिंदगी से जिस तरह जूझ रही है-आपको इससे कहानी का प्लाट मिल सकता है। मैं चाहती हूं आप उससे मिलें-हो सकता है आप उसको कोई रास्ता सुझा सकें या उसके माता-पिता को समझा सकें।'

मैंने सोचा-तो विभा अरुण को चाहती है और बीच में माता-पिता तथा समाज की दीवार है।

नीता ने आगे कहा-'यदि आप नहीं चल सकते तो मैं उसे आपके पास ले आती हूँ। मन की बात कहकर कुछ तो मन हलका होता ही है।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैंने कोई उत्तर नहीं दिया। नीता का पास होना मुझे अच्छा लग रहा था। वह ऐसे ही बैठी रहे, बातें करती रहे। मैंने ही कहा-'नीता, कुछ कहो। विभा के बारे में नहीं, अपने बारे में कहो।' नीता ने मुस्कराते हुए कहा-'जीवन और मृत्यु में आप किसे महत्व देते हैं?' बहुत कठिन सवाल था। मैंने कहा-'चाय पियेंगी?' और मैं बरसाती में चला आया। एक हाथ में चाय का प्याला और दूसरे हाथ में दो बिस्कुट पकड़े मैं बाहर आ गया। सैंटर टेबल पर लातें पसार मैं चाय की चुस्कियां लेने लगा। बारी-बारी से दोनों खाली कुर्सियों को देखा और मन में कहा-नीता ठीक कहती है-बरसाती में रहने वाले लोग कितने अकेले होते हैं।

तितली उड़ गयी थी और मैं उदास हो गया था। मैं तितली के पीछे नहीं भाग सकता-इसका मुझे दुःख है। दीया बाती करके मैं फिर से कुर्सी पर जम गया था। कुछ तारे टिमटिमाने लगे थे और मैं उनके बीच की दूरियां नापने लगा था-नीता और मेरे बीच की दूरी। विभा क्या लगती है अरुण की? इस सम्बन्ध में मैंने कभी पूछा ही नहीं। मैं नीता के घर की तरफ आ गया था। छत खाली थी। पहली मंजिल की खिड़की से प्रकाश छनकर बाहर आ रहा था। इस पर्दे को वह हटा क्यों नहीं देती? मैं कमरे के अन्दर देखना चाहता हूं-नीता को इधर-उधर आते-जाते। नीता के अंगों के उभार मेरी आंखों के सामने उभरते हैं। रविवार शाम को नीता फिर आयी थी-'तो आपने कुछ बताया नहीं। मैं अरुण के साथ भागने की सलाह विभा को नहीं दे सकती। मेरे और मेरे परिवार के संस्कार इसकी आज्ञा नहीं देते। विभा के सामने और कोई विकल्प नहीं है। वह जीवन और मृत्यु में से किसे चुने?'

कुछ क्षण मौन रहने के बाद उसने कहा-'मान लो विवाह के बाद अरुण वैसा नहीं निकले जैसा वह आज दिख रहा है तो विभा क्या करेगी। उसके लिए तो घर के द्वार बंद हो चुके होंगे। फिर तो उसे मृत्यु को ही चुनना पड़ेगा।'

'तो क्या अरुण तथा उसके प्यार पर विभा को विश्वास नहीं?'

'विश्वास है, उतना ही, जितना मुझे आप पर। पर आपकी आंखों में मैं कभी-कभी ऐसा कुछ भी देख लेती हूं जो विश्वास को तोड़ता है। फिर विवाह से पहले तथा बाद की स्थितियों में जमीन-आसमान का अन्तर होता है और उससे सब कुछ बदल जाता है।'

'मुझे सोचने दो, किसी निर्णय पर पहुंचने दो।' मैं कहता हूँ।

'पर समय ठहरता नहीं है और आप समय मांग रहे हैं'-इतना कह वह चली गयी थी। मैं गमले पर मँडराती तितली को ढूंढ़ता हूं। तितली नहीं है। नीम की फुनगी पर मचलती सूरज की अन्तिम किरणें भी नहीं हैं। मैं दोनों हाथों को फैलाता हूँ। लगता है सभी कुछ मेरी बांहों की सीमा से परे है और असीम मेरी फैली बांहों के घेरे में है। उस असीम का मैं क्या करूं?

सोमवार का दिन था। नीचे उतरा तो नीता को घर से बाहर आते देखा। मुझे देख वह पीछे हट गयी। कुछ देर इन्तजार करता रहा, पर वह बाहर नहीं आयी। ऐसा लगा कि उसने एक-दो बार बाहर की तरफ झांका है और मुझे खड़ा देख पीछे हट गयी है। घड़ी देखी-पांच बजे मुझे कविता-पाठ के लिए पहुंचना है।

कई दिनों से मैं सोच रहा था एक कविता लिखूं। लम्बी कविता, लम्बी कविता जिसकी चर्चा अच्छी लम्बी कविताओं के साथ हो। अन्दर कुछ घुमड़ रहा था। बाहर आने को तड़प रहा था। अरुण तथा विभा मेरे पास आकर बैठ गये थे। आतंकवादी गतिविधियां चर्चा के केन्द्र में थीं। लोगों का प्रदेशों से पलायन, फिर लोक-संस्कृति, साहित्य की ओर बात घूम गयी थी। विभा ने कहा-'मानव के अन्दर के शैतान को हम समाप्त नहीं कर सकते। युगों से इसके अनेक रूपों को हमने देखा है। इन शैतानों को मारा है, पर शैतान फिर जन्म लेते रहे हैं-लेते रहेंगे। आदमी और आदमी को जोड़ने के लिए हमें जड़ों की ओर लौटना होगा-लोक तथा संस्कृति को पहचानना होगा जिससे मानवीय मूल्यों की फिर स्थापना हो सके।' अरुण के विचार किन्हीं और दिशाओं की तरफ थे। वह प्रकृति के रहस्य को खोलना चाहता था। खुला आकाश, उसकी असीमता, क्षितिज तक फैला संसार, उसका सौन्दर्य-यह रहस्य ही हमें आपस में जोड़ सकता है। विभा तथा अरुण ने कहा-'आपको इस विषय पर एक लम्बी कविता लिखनी है। इस समस्या से हम लम्बे समय तक जुड़े हुए हैं, जुड़े रहे हैं। विचार करो, सोचो और इन स्थितियों से गहरे जुड़ो...'

मैं छत की मुंडेर पर खड़ा जगह-जगह से उठ रहे धुएं को, आग को, नारों को, लोगों को, चीखों को, एक-दूसरे को मारते-काटते देखता हूँ। मुझे नीता की चिंता होती है। वह झुलस रही है, नहीं वह पर्दे के पीछे छाया-सी हिल रही है, वह दरवाजे के पीछे खड़ी झांक रही है। उसकी छत खाली है। कमरे में अंधेरा है। छाया भी नहीं है। मैं हूँ और मेरी खाली छत है। विभा तथा अरुण लगातार मुझे देख रहे हैं। वे मेरे अन्दर रचना को जन्म लेते हुए देख रहे हैं। अरुण मेरी पीठ थपथपाते हुए कहता है-'मुझे विश्वास है एक अच्छी कविता जल्दी ही जन्म लेगी।'

लम्बा समय बीत गया था। मेरे कंधे को पकड़ किसी ने जोर से झिंझोड़ दिया था। पीछे मुड़कर देखा-पिताजी थे। खड़े होकर पैर छुए-उन्होंने आशीर्वाद दिया।

'कब से देख रहा हूँ तुम्हें गुम-सुम बैठे, किन्हीं विचारों में खोये। मैं तुम्हारी सोच तथा विचारों में खलल डालना नहीं चाहता था।' कुछ क्षण मेरी ओर देखकर उन्होंने आगे कहा-'तुम्हारी कहानियों तथा लेखों की चर्चा गांव में भी खूब रही।' उन्होंने मेरी पीठ थपथपा दी। नीता की छत खाली थी, सामने पड़ी कुर्सियां खाली थीं और नीम का पेड़ अंधेरे में डूब गया था।

6/15, अशोक नगर, नई दिल्ली-1100..

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विपिन बिहारी

थूकदान

ललेश्वर यादव इधर कई दिनों से खूब थूक रहे थे। कहीं भी रहते थू-थू करते रहते। चम्पवा देवी समझ नहीं पा रही थी उनके थूकते रहने के कारण को। कुछ दिनों तक उसने सहा। लेकिन जब उनकी थू-थू बदस्तूर जारी रही तो वह झुंझला पड़ी, "क्या हो गया है जी, थू-थू करते रहते हो। पेट में कोई बीमारी तो नहीं हो गई। ऐसी दशा तब होती है, जब पेट में जोंक वगैरह हो जाते हैं, हमेशा जी पिचपिचाते रहता है। लेकिन ये सब बीमारियां बच्चों को होती हैं। तुम तो अब सठियाने पर हो, जोंक-वोंक क्या होगा, कोई दूसरी-तीसरी बीमारी हो सकती है इस उमर में। दिखवा क्यों नहीं लेते किसी डॉक्टर से? आज थू-थू करते फिरते हो, कल को कुछ और हो जाए तो तुम्हें हलकानी होगी सो होगी ही, हम घरवालों को भी हलकानी होगी।"

ललेश्वर यादव ने कोई प्रतिवाद नहीं किया था। सिर्फ थूकते रहे। चम्पवा देवी की बातों का असर उन पर न होना था न हुआ। थू-थू करते ही जा रहे थे। चम्पवा देवी तब आश्चर्य में डूब गई थी जब वे खिड़की के पास बैठकर थूकने लगे थे लगातार। खिड़की गली में खुलती

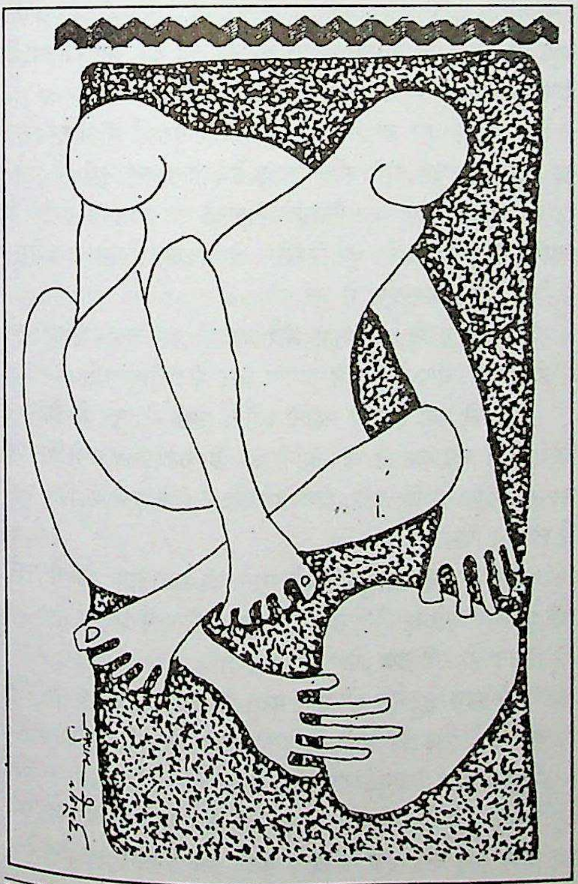

थी और गली में आवागमन कुछ अधिक ही बना हुआ था। ऐसा लगता था ललेश्वर यादव आने-जाने वाले पर थूकने की कोशिश करते। लेकिन जब कोई आता उनकी जद में तो ऐसा लगता उनका साहस जवाब दे देता इस डर से, वे कोई जमींदार, सेठ-साहूकार तो थे नहीं कि उनकी थूक को अमृत माना जाता। किसी ने गरिया दिया या फिर दरवाजे पर लठ लेकर ही पहुंच गया...साले, थूकने का शौक है तो अपनी मां-बहिन पर थूकते फिरते, राहगीर पर क्यों थूकते हो, क्या हम लोग गंधाते हैं? ललेश्वर यादव जब देखते कि उनकी खिड़की के नीचे से कोई गुजर रहा है तो वे थूकने के लिए झपटते, लेकिन फिर अपनी गर्दन भीतर टान लेते।

चम्पवा देवी परेशान थी। जब खिड़की के पास बैठे होते थे ललेश्वर यादव, चुपके से उनके पीछे आ खड़ी होती थी और उनके सारे क्रिया-कलाप एकटक देखती रहती। कभी-कभार ललेश्वर यादव की नजर उस पर पड़ जाती तो वे ठिसुआ उठते और धीरे से खिसक लेते। लेकिन चम्पवा देवी मधुमक्खियों-सी भनभनाती रहती...खिड़की से बाहर थूकते हो, कभी किसी की देह पर तुम्हारी थूक पड़ गई तो फिर बेटी-रोटी करेगा अलग से, कहीं बजरमूठ के पाले पड़ गए तो धुरमूस भी देगा। बुढ़ौती में ये कैसी आदत पड़ गई है। चम्पवा देवी को यह भी शक होने लगा था कहीं किसी प्रेतात्मा का तो प्रकोप नहीं हो गया है अचानक? अचानक हार्ट अटैक हो सकता है, अचानक कोई एक्सीडेंट हो सकता है, लेकिन ये थूकने की बीमारी...!

ललेश्वर यादव जब-तब घर के फर्श पर भी थूक देते थे। चम्पवा देवी की नजर पड़ती तो वह झट साफ कर देती। लेकिन जब यही मर्ज उनका बढ़ गया तो साफ कह दिया उसने, "थूककर फर्श गंदा कर देते हो। इसकी भी कोई हद है। लेकिन तुम हो कि थूकते जाते हो। मुझसे ये रोज-रोज नहीं होगा। फर्श पर थूकना ही है तो कोई नौकरानी रख लो, वही साफ-सुफ किया करेगी।"

ललेश्वर यादव कुछ नहीं बोले थे और शाम होते-होते एक बुढ़िया उठा लाए बतौर नौकरानी। चम्पवा देवी अकबका गई थी...अपनी थूक साफ करवाने के लिए नौकरानी, यही मैं नौकरानी-नौकरानी कहते-कहते बुढ़ा गई, लेकिन इसके कान पर जूं नहीं रेंगे। बर्तन साफ कर देगी, झाड़ू-बुहारू कर देगी तो राहत मिलेगी।

लेकिन नौकरानी ने साफ कह दिया कि वह चौबीस घंटे इस घर में कतई नहीं रहेगी, उसके भी बाल-बच्चे हैं, सुबह-शाम आठ बजे तक जो करवा लीजिए, कर देगी।

चम्पवा देवी ने देखा था ललेश्वर यादव को, वे देख रहे थे नौकरानी की तरफ। चौबीसों घंटों की नौकरानी मिलनी असंभव ही थी, सो राजी हो गए...ठीक है।

जब तक नौकरानी रहती, फर्श पर खूब थूकते ललेश्वर यादव। किसी काम में नौकरानी बझी रहती तो चिल्लाते, "देखो, इधर फर्श

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कितना गंदा हो गया है, जल्दी साफ करो।" नौकरानी पोंछा लेकर आती फर्श साफ करती।

लेकिन अभी महीना भी नहीं गुजरा था कि नौकरानी साफ मुकर गई, "मैं बर्तन-बासन करने आई हूँ किसी का थूक-बलगम साफ करने नहीं। एकाध रोज की बात रहती तो हाजमा ठीक रहता, लेकिन रोज-रोज मुझसे ये काम नहीं होगा। थूक-बलगम ही साफ करवाना है तो किसी डोम-चमार को लाइए।"

ललेश्वर यादव मना करते रह गए। यहां तक कि पगार बढ़ाने का भी लालच दिया। लेकिन वह नहीं ठहरी। उनका चेहरा ही बिगड़ गया था। नौकरानी के भाग जाने के उपरांत चम्पवा देवी ने मोर्चा संभाल लिया था, "और थूको, भाग गई न, क्या समझने लगे हो अपने आपको।"

ललेश्वर यादव गुर्राए चम्पवा देवी पर। लेकिन वह भी गुर्रा उठी, "मैं नौकरानी नहीं हूं इस घर की, इतना मान लो।"

ललेश्वर यादव के बाबूजी बुधन यादव इलाके के एक नवाब का किस्सा सुनाया करते थे कि...एक नवाब था अय्याशीपरस्त। हमेशा रंडियों-भड़वों से घिरा हुआ रहता। एक बार की बात है कि उसका मातहत एक कागजात लेकर गया उसके पास। किसी को जागीर की कुछ बस्तियां दान में देनी थीं। मातहत उससे दस्तखत के लिए गुजारिश कर रहा था। लेकिन नवाब ने दस्तखत बनाने की बजाय पान थूक दिया उस पर और बस्तियां दान हो गईं। ललेश्वर यादव यह किस्सा शिद्दत से याद करते थे। ऐसा लगता था कि वे भी नवाब बनना चाहते थे और पान थूककर किसी याचक को अपनी जागीर दान में देना चाहते थे। लेकिन वे ऐसा नहीं कर सकते थे। एक मरोड़ उनके पेट में उठती थी और वे ऐंठने लगते थे किसी दरख्त पर चढ़ रहे साँप की तरह।

जनवरी का महीना था, वातावरण ठंड से सिकुड़ा हुआ था। ललेश्वर यादव सुबह से निकले हुए थे घर से। सांझ समय से पहले हो गई लगती थी। जमीन पर कोहरा गहराने लगा था। चम्पवा देवी चिंतित नहीं थी, फिर भी भन-भन किए जा रही थी, ठंड के मौसम में, ऐसा कौन-सा काम पड़ गया कि अभी तक वापस नहीं लौटा। सबेरे आ जाना चाहिए....अभी उसकी भन्नाहट खत्म नहीं हुई थी कि ललेश्वर यादव की आवाज सुनाई पड़ी, "देखो जी, मैं क्या लाया हूँ?"

चम्पवा देवी हलकती हुई दरवाज़े तक आई, "क्या लाए हो, चन्द्रहार है क्या मेरे लिए?" हँस पड़ी थी वह। जब उसकी नज़र ललेश्वर यादव पर पड़ी तो वे साफ नज़र नहीं आए। लेकिन चम्पवा देवी इतना अवश्य देख गई थी उनके हाथों में कुछ है।

जब ललेश्वर यादव दरवाज़े के भीतर आए तो, "देखो तो क्या लाया हूँ।"

"क्या है?" चम्पवा देवी ने देखा, "ये क्या है?"

'दिखाई नहीं पड़ता है क्या?"

"दिखाई पड़ रहा है तभी तो पूछ रही हूँ।"

"पिल्ला है।"

"इसका क्या करोगे?"

"पोसूंगा।"

"बाल-बच्चे नहीं हैं जो पोसोगे?"

"देखो, आज के जमाने में जितना वफादार ये कुत्ता होता है, उतना बाल-बच्चे भी नहीं होते।"

"तो कुछ ऐसा करते मेरे साथ कि मैं पिल्ले को ही जन्म देती।" चम्पवा देवी के चेहरे पर नाराजगी साफ चमकने लगी थी, "तुम पागल हो गए हो, पता नहीं क्या-क्या करते रहते हो। मैं भी पागल हो जाऊँ तुम्हारे साथ।"

लेकिन ललेश्वर यादव ने चम्पवा देवी की बातों की जरा भी नोटिस नहीं ली। वे पिल्ले को इस तरह सहला रहे थे जैसे उनके बच्चों से बढ़कर उसकी हैसियत हो। चम्पवा देवी जली-भुनी जा रही थी।

'रखोगे कहाँ?"

"तुम्हें चिन्ता करने की कोई जरूरत नहीं।"

ललेश्वर यादव बरामदे में पिल्ले को रखने का इंतजाम करने लगे थे। स्वयं ही घर से चुन-चुनकर पुराने-फटे कपड़े निकाले और उन्होंने बहुत ही कम समय में एक गद्देदार झोंपड़ी बना दी। 'क्या खाएगा' के नाम पर उन्होंने अपने हिस्से का दूध पिल्ले को पिला दिया।

रात में कई बार उठे ललेश्वर यादव और बरामदे में आकर पिल्ले का हाल दरियाफ्त करते रहे। चम्पवा देवी रात भर नहीं सो पाई।

सुबह कोहरा था। धूप निकलते-निकलते खासा समय व्यतीत हो जाएगा। वे तैयार बैठे थे। धूप निकलेगी तो निकलेंगे घर से। इस दौरान वे पिल्ले की सेवा-सुश्रूषा में जुटे रहे।

वे एक पेंटर को बुला लाए और दरवाजे पर लिखवा दिया 'कुत्ते से होशियार।' चम्पवा देवी ने अपना सिर पीट लिया था।

"कुत्ते को बड़ा होने में महीनों लगेंगे। अभी से कुत्ते से होशियार लिखाने की क्या जरूरत थी। इतनी ठंड है, आदमी ठंड से पट-पट मर रहे हैं, ये तो पिल्ला है, कहीं इसे भी ठंड ले डूबी तो फिर कहां से लाओगे पिल्ला।"

"कैसे मर जाएगा, तुम इसके मरने की सोच रही हो। मैं मरने नहीं दूंगा। मैं इसे अपने तरीके से रखूंगा, मरेगा कैसे।"

"मान लो मर गया तो।"

"कैसे मान लूं, वैसे तो सभी मरते हैं। फिर भी सड़क पर भीड़ है, बाजार में भीड़ है। मरते तो इतनी भीड़ होती ही नहीं।"

"तुमसे कौन मथफुटौव्वल करने जाए।"

चम्पवा देवी के चित्त पर पिल्ला नहीं चढ़ रहा था। बरामदा गंदा कर देता। झाड़ू देने जाती तो हल्ला करने लगती। और एक दिन ऐसा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आया कि बरामदे में झाड़ू देना ही छोड़ दिया। आखिर में ललेश्वर यादव ही बरामदा साफ करने लगे। धूप निकलती तो पिल्ले को छत पर ले जाते और उसे शैम्पू से नहलाते। एक कंघा भी ले आए थे। उसके रोंए पर कंघा फिराते। उनकी जान कुत्ते में बस रही थी जैसे। देर-देर तक पिल्ले को अपलक निहारते रहते। ऐसा भी लगता जैसे वे सपने भी देखने लगे थे...पिल्ला बड़ा हो गया है। कोई भी अनजान आता है। उसकी गंध सूंघते ही पिल्ला झांऊ-झांऊ करने लगता है। जब वे बाहर निकलते हैं 'कौन है' कहते हुए तो उनकी छाती गर्व से तन जाती है और बखानने लगते हैं आगन्तुक से पिल्ले की खूबियां...एक नंबर का चंठ है। मैंने इसकी इतनी सेवा की है, उतनी तो मैंने कभी अपने बच्चे की भी नहीं की। इसमें मेरी जान बसती है। यह काटता नहीं, लेकिन किसी को भी भयाक्रांत कर देता है। जबसे ये बड़ा हुआ है, मैं तो इत्मीनान की नींद सो रहा हूँ। मॉर्निंग वाक पर हैं वे। कुत्ते की गर्दन में चमड़े की बेल्ट लगी हुई है। बेल्ट का सिरा उनके हाथ में है। पिल्ले को देखकर कई लोग पूछते हैं...किस नस्ल का है, कहां से लाए...देशी है या विदेशी, बड़ा शानदार कुत्ता है।

लेकिन पिल्ले का दुर्भाग्य या चम्पवा देवी का षड्यंत्र, ललेश्वर यादव घर पर नहीं थे। पिल्ला बरामदे से चलकर रसोई में घुस आया था। उस समय चम्पवा देवी बाथरूम गई हुई थी। रसोई में दूध खुला पड़ा था। पिल्ला दूध इस तरह चुपड़ने लगा था जैसे कुतिया का थन। जब बाथरूम से निकली चम्पवा देवी तो...ये क्या, "दूर्र रे, आग लगे इस पिल्ले को, रसोई में घुस आया...ठहरो तो...।" झाड़ू उठाकर दौड़ पड़ी थी पिल्ले पर। झाड़ू की मूठ से कई जबरदस्त चोटें पड़ी तो पिल्ला केंकियाते हुए बरामदे से होकर बाहर गली में निकल आया। चम्पवा देवी गली तक दौड़ी आई...पिल्ला ललेश्वर यादव के घर से बेदखल।

जैसे ही आए ललेश्वर यादव, पिल्ले की खबर ली। लेकिन वह तो कहीं निकल गया था।

"पिल्ला कहां गया?"

"मैं क्या जानूं?" साफ मुकर गई थी चम्पवा देवी।

'इतना भी नहीं देख सकती हो?" थोड़ा तैश में आ गए थे ललेश्वर यादव।

"पिल्ला मुझसे पूछकर लाए थे क्या, पिल्ला तुम्हारा शौक था न कि मेरा। तुम्हारे शौक तो हजार किस्म के होंगे। इसका मतलब ये नहीं कि मैं सबकी पहरेदारी करती फिरूं।" चम्पवा देवी भी झुंझला पड़ी थी।

ललेश्वर यादव गली तक आए पिल्ले को ढूंढ़ने। लेकिन पिल्ला रहता तब तो। पिल्ला न मिला तो उनके चेहरे पर एक अफसोस जम गया था थक्के की तरह। शाम को खाना तक नहीं खाया उन्होंने, न ही चम्पवा देवी से कुछ बोले।

"पिल्ले के चलते ऐसा हाल, आखिर पिल्ले से इतना लगाव क्यों था?" चम्पवा देवी एकटक ताक रही थी ललेश्वर यादव को।

ललेश्वर यादव को एक सपना अमूमन रोज़ ही आता था। वह भी आधी रात के बाद। जब उनका सपना खत्म होता तब उन्हें फिर नींद नहीं आती थी। वे आँखें बंद किए सुबह का इंतजार करने लगते थे। ...उनकी लम्बी-चौड़ी जागीर है। कई गुलाम उनकी सेवा में रात-दिन जुटे हुए हैं। हुक्म किया और गुलाम हाजिर। उनके हाथ में चमड़े का हंटर हमेशा फनफनाता रहता है। किसकी पीठ पर सड़ाक से बज जाए कुछ कहा नहीं जा सकता। उनके हंटर की फनफनाहट पूरी जागीर में एक दहशत बनी हुई है। एक बाघ भी पाल रखा है उन्होंने जो पिंजरे में हमेशा गुर्राता रहता है। लेकिन ललेश्वर यादव को देखते ही वह अपनी दुम हिलाने लगता है। गर्व से उनकी मूंछें फरफराने लगती हैं। बाघ भी उनसे डरता है। कभी कोई गुलाम उनके हुक्म को नहीं मानता है तो उनका हंटर फनफना उठता है। 'हाय मइया हाय बप्पा' के स्वर से आसमान गूँजने लगता है। गुलामों की चीख-चिल्लाहट उन्हें हार्दिक सुख दे जाती है। उनकी क्रूरता तीव्रतर होने लगती है। वे अत्याचारी हैं। लेकिन अत्याचारी कहने का साहस किसी को नहीं है। कई गुलामों को अधमरू कर बाघ के पिंजरे में छोड़ चुके हैं और बाघ नोच-नोचकर उन्हें हज़म भी कर चुका है। लोग डरते हैं उनसे। उनके आगे कोई गर्दन सीधी कर नहीं चल सकता। सामने कोई चारपाई पर नहीं बैठ सकता। उनकी जागीर बाबर-अकबर से कम नहीं लगती है।

नींद तब खुलती है उनकी जब एक गुलाम को मार-मारकर अधमरू कर देते हैं। उसे बाघ के पिंजरे की तरफ घसीटते हुए ले जा रहे हैं। जब पिंजरा खोलते हैं और उस अधमरू को बाघ के सामने जैसे ही फेंकना चाहते हैं कि अधमरू गुलाम बिजली की तेजी से उठकर उन्हें ही पिंजरे में ठेल देता है और पिंजरे का दरवाजा बंद कर देता है। बाघ भी उन पर झपटने में देर नहीं लगाता।

जब उनकी नींद खुलती थी तो उनका पूरा बदन पसीने से तहबोर हो जाता था। हाँफ भी चढ़ जाती थी। अपने हाथ सारे बदन पर ऐसे छुआने लगते थे जैसे चारों तरफ जख्म ही जख्म हों। जब सभी तरह से आश्वस्त हो लेते थे तब अंधेरे में ही वे मुस्कुरा उठते थे। मुस्कुराकर वे थकते थे तो सोचने लगते...अक्सर ऐसे सपने क्यों आते हैं, कहीं उनकी नस्ल किसी राजघराने की तो नहीं, परिस्थितिवश उनकी स्थिति ऐसी हो गई है। ऐसा भी हो सकता है वे किसी के जारज रहे हों। ऐसे सपने आने के पीछे जरूर कोई कारण है जो वे नहीं जानते। कहा जाता है सपने वही होते हैं जो व्यक्ति के भीतर कोई बात दबी होती है। या फिर दिनचर्या में सोची हुई बातें सपने बन जाती हैं। ऐसी बातें भी तो नहीं सोचते। कभी-कभी ये भी सोचते, हो सकता है आने वाले दिनों में कुछ ऐसा ही होने वाला है।

ललेश्वर यादव के ठीक सामने वाला मकान घुरफेंकन पासवान का था। जब भी ललेश्वर यादव निकलते उनकी नज़र तड़ से मकान पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पड़ जाती। जिस तेज़ी से मकान का रंग-रोगन बढ़ रहा था वह निश्चय ही ध्यानाकर्षित करता था। कुछ वर्ष पहले की हालत ये थी कि घुरफेंकन पासवान नुक्कड़ पर चने का ठेला लगाता था। पढ़ा-लिखा भी नहीं था कि आरक्षण का लाभ ले पाता। न दलित के नाम पर कोई आर्थिक सहयोग। सामने छोटी-छोटी दो कोठरियां बनी हुई थीं। जमीन लगभग कट्ठे भर की होगी चारों तरफ घेराबंदी की हुई। घुरफेंकन पासवान के कब्जे में वह जमीन कैसे आई या उसके बाप-दादा की थी या फिर अवैध कब्जाई हुई। इसकी तह में जाना व्यर्थ ही था क्योंकि नगरपालिका की रसीद घुरफेंकन पासवान के नाम से ही कटती थी और अब यह कहना ऐसे सभी विवादों को ध्वस्त कर देता है।

घुरफेंकन पासवान ठेले पर अंकुरे हुए चने लेकर दोपहर निकलता और रात गए लौटता। जब वह लौटता तो ललेश्वर यादव को मालूम पड़ जाता। सुबह मार्केट जाता और बोरी भर चना ले आता। ठेले सजाने का काम उसकी पत्नी गुलबिया करती। तब तक घुरफेंकन पासवान या तो मटरगश्ती करता रहता या फिर कहीं बैठकर गप्पें लड़ाता रहता। ललेश्वर यादव उसे जरूर बुलाते। चम्पवा देवी को चाय बनाने के लिए कहते। घुरफेंकन पासवान उनके पांवों के नीचे बैठ जाता और 'मालिक-मालिक' कहते-कहते उसकी जबान नहीं थकती। ऐसा भी होता कि हल्की-फुल्की चीजों के लिए ललेश्वर यादव उसे मार्केट भी भेज देते और वह सहर्ष चला जाता।

घुरफेंकन पासवान जब उनके पांवों के नीचे बैठता तो ललेश्वर यादव भीतर ही भीतर गौरवान्वित होते और उन्हें ऐसा लगता कि घुरफेंकन पासवान उनसे किसी चीज़ के लिए याचना कर रहा हो और वे ना-नुकर कर रहे हों...बड़प्पन इसी को कहते हैं।

घुरफेंकन पासवान की जमीन पर ललेश्वर यादव की गिद्ध-दृष्टि काफी दिनों से लगी हुई थी। जब एक दिन घुरफेंकन पासवान उनके पांवों के नीचे बैठकर चाय पी रहा था तो धीमे से ललेश्वर यादव ने अपनी मंशा कह दी थी, "कट्ठा-भर जमीन है। शहरी इलाका...एक कट्ठे में मकान बनाना आसान नहीं, उसके लिए टोकरी भर रुपए चाहिए।"

"आप कहना क्या चाहते हैं?" घुरफेंकन पासवान चाय सुड़कते-सुड़कते रुक गया था।

"जमीन मेरे लॉट में पड़ती है, ऐसा क्यों नहीं करते जमीन मेरे नाम से बेच दो और जितने वाजिब पैसे बनते हैं मुझसे ले लो। उस पैसे से तो तुम्हारे लायक कहीं घर मिल ही जाएगा।"

घुरफेंकन पासवान कुछ नहीं बोला। चाय जो सुड़कना छोड़ दिया था उसने, सुड़कने लगा।

ललेश्वर यादव भी चुप रहे थे। जब चाय खत्म हो गई तो घुरफेंकन पासवान ने अपना कप धोने के लिए चम्पवा देवी से पानी मांगा।

"छोड़ दो...।" चम्पवा देवी की भीतर से आवाज आई थी।

"नहीं मालकिन, छूत-अछूत की बात है, परम्परा मत तोड़िए," हँसा था घुरफेंकन पासवान।

"ऐसा मत कहो, मैं ऐसा नहीं सोचती।"

"आप क्या सोचती हैं, जब सारे लोग एक-सा सोचते हैं तो आपके सोचने-न सोचने से क्या फरक पड़ता है, मालकिन। एक के सोचने से छूत-अछूत का निवारण नहीं होना है। समाज बहुत बड़ा है, लोग बहुत हैं।"

ललेश्वर यादव मुंह ताकने लगे थे घुरफेंकन पासवान का। कप धोकर उसने उनके पांवों के ठीक बगल में रख दिया था।

"कुछ बोले नहीं?"

"क्या बोलूं?"

"जो मैंने कहा था।"

"मैंने सुना, लेकिन फिर दूसरे कान से निकाल दिया।" घुरफेंकन पासवान ठठाकर हँस दिया था।

"ऐसा क्यों?"

"इसलिए कि मेरे दो बेटे हैं। दोनों को, चना बेचकर ही सही, पढ़ा रहा हूं, वे पढ़ रहे हैं। पढ़ रहे हैं तो मुझे इतना विश्वास है कि वे मेरे व्यवसाय को नहीं अपनाएंगे, अपना कुछ करेंगे और मेरी आज जो हालत है, वह कल नहीं रहेगी, इतना आप सोच-समझ लीजिए।" घुरफेंकन पासवान उठकर चल दिया था।

ललेश्वर यादव उसे गरियाने लगे...तुम चने बेचते हो तो क्या तुम्हारे बेटे कलक्टर-जज बन जाएंगे? अरे चना नहीं बेचेंगे तो फल-सब्जी बेचेंगे, पाव-भाजी बेचेंगे और क्या, झोंपड़ी से महल नहीं खड़ा कर लोगे।

लेकिन ये क्या, सच में घुरफेंकन पासवान महल ही खड़ा कर रहा था। शानदार नहीं, लेकिन ललेश्वर यादव का मकान उसके सामने कहीं नहीं टिकता। सतजुगिया मकान...जगह-जगह से पलस्तर झड़ा हुआ, चूने की सफेदी भी चमक नहीं पैदा करती थी। पुराने खिड़की-दरवाजे-किसी के कब्जे ढीले-ढाले, किसी का शीशा फूटा-भांगा, फर्श- जैसे समय की मार ने उसे खुजलीदार बना दिया था।

कहां से पैसे आए घुरफेंकन पासवान को!

घुरफेंकन पासवान के दोनों बेटे जवान हुए। पढ़ाई की। लेकिन वे सरकारी नौकरी में जाने की कोशिश करने की बजाय अपने व्यवसाय की जुगत में लग गए और इस कड़ी में बड़कू ने दवा की दुकान खोल दी और छोटकू ने किराना दुकान। घुरफेंकन पासवान ने ठेला किसी को दान में दे दिया था।

मकान के सेकेंड फ्लोर में जब हाथ लगा तो घुरफेंकन पासवान ने साफ कह दिया था ललेश्वर यादव को, "देखा मालिक, झूठ बोलता था मैं?"

ललेश्वर यादव जल-भुन गए थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शाम को ललेश्वर यादव मार्केट जा रहे थे तो घुरफेंकन पासवान के दोनों बेटे बतियाते हुए उनके पास से गुजरे। उन्हें देखते ही उनकी इच्छा हुई कि दोनों पर थूक दें, लेकिन साहस नहीं जुटा पाए। फिर भी दोनों जैसे ही गुजरे, 'पच्च' से थूक दिया और पीछे मुड़कर देखने लगे, उनकी थूक दोनों पर पड़ी कि नहीं...साले लाख बढ़ जाओ, लेकिन रहोगे वहीं के वहीं, पासवान से यादव नहीं बन जाओगे और एक दिन तुम दोनों पर थूककर ही छोड़ूंगा, देखना।

घुरफेंकन पासवान को फुर्सत ही फुर्सत थी। तिस पर भी नहीं आता-जाता था ललेश्वर यादव के पास। कहां से आएगा, अब बड़का बन गया है न!

ललेश्वर यादव बुलाते थे। लेकिन फुर्सत न होने का बहाना बनाकर वह टरक जाता था। वे अब भी चाहते थे कि घुरफेंकन पासवान आए, उनके पांवों के नीचे बैठे और चाय पीकर अपना जूठा कप स्वयं धोए।

ललेश्वर यादव घुरफेंकन पासवान के ना-ना कहते हुए भी बांह पकड़कर ले आए अपने घर, "पड़ोसियों से संबंध बनाकर रखना चाहिए। यदि हम दोनों के घरों में किसी तरह की दुर्घटनाएं घटेंगी तो दोनों ही एक-दूसरे की सहायता के लिए दौड़ेंगे। यहां पर न जात है, न संबंधी। हमसे दूर भागने का कोई कारण नहीं है। चाय पीकर निकल लेना।" उन्होंने चम्पवा देवी को हल्ला किया। "जल्दी से चाय बनाना।" बरामदे में एक ही कुर्सी लगी हुई थी, सो उस पर विराजमान हो गए ललेश्वर यादव। अब घुरफेंकन पासवान कहां बैठे, सो वह खड़ा रहा। 'बैठो न' किसी हाल में भी नहीं कह पाए वे। वे यही सोच रहे थे कि साथ में बैठेगा नहीं तो पांवों के नीचे ही बैठेगा। लेकिन घुरफेंकन पासवान... उसने चाय के लिए मना कर दिया।

चम्पवा देवी भीतर से चिंकुड़ी, "पहले चाय पीते थे अब क्यों नहीं, एक तो आए हो बहुत दिनों पर बिल्कुल परदेसियों जैसे।"

"चाय पियूंगा तो जूठा कप धोना पड़ेगा। आप बुलाए हैं तो आपकी जिम्मेदारी बनती है जूठन धोने-पोंछने की। न मैं चाय पियूंगा, न जूठा कप धोना पड़ेगा।" घुरफेंकन पासवान की आवाज़ गंभीर थी।

घुरफेंकन पासवान के चाय के लिए मना करने के बाद चम्पवा देवी चुप्पी साध गई...कप मत धोना, मैं ही धो दूंगी...इतना भी आश्वासन नहीं दे पाई।

"मैं वहीं चाय पीता हूं जहां जूठा न धोना पड़े और ऐसा संयोग कम ही हो पाता है।" घुरफेंकन पासवान हँसने लगा था। "इसलिए कहीं भी जाता हूं मैं तो चाय के बारे में या खाने-पीने के बारे में सोचता ही नहीं। पहले तो मेरा प्रयत्न रहता है कि वैसी जगह जाऊं ही नहीं, जहां ऐसी नौबत आए। अब चलता हूं ललेश्वर जी, चलता हूं भाभी जी।" घुरफेंकन पासवान चलता बना था।

चम्पवा देवी बरामदे में आ गई थी।

"साला बड़का बन गया है, चाय नहीं पिएगा, पांवों के नीचे बैठेगा नहीं। नई बहुरिया हो, देखता हूं कितने दिनों तक तुम्हारी ये ताम-झाम रह पाती है। फिर आओगे इन्हीं पांवों के नीचे। ऊँचा बन गए हो, दो पैसे हो जाने से क्या!" ललेश्वर यादव दाँत किटकिटा रहे थे जैसे उनकी चाय नहीं पीकर घुरफेंकन पासवान ने उन्हें उठाकर पटक दिया था।

सुबह गली की तरफ खुलने वाली खिड़की का पल्ला खोलकर बैठे थे ललेश्वर यादव। वह गली सीधे मार्केट से लगती थी। बड़कू-छोटकू दुकान जाने के लिए घर से एक साथ ही निकले। ललेश्वर यादव की नज़र जैसे ही उन पर पड़ी वे बहुत खुश हुए। जैसे ही दोनों खिड़की के पास पहुँचे, उन्होंने थूक दिया उन पर।

बड़कू-छोटकू को एक साथ गुस्सा चढ़ गया, "कौन है रे साला, आँख-ऊँख नहीं है क्या, नहीं है तो खिड़की के पास बैठा ही न कर। आदमी पर ही थूकने का शौक है तो दो-चार को भाड़े पर ले आओ और थूको उन पर।"

इतना सुनना था कि ललेश्वर यादव भी संतुलन खो बैठे, "क्या कहा रे, क्या हो तुम लोग, थूकूंगा तुम पर, एक बार नहीं हजार बार थूकूंगा, क्या कर लोगे, चिन्हते हो कि नहीं, अभी आदमी से भेंट नहीं हुआ है तुम लोगों को। बड़का बन गए हो, पैसे वाले हो गए हो। मैं खानदानी हूँ, तुम्हारे जैसे को अभी मैं दो-चार दर्जन को खरीद सकता हूँ।"

"चोरी भी और सीनाजोरी भी।"

"हाँ, करूँगा। क्या कर लोगे?"

"कुछ तो कर लूँगा ही।"

अब तक गली में मजमा लग गया था। घुरफेंकन पासवान भी आ गया था और चम्पवा देवी भी आ गई थी। चम्पवा देवी हालांकि कुछ बोल नहीं पा रही थी, लेकिन ललेश्वर यादव की पक्षधर हो गई थी। इतना भी नहीं कह पा रही थी कि गलती हो गई, आइन्दा ऐसा नहीं होगा। घुरफेंकन अपने बेटों को समझा रहा था..."छोड़ो जाओ, इनके थूकने से हम लोग कोढ़ी नहीं हो जाएंगे। जब ऐसे लोग ही इस तरह का व्यवहार करेंगे तो हम लोग तो अनपढ़ जाहिल हैं, क्यों ललेश्वर यादव जी।"

"नहीं, कुछ तो करना ही पड़ेगा, नहीं तो...।" छोटकू ने आगे बढ़कर ललेश्वर यादव पर थूक दिया था। उन्हें छोटकू की थूक अंगारे से कम नहीं लगी थी।

"अब आपको जो करना है कर लीजिए। जब आप थूकिएगा तो मैं भी थूकूंगा आप पर इसी तरह, नहीं तो आप बचना चाहते हैं हम जैसों से तो एक थूकदान रख लिया करें अपने पास।"

घुरफेंकन पासवान को डर हो गया था कि छोटकू की हरकत से कहीं बात न बिगड़ जाए तो दोनों को ठेलकर मार्केट की तरफ भेजा था।

6/बी, रेलवे कॉलोनी, जपला, पलामू (बिहार)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कन्हैया लाल नंदन

नये वर्ष की अगवानी

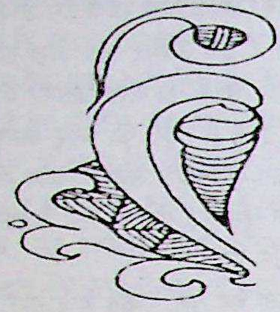

जो आया है सो जायेगा, सो चला गया
अब नये उमंगों के सूरज की बारी है।

वादों की खेती करते-करते कटे साल
सूखे में नाव चलाने का अभ्यास किया
हर रोज़ नहाते रहे निराशा के नद में
आशा को चुन-चुनकर हमने बनवास दिया
जीवन है तो यह सब तो होगा ही होगा
जीवन ने बाज़ी नहीं आज तक हारी है!
अब नये उमंगों के सूरज की बारी है।

यह घना कुहासा, सर्द रात, ठिठुरन भारी
क्यों करें शिकायत इसकी अल्लाताला से,
बाहर अलाव सुलगाओ, मन को समझा लो
यह गलन कटेगी तो अंदर की ज्वाला से
अन्दर की आग जलाओ, मन मज़बूत करो
यह जंग आज से नहीं, युगों से जारी है!
अब नये उमंगों के सूरज की बारी है।

कोई तो घर बतलाओ जिसमें टिकी धूप
आयेगी तो दोपहर बाद ढल जायेगी
विपदा कितनी ही घनी दर्द की जननी हो
वह आज नहीं तो कल ज़रूर टल जायेगी
मातम करने से ग़म तो नहीं मरा करते
ग़म पर हँसना ही जीवन की तैयारी है!

जो आया है सो जायेगा, सो चला गया
अब नये उमंगों के सूरज की बारी है।

132-कैलाश हिल्स, नई दिल्ली-110065

सुनीता जैन

दिव्यन : एक सांझ

वह मेरा प्राण तत्व है,
अभी छोटा है
किन्तु उसमें कोई आदिम रक्त-गंध है-
उसने मुझे पहचाना है

वह दा....
दीजी कहकर सहसा
मेरी ओर दौड़ा है
उसकी डगमग टांगें रुक नहीं रहीं
सड़क खुरदरी है
और हलक में मेरी जान है

वह गिरेगा तो घुटना छिलेगा
लेकिन मेरी बरजती भाषा से
वह लगभग अनजान है

हम तेजी से एक दूसरे को
भींच लेते हैं बीच रास्ते-
वह फिर से दा...दीजी...
कहता है, हांफते-हांफते

उसने अभी-अभी सीखे हैं बोल,
उसके सीमित शब्दकोश में
कुछ दर्जन भर नाम हैं
इस एक सांझ की दिव्यता के बाद,
दिव्यन,
मुझे नियति की सारी वक्रताएं स्वीकार हैं।

फर्ज़

जब इतनी अकेली होती हूं
जितनी कोटर में गिलहरी
जो अभी-अभी बाहर आ
खंखूर रही है वृक्ष का तना,
भूखी अकुलाई-

जब कभी इतनी चुप होती हूं
जितनी छतनारी सतह पत्तों की
सबसे ऊपरी, जिस पर से
उड़ गये हैं सारे पक्षी
काम की तलाश में अभी-अभी-

जब कभी इतनी द्रवित होती हूं
जितना पार्क का वह भूखंड
अमलतास के नीचे,
लगातार रिस रहे नलकूप से-

तब एक-एक कर
याद आते हैं-
नहीं, पास आते हैं
दिवंगत माँ,
बहिन छोटी,
परदेस बसा बेटा,
बेटी! और मेरी लम्बी अनुपस्थिति में
दिन-दिन बदल रहे नातिन नाती-
चुलबुला पौत्र दिव्यन
चिड़चिड़ी शिवानी
मेरा अस्तित्व तो बस एक नाम है उन्हें
नानी जी, या दादी....
या कुछ तस्वीरें कमरों में
दीवार पर
साल-दर-साल लटकीं
निभाए गए फर्ज़ सी।

सी-132 सर्वोदय एन्क्लेव, नई दिल्ली-

आनंद अस्थाना

कविता-समय

गांव में घर का
काम-काज निपटाने के बाद
थकी-हारीं माँ
ढोलक की थाप पर
पास-पड़ोस की महिलाओं को
जैसे भेजती कोई संदेश
और आनन-फानन में जुट जाती उनकी
पूरी मंडली
गाये जाते सोहर, बिरहा या फाग
भूलकर ज़िंदगी के सारे खटराग....

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कभी माना महराजिन न आई
तो धनीराम की दुलहिन आ जाती
या गुनिया काकी बीमार हुई
तो उसकी जगह बिन्नो धाय ले लेती...

सबको मुट्ठी भर नाज
या इकन्नी-दुअन्नी देकर
बिदा करती माँ का साम्राज्य बरसों चला

सोचता हूं अनपढ़ होते हुए भी
उसमें ऐसा क्या था, जो मुझमें नहीं है?
शायद उसके पास थी
संवेदना का विस्तार करने की क्षमता
या फिर
सामूहिकता के विकास वाली मानसिकता
अथवा सहजता में जीने का परम आनंद।
कह नहीं सकता-जान भी नहीं सकता।
मित्र! ठीक कहते हो तुम
कि यह कविता का समय नहीं है...
कविता के ठिकानों को तो हमने
बहुत पहले ही नष्ट कर डाला था...

गाँधी मार्ग, हरदोई

श्रीमती धारा

जिन्दगी निर्गन्ध

कामना है तीव्र
कुछ करूं मैं
कुछ बनूं मैं
उपलब्ध कुछ ऐसा करूं
हो गर्व जिस पर
किन्तु कर पाती नहीं कुछ
दब गया है सब कहीं अन्दर
बीज बन निर्बीज सोया हो कहीं गहरे
बहुत गहरे अनुर्वर भूमि में

रोज जो उगती रही है
फूलती - फलती रही है
नहीं मरती जो कभी
वह दुनिया
और उसकी दुनियादारी
मैं निभाती जा रही उसको
निरपेक्षता से
बनी हूं मैं यन्त्र कर्तव्य का
फिर भी रोज सुनती हूं
अपरिमित उपालम्भ
रोज सहती हूं किसी का रोष
चढ़ाये त्यौरियां
नाराज़गी बैठी
रुदन की बात पर आता नहीं रोना मुझे
शुष्क आंखें
सत्य बस दृश्यता है
अन्यथा आंसू बरसते
अन्तस्थ मेरे

और हँसना चाहती जब मैं हँसी की बात पर
बरसते हैं निरन्तर अश्रु तब मेरे
जिन्दगी निर्गन्ध मेरी
फूल-सी खिलती
मगर कर्तव्यवश
उल्लास का लवलेश भी उसमें नहीं है
जिन्दगी निर्जीव कितनी
मैं करूं क्या
कुछ समझ आता नहीं है।

मोह

उम्र के एक दौर में
मैंने नयी धरती पर
जमाये पाँव अपने
उखाड़ा मूल से खुद को जहां से
वहां अब शेष हैं अवशेष मेरे
मेरे अस्तित्व के स्पर्श का अनुभव
वहां हर चीज़ में है
साज में, सामान में
दीवार में, दर में
समूचे उस घर में
मैं हूँ मन से
तन कहीं हो, मन वहीं है
वहाँ आया है भूकम्प प्रबल
घर हुआ खण्डहर
सुना, अब कुछ नहीं है शेष
सब कुछ धरा में धंस गया है
रह गये हैं शेष जो
वे ठूंठ हैं
मुंह चिढ़ाते-से सभी को
मगर मैं मोह का अपने करूं क्या
मुझे मंजूर है ठूंठ का मुंह चिढ़ाना भी
फूल-पत्ते टहनियां हों कहीं भी
फ़र्क कुछ पड़ता नहीं है।

सी-2/2, लाल क्वार्टर (गिफ्ट गुलज़ार)
कृष्णानगर, दिल्ली-110051

वीना वंसल

हाशिए पर पहुँचे लोग

कल वे आए थे
मुखौटे लगाए हुए।
रंग-बिरंगी तसवीरों की बातें करते हुए।
हमारे चारों ओर सुंदर सपने बुनते हुए।
हम जानते हैं कि हमारे इर्द-गिर्द
एक प्रकाश का घेरा है
जो उन्हें चौंधियाता है।
उसे हाथ लगाते वे
डरते हैं कहीं तेज झटका न लगे।
वे दूर रहते हैं पर उनकी जबानें
ललचा रही हैं।
उनसे राल टपक रही है।
वे अपने पर काबू पाने में असमर्थ हैं शायद
वे नहीं जानते कि हमने उनका असली
चेहरा देख लिया है।
इस बार
हम सतर्क हैं।
इससे पहले कि वे हमें लहू-लुहान करें
हम उन्हें हाशिए पर पहुँचा देंगे।

फ्लैट नं. 10, लेडी श्रीराम कॉलेज कैम्पस,
नई दिल्ली-110024

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामानुज त्रिपाठी

बेचैनी

बांट गया है कौन
भीड़ में
साखी शब्द रमैनी।

माया मिले तो
भरे समंदर
माया मिटे मरुस्थल,
अपना ही
बैकुंठ बचा है
अपनी करनी का फल

बांच रहा हीरामन
पिंजरे में
पोथी पुश्तैनी।

पड़ा-पड़ा
तप रहा आग में
झूठ बोलकर सोना,
पके रंग में
रँगे वक्त का
कैसा कच्चा होना

देख रहा चुपचाप
जौहरी
नजर गड़ाये पैनी।

निपट अंधेरे में
गोरा हूं
होगा अगर उजाला,
कहें कबीर
सुनो भाई साधो
हो न जाऊं काला

सोच-सोचकर
सतगुरु को ही
घेर रही बेचैनी।

ग्राम/पो. -गरयें, सुलतानपुर (उ.प्र) 227304

(सुश्री) विपिन चौधरी

संभावना की तलाश

संभावना की तलाश में
निकले चंद लोग।
ढूंढते चले उसे
दूर बहुत दूर
किसी निर्जन स्थान पर
विश्वास के झोले में डाल
दो-चार काम की चीजें।
बाकी लोग
साक्षी बन देखते रहे
उन्हें कोसते रहे
उनकी यात्रा को व्यर्थ
मानते रहे
क्योंकि उनके आसपास
सब ठीकठाक था
कोई उदेलना न थी
वे शान्त थे
ठहरी नदी से
भावनाओं की कब्र पर
खड़े उन्हें विदा करते रहे।
जाने वाले नहीं रुके
वे चले गए
आज भी चल रहे हैं कहीं।
आओ!
हम-तुम भी
इंतजार करें उनके लौटने का
शायद वे दुनिया को
बदलने का कुछ सामाँ लाएँ
वे आएँगे निश्चित है
कुछ महीने बाद या
कुछ वर्ष बाद।

मकान नं. 1008, हाउसिंग बोर्ड कालोनी
सैक्टर-15ए, हिसार, हरियाणा-125001

सुशान्त सुप्रिय

मैं भी हूँ भारत

आप ही की तरह
गाता हूँ मैं भी
तिरंगे का गीत।
जब भारत जीतता है
क्रिकेट में, हॉकी में
मैं भी झूम उठता हूँ
खुशी से।
हार जाता है जब
भारत किसी खेल में
मैं भी उदास होता हूँ
झुके हुए झण्डे-सा।
आपकी तरह
मुझे भी गुस्सा आता है
पड़ोसी देश के
इशारों पर नाचते
आतंकवादियों की
काली करतूतों पर।
क्योंकि मेरा नाम
अशफ़ाक खान,
गुरचरन सिंह या
माइकल डिसूज़ा है
केवल इसीलिए आप
क्यों टाँग देना चाहते हैं मुझे
घृणा और संदेह की सूली पर?

इक्कीसवीं सदी के बच्चे के लिए लोरी

सो जा बेटा
नहीं तो उड़न-तश्तरी से
दूसरे ग्रहों के भयावह प्राणी आएंगे
और तुझे उठा ले जाएंगे।
सो जा
नहीं तो तेरा 'क्लोन'
तुझसे तेज निकल जाएगा।
सो जा बेटा
नहीं तो तेरे 'कम्प्यूटर-गेम' में
'वायरस' घुस जाएगा।
सो जा
नहीं तो अमेरिका वाले
तेरी नींद का 'पेटेंट' करवा लेंगे।
सो जा, सो जा
नहीं तो वैज्ञानिक
तेरे दिमाग़ में
अनिद्रा-रोग का
'कम्प्यूटर-चिप' लगा देंगे...।

जे-845, मंदिर मार्ग, नई दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ. हरदयाल

खण्डित विश्वास की व्यथा

आधुनिकता ने भारतीय समाज की स्थिरता को भंग किया है। उसमें अस्थिरता आयी है और वह गतिशील बना है। इसके कारण ऐसी स्थितियां उत्पन्न होती रहती हैं, जो व्यक्ति को द्वन्द्वग्रस्त करती हैं, क्योंकि उसके संस्कार और पारम्परिक मूल्य उसे नयी स्थितियों को स्वीकार नहीं करने देते और नयी स्थितियों को नियन्त्रित करने या उन्हें अपने अनुकूल बनाने में वह अपने को असमर्थ पाता है। फलतः वह गहन व्यथा को झेलता है। सिम्मी हर्षिता का नया उपन्यास इसी व्यथा की मार्मिक कथा है।

इस उपन्यास का मूल केन्द्र है विवाहेतर काम-सम्बन्ध और उसकी स्वीकृति-अस्वीकृति का प्रश्न। मध्यवर्गीय राधिका को अपने मध्यवर्गीय पति श्यामल की एकनिष्ठता पर दृढ़ विश्वास है। यह विश्वास निराधार नहीं है, लेकिन उसकी चंचल, सुन्दर, अतिरिक्त कामुकता से ग्रस्त पूंजीपति (उच्च) वर्ग के जीवन-मूल्यों और संस्कारों से युक्त भाभी कोसीना के साथ उसके पति की काम-क्रीड़ा उसके विश्वास को खण्डित करती है। राधिका, श्यामल और कोसीना के त्रिकोण में सबसे अधिक पीड़ा श्यामल सहता है, यद्यपि कहानी राधिका के दृष्टिकोण से कही गयी है और वही सबसे अधिक व्यथित दिखाई देती है। निःसन्देह वह व्यथित है, उसका विश्वास खण्डित हुआ है। इसके कारण वह ऐसी मनोग्रन्थि से ग्रस्त हो गयी है कि तमाम प्रयत्नों के बावजूद उससे वह मुक्त नहीं हो पाती। श्यामल ने अपना अपराध स्वीकार कर लिया है और वह उसके बाद कभी स्खलित नहीं होता, लेकिन राधिका का उसके प्रति विश्वास पुनर्जीवित नहीं होता। वह उसे मौके-बेमौके उसके स्खलन की याद ही नहीं दिलाती, बल्कि उस पर कटाक्ष भी करती रहती है। कोसीना की उपस्थिति भी उसके लिए असह्य है। जब भी अवसर मिलता है, उसे तीक्ष्ण व्यंग्य-वाणों से बेधती रहती है। कोसीना उसके व्यंग्य-वाणों से तिलमिलाती अवश्य है, लेकिन वह बदलने के लिए बिल्कुल तैयार नहीं है। पूरा उपन्यास ननद-भाभी के इसी द्वन्द्व से निर्मित हुआ है।

उपन्यास में ननद-भाभी के इस द्वन्द्व ने तीन परिवारों को दो हिस्सों में बांट दिया है। एक परिवार राधिका के पिता का है, दूसरा परिवार कोसीना की माँ का है और तीसरा परिवार राधिका के पति का है। इनके आनुसंगिक परिवार भी हैं, लेकिन वे केन्द्रीय परिवार नहीं हैं। राधिका के पिता, उसकी माँ, कोसीना की माँ और भाई कोसीना के पक्षधर हैं। प्रत्यक्षतः कोसीना की भाभी रत्ना राधिका की पक्षधर है, लेकिन उसकी पक्षधरता मुखर नहीं है; क्योंकि वह कोसीना और अपनी सास मायादेवी की अधीनस्थ है। राधिका का भाई और कोसीना का पति तपन राधिका का परोक्षतः और उदासीनतः पक्षधर अवश्य है, लेकिन उसकी मौन पक्षधरता का कोई अर्थ नहीं है। पक्षधरता का आधार वर्ग चरित्र है। कोसीना विवाह से पूर्व और विवाह के पश्चात् भी अपने पति के अतिरिक्त अन्य पुरुषों से सम्बन्ध स्थापित करती है। इसे जानते हुए भी उसके पक्षधर उसे नहीं रोकते, राधिका को ही समझाते हैं कि वह कोसीना को क्षमा कर दे, उसके साथ सामान्य मधुर सम्बन्ध स्थापित कर ले। इसके लिए वे बराबर प्रयत्नशील रहते हैं। अन्ततः वे औपचारिक स्तर पर सफल होते हैं। कोसीना राधिका से इतना ही कहती है-''नमस्ते, दीदी! मुझे माफ़ कर दो।'' और राधिका भी अपनी भावना और भाषा को ऊष्मा से वंचित करके उत्तर देती है-''गॉड ब्लैस यू। आओ, नाश्ता कर लो।'' सब नाश्ता करते हैं, लेकिन कोसीना नाश्ता नहीं करती। केवल इतना कहती है-'मैं नाश्ता कर चुकी हूं।' (पृष्ठ 126) पक्षधरों की इस सफलता के बावजूद न कोसीना बदली है-'कोसीना वही करेगी जो उसका मन होगा। कौन है भला रोकने वाला?' (पृष्ठ 127) और न ही राधिका मनोग्रन्थि से मुक्त हो पायी है।

राधिका और कोसीना के बीच बलात् कराये गये इस औपचारिक समझौते से प्रसन्न होकर राधिका के माता-पिता 'झटपट कसीदाबाद की महिमामंडित दुनिया में सन्तुष्ट भाव से' लौट गये। कोसीना अपनी माँ के यहां चली गयी। कोसीना अपने विवाह पूर्व के प्रेमी डॉक्टर के साथ 'पिक्चर' और 'डिनर' पर गयी तो रत्ना ने इसके औचित्य पर शंका व्यक्त की। इस पर कोसीना के भाई और रत्ना के पति ने कोसीना का पक्ष लेते हुए कहा-'पूंजीपति घरों में यह आम बात है। वह कितनी सोशल है और लोग उसे कितना पसन्द करते हैं।...उसके मित्रों की कोई पार्टी उसके बिना अधूरी रहती है। और फिर वह अब शादीशुदा है।'' जब इससे भी रत्ना का समाधान नहीं होता तो वह कहता है-'यह उनका (कोसीना और डॉक्टर का) निजी मामला है। रिश्तों में सारी बात ट्यूनिंग की होती है। अपनी मध्यवर्गीय मानसिकता से उबरने में अभी तुम्हें समय लगेगा। और तब तुम देखोगी कि ऐसी मामूली बातों में वक्त बरबाद करने या तनाव पालने की क़तई ज़रूरत नहीं होती कि कौन किसको कब, कहां, क्या और क्यों खिला रहा है? फिर कोसीना को भी यह पसन्द नहीं कि कोई उसके साथ टोकाटाकी करे या उसके व्यक्तिगत फैसले या मामलों में दखल दे।'' (पृष्ठ 128)

स्पष्ट है कि विवाहेतर काम-सम्बन्धों के प्रति दो दृष्टिकोण हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक दृष्टिकोण मध्यवर्गीय दृष्टिकोण है, जो इसे अस्वीकार करता है। दूसरा दृष्टिकोण उच्च पूंजीपतिवर्गीय दृष्टिकोण है, जो इसे स्वीकार करता है। इनमें से पहला दृष्टिकोण समाज को महत्त्व देता है, दूसरा व्यक्ति को। यहां यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि लेखिका का पक्ष क्या है? उपन्यास पढ़ते समय हमारा साधारणीकरण राधिका के साथ होता है। इसका अर्थ है कि राधिका का पक्ष ही लेखिका का पक्ष है; और राधिका का पक्ष विवाहेतर काम-सम्बन्धों के अस्वीकार का पक्ष है, जो पूरे उपन्यास में बार-बार व्यक्त हुआ है। स्त्री-विमर्श के इस दौर में, जब स्त्री की पुरुष से पूर्ण स्वाधीनता की बात की जा रही है, यह प्रश्न और उसके उत्तर विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। इस समय विवाहेतर काम-सम्बन्धों की पक्षधरता या उनका विरोधी होना आसान काम नहीं है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि यह उपन्यास अपनी अन्तर्वस्तु के कारण विवादास्पद बनेगा। इधर के हिन्दी उपन्यासों में मनोभावों का इस उपन्यास जैसा सूक्ष्म चित्रण अपवादस्वरूप ही मिलता है।

शिल्प की दृष्टि से 'रंगशाला' सुगठित और श्रेष्ठ उपन्यास है। स्थूल घटनाक्रम तो छोटा-सा ही है, लेकिन लेखिका ने उसके इतने अधिक आयामों का समाज के इतने अधिक सन्दर्भों में उद्घाटन किया है, कि ऐसा कर पाना उसके सिद्ध उपन्यासकार होने को प्रमाणित करता है। उसकी बुनावट बहुत बारीक और निर्दोष है। मुख्य पात्रों का व्यक्तित्व उसने ऐसे गढ़ा है कि वे अविस्मरणीय बन गये हैं। इस उपन्यास को पढ़ने के बाद राधिका या कोसीना को भुला पाना किसी सहृदय पाठक के लिए असम्भव होगा। उपन्यास की भाषा शुद्ध, सशक्त, साहित्यिक सौन्दर्य से मंडित है। शैली ऐसी है कि पाठक को जकड़कर रखती है और उसकी अनुतान पात्रों की मनोदशा के अनुसार सूक्ष्म स्तर पर परिवर्तित होती रहती है। कहीं वह तथ्य-कथन करती है कहीं व्यंग्य से भरपूर है, कहीं उसमें काव्यात्मकता है और कहीं भाषिक स्तर पर क्रीड़ाशीलता। लेखिका ने मोनिकाबाजी, शरीरवीर, माथापीट सचाई जैसे प्रयोग किये हैं, जो हमारा ध्यान तुरन्त आकर्षित करते हैं।

इस उपन्यास को 'एक और उपन्यास' कहकर नहीं टाला जा सकता। इसकी गणना हिन्दी के विशिष्ट उपन्यासों में होगी, यह निःसंकोच कहा जा सकता है। अगर आज मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की चर्चा का दौर होता तो इसे निःसन्देह मनोवैज्ञानिक उपन्यास घोषित किया जाता।

रंगशालाः सिम्मी हर्षिता; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 2/35, अन्सारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002; प्रथम संस्करण 2003, पृ. सं. 129; मूल्य 140 रुपए।

एच-50, पश्चिमी ज्योति नगर, दिल्ली-110094

डॉ. कीर्ति केसर

नया सत्य रचने की जरूरत है...

'आकाश का सच' अजय शर्मा का तीसरा और सद्यः प्रकाशि[त] उपन्यास है जिसका विषय पत्रकारिता के आंतरिक संसार की [उ]स वास्तविकता उजागर करना है जो उसके बाहरी ग्लैमर के तामझा[म] के पीछे छिपी रहती है। लाखों पाठक उसके साथ रहकर भी उसक[ी] कल्पना भी नहीं कर सकते, करते हैं तो उसके छद्म में इतना र[म] जाते हैं कि उसकी सच्चाई ही उन्हें छद्म लगने लगती है। अज[य] शर्मा का यह उपन्यास इस छद्म का नकाब हटाने के कारण ख[ूब] ही चर्चा का विषय बन गया। यह उपन्यास लेखकों और संपादक[ों] के कथित 'जनहित' के सामने कई प्रश्नचिह्न लगाने का साम[ान] जुटाने के लिए अपनी एक पहचान बनाने में सफल हो गया है। बि[ना] अतिशयोक्ति के बिना ही उसने 'खबर देने' की शैली में अप[नी] रोजाना जीवन अनुभवों से अपनी समस्यामूलक परिस्थितियां और उन परिस्थितियों में प्रदूषण पैदा करने वाले पात्र सहज ही पहचा[न] लिए हैं। उन्हें चित्रित करने में गहरे तनाव या द्वन्द्वभरे ताने-बा[ने] उसे नहीं बुनने पड़े बल्कि कुछ घटनाओं को चित्रित करके ही उ[न] चेहरों की पहचान पाठकों को करा दी है।

पत्रकारिता के ग्लैमर में रचनात्मक, सकारात्मक और समाज के निर्माण की जो संभावनाएं लेखक को दिखाई देती थीं वे भी उसके गढ़ के अंदर आते ही एक-एक करके समाप्त होने लगीं और हि[न्दी] में आया बेहद हृदयहीन, संवेदनशून्य मशीनतंत्र जिसकी निम्न स्त[र] की व्यावसायिक नैतिकता ज्यादा से ज्यादा पैसा कमाने के उद्दे[श्य] पर केन्द्रित है यानी 'बाजारवाद' का वह चेहरा जिसकी कोई व्यावसायिक नैतिकता नहीं है, किसी सामाजिक या मानवीय जिम्मेदा[री] के साथ दूर का सौतेला रिश्ता भी नहीं है। इस युवा लेखक की चेतना पर अभी अनुभवों की धूल नहीं जमी है इसीलिए उसके संवेदना के स्क्रीन इतने साफ, इतने पारदर्शी हैं कि वह पत्रकारि[ता] की धूल-धूसरित सच्चाई को पहचान रहा है। उसके सामने ख[ड़ा] होकर उसको परख रहा है। उसे उसके सपने भी गर्द के गुबार में गुम होते दिखाई देते हैं-"कोई कहानी या कविता स्वयं लिखना मुझे अच्छा लगता था। यह सृजनात्मक क्षमता ही मुझे पत्रकारिता की तरफ खींच लाई थीं वर्ना जितनी तनख्वाह मुझे यहां मिलती है उससे कई गुना ज्यादा मैं अपने क्लीनिक में कमा लेता था....मैं तो केवल फीचर पन्नों पर ही काम करना चाहता था। पर ऐसा नहीं हुआ।" यह व्यवस्था उसकी इस क्षमता को ही कुंद कर देना चाहती है। पत्रकारों की मानसिकता पर भी इस उपन्यास ने थोड़ी ही सही उंगली उठाई है। एक पात्र कहता है-

'अरे यार! मैं तो कई बार लिखित रूप में दे चुका हूं कि मुझे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डेस्क से रिपोर्टिंग में भेज दिया जाए...और एक तुम हो कि चेहरे का जुगराफिया बिगाड़े बैठे हो...मुरादाबाद में मैंने चार साल फील्ड में काम किया और यकीन मानो हर वक्त पांचों उंगलियां घी में रहती थीं।'

लेखक भी पत्रकारिता का एक आयाम होते हैं। इस उपन्यास में तीन लेखकों के रूप में लेखकों की सज्जनता का मुखौटा हटा उसके नीचे का चेहरा पाठकों को दिखाया गया है। जनहित, आम आदमी, अपनी भाषा, अपने लोग, अपनी संस्कृति का जाप करने वाले ये लोग किस तरह अपना धर्म, भाषा, संस्कृति का पाला बदलते हैं, वह भी चन्द सौ रुपए के लिए, वह हैरान तो नहीं करता, उदास और दुःखी ज़रूर करता है। इस सच्चाई को इस उपन्यास में लेखक ने अपने पात्र बलराज गुप्ता और लेखकों की त्रिमूर्ति के रूप में चित्रित किया है। इन लेखकों का किरदार भी किसी घटिया नेता के सी क्लास एजेंट से बेहतर नहीं है जो भाषा, संस्कृति और इतिहास में साम्प्रदायिकता का पत्ता चलकर अपनी माफिया सत्ता कायम करना चाहते हैं। इन तीनों को देखते ही उपन्यास के नायक की कैमिस्ट्री का संतुलन बिगड़ने लगता है और वह इनके प्रति हिकारत से भर उठता है। 'साले...आए होंगे डांगे को यह बताने कि हमारे बिना आपका अखबार नहीं चल सकता। अमुक आदमी को न छापा करें वह पंजाबी है...एक केशधारी आदमी हिन्दी का हो ही नहीं सकता...ऐसे लेखकों को छाप कर आप पाठकों को नाराज़ कर रहे हैं।'

मैंने खुद ऐसे लोग देखे हैं जो मातृभाषा के मुंह पर थूककर हिन्दी मंचों से हीरो बनते हैं और तालियां बजवाते हैं। वहीं पंजाबियों के बीच बैठ एकदम बगुले बन जाते हैं। कुछ समझ नहीं आई पंजाब की पंजाबी मानसिकता। अपनी मातृभाषा, अपनी संस्कृति से इतनी वितृष्णा मैंने किसी प्रांत के भाषा-भाषियों में नहीं देखी जितनी इन लोगों में है। पत्रकारिता के बाजार में धोबी के कुत्ते जैसे इनके किरदार के साथ कुछ प्रश्नचिह्न खड़े किए गए हैं। इस लिहाज़ से भी उपन्यास का लेखक अपने पंजाबियत के प्रति लगाव की हल्की सी खुशबू छोड़ता है।

मीडिया की समाज के प्रति जिम्मेदारी को लेकर खुद मीडिया के घटकों और समाजशास्त्रियों की तरफ से बहुत से प्रश्न उठ रहे हैं। प्रिंट मीडिया का क्योंकि प्रभाव ज़्यादा होता है, उससे अपेक्षा की जाती है कि वह सामाजिक हितों, लोकतांत्रिक मूल्यों पर पहरा दे, लोकतंत्र के हित में संवैधानिक मूल्यों और संसदीय संस्कृति के विकास को दिशा दे, लोगों में उनके अधिकारों ही नहीं कर्तव्यों के प्रति भी जागरूकता पैदा करे परन्तु यह सब कुछ पृष्ठभूमि में चला गया है और बाजारवाद शीर्ष स्थान पर आ गया है। उपन्यास के नायक का अनुभव है-'मैं जब कभी सोचता हूं तो लगता है कि...आम जनता की अखबार पढ़ने की रुचि बढ़ी है...पर महत्वहीन खबरों से समाज का कुछ बनने वाला नहीं है लेकिन बाजारवाद के इस दौर में मैंने एक बात महसूस की है कि अखबार के मालिकों को भी अच्छे संवाददाताओं और संपादक की कोई आवश्यकता नहीं है। उन्हें तो बिकाऊ खबरें लिखने वाले क्लर्क चाहिए।...खबरों के क्षेत्रवार पृष्ठों में कैद करके समाज में किसी आन्दोलन की संभावनाओं को ही खत्म कर दिया गया है।...जब तक अखबार पाठकों को किसी विचारधारा के साथ नहीं जोड़ता तब तक यह संभव नहीं है कि उसे गंभीरता से लिया जाए।'

इस तरह क्षेत्रवार पृष्ठों को चलाकर विचार के विस्तार की संभावना ही समाचार पत्रों ने समाप्त कर दी है। यह कटु और बहुत महत्वपूर्ण सच्चाई इस उपन्यास में उजागर की गई है। समय का यह सत्य अजय शर्मा ने इस उपन्यास में ठोस दलीलों के आधार पर स्थापित किया है। पत्रकारिता का बाज़ारवाद स्पष्ट घोषणा अपने पत्रकारों को सुनाता है-

'अब तुम समझाओगे?' सम्पादक के तेवर बदल गए थे। स्वर का वेग अचानक बढ़ गया और बोले, 'एक बात और ध्यान से सुनो, जो तुम बात-बात पर अपनी दलील देते हो आइंदा मत देना। इस बात को कतई बर्दाश्त नहीं किया जाएगा। यह बात अच्छी तरह से समझ लो यह 'बाजारवाद' का दौर है। अखबार भी हमारा एक प्रोडक्ट है। इसे हमें बेचना है,, नीति भले ही कोई भी हो....।'

और संवेदनशील चिंतक को लगता है 'सुना है कि मानव बगैर रीढ़ की हड्डी का प्राणी हो गया है...और नाकाम चेष्टा कर रहा हूं मैं मानव की रीढ़ ढूंढने में। इस रीढ़ को सभी जानते हैं...जिस मर्म को मैं समझता हूं उससे मेरे आसपास के लोगों का कोई लेना-देना नहीं है...अब जाकर थोड़ा बहुत समझा हूं कि जिस लीक में मैंने सत्य को ढूंढ लिया था वह सब मिथ्या है...उस सत्य को तोड़कर नया सत्य सृजन करने की ज़रूरत है।"

विचार बिन्दु में दीप्ति हो, प्रज्ञा में विचार-मन्थन की प्रवृत्ति हो, चित्त में मन्थन से निकले सत्य के मोतियों को संजोने की ललक हो बुद्धि में इन मोतियों को पिरोकर एक सुन्दर माला बनाने सलीका हो और हाथों में पिरोने की कला और पूरे व्यक्तित्व में इस प्रक्रिया में संघर्ष की पीड़ा झेलने की सहनशीलता और अनुशासन हो तो लेखन अपनी आत्मा की ऊर्जा के उजाले में बैठकर साहित्य-सृजन करता है। ऐसा साहित्य ही समाज में रचनाधर्मिता को रूपांतरित करने में समर्थ होता है। नयी सोच की युवा पीढ़ी के लेखक अजय शर्मा ने अपने इस नये उपन्यास 'सारा आकाश' के रूप में ऐसी ही रचना करके अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है।

भाषा की सहजता, शब्दों का सही चयन, वाक्यों की सरलता, भावों और विचारों में परिपक्वता भी उपन्यास को रोचक एवं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पठनीय बनाती है। कई कथानक एक नायक के साथ चलते हैं राही के हमसफ़र की तरह और मोड़ आते ही अपने रास्ते मुड़ भी जाते हैं पर अपनी पहचान छोड़ जाते हैं। यह औपन्यासिक शिल्प की सफलता है। अक्सर अर्जित की गई भाषा बनावटी सी हो जाती है पर इस लेखक ने आंतरिक बुनावट को भाषा का चुनाव करने को खुला छोड़ दिया, शायद इसीलिए वह इस दोष से बच गया है। कहीं-कहीं बड़े आलंकारिक प्रतीकों का सारगर्भित प्रयोग किया है। आखिरी पृष्ठ पर पत्रकारिता के पूरे बाजारू सिस्टम के प्रतीक पात्र डांगे का यह कहना कि 'गमले को ज़रा ध्यान से रखना। यह कैक्टस की ऐसी प्रजाति है जिसमें सुना है कि 20 साल बाद एक फूल आता है। बस इसके बीस वर्ष होने में कुछ ही वर्ष बाकी रह गए हैं।' यह प्रतीकात्मक प्रयोग कई-कई अर्थों के संकेत देता है। उपन्यास में कहीं-कहीं नितांत निजी प्रसंग अनावश्यक लगते हैं जैसे 16वां परिशिष्ट और सिगरेट की तारीफ इतने विस्तार से करना। यथार्थ चित्रण और अनुभववादी विचारधारा ने लेखकों की जो भीड़ पैदा की है उसमें अजय शर्मा का दो टूक निर्णयात्मक नज़रिया उसे अलग रचनाधर्मी पहचान देता है। पात्रों को थोड़ा और विकसित किया होता तो उपन्यास का प्रभाव और दूरगामी होता। इसमें कोई संदेह नहीं कि 'आकाश का सच' धरती की नई पीढ़ी के प्रति आश्वस्त करता है।

आकाश का सच : अजय शर्मा; आस्था प्रकाशन, नकोदर; पृ.159; प्र.सं. 2003; मूल्य: 150 रुपए

1086-ई, गोबिन्दगढ़, जालंधर-144001

डॉ. जगन सिंह

पी.सी.के. प्रेम की कहानियां

पी.सी.के. प्रेम (पी.सी. कटोच) ने हिन्दी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं में साहित्य-रचना की है। एक ओर छोटी और अच्छी कहानियां लिखी हैं, तो दूसरी ओर हिन्दी में 'कालखंड' शीर्षक से 2000 पृष्ठों का वृहत्काय उपन्यास भी लिखा है। इस समय उनके दो कहानी संग्रह मेरे सामने हैं-'रिश्ते' तथा 'चौपाल खामोश है'।

'चौपाल खामोश है' की तुलना में 'रिश्ते' की कहानियां अधिक प्रौढ़ और सधी हुई हैं। उम्र बढ़ने के साथ-साथ भावुकता के कम होने और मनुष्य की सोच में आने वाले बदलाव का चित्रण इस संग्रह की कहानियों में प्रमुख रूप से हुआ है।

कहानीकला की दृष्टि से 'रिश्ते' की कहानियां अधिक सुगठित और कलात्मक हैं। सीधे-सादे पारिवारिक ब्यौरों के माध्यम से मानवीय पीड़ा से साक्षात्कार कराती हुई ये कहानियां सीधी अपने लक्ष्य की ओर बढ़ती हैं और पाठक को अपने साथ बहा ले जाती हैं। कहानी की समाप्ति पर कथानायक अथवा नायिका की व्यथा से आहत पाठक देर तक उसी भाव-स्थिति में रहता है।

'रिश्ते' में संकलित दस कहानियों में से 'आग', 'एक और वापसी', 'दिन बीत गये' के अलावा 'बिच्छू' और 'बेटा' भी अच्छी कहानियां हैं। दस में से पांच कहानियों का बहुत अच्छा होना इस संग्रह को महत्वपूर्ण बनाता है।

'आग', 'वापसी' और 'दिन बीत गये'- ये तीनों कहानियां बुढ़ापे के अकेलेपन और पुत्र के घर में माता-पिता के फालतू और उपेक्षित होने का चित्रण करती हैं। नई कहानी के दौर में भीष्म साहनी की 'चीफ की दावत', राजेन्द्र यादव की 'बिरादरी बाहर' और उषा प्रियंवदा की 'वापसी' इसी थीम पर लिखी गई चर्चित कहानियां थीं। पहले की कहानियों और इस संग्रह की इन तीन कहानियों में अन्तर यह है कि लेखक की सहानुभूति माता-पिता के साथ-साथ पुत्र को भी मिली है। पुत्र चाहता है कि वृद्ध माता के 'दर्द भरे वात्सल्य' का बदला उसकी सेवा करके चुकाये परन्तु पत्नी और बच्चों का विरोध उसका मनोबल तोड़कर रख देता है। इस दृष्टि से 'आग' कहानी अन्य सब कहानियों से अधिक प्रभावशाली बन पड़ी है।

कृष्ण की पत्नी रानी उस पर दबाव डाल रही है कि मां को उसके छोटे पुत्र के पास भेज दे। कृष्ण उस समय टाल जाता है परन्तु दुश्चिन्ता के मारे उसे रात भर नींद नहीं आती।

माँ जब गांव लौट जाने की बात कहती है तो कृष्ण को मर्मान्तक चोट लगती है और वह अपराध-बोध से घिर जाता है। सास की व्यथा और पति के अवसाद में डूबे चेहरे को देखकर रानी का मन पसीज जाता है। वह सास के हाथ से थैला ले लेती है और अवरुद्ध कंठ से कहती है-"आप कहीं नहीं जायेंगी।" इसके बाद फूट-फूट कर रोती हुई कहती है-"दुःख क्या आपको ही होता है?" उसका यह एक वाक्य पूरे घर को तनावमुक्त कर देता है। साथ ही एक नई आशा को भी जन्म देता है कि अतीत चाहे जैसा भी रहा हो भविष्य निश्चय ही इससे बेहतर और सुखद होगा। 'आग' कहानी का यह अन्त ही इसे विशिष्ट बनाता है। रानी का हृदय-परिवर्तन किसी बाहरी दबाव से नहीं होता बल्कि उसके भीतर से उद्भूत होता है।

'चौपाल खामोश है' की कहानियां पहाड़ी गांवों के परिवेश में निरन्तर आती जा रही गिरावट का गहराई से चित्रण करती हैं। कस्बाई परिवेश का चित्रण करते समय प्रेम की दृष्टि सामाजिक मूल्यों के विघटन पर ही केन्द्रित रहती है। 'चौपाल खामोश है' कहानी चुनावी राजनीति के चलते गांव के बंधुत्व और सौहार्द के खंडित होने और उदारमना व्यक्तियों के मोहभंग का चित्रण करती है। चौपाल गांव के भाईचारे और एकता की प्रतीक है। चौपाल में बैठकर गांव के सयाने दिन-प्रतिदिन की समस्याओं का निदान खोजते थे और सारा गांव उनके निर्णयों को कार्यान्वित करता था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तब लोग अभावों में रहते थे परन्तु आज की तुलना में अधिक सुखी थे। अब जब गांव का विकास हो गया है, बिजली आ गई है और ग्रामवासियों का आर्थिक स्तर पहले की अपेक्षा सुधर गया है तो वे आत्मकेन्द्रित और स्वार्थी हो गये हैं। गांव की सामूहिकता नष्ट हो गई है। गांव का दुकानदार धनु इस स्थिति का सटीक वर्णन करता हुआ कहता है-"अब कोई वक्त नहीं देता। सब जल्दी में हैं।"

बीस साल पहले सब कुछ ठीक था। जातिपाति का भेदभाव इतना गहरा नहीं था। सरवण के पिता घिरथ थे पर उनकी पंचकरण पंडित से गहरी दोस्ती थी। अपनी ज़मीन बहुत थोड़ी होने के कारण वे पंचकरण पंडित की ज़मीन भी जोतते थे। सरकार ने छोटी जातियों को ज़मीन देने की घोषणा की तो पंचकरण पंडित ने कोशिश करके सरवण के पिता दीनू को ज़मीन दिलवायी। दो कनाल ज़मीन मिल जाने पर पंचकरण पंडित ने दीनू को बैंक से कर्ज़ा दिलवाया। यही नहीं, उसने सरकारी विकास-योजनाओं की हर स्कीम सबसे पहले अपने गांव में पहुंचाई। उसी ने दीनू पर दबाव डालकर उसके बेटे सरवण को पहले स्कूल में और बाद में कालिज की पढ़ाई के लिए शहर भिजवाया। उन अच्छे दिनों में पंचायत के चुनाव हुए तो दीनू ने पंचायत प्रधान के पद के लिए शंकरू चमार के नाम का प्रस्ताव रखा था जिसका अनुमोदन ग्रामवासियों ने एकमत होकर किया था परन्तु तीन साल के बाद जब बिधानसभा के चुनाव हुए तो स्थिति एकदम बदल गई थी। लोगों की महत्वाकांक्षा जाग गई थी और वे जाति के आधार पर बंट गये थे। सवर्णों को अन्दर ही अन्दर शंकरू चमार का ग्राम प्रधान होना अखर गया था। पंचकरण पंडित, दीनू और शंकरू चमार जातिवाद को जड़ से उखाड़ने का प्रयास कर रहे थे इसलिए स्वार्थी तत्व उनके विरुद्ध हो गये। पंचकरण पंडित को तो किसी ने कुछ न कहा परन्तु मतदान के पांचवें दिन दीनू की लाश नाले में पड़ी मिली थी। शंकरू चमार बच गया क्योंकि उसने राजनीति का खेल सीख लिया था।

शंकरू चमार ने आरक्षण और पिछड़ी जाति के आधार पर मिलने वाली सुविधाओं का भरपूर लाभ उठाया। पुत्र को पेट्रोल पम्प अलाट करवा दिया। पत्नी के दोनों भाइयों को औद्योगिक क्षेत्र में दो प्लाट दिला दिये और अपने लिए गैस एजंसी का चक्कर चला रहा था। दीनू का परिवार उसके बलिदान का कोई लाभ न उठा सका। उसके हिस्से में बैंक के कर्ज़ का बोझ और कभी न पूरे होने वाले अभाव आये। चतुर और काइयां पिछड़ी जाति वालों ने सरकारी रियायतों का लाभ उठाया। शेष सब देखते रह गए। प्रेम ने त्रिलोचन दादा के माध्यम से इस स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है-"सुधरे थे कुछ दिन लेकिन अब फिर इन वोटों ने गिनना शुरू कर दिया है। जिन्दगी सस्ती हो गई है। नोटों से हम तुलने लगे हैं। ग़रीबी और जहालत कहाँ कम होगी? हटेगी भी नहीं। यह तो बंट जायेगी।"

'गिद्ध' कहानी आत्मीय सम्बन्धों के टूटने और पैसे के पीछे निरन्तर दौड़ते हुए मनुष्य के संवेदनहीन होते चले जाने का चित्रण करती है। बूढ़ी मकान मालकिन का लिवर और गालब्लैडर खराब हो गया है। उसका इकलौता पुत्र रमेश डॉक्टर है और दिल्ली के करोल बाग में अपना क्लिनिक चलाकर दोनों हाथों से पैसा बटोर रहा है परन्तु बीमार मां को देखने नहीं आता। बुढ़िया के छः किरायेदारों में से एक मोहन है जिसे उससे दिली हमदर्दी है। माँ की बिगड़ी हुई हालत की सूचना पाकर भी उसका डॉक्टर बेटा घर नहीं आता तो मोहन उसे रिक्शा में बैठाकर सिविल अस्पताल ले जाता है जहां बुढ़िया के बेटे डॉ. रमेश का मित्र डॉक्टर महेश कार्यरत है। दुर्भाग्य से डॉक्टर महेश एक महीने की छुट्टी पर है। दूसरे डॉक्टर बूढ़ी अम्मा को पहचानते हैं परन्तु कोई भी तुरन्त उसका चेकअप नहीं करता। अपनी सुविधा से उसका चेकअप करने के बाद वे उसे अस्पताल में भर्ती करते हैं।

अगले दिन बूढ़ी अम्मा मर जाती है। मोहन फूट-फूटकर रोता है परन्तु उसका अपना बेटा फोन पर उसकी मृत्यु की सूचना पाकर नाराज़ हो जाता है-"माई गौड...यहां सारा काम चौपट..."

पुत्र नहीं पहुंचता तो अगली सुबह किरायेदार अम्मा का दाहसंस्कार कर देते हैं। दोपहर बाद उसका पुत्र आता है और किरायेदारों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने के स्थान पर अपने वकील को बुलाकर मकान खाली करवाने के नोटिस पर हस्ताक्षर करता है और बिना अम्मा का क्रिया-कर्म किये दिल्ली लौट जाता है। इस प्रकार डॉ. रमेश के बहाने आज के मनुष्य की हृदय-हीनता को पराकाष्ठा पर पहुंचाकर कहानी समाप्त हो जाती है।

'शंकरदास फ़िट हो गया' उन नेताओं की पोल खोलती है जो लोकसेवा का दम भरते हैं परन्तु रेल के डिब्बों की तरह किसी भी इंजन में फ़िट होने से नहीं हिचकते। बस उनका स्वार्थ सिद्ध होना चाहिए।

'रेखायें' कहानी में लेखक ने अविनाश के बहाने कविता और चित्र को एक दूसरे के रू-ब-रू रखा है। अविनाश अपने कवि मित्र से कहता है-'तुम कविता लिखते हो औरों के लिए...मैं चित्र बनाता हूं अपने लिए। तुम्हारी कविता का अर्थ दूसरे निकालते हैं परन्तु मेरा एक-एक चित्र मेरे हृदय में उद्वेलित भावनाओं का रंगमंच है जहां...।"

सभी कला-माध्यमों में जो अनुस्यूत एकता है, उसे पहचानने में अविनाश असमर्थ रहता है, इसी कारण उसे कविता में पीड़ा दिखाई नहीं देती। अविनाश का अटूट विश्वास जल्दी ही बिखर जाता है। अन्त में "यह सब झूठ...।" में उसकी परिणति होती है।

'खुशी एक पल की' कहानी में नया कुछ नहीं है। ग्राम प्रधान के द्वारा बंसी की भाभी से बलात्कार करना धनी और शक्तिशाली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सवर्णों के द्वारा निम्नजाति के निर्धन लोगों पर सदियों से होते आये अत्याचार का ही नमूना है पर बंसी का स्वाभिमान इसे सहन नहीं करता। उसे मारने के लिए जो कुल्हाड़ी ग्रामप्रधान उठाता है, उसी कुल्हाड़ी को छीनकर बंसी ग्रामप्रधान की हत्या कर देता है। इस कहानी की सार्थकता इसमें है कि यह पहाड़ी गांवो के निर्धन निम्न जाति के युवकों में आ रही जागृति को रेखांकित करती है।

चौपाल खामोश है व अन्य कहानियाँ : पी.सी.के. प्रेम;
प्रथम संस्करण-1999; मूल्य : 100 रुपए
रिश्ते : पी.सी.के. प्रेम

सी-4/86/2, सफदरजंग विकास क्षेत्र, हौज़खास, नई दिल्ली-16

अनिल कुमार

सामाजिक सरोकारों से जुड़े नाटक

नाटक साहित्य की ऐसी विधा है कि एक ओर उसका आकर्षण उसे अन्य सभी विधाओं से अलग करता हुआ विशिष्ट सम्मोहन प्रदान करता है वहीं दूसरी ओर उस विधा की विशिष्टताएं कई ऐसी समस्याएं उपस्थित करती हैं जिनकी अन्यत्र कल्पना नहीं की जा सकती। अठाहरवीं शताब्दी में पुणे के उत्तरकालीन पेशवा राज में भ्रष्टाचार का तांडव जारी था। आलसी पेटुओं को हलवा-पूरी और उच्चवर्ग के मूढ़ों को सोने की मोहर मिल रही थी और गरीब किसान को लगान वसूली के लिए गरम तेल से जलाकर मारा जाता था। कभी उसकी पीठ पर बड़ा-सा पत्थर रख दिया जाता था तो कभी लाल मिर्च जलाकर उसका धुआं पिलाया जाता था। स्त्री-शूद्रों की स्थिति तो पशुओं से भी शर्मनाक थी। अंग्रेजी राज के आगमन ने सामान्य जन के लिए राहत का काम किया। ऐसे समय में महात्मा जोतिराव फुले ने समाज क्रांति की आवाज को बुलंद किया। राजनैतिक प्रभुसत्ता हारे हुए लोग अंग्रेजी शासन के प्रशासन में शामिल होकर अपना शोषण कार्य और अहंकार संभाले हुए थे। पूरा समाज जातियों में बंटा हुआ था। जोतिराव माली समाज में जन्मे थे इसलिए अपने ब्राह्मण मित्र की बारात से उन्हें अपमानित होकर जाना पड़ा। उन्होंने अनेक ग्रंथों का अध्ययन किया। थॉमस पेन के 'मनुष्य के अधिकार' से उन्हें नयी प्रेरणा मिली।

कोई भी कृति जब परम्परागत सरहदों को तोड़कर सर्जनात्मकता के नये प्रतिमान गढ़ती है, तो वह निश्चित रूप से परम्परा को चुनौती देती हुई आगे निकल जाती है। 'क्रांतिबा फुले' ऐसी ही रचना है। क्रांतिकारी जोतिराव फुले के जीवन एवं जीवन संघर्ष को लेकर लिखा गया यह नाटक एक ओर तो प्रचलित हिन्दी-मराठी के नाटकीय ढांचे को तोड़कर उसे विस्तार देता है, तो दूसरी ओर भाषा के स्तर पर कलाकार की ही तराश का आभास कराता है। इस नाटक में तत्कालीन राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों और सामाजिक टकराव के माहौल को जीवंत करके जोतिराव फुले का जीवन संघर्ष एवं मानवतावादी जीवन दर्शन साक्षात प्रस्तुत किया गया है। जोतिराव तथा उनकी जीवन-संगिनी सावित्रीबाई का त्यागमय संघर्षशील चरित्र नाटक का प्राण है, जबकि मनुवादी चरित्रों-पुरोहित, कृष्णभट्ट, शास्त्री का रवैया मन में आक्रोश पैदा करता है। महात्मा फुले ने समकालीन ब्राह्मण समाज रचना पर कठोर प्रहार किया, लेकिन उनकी लड़ाई किसी जाति विशेष के विरोध में नहीं, विषैली प्रवृत्ति के विरोध में थी। आज समाज में महात्मा फुले के निर्भय और निर्विष विचारों की आवश्क्ता है। रतनलाल सोनग्रा रचित 'क्रांतिबा फुले' केवल एक नाटक ही नहीं वरन परिवर्तन की क्रांति का दस्तावेज है।

दूसरी कृति जि.जे. हरिजीत की 'विद्रोही' है। मणिपुर की पृष्ठभूमि पर लिखा गया यह नाटक दो पीढ़ियों की दास्तान है। पहले भाग में आजादी से पहले की दास्तान है तो दूसरे में चालीस साल बाद आठवें दशक की। आजादी से पहले सभी के मन में एक ही इच्छा थी कि देश को गुलामी की जंजीरों से मुक्त कराया जाए। सभी दल अपने-अपने तरीके से आजादी की जंग लड़ रहे थे। आजादी मिली और सरदार पटेल के प्रयासों से भारत की छह सौ रियासतों को एक किया गया। समय के साथ अलगाववादी ताकतों ने, जो भारत की तरक्की सहन नहीं कर सकती थीं, अपने प्रयास शुरू कर दिए। भारत में आतंकवाद ने पैर पसारने आरंभ किए। जो लोग अंग्रेजों की गुलामी से छुटकारा पाने के लिए आजाद हिन्द फौज में भर्ती होकर देश के लिए लड़े उन्हीं के बच्चे राष्ट्रविरोधी गतिविधियों में संलग्न हो गए। पुलिस और उग्रवादियों के बीच चौबासिंह जैसे शान्तिप्रिय नागरिक मारे जाने लगे। यह केवल पूर्वोत्तर की ही नहीं वरन् पंजाब, कश्मीर और देश के अन्य हिस्सों की भी समस्या बन गयी। सभी छोटे-छोटे प्रांत अपने लिए अलग राज्य की मांग कर अपनी स्वायत्तता अलग से बनाना चाहते थे। इनकी इस प्रकार की मांग कैसे पूरी की जा सकती थी। यदि ऐसा होने लगता तो पूरा देश ही दोबारा रियासतों में बिखर जाता। इस तरह की अलगाववादी ताकतों को पड़ोसी देशों से शह मिल रही थी, पूर्वोत्तर में चीन से तो कश्मीर में पाकिस्तान से। नाटक के अंतिम दृश्य में उग्रवादी ललाम्बा नेताजी सुभाष की मूर्ति को बारूद से उड़ा देता है, लेकिन अर्जुन सिंह और बाबू सिंह बच जाते हैं। उनका बचना जहां कुछ मूल्यों के बचे रहने का संकेत देता है, वहीं नाटककार की सकारात्मक जीवन दृष्टि को भी रेखांकित करता है।

तीसरी कृति सुरेन्द्र तिवारी की 'चबूतरा तथा अन्य नाटक' में चार नाटक हैं जो आज के समाज को रेखांकित कर रहे हैं। पहला नाटक 'चबूतरा' है जिसमें मोहल्ले के एक चबूतरे के माध्यम से वहां रहने वाले लोगों की समस्या से रूबरू कराया गया है। चबूतरे के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पास एक चाय की दुकान है जहां मोहल्ले के बुजुर्ग भी इकट्ठा होते हैं और पढ़े-लिखे बेरोजगार युवा भी। समस्या वृद्धों के साथ भी है तो युवा लड़कों के साथ भी। लड़के सभी जगह नौकरी की तलाश करते हैं परन्तु नाकामयाबी के अलावा कुछ भी हाथ नहीं लगता। वृद्ध सोचते हैं कि ये लड़के ही निकम्मे हैं जो इन्हें कहीं भी काम नहीं मिलता। वे यह भूल जाते हैं कि आज परिस्थितियां ही बदल चुकी हैं, केवल डिग्री हासिल करने से ही नौकरी नहीं मिल जाती। दूसरी ओर जरूरत पड़ने पर यही बेकार लड़के मोहल्ले के काम आते हैं तब बुजुर्गों को अहसास होता है कि ये न तो गैर-जिम्मेदार हैं न ही निकम्मे बल्कि आज के हालात के शिकार हैं। दूसरा नाटक 'मजमा' है। इसमें मदारी और जमूरे के माध्यम से समाज की सच्चाई उजागर की गई है। मदारी जमूरे से आस-पास खड़े लोगों के बारे में पूछता है और जमूरा जिसके बारे में भी बताता है सच-सच बताता है। जमूरे के सच को सुनकर लोग वहां से खिसकना शुरू कर देते हैं क्योंकि ऐसा कोई भी नहीं है जो सच सुनना चाहता है। मदारी जब गांव से आए मजदूर परिवार के बारे में जमूरे से जानना चाहता है तो जमूरे के जवाब को सुनकर सभी सहम जाते हैं। गरीब के लिए तो सभी जगह हालात एक से ही होते हैं चाहे वह गांव हो या शहर। गांव में जमींदार उससे बेगार लेना चाहता है। उसके मना करने पर उसे धमकाता भी है और लालच भी देता है परन्तु पेट तो रोटी से ही भरता है और उसके लिए अनाज की आवश्यकता होती है जो बिना पैसे के कहीं नहीं मिलता। जमींदार बेगार के साथ ही चाहता है कि यह जिस जगह रह रहा है उसे भी खाली करके कहीं और चला जाए ताकि वहां पर वह अपने बेटे के लिए नया घर बना सके क्योंकि कभी वह जमीन भी जमींदार के पुरखों ने मजदूर को रहने के लिए दी थी। मजदूर इसके लिए मना करता है तो उसके घर में आग लगवा दी जाती है। साथ ही सहानुभूति दिखाने के लिए अपने कारिंदों से आग बुझाने का नाटक भी करता है। मजदूर पर अहसान जताते हुए उसकी जमीन की कीमत पांच सौ रुपए देकर यह दिखाता है कि वह बहुत बड़ा दानी है। मजदूर के एतराज पर पांच रुपए और दे दिए जाते हैं, परन्तु इतने से न तो घर बनता है और न ही कहीं कोई काम। वह शहर की ओर रुख करता है। यहां पहुंचकर तो उस पर और भी मुसीबतें आ जाती हैं। पुलिस वाला तलाशी के बहाने उनका सारा पैसा हड़प जाता है, पिटाई करता है सो अलग। जो भी जमा पूंजी थी वह यूं ही चली जाती है। जमूरा जब पुलिस वाले की करतूत बताता है तो वह उन्हें भी धमका कर चला जाता है। बेचारा मदारी अपना सामान समेट कहीं और चल पड़ता है।

इस कृति का तीसरा नाटक 'ढोंग' श्मशान के पंडित और डोम को लेकर रचा गया है जो श्मशान में इनके द्वारा की गई कारस्तानियों का कच्चा चिट्ठा सशक्तता के साथ खोलता है। चौथा नाटक 'फंदा' है। इसमें प्राइवेट कम्पनी के मामूली क्लर्क के जीवन को माध्यम बनाया गया है। पहले तो यह आदमी शादी के लिए तैयार नहीं होता था परन्तु माता-पिता के समझाने पर राजी हो जाता है। शादी के बाद एक-एक कर कई बच्चे पैदा कर देता है परन्तु उनका लालन-पालन ढंग से नहीं कर पाता। बच्चों को न तो जरूरी चीजें मुहैया करा पाता है और न ही उन्हें संस्कार दे पाता है।

उक्त सभी नाटकों की पृष्ठभूमि समाज पर केन्द्रित है। समाज में फैली हुई कुव्यवस्थाओं को ध्यान में रखकर इनकी सृष्टि की गई है जिस कारण सभी नाटक प्रभावोत्पादक बन गए हैं और अपनी अमिट छाप छोड़ने में सक्षम हैं।

क्रांतिबा फुले : रतनलाल सोनग्रा; जीवन प्रभात प्रकाशन, मुम्बई-400063 मूल्य : 60/- रुपये

विद्रोही : जि.जे. हरिजीत; सार्थक प्रकाशन, 100 ए, गौतम नगर, नई दिल्ली-110049; मूल्य : 80/- रुपये

चबूतरा तथा अन्य नाटक : सुरेन्द्र तिवारी; नमन प्रकाशन, 4378/4बी, अंसारी रोड, दरिया गंज, नई दिल्ली-110002; मूल्य : 110/- रुपये

एच-3/72, विकासपुरी, नई दिल्ली-110018

कोरिया की एक लोककथा

उन्होंने घर तो बदला, लेकिन...

एक वज़ीर के घर की दायीं ओर एक लोहार रहता था और बायीं ओर एक बढ़ई। दोनों दिन रात खटर-पटर करते रहते और वज़ीर की शांति भंग करते। जब उससे और बर्दाश्त नहीं हुआ तो वज़ीर ने दोनों को बुलाया और उनको घर बदलने को कहा।

एक दिन लोहार आया और बोला, "हुज़ूर, आप की आज्ञा के अनुसार मैं आज अपना घर बदल रहा हूं।"

कुछ देर बाद बढ़ई आया। उसने भी कहा, "हुज़ूर, मैं भी अपना घर बदल रहा हूं।"

वज़ीर ने मन ही मन चैन की सांस ली। लेकिन ऊपर से इस बात पर बनावटी दुख प्रकट किया कि इतने अच्छे पड़ोसी चले जाएंगे। उसने उनको बढ़िया खाना खिलाकर विदा किया।

लेकिन हथौड़े और आरी चलाने की आवाज़ अभी भी बंद नहीं हुई। वज़ीर को आश्चर्य भी हुआ और गुस्सा भी आया। उसने अपने नौकरों को बुलाकर कहा, "पता लगाओ क्या बात है।"

नौकर यह समचार लेकर लौटे कि बढ़ई और लोहार ने घर बदला ज़रूर था, लेकिन बढ़ई लोहार के घर में चला गया था और लोहार बढ़ई के घर में! और दोनों मज़े में रात-दिन अपने हथौड़े और आरे चलाते रहे!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुरेन्द्र तिवारी

कुछ पत्रिकाओं के महत्वपूर्ण विशेषांक

पिछले वर्ष कई पत्रिकाओं के महत्वपूर्ण विशेषांक निकले जिन्होंने आज के लेखन को ही नहीं, आज के समय और व्यक्ति को भी नये रूप से जैसे रेखांकित किया। ऐसे ही कुछ विशेषांकों की चर्चा इस बार प्रस्तुत है।

'रंग-प्रसंग' (सं. प्रयाग शुक्ल, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, बहावलपुर हाउस, भगवानदास रोड, नई दिल्ली) अर्द्धवार्षिक पत्रिका होने के बावजूद आज सजग पाठकों और रंगकर्मियों के बीच ही नहीं, सजग सचेत लेखकों और बुद्धिजीवियों के बीच भी मानप्राप्त पत्रिका है। इसका जुलाई-दिसम्बर-03 का अंक ब.व. कारंत विशेषांक है। इस विशेषांक को प्रकाशित करने के पीछे मात्र एक ही कारण है- कारंत के जीवन के 'अदेखे' या 'अछूते' पक्षों को उभारना। और इस दृष्टि से यह अंक बहुत ही महत्वपूर्ण बन पड़ा है। निर्मल वर्मा, सुरेश अवस्थी, कुंवर नारायण, रमेशचंद्र शाह, अशोक वाजपेयी, विजय मोहन सिंह, सत्येन्द्र कुमार तनेजा, दिनेश ठाकुर, देवेन्द्र राज अंकुर आदि के संस्मरणों और आकलनों ने कारंत के जीवन को सम्पूर्णता में समेटकर हमारे सामने रख दिया है। परन्तु प्रेमा कारंत ने जिस आत्मीयता और भावावेग के साथ अपने पति को याद किया है, उनके जीवन का विश्लेषण किया है, वह किसी भी संस्मरण-लेखक के लिए एक उदाहरण बन सकता है कि अपनी दृष्टि से किसी अपने के बारे में क्या और कैसे लिखा जा सकता है। इसके साथ ही कारंत द्वारा प्रस्तुत और निर्देशित कुछ नाटकों और नाट्य कर्म का विश्लेषण नेमिचंद्र जैन, जयदेव तनेजा, महेश आनंद आदि ने किया है जो कारंत की रंग-दृष्टि को समझने में विशेष सहायक है। कारंत ने प्रसाद के कठिन नाटक 'स्कंदगुप्त' का मंचन करके एक नया इतिहास रचा था और नेमिचंद्र जैन इस बात को रेखांकित करते हुए कहते हैं, यह प्रस्तुति हिन्दी में जयशंकर प्रसाद के नाटकों के प्रदर्शन के इतिहास में एक मील का पत्थर साबित होगी। निश्चित रूप से 'रंग-प्रसंग' का यह अंक कारंत के अध्येताओं के लिए महत्वपूर्ण दस्तावेज है।

'दस्तावेज' (सं. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, बेतियाहाता, गोरखपुर) पिछले पच्चीस वर्षों से त्रैमासिक रूप में लगातार और नियमित रूप से प्रकाशित होने वाली पत्रिका है जिसका सौवां अंक महात्मा गांधी पर केन्द्रित विशेषांक है। यों तो यह एक आलोचना पत्रिका है, इस कारण गांधी पर यह विशेषांक देखकर कुछ लोग चकित हो सकते हैं, कुछ लोग यह भी कह सकते हैं कि पत्रिका पीछे की ओर लौट रही है। परन्तु संपादक की दृष्टि साफ है और सोच स्पष्ट है कि गांधी का सही मूल्यांकन आज भी एक चुनौती है। संपादकीय कथन है, "गांधी के व्यक्तित्व का मूल्यांकन मार्क्सवाद और मार्क्सवादियों के लिए ए चुनौती है। इसलिए वे गांधी का मूल्यांकन न आजादी के संघर्ष के दरम्यान कर सके न आजादी के बाद। यह 'विचारधारा' की विडंब और विफलता है कि वह अन्याय के प्रति ऐसी अग्नि-चेतना, ऐ चट्टानी दृढ़ता, गरीबों और शोषितों के प्रति ऐसी करुणा और अपने प्रति ऐसा संयम, त्याग तथा तप का मूल्यांकन न कर सके। संपादक ने कोशिश की है कि समकालीन दृष्टि से, गांधी-काल स्थितियों और संदर्भों को ध्यान में रखकर उनका पुनर्मूल्यांकन हो सके सिद्धेश्वर प्रसाद, चन्द्रशेखर धर्माधिकारी, विद्यानिवास मिश्र, विष्णु शास्त्री, रमेशचंद्र शाह, इन्द्रनाथ चौधरी, विष्णु प्रभाकर, गिरि किशोर आदि के आलेख हमें गांधी के बहुत निकट पहुंचाते हैं और गां को समझने की एक नई दृष्टि देते हैं। यह सच है कि आज गांधी कुछ लोग प्रासंगिक नहीं मानते, किंतु यदि एक विशेष दृष्टि वैचारिकता से अलग हटकर हम सोचें तो शायद गांधी पहले से अधिक आज प्रासंगिक लगें। इस प्रासंगिकता को समझते हुए दस्तावेज का गांधी अंक आया है जो आज हमें यह सोचने पर मज करता है कि विज्ञान का ध्वंसात्मक और तकनीकी क्रांति का अमान रूप, बेशुमार दौलत की अनियंत्रित लिप्सा और बहुराष्ट्रीय कंप का बहुरूपी खेल, हिंसा और आतंकवाद, साम्प्रदायिकता, जाति अशिक्षा, गरीबी, अशांति और शोषण जैसी भयानक परिस्थिति क्या हम गांधी के विचारों में आशा की कोई नई किरण ढूंढ़ सकते व्यक्तिगत प्रयत्नों के बल पर किसी पत्रिका के सौ अंक प्रकाशित जाएं, इसे छोटी बात नहीं माना जा सकता। इस उपलब्धि के लि हमारी बधाई।

और बधाई 'विपाशा' को भी जिसका शतक अंक इस उम्मीद बढ़ाता है कि अच्छी पत्रिकाओं के पाठकों की आज भी कमी नहीं 'विपाशा' (सं. तुलसी रमण, भाषा एवं संस्कृति विभा हि.प्र., 39, एस.डी.ए., शिमला, हि.प्र.) यों तो सरकारी पत्रिका परन्तु इसका स्वरूप कभी सरकारी नहीं रहा और न ही यह प्रदेश-सीमित पत्रिका बनी और इसका श्रेय सिर्फ संपादक को है जिसने अपनी सजगता और सोच के कारण इसे एक भार पत्रिका बनाए रखा। अपने अठारहवें साल में विपाशा का यह अंक काफी दीर्घाकार रूप में हमारे सामने आया है। तीन सौ से अधिक पृष्ठ और निर्मल वर्मा, कुंवर नारायण, लीलाधर जगूड़ी, शुक्ल, जगदीश चतुर्वेदी, विष्णुकांत शास्त्री, राजेश जोशी, संतोष कु मंजूर एहतेशाम, सूरज प्रकाश जैसे चर्चित लेखकों की रचनाएं इस की शोभा हैं।

उत्तर प्रदेश सरकार की सरकारी पत्रिका 'उत्तर प्रदेश' से लखनऊ से ही एक पत्रिका प्रकाशित हो रही है 'नांगरिक उत्तर प्र (सं. अनीता श्रीवास्तव, प्लाट नं. 2, नन्दगांव रिजार्ट्स, तिवारी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फ़ैजाबाद रोड, लखनऊ) जिसके प्रकाशन का अभी दूसरा ही वर्ष है परन्तु अपनी सजगता और रचनात्मकता के कारण इस पत्रिका ने अपनी एक अलग पहचान बना ली है। इसका नवम्बर 2003 का अंक 'शिवानी स्मृति' विशेषांक है। संभवतः शिवानी बहुत कुछ अच्छा लिखने के बाद भी वह मान-सम्मान प्राप्त न कर सकीं परन्तु इस सत्य को नकारा नहीं जा सकता कि उनकी रचनाओं को पढ़ने वाला बहुत बड़ा पाठक वर्ग था। प्रकाश मनु अपनी रचना 'शिवानी का रचना-संसार' में बिलकुल ठीक कहते हैं कि इसे हिन्दी साहित्य और आलोचना की विडंबना ही कहना चाहिए कि शिवानी जैसी बड़ी लेखिका को उनकी जादुई सम्मोहन वाली कथा-शैली के लिए सराहने के बजाए 'लोकप्रिय कथाकार' कहकर कुछ-कुछ अवमूल्यन की कोशिश की गई। मानो उनका लोकप्रिय होना कोई गुनाह हो। सुशील सिद्धार्थ अपने लेख में जहां उन कारणों को ढूंढ़ते हैं जिनके कारण शिवानी एक महान लेखक न बन सकीं, वहीं रामदरश मिश्र कहते हैं, "सामान्य पाठक समुदाय तो उन्हें सिर आंखों पर उठाए हुए था। उनके लेखन में ऐसा कुछ है जो उसे एक विशाल पाठक समुदाय से जोड़ता है। यह उपलब्धि कम उपलब्धि नहीं है।" करीब तीस रचनाओं के माध्यम से शिवानी के कृतित्व और व्यक्तित्व को समझने-परखने की सार्थक कोशिश इस पत्रिका ने की है जो सही अर्थों में शिवानी के प्रति एक श्रद्धांजलि है।

'उद्भावना' (सं. अजेय कुमार, ए-21, झिलमिल इंडस्ट्रियल एरिया, जी.टी. रोड, शाहदरा, दिल्ली) एक गंभीर वैचारिक पत्रिका के रूप में गत उन्नीस वर्षों से प्रकाशित हो रही है। इसका नया अंक 'प्रेमचंद विशेषांक' के रूप में आया है। प्रेमचंद पर विशेषांक निकालने की आवश्यकता संभवतः इसलिए पड़ी होगी कि सन् 2003 में प्रेमचंद को लेकर काफी हो-हल्ला मचता रहा। केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा परिषद् द्वारा बारहवीं के पाठ्यक्रम से प्रेमचंद के उपन्यास 'निर्मला' को हटाना, राजस्थान में पाठ्यक्रम से 'ईदगाह' कहानी को हटाया जाना, कमल किशोर गोयनका की पुस्तक 'आओ प्रेमचंद-प्रेमचंद खेलें' का प्रकाशित होना, आदि कई कारण नज़र आते हैं जिससे उद्भावना संपादक ने 'प्रेमचंद विशेषांक' निकालने की सोची होगी क्योंकि संपादकीय कथन है कि 'इस विशेषांक में संकलित निबंधों से आज के विवादों और संदर्भों पर विचार करने के लिए एक पृष्ठभूमि बनाना अगर संभव होता है तो मैं अपनी मेहनत को सार्थक समझूंगा।' यहां यह ध्यान देने की बात है कि प्रेमचंद पर लिखे गए और पूर्व-प्रकाशित निबंधों को ही यहां संकलित किया गया है। 'प्रेमचंद की कला का उद्देश्य' (जनार्दन झा द्विज), 'मेरी मां ने मुझे प्रेमचंद का भक्त बनाया' (मुक्तिबोध), 'प्रेमचंद और भारतीय स्वाधीनता आंदोलन' (चन्द्रबली सिंह), 'राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन और प्रेमचंद' (नामवर सिंह), 'कहानीकार के रूप में' (भीष्म साहनी), 'प्रेमचंद के उपन्यासों की संरचना' (नित्यानंद तिवारी), 'प्रेमचंद के उपन्यास' (चन्द्रभूषण तिवारी), 'अछूत समस्या पर प्रेमचंद के विचार' (कांतिमोहन) आदि निबंध मांग करते हैं कि प्रेमचंद को सही ढंग से पढ़ा-समझा और विश्लेषित किया जाए। प्रेमचंद भारतीय साहित्य की अमूल्य धरोहर हैं, उन्हें साहित्यिक राजनीति का हिस्सा न बनाया जाए, यही इस पत्रिका की चाह है, मांग है।

'अक्षर पर्व' (सं. आलोक प्रकाश पुतुल, देशबंधु परिसर, रायपुर, छत्तीसगढ़) का रचना वार्षिकी हर वर्ष प्रकाशित होने वाला एक महत्वपूर्ण अंक होता है। इस वर्ष प्रकाशित वार्षिकी में कविता पर एक महत्वपूर्ण संवाद है जिसमें रमेशचंद्र शाह, राजेश जोशी, विजेन्द्र, विष्णुचंद्र शर्मा और शहरयार ने भागीदारी की है। संवाद के कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न हैं- कविता क्यों सिकुड़ रही है? क्या हमारे समय के कवि छंदमुक्त कविता को बिखरने से रोक सके हैं? वाचिक परंपरा यदि खत्म हुई तो इसका दोष किसे दें-कविता को, कवि को या समाज को? जब पूरा साहित्य खेमों में बंटा हुआ है, तब कविता को इससे क्या फर्क पड़ा है? आदि कई प्रश्नों से जुड़ा यह संवाद काफी रोचक है, काव्य-प्रेमियों के लिए। अमरकांत ने पहले कभी नाटक लिखा है या नहीं, मुझे ज्ञात नहीं, परन्तु इस अंक में उनका एक नाटक 'वर की तलाश' छपा है, जो रेडियो-नाटक का आभास देता है। संभव है रेडियो के लिए ही कभी लिखा गया हो किन्तु इसमें सामाजिक स्थितियों पर करारा व्यंग्य है। अंक में छह कहानियां हैं, भीष्म साहनी, महीप सिंह, गिरिराज किशोर आदि की और नाग बोडस तथा मधुकर सिंह के उपन्यास अंश हैं, इसके अतिरिक्त 23 कवियों की कविताएं। अर्थात् पूरा का पूरा साहित्य! साहित्य रसिकों के लिए 'अक्षर-पर्व' का यह आयोजन सचमुच बहुत महत्वपूर्ण है।

और अंत में ठाणे से प्रकाशित 'सब्जेक्ट मंथन' (सं. महेश अग्रवाल, अग्रसेन टावर, तल मंजला, कोलबाड रोड-9, ठाणे (प.) महाराष्ट्र) के साहित्य विशेषांक की चर्चा भी आवश्यक लग रही है मुझे। यों तो यह एक साप्ताहिक अखबार है परन्तु पिछले नौ वर्षों से वर्ष के अंत में इसका 'साहित्य विशेषांक' प्रकाशित हो रहा है जो महाराष्ट्र और महाराष्ट्र से बाहर भी चर्चा के केन्द्र में रहता है। इस बार के विशेषांक में तेरह कहानियां, चार उपन्यास अंश, दो व्यंग्य रचनाएं एवं करीब दो दर्जन कवियों की कविताएं छपी हैं जो इस बात को प्रमाणित करती हैं कि रचनाकारों का रुझान इस विशेषांक के प्रति कितना है। सुदर्शन नारंग, तेजिंदर, उर्मिला शिरीष, विजय, महेश दर्पण, महीप सिंह, देवेश ठाकुर, सुनीता जैन, रमेशचंद्र शाह जैसे लेखकों की उपस्थिति इस बात की द्योतक है कि 'मंथन' साहित्य को समर्पित है। जब बड़े-बड़े घराने साहित्य से मुंह मोड़ रहे हैं, इस तरह के छोटे-छोटे प्रयास ही साहित्य को जिंदा रखे हुए हैं, इसे स्वीकारने में संकोच नहीं होना चाहिए।

बी-3/76, सैक्टर-16, रोहिणी, नई दिल्ली-110085

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कमलेश सचदेव

डायरी में स्पन्दित होता लेखक

आलोचक, कवि और नाटककार नरेन्द्र मोहन की डायरी 'साथ-साथ मेरा साया' पढ़ते समय उनके ये तीनों रूप बराबर साथ-साथ चलते रहे। पूरी डायरी में उनका आलोचक साहित्यिक मुद्दों पर चिन्तन करता और साहित्यिक कृतियों पर अपनी प्रतिक्रिया देता दिखाई देता है। उनके भीतर का कवि अपने आत्मसंघर्ष को स्वर देता विसंगतियों और विद्रूपताओं पर उद्वेलित होता, सौन्दर्य से अभिभूत होता डायरी के पन्नों पर बिखरा पड़ा है और उनके नाटककार को तो डायरी जैसी नितान्त एकान्तिक विधा में भी पाठक के साथ संवाद करते हर पृष्ठ पर देखा जा सकता है। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि बकौल लेखक, "अपनी कृतियों में लेखक जितना, जैसा झलकता है, सामने मंच पर जैसा दिखता और जो हरकतें करता है, डायरी उस सबका पिछवाड़ा है, सर्जना का नेपथ्य।" (अपनी बात, पृष्ठ 8)

लेखक के रचना-संसार के इस पिछवाड़े में आप उसके दौर को कई क्षणों में बिखरा हुआ पाते हैं। आप यह भी पाते हैं कि इन्हीं बिखरे हुए क्षणों में से कोई एक या कुछेक क्षण तराशे हुए हीरे की तरह उसकी कृति का रूप धारण कर चुके हैं। किसी डायरी का सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह होती है कि उसमें एक व्यक्ति, एक दौर और उसका अनेक पक्षीय संघर्ष किसी भी अन्य विधा की अपेक्षा तीव्र एवं प्रत्यक्ष रूप से झलकता है। यह आत्मकथा से भी अधिक प्रत्यक्ष एवं सघन होती है क्योंकि आत्मकथा जिये हुए को स्मृति में पुनः जीकर उसे एक क्रम में बांधकर प्रस्तुत करती है जबकि डायरी में क्षण अपने यथावत रूप में त्वरित प्रतिक्रिया अथवा सोच के तौर पर सुरक्षित होते हैं। इसमें लेखक का व्यक्ति अपनी पूरी सच्चाई के साथ स्पन्दित होता है अथवा होना चाहिए।

इस दृष्टि से 'साथ-साथ मेरा साया' अपने पाठक को बहुत कुछ देती है। इसके सबसे महत्त्वपूर्ण अंश वे हैं जहां नरेन्द्र मोहन स्वयं अपने व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हैं। शायद इसका कारण यह है कि वे मूलतः और प्रथमतः आलोचक हैं। वे अंश हमें उनके लेखक-मन की बनावट के घटकों का पता देते हैं। उनके बाल-मन पर अंकित विभाजन के दौर के भयावह दृश्य और मास्टर युसुफ का स्नेह उनके लेखक मन ने कई तरह से कई बार जिया है और कितनी ही रचनाओं में अंशतः तथा 'एक अग्निकांड जगहें बदलता' में प्रमुखतः रूपांतरित होकर आया है। विभाजन के इन्हीं अवचेतन में बैठे बिम्बों और इनसे उपजती पीड़ा ने देश के विभाजन पर उनसे 'सिक्का बदल गया' जैसी पुस्तक संपादित करवाई और 'नो मैंस लैंड' लिखवाने के साथ-साथ मंटो पर स्थायी महत्त्व का काम करवाया। 'लाहौर' उनके लिए नास्टेल्जिया भी है, दुःस्वप्न (Nightmare) भी और यूटोपिया भी। वे कहते हैं- "मेरी याद में झलमलाता वह शहर-लाहौर ज़िंदा आदमी-सा आज भी मुझे क्यों तोड़ता-निचोड़ता रहता है? वे निशान जिन्हें मैं तेज़ नश्तर से काटने की कोशिश करता हूं, क्यों बार-बार आ चुभते हैं मेरी आंखों में? अपने-पराए, देश-परदेश के द्वंद्व में क्या मुझे इसी तरह जीना होगा?" (26 जुलाई, 2001) विभाजन का यह स्थायी दंश कम हो भी कैसे जब बार-बार साम्प्रदायिक दंगे होते रहते हैं और हर बार नयी तीव्रता और नृशंसता उनमें आ जुड़ती है।

नरेन्द्र मोहन के लेखन में विद्रोहात्मकता और उत्तेजनाहीनता एक साथ विद्यमान है। साहित्य में विद्रोह की अवधारणा और भूमिका पर उन्होंने गंभीर चिन्तन किया है और उनके नाटकों के नायक कबीर, सेंई मौला और तुकाराम अपने समय के और अपने ढंग के विद्रोही रहे हैं लेकिन इन नायकों के चरित्रांकन में मुखर आक्रोश की जगह एक ठंडी सौम्यता भी है। नरेन्द्र मोहन की कविताओं में विचार को प्रमुखता प्राप्त है लेकिन वहां भी उत्तेजना नहीं है। इसका कारण भी नरेन्द्र मोहन इस डायरी में अपने बचपन की यादों में ढूंढते हैं-"बचपन में जब पिता किन्हीं बातों को मनवाते तो मैं क्षुब्ध हो जाता। उन्हें पहाड़ की तरह अडिग देख मन में एक चीत्कार सी उठती थी गोया पहाड़ के सामने एक नन्ही जलधारा हो-प्रतिरोध के स्वर में उफनती हुई। पिता को लेकर प्रतिरोध का जो स्वर तब मेरे भीतर उभरा, समय के साथ वह कई रूपों में मेरी रचनाओं में फूट पड़ा। पिता के आक्रोश के दुष्परिणामों को भी मैंने देखा था, इसीलिए प्रतिक्रियास्वरूप मैंने अपने भीतर से आक्रोश और उत्तेजना को जड़ों से काटने की कोशिश की। आज सोचता हूं तो लगता है कि उत्तेजना और आक्रोश को जड़ों से काटने की मेरी प्रवृत्ति और विचार पर मेरा अधिक बल देना मूल रूप में पिता के प्रति मेरी प्रतिक्रिया का साहित्यिक रूप ही है।" (7 अप्रैल 1979)

'साथ-साथ मेरा साया' के भीतर से एक ऐसा व्यक्ति झांकता दिखाई देता है जो अपने दौर के तमाम स्याह-सफेद को चौकन्ना होकर देख रहा है और उसकी अन्तर्धाराओं को साफ-साफ पहचान रहा है। इसी पहचान के चलते उसकी टीपें कहीं-कहीं बहुत तीखे व्यंग्य से भरी हुई हैं। श्रीमती इंदिरा गांधी द्वारा लगाए गए आपातकाल के समर्थन में विनोबा भावे ने अपना एकवर्षीय मौन तोड़कर जो वचन उच्चरित किए थे, कोई भी उन्हें महत्त्व नहीं दे रहा था। इस पर नरेन्द्र मोहन की टिप्पणी है-"एक वर्ष के मौन के बाद वाणी के इन अनमोल रत्नों को सहेजने कोई आगे नहीं आ रहा। क्या हो गया है लोगों को? क्या उन्हें भारत की तरह लगता है: चहचहाती एक चिड़िया चोंच में तिनका उठाए अभी भी सच है।" (28 दिसम्बर 1975)

पंजाब का आतंकवाद का दौर, श्रीमती इंदिरा गांधी की हत्या और बाबरी मस्जिद टूटने के बाद हुए दंगे-सब इस मानस को झकझोरते और विभाजन की दहशत को फिर से जगाता डायरी के पन्नों पर उतर जाता है-"मुझे लगता है पिछले तीन-चार दिनों से मैं एक हत्याकांड-अग्निकांड के सैकड़ों प्रतिरूपों से घिरा हुआ हूं। बंटवारे का मंज़र कई-कई रूपों में मेरे सामने आ रहा है।" (6 नवम्बर 1984) दंगों का मंज़र ...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चेतना पर दबाव डालता है तो मन की तहों में दबी हुई स्मृति उभरती है और डायरी में लेखक उस स्मृति के सहारे एक प्रतीक रचता है। उद्धरण लम्बा है लेकिन उद्धरणीय है-"मुझे याद है 10 साल की उम्र में मैंने पहली बार एक आदमी को दूसरे आदमी के पेट में छुरा घोंपते देखा था और फूटते देखा था खून का फव्वारा। रुँधती हिचकियों और बेआवाज़ चीखों के बीच मैं फँसा रह गया था। समझ नहीं पाया था कि छुरा चलाने वाला कौन है और आखिरी साँस लेता कौन? उम्र बढ़ने के साथ मैं बड़ा हुआ और छुरा भी। जाति-धर्म की परवाह किये बिना छुरा घूमता रहा हज़ारों पेटों में-उत्तर प्रदेश से बिहार से महाराष्ट्र से गुज़रता हुआ जैसे सुबह की सैर पर निकला हो और मैं एक नहीं हज़ारों खूनी फव्वारों से गुज़रता गया मन मसोसे बिना।" (10 दिसम्बर 1993) 'साथ-साथ मेरा साया' के दंगों और विभाजन से जुड़े अंशों में नरेन्द्र मोहन सबसे अधिक प्रभावशाली हैं क्योंकि वे अंश उनके दिल के सबसे भीतरी गोशे से जुड़े हुए हैं।

इस डायरी में सन् 1967 से शुरू होकर 2001 के अंत तक तीन दशकों से अधिक का समय सिमटा हुआ है। यह लेखक के दिल्ली में प्राध्यापक बनकर आने, लेखकों से परिचित होने और साहित्य में जीने की अवधि है। इस बीच वह साहित्यिक मित्रों के सम्पर्क में आता है, साहित्यिक गोष्ठियों में साहित्य के गंभीर प्रश्नों से जूझता है और कुछ लेखकों के अवसरवादी चेहरे पहचानता है। कुछ दोस्तियों में कुछ उतार-चढ़ाव आते हैं। कुछ पुस्तकों और कुछ लेखकों पर हल्की-फुल्की से लेकर गंभीर सोच-विचारपरक टिप्पणियां तक डायरी में दर्ज हैं जो साहित्य के इतिहास, पत्रकारिता और आलोचनात्मक समझ के लिए उपयोगी हैं।

डायरी में कहीं-कहीं परिवार का भी कुछ उल्लेख है। बचपन की स्मृतियां सार्थक और बेधक हैं, बाद के जीवन में परिवार का जिक्र कहीं किसी तरह की खराश या खरोंच नहीं छोड़ता। साहित्यिक प्रसंगों और पारिवारिक प्रसंगों में पोले-पोले और चलताऊ से उल्लेख मात्र हैं। बचपन की स्मृतियों में जन्म के समय कर्फ्यू लगा होना, कुछ समय के लिए आवाज़ का चला जाना, परिवार का वातावरण और उसमें बीजी का 'निंदर' कहकर वात्सल्य बरसाना-लेखक को हॉण्ट करता है, और पाठक के मन में लेखक और उसके लेखन के बिम्ब का अभिन्न अंग बन जाता है। बाद के पारिवारिक जीवन के ऐसे पल डायरी में देखने में नहीं आए जिन्होंने लेखक को झकझोरा हो या किसी नैतिक द्वन्द्व में डाला हो। ऐसे क्षण भी लगभग नहीं हैं जब लेखक विह्वल या उद्वेलित हुआ हो। किसी बहुत आत्मीय का कोई सनसनाता हुआ क्षण भी यहां नहीं है। डायरी में ऐसे क्षणों के मिलने की अपेक्षा रहती है और विशेष रूप से एक संवेदनशील साहित्यकार की डायरी में। हाँ, दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्रतिभाओं का दम घोंटने वाले, मौकापरस्त और जोड़तोड़-भरे वातावरण में होती घुटन का जिक्र करते हुए किसी हद तक स्वयं भी उस रंग में रंग जाने की आत्मस्वीकृति एक गहरी विडंबना का बोध कराती है। साहित्यिक परिवेश से संबंधित टिप्पणियों में कुछ चेहरे उभरते हैं और प्रायः अपनी कोई गहरी पहचान दिए बिना लुप्त हो जाते हैं। जो चेहरे कुछ अधिक उभरते हैं वे हैं देवेन्द्र सत्यार्थी, माहेश्वर, रमेश कुंतलमेघ, गिरिजाकुमार माथुर, कृष्णा सोबती, राजी सेठ। जिन दो लोगों का सबसे अधिक उल्लेख है-सुरेन्द्र और विमला जो एक दंपती हैं-वे लेखक द्वारा कल्पित पात्र हैं। यह सही है कि लेखक ने इनके माध्यम से लेखकों की अवसरवादिता को उजागर किया है लेकिन डायरी में कल्पित पात्रों के लिए तो गुंजाइश नहीं होती। भूमिका में लेखक ने कहा है-"डायरी हो या कोई भी रचना, लिखे हुए का सामना तो करना ही होगा, उसकी कीमत चुकानी ही होगी।" असली पात्रों को कल्पित पात्र का रूप देकर लेखक ने मित्रता को बचाने का प्रयास किया है, सही पहचान बताने पर उसकी कीमत होती मित्रता खोना जिसे चुकाने से लेखक गुरेज़ कर गया है। दंगों के संदर्भ में दर्ज टिप्पणियों के अतिरिक्त कहीं भी बहुत गहरी बेचैनी या किसी मानसिक संकट की उपस्थिति डायरी में दिखाई नहीं देती, इसका कारण संभवतः यह रहा है कि लेखक ने बहुत-सी अभिव्यक्तियों को स्वयं ही सेंसर कर लिया है। इस प्रकार की एक आत्मस्वीकृति करते हुए नरेन्द्रमोहन कहते हैं-"इसे लिखते हुए कई बार मुझे लगा कोई है जो मुझे उकसा रहा है-जो जी में आए लिखो, बिना किसी सेंसर के, लेकिन जब से होश संभाला है मेरे अंदर बैठा सेंसर मेरी अभिव्यक्ति पर कैंची चलाता ही रहता है।" (25 जुलाई 2001) ऐसा लगता है कि अन्य विधाओं में प्रत्यक्षता चाहे उतनी नहीं होती लेकिन सत्य उनमें अधिक होता है जबकि डायरी की प्रत्यक्षता से घबराकर लेखक स्वयं ही उसकी धार को कुंद कर बैठता है। इसलिए यह भी एक प्रश्न है कि डायरी जैसी विधा के प्रकाशन का सही समय क्या हो क्योंकि यदि लेखक अपने जीवनकाल में इसे प्रकाशित करने का निर्णय लेता है तो या तो उसकी प्रविष्टियों को कल्पित पात्रों के आवरण में ढकेगा या स्वतः सेंसर कर उसे पोला बना देगा। इसी स्थिति में डायरी का 'डायरी' होना उतनी हद तक कम हो जाता है।

'साथ-साथ मेरा साया' में लेखक के कई रंगों के मूड कई रंगों की शैली में गुंथे हुए हैं। वह कवि, आलोचक और नाटककार है और उसके ये तीनों रूप पूरी डायरी में मौजूद हैं। कहीं वह अपने मन की पीड़ा को कविता की पंक्ति में दर्ज करता है, कहीं विचार कविता, लंबी कविता, रचना-प्रक्रिया आदि पर चिन्तनपरक लंबी टिप्पणियां करता है तो कहीं पागल भिखारी की हरकतों में एक गंभीर नाटक के बीज प्रस्तुत कर जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ यात्राओं का विवरण है जो एक खास ढंग के संवेदनशील गद्य में लिखा गया है।

'साथ-साथ मेरा साया' पढ़ना अपने समय के लेखक नरेन्द्र मोहन को जानना है-उनके व्यक्तित्व और लेखन के रेशों को पहचानना है। समय के साथ किस तरह की अंतर्क्रिया उसे लेखक बनाती है और वह किस तरह से अपनी अभिव्यक्ति से जूझता है, इसकी सूझ यह डायरी देती है और इसीलिए यह महत्त्वपूर्ण है।

द्वारा संचेतना, एच-108, शिवाजी पार्क, नई दिल्ली-110026

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चक्राचक्र

...हम आ गए हैं

बिहारी लाल जी आते ही बोले-"लो, ये आ गए हैं।" मैंने देखा उनके साथ एक सज्जन हैं-लम्बा, पीला रेशमी कुर्ता पहने, गले में रुद्राक्ष की माला, दोनों हाथों में चमकीले कंगन, कानों में कुंडल, नीचे तहमद के ढंग से बंधी हुई चमकदार धोती, पैरों में कपड़े के जूते थे। मैंने उनके चहरे को आंखें गड़ाकर देखा। सिर के लम्बे बाल पीछे की ओर कढ़े हुए थे, साँवले चेहरे पर छोटी-छोटी दाढ़ी थी, आँखें बिल्कुल बच्चों की तरह टिमटिमा रही थीं।

इससे पहले कि मैं उनका औपचारिक स्वागत करूँ, वे बोले-'हाँ, हम आ गए हैं। हम जानते हैं कि हमें बहुत पहले आ जाना चाहिए था। चारों तरफ से पुकार आ रही थी...आओ...आओ। लेकिन हम तमाशा देख रहे थे। हम चाहते थे कि आर्त लोगों की गुहार और तेज हो जाए। पृथ्वी की पीड़ा असहनीय स्थिति तक पहुंच जाए। लोग पूरी तरह असहाय और निरुपाय हो जाएं...हम तब आएं। अब वह समय आ गया है...इसलिए हम आ गए हैं।"

उन्होंने खुद ही कुर्सी खिसका ली और बोले-"तेरा यह दोस्त कहता है कि तू अपने आपको बड़ा ज्ञानी समझता है।"

मैंने बिहारी लाल जी की तरफ देखा। मेरे चेहरे पर आई हुई उलझन को भांपकर वे बोले- "ये परम पिता हैं। संसार के सभी प्राणी इनके बच्चे हैं। बच्चों से ऐसी ही भाषा में बात की जाती है।"

मैंने अपना सिर झुका दिया-"आप परम पिता हैं। मैं परम अज्ञानी हूँ। यह बताइए कि आपका इस पृथ्वी पर अवतरण कैसे हुआ?"

मैंने उसे फिर ध्यान से देखा। जिसे मैं परम पिता कह रहा था, वह आयु में कम से कम बीस बरस मुझसे छोटा लग रहा था। लेकिन पिता तो पिता है। इसमें आयु कहाँ आड़े आती है।

उनकी आंखें एकदम मुंद गईं। ऐसा लगा कि वे समाधि में चले गए हैं।

धीरे-धीरे उनकी आंखें खुलीं और वे बोलने लगे-"मेरे मीठे बच्चो, पांच हज़ार वर्ष पहले हमने वचन दिया था। इतने समय तक हम अपना वचन भूले रहे, ऐसी बात नहीं है। हम अपने सभी काम समय पर करते हैं। हम तो ज्योतिस्वरूप परमात्मा हैं। तेरे जैसी अपवित्र आत्माओं को पवित्र करने और शान्ति देने के लिए हम फिर से इस साकार सृष्टि में आ गए हैं।"

उन्होंने मेरे कंधे पर पिता की भांति अपना हाथ रख दिया-"प्यारे बच्चे, हम जन्म-मरण, सुख-दुःख से सदा न्यारे हैं और शरीररहित, ज्योतिस्वरूप, परम पवित्र और सर्व का कल्याण करने वाले, सभी के माता-पिता हैं। हम सभी के स्वामी हैं, सभी के सखा हैं। हम सभी के सद्गुर हैं...सद्गतिदाता हैं। आज मैं इस चोले में तेरे सामने आया हूँ...तुझे सद्गति देने के लिए...।"

उनकी बात सुनकर मैं एकदम घबरा गया। एक बार मैंने बिहारी लाल जी की ओर फिर उनकी ओर देखा-"परम पिताजी, आप सद्गति किस प्रकार देते हैं? किसी भी प्राणी को सद्गति उसकी मृत्यु के बाद ही मिलती है। क्या आप भी मुझे ऐसी ही सद्गति देना चाहते हैं?"

मेरी बात सुनकर वे मुस्कुराए। मैंने अपने जीवन में ऐसी कटीली मुस्कुराहट कभी नहीं देखी थी।

वे बाले-"वत्स, हम अपनी अपार कृपा द्वारा तुम्हें आवागमन के चक्र से मुक्त करना चाहते हैं। तुमने अपने जीवन में अत्यन्त दुष्कर्म किए हैं। हमारे लेखाधिकारी यमराज के पास तुम्हारे एक-एक क्षण का काला चिट्ठा है। हमें यह भी पता है कि आगे जितने वर्ष तुम जियोगे निरन्तर ऐसे बुरे कर्म करते रहोगे। यह हम नहीं चाहते। बिहारी लाल बड़े आग्रह से हमें तुम्हारे पास लाए हैं। ये तुम्हारे मित्र हैं....तुम्हारी सद्गति चाहते हैं।"

मैंने बहुत कुढ़कर पंडित बिहारी लाल की तरफ देखा-वाह बेटा खुद तो जिन्दा रहकर मौज करना चाहते हो और इस यमदूत को मुझे सद्गति देने के लिए अपने साथ लेकर आए हो। रिटायर हो जाने के बाद भी तुम जैसे-जैसे कर्म करते रहे हो, क्या मुझसे छिपे हैं।

मैंने परम पिता की ओर देखा-"महाराज, आपके विचार बहुत शुभ हैं। अपनी सारी आयु में मैंने जो-जो दुष्कर्म किए हैं, उनका बोझ मेरी आत्मा पर है। मैं पाप-बोध की पीड़ा से हमेशा तड़पता रहता हूँ। आप मुझे सद्गति देकर निश्चय ही मेरा उद्धार करेंगे, यह मेरा अहोभाग्य होगा। लेकिन मैं संसार से एक भारी बोझ लेकर नहीं जाना चाहता। मैं अपने प्रिय मित्र पंडित बिहारी लाल को अपना बड़ा भाई मानता हूं। मैं चाहता हूं कि मुझसे पहले इन्हें सद्गति मिले।"

बिहारी लाल जी ने तड़पकर मेरी ओर देखा और बोले-"हे परम पिताजी, अभी तो हमें आपका पूरा परिचय नहीं मिला है। हमें यह भी पता नहीं कि आप आए कहां से हैं। आप स्वयं परमात्मा हैं या परमात्मा के दूत हैं, उसका कोई संदेश लेकर आए हैं?"

परम पिता फिर वैसी ही कटीली मुस्कराहट को अपने होंठों पर लाए- "प्रिय वत्स, हम जो हैं और जैसे हैं, अपना परिचय देते हैं। हमारे प्रिय बच्चो, हम तुम जैसे प्राणियों को मुक्ति देने के लिए बहुत-बहुत दूर परमधाम, ब्रह्मलोक नामक प्रकाशपूर्ण देश से यहां आए हैं। तुम्हें सम्पूर्ण पवित्रता, सुख-शान्ति का वरदान देने के लिए ही हमने 'ज्ञान-यज्ञ' रचा है। इस ज्ञान-यज्ञ में तुम भी अपने जीवन की आहुति डालो और जो प्रभु-प्रसाद मिले, उसे ग्रहण करो।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिहारी लाल जी बहुत उतावले होकर बोले-"महाराज, आपके ज्ञान-यज्ञ में जीवन की आहुति डालना क्या बहुत आवश्यक है? मैं अभी कुछ वर्ष और जीना चाहता हूँ। मेरे बेटे ने अपना धंधा अभी-अभी शुरू किया है। जब तक वह जम न जाए, मुझे उसकी सहायता करनी है। मैंने बहुत से लोगों के उल्टे-सीधे काम करवाए हैं। इस समय मेरा लायज़निंग का काम बहुत अच्छा चल रहा है। इससे हर महीने मैं लाखों कमा लेता हूँ। अपने ग्राहकों से मैंने कम से कम दस लाख रुपए वसूलने हैं। इस समय यदि मुझे आपने सद्गति दे दी तो मेरे रुपये डूब जाएंगे, मुझे भारी नुकसान होगा।"

मैंने कहा-"परम पिताजी, हमारे जैसे क्षुद्र प्राणियों को सद्गति देने, यज्ञ में उनके जीवन की आहुति लेने की आपको क्या जल्दी है? आप अपनी कृपादृष्टि उन पर क्यों नहीं डालते जो हर दिन लाखों का घोटाला करते हैं, जाली नोट छापकर अरबों रुपये कमाते हैं। आज के अखबार में आपने पढ़ा होगा कि एक ऐसे ही जालसाज ने एक नर्तकी का नाच देखते हुए एक ही रात में एक करोड़ रुपये उस पर न्योछावर कर दिए। उनके सामने तो हम भुनगे हैं। आप उन्हें सद्गति क्यों नहीं देते?"

मेरी बात सुनकर बिहारी लाल जी भी बहुत उत्साहित हो गए-"महाराज मैं कहता था न कि मेरा दोस्त बहुत ज्ञानी है। आप संसार को सही दिशा दिखाते हैं, यह आपको सही रास्ता दिखा रहा है। आप इस देश के राजनेताओं की एक सूची क्यों नहीं बनाते? इन्हें सद्गति की सचमुच बहुत आवश्यकता है। आप अपने यज्ञ में इन सभी की आहुति दे दीजिए।"

परम पिता परमात्मा, जो अभी तक हमारी बातें सुनकर बड़े मधुर ढंग से मुस्कुरा रहे थे, ये बातें सुनकर एकदम क्रोध में आ गए। बोले-"मेरे दुरात्मा बच्चो, तुम लोग हमें रास्ता दिखाओगे? हम जो सभी के निर्माता हैं, ज्योतिस्वरूप ब्रह्म हैं। तुम्हारी बातें बता रही हैं कि तुम्हारे संस्कार अत्यन्त निकृष्ट कोटि के हैं। तुम्हारे रोम-राम को मनोविकारों ने घेर रखा है। तुम्हारे जैसे लोगों के कारण इस संसार पर महाविनाश के बादल मंडरा रहे हैं। क्या तुम यह नहीं जानते कि यज्ञ की अग्नि को पूरी तरह प्रज्ज्वलित करने के लिए उसमें पहले छोटी-छोटी लकड़ियां डालनी पड़ती हैं। मोटी-मोटी लकड़ियां बाद में डाली जाती है। हम इस यज्ञ में पहले तुम जैसे छोटे पापियों की आहुति देंगे। बड़ों से हम बाद में निपटेंगे।"

हम दोनों को महसूस हुआ, हमारे सामने दो चिताएं तैयार हो रही हैं, और उनकी अग्नि प्रज्ज्वलित करने के लिए छोटी-छोटी लकड़ियों को देसी घी में डुबोया जा रहा है।

परम पिता कह रहे थे-"समय बहुत कम है। तुम टाल-मटोल कर रहे हो। यह ठीक नहीं है। हम ऐसा नहीं होने देंगे...हम आ गए हैं।"

नमन प्रकाशन दिल्ली द्वारा
डॉ. शोभनाथ यादव का
सद्यः प्रकाशित
नवीनतम कविता-संग्रह
सूअरबाड़ा
सोच और संवेदना के गहरे स्तर पर
अपने समकाल की विद्रूपताओं को
खंगालने वाली पैनी कविताएँ

बहुचर्चित गीतकार शैलेन्द्र के जीवन और
कृतित्व पर आधारित महत्वपूर्ण प्रकाशन
जनकवि शैलेन्द्र
संपादक
डॉ. इंद्रजीत सिंह
भीष्म साहनी, फणीश्वर नाथ 'रेणु', बाबा नागार्जुन, राजकपूर, अरविन्द कुमार, डॉ. राजेन्द्र अवस्थी, कमलेश्वर, डॉ. महीप सिंह, डॉ. गोपाल दास 'नीरज', कैफ़ी आज़मी, डॉ. कन्हैयालाल नंदन, आचार्य डॉ. विष्णुदत्त राकेश, गुलज़ार, निदा फाज़ली, योगेश, मन्ना डे, विजय आनंद, डॉ. बुद्धिनाथ मिश्र, डॉ. धनंजय सिंह, प्रो. प्रहलाद अग्रवाल, प्रो. हरिमोहन, डॉ. गिरिजाशंकर त्रिवेदी, शारदा पाठक, आलोक भट्टाचार्य, डॉ. एस.सी. सक्सेना, डॉ. ब्रजवल्लभ मिश्र, डॉ. पद्मनाभ जोशी, संतोष ठाकुर, पूरन पंकज
की रचनाओं सहित
मूल्य - सजिल्द : 175.00 रुपये
पेपर बैक : 100 रुपये
प्रकाशक :
अमृत पब्लिशिंग हाउस
एच-108 शिवाजी पार्क, नई दिल्ली-26

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'बोधि वृक्ष के नीचे' : गोष्ठी

'बहुत दिनों बाद ऐसी कविताएं पढ़ने को मिली है जिनमें वैश्विक विषयों की उपस्थिति है। केवल प्रकृति, केवल प्रेम कविता के विषय जरूर होते हैं किन्तु आज के विज्ञान युग में ये पिट-पिट चुके हैं, क्योंकि हम इक्कीसवीं सदी में आ पहुंचे हैं। इसका एहसास विश्वमोहन तिवारी की 'बोधि वृक्ष के नीचे' शीर्षक लंबी कविता बखूबी कराती है'-ये शब्द हैं प्रसिद्ध कथाकार श्रीमती चित्रा मुद्गल के, जिन्होंने पूर्व एयर वाइस मार्शल विश्वमोहन तिवारी के दूसरे कविता-संग्रह 'बोधि वृक्ष के नीचे' पर आयोजित विचार-संगोष्ठी के अध्यक्ष पद को सुशोभित किया।

उक्त कविता-संग्रह पर चर्चा-गोष्ठी का आयोजन दिल्ली-स्थित इंडो-रशियन लिटररी क्लब के तत्वावधान में हुआ। यह संगोष्ठी रूसी कथाकार इमेनुअल कज़ाकेविच के 90वें जन्मदिन की याद में समर्पित थी।

'बोधि वृक्ष के नीचे' संग्रह पर अपना लिखित आलेख पढ़कर चर्चा की शुरुआत करते हुए डॉ. गुरचरण सिंह ने कहा- 'इस संग्रह के कवि को आम आदमी की चिंता है। कवि विश्व के प्रति भी चिंतित नज़र आता है, राजनीति आज खोखला रूप ले चुकी है। उसी खोखलेपन को इन कविताओं में रेखांकित किया गया है। राजनीतिक दुनिया में अमरीका का वर्चस्व फैल रहा है। धर्म का इस्तेमाल राजनीतिक स्वार्थ के लिए हो रहा है। इसके अलावा तिवारी जी ने अपने जीवनानुभवों को इस संग्रह में बेधड़क शब्दायित किया है; चाहे वे यात्राएं हों, वायुसेना के अनुभव हों, पक्षियों के अनुभव हों, पहाड़ी चित्रों का वर्णन मोहक बन पड़ा है।'

इस चर्चा को आगे बढ़ाते हुए डॉ. पवन माथुर ने संग्रह में छपी डॉ. नगेन्द्र की सम्मति पर अपना नज़रिया प्रस्तुत करते हुए कहा कि डॉ. नगेन्द्र ने इस संग्रह की उन कविताओं को ध्यान में ज्यादा रखा है जिनमें विचार पक्ष प्रमुख है, किन्तु डॉ. नगेन्द्र उन कविताओं को क्यों 'मिस' कर गये जो प्रेमरस से पगी बेहतरीन कविताएं इस संग्रह में हैं।

पवन माथुर की प्रेम-प्रसंग के प्रति डॉ. नगेन्द्र की उपेक्षा पर तीखी टिप्पणी से शुरुआत करते रमेश ऋषिकल्प के मुताबिक इस संग्रह में अध्यात्म और विज्ञान की कवायद हो रही है या इन दोनों में संवाद हो रहा है। 'आज का वेद इंटरनेट है' पंक्ति से उन्होंने अपने अनुमान को साबित किया। 'मनुष्यों में अमरीकी राष्ट्रपति हूं' जैसी विभूति-परक कविता-पंक्तियों का उल्लेख करते हुए उन्होंने भोगवादी आक्रमण के खिलाफ चेतावनी दी है।

डॉ. प्रताप सहगल ने वैज्ञानिक व तकनीकी शब्दों के कविता में इस्तेमाल को सही ठहराया क्योंकि यही तो एयर मार्शल तिवारी जी की शब्द-संपदा है। डॉ. सहगल का कहना था कि तिवारी जी पहले संग्रह 'बेघर' से इस संग्रह के अनुसार कविता के घर में आ गए हैं और अब वह बेघर नहीं रहे। उन्होंने इन कविताओं को आम ढर्रे की कविताओं से अलग माना। सुरेश ढींगड़ा ने कहा कि इन कविताओं में यात्राएं हैं, प्रकृति तथा जनजीवन है, और इसमें नई जमीन तोड़ने वाली 'बोधि वृक्ष के नीचे' के अतिरिक्त कई कविताएं हैं। प्रेम जनमेजय ने कहा कि तिवारी जी की कविताओं में ताज़गी वहीं है जहां व्यंग्य है। व्यंग्यकार प्रेम ने 'जनतंत्र' कविता का हवाला देते हुए कहा कि इसमें हास्य-व्यंग्यवाली पैरोडी का अच्छा प्रयोग हुआ है।

अंत में डॉ. गंगा प्रसाद विमल ने कहा कि इस संग्रह को पढ़कर ऐसा लगा कि तिवारी जी विलक्षण कवि हैं। उन्होंने अपने व्यापक अनुभव क्षेत्र का प्रयोग किया है। विशेष तौर पर 'जेठ का पवन', 'भाषा कोठे पर' और 'मृगछौना' कविताओं का उल्लेख करते हुए उन्होंने टिप्पणी की कि भाषा को कोठे पर बिठाने वाली कविता विलक्षण है।

गोष्ठी का संचालन किया था लिटररी क्लब के सचिव एवं प्रसिद्ध कवि डॉ. दिविक रमेश ने। गोष्ठी में अनेक विद्वान लेखक उपस्थित थे, जिनमें प्रमुख हैं-डॉ. शशि सहगल, विद्या शर्मा, उमेश कुमार, केवल गोस्वामी, राजा खुगशाल, श्याम विमल, स्वामी पूर्णानंद, लक्ष्मी शंकर वाजपेयी, वीरेन्द्र सक्सेना, वीरेन्द्र कुमार, भारत भारद्वाज।

-श्याम विमल

डॉ. सियाराम तिवारी का अभिनंदन

हिन्दी के विख्यात विद्वान तथा विश्वभारती, शांति निकेतन (प. बं.) के पूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष तथा मानविकी एवं समाज विज्ञान संकायाध्यक्ष डॉ. सियाराम तिवारी के सत्तरवें वर्ष में प्रवेश करने के अवसर पर 'समय संवाद' (पटना) एवं दस्तक साहित्य परिषद (पटना) के द्वारा पिछले दिनों सिनहा लाइब्रेरी, पटना में एक अभिनंदन समारोह का आयोजन किया गया। कार्यक्रम की अध्यक्षता साहित्यकार एवं बिहार के पूर्व गृहसचिव श्री जियालाल आर्य ने की। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्रोफेसर डॉ. सुधाकर सिंह मुख्य अतिथि और विश्वभारती, शांतिनिकेतन के हिन्दी विभाग के रीडर डॉ. चक्रधर त्रिपाठी विशिष्ट अतिथि थे। कार्यक्रम का संचालन डॉ. शिवनारायण ने किया।

अध्यक्ष, मुख्य अतिथि और विशिष्ट अतिथि के अतिरिक्त डॉ. तेजनारायण कुशवाहा, डॉ. कुणाल कुमार, डॉ. रामशोभित प्रसाद सिंह, डॉ. अंजता चटर्जी आदि ने डॉ. सियाराम तिवारी के अध्येता एवं आलाचक रूप की विशिष्टता पर विस्तार से प्रकाश डाला।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनके दीर्घायुष्य की कामना की।

इस अवसर पर डॉ. तिवारी की सद्यः प्रकाशित पुस्तक 'चिंतन की रेखाएँ' का श्री जियालाल आर्य के द्वारा लोकार्पण भी किया गया।

-डॉ. शिवनारायण

नरेन्द्र मोहन की डायरी मराठी में

'यह डायरी आत्म-मुक्त क्षणों का साक्षात्कार है। इसमें विभाजन की घुटन, विस्थापितों का दुःख-दर्द, आपातकाल और चौरासी के दंगों की त्रासदी इतनी मार्मिकता से गुँथी हुई है कि इतिहास में से आत्म-प्रसंग और आत्म-प्रसंग में से इतिहास झांकने लगता है। यहां इतिहास की घटनाएं बिम्बों-प्रतिबिम्बों के रूप में लेखकीय मनस में से छनकर शब्दबद्ध होती गई हैं। अनुवाद भी मूल सृजन को पकड़ने वाला है। लगता है नरेन्द्र मोहन ने यह डायरी खुद मराठी में लिखी हो।' ये शब्द हैं मराठी के प्रसिद्ध साहित्यकार, आलोचक डॉ. गंगाधर पानतावने के जो उन्होंने नरेन्द्र मोहन की डायरी 'साथ-साथ मेरा साया' के मराठी अनुवाद 'सावली माझया सवे' (अनु. डॉ. मंगला वैष्णव) का लोकार्पण करते हुए कहे।

पिछले दिनों औरंगाबाद में आयोजित इस समारोह में डायरी के मराठी अनुवाद 'सावली माझया सवे' के प्रकाशन का बड़े व्यापक पैमाने पर स्वागत हुआ और इसे एक नया साहित्यिक प्रयोग माना गया। समारोह के अध्यक्ष मराठी के प्रसिद्ध कवि फु.मु. शिंदे ने नरेन्द्र मोहन की बुहचर्चित डायरी-रचना 'साथ-साथ मेरा साया' को मंगला वैष्णव द्वारा मराठी में लाये जाने को एक अभूतपूर्व घटना माना और कहा कि यह अनुवाद सौंदर्यपूर्ण और एकनिष्ठ ही नहीं है, 'लॉयल टु दि क्रियेशन' भी है। डॉ. माधवी आप्टे ने आलेख पाठ करते हुए डायरी में से उभरती कई स्थितियों और केन्द्रीय मेटाफरों का विवेचन किया तथा अनुवाद की रचनात्मकता का बहुस्तरीय निरूपण किया। मराठी उपन्यासकार रंगनाथ तिवारी ने नरेन्द्र मोहन के रचना-मन का विश्लेषण करते हुए कहा कि यह डायरी लेखकीय मन और परिस्थिति के तनाव को, इस अनुवाद के ज़रिये बड़ी प्रामाणिकता और कलात्मकता से खींच लाई है।

इस अवसर पर डॉ. मंगला वैष्णव ने डायरी की अनुवाद प्रक्रिया के कई महत्वपूर्ण पहलुओं की तरफ संकेत करते हुए कहा कि यह उनके लिए एक चुनौतीपूर्ण कार्य रहा है जिसका सम्यक् मूल्यांकन मराठी साहित्यिक बखूबी कर सकते हैं।

समारोह में मराठी, उर्दू, हिन्दी और अंग्रेज़ी के कवि, कथाकार और आलोचक बड़ी संख्या में उपस्थित थे।

-डॉ. गणेशराज सोनाले

डॉ. आनन्द अस्थाना का कविता-पाठ

गत दिनों हरदोई में साहित्यिक-सांस्कृतिक संस्था 'अनुभूति' के तत्वावधान में डॉ. आनन्द अस्थाना ने कविता-पाठ किया।

चर्चा-प्रवर्तन करते हुए शोध-छात्रा मधु गुप्ता ने कहा, "डॉ. आनन्द अस्थाना की यह विशिष्टता है कि उनकी कविताओं के मुहावरे और बिम्ब इतने अनगढ़, देशज और किसी हद तक ग्रामीण संवेदना लिए हुए हैं कि आम तौर पर शहरी सभ्यता में पल्लवित कोई आलोचना इस तरह के शोध में उनकी कविता को नहीं जोड़ सकती। उसे किसी उदाहरण में शामिल नहीं कर सकती।"

डॉ. कृष्णदत्त मिश्र का मानना था कि डॉ. आनन्द अस्थाना ऐसे कवि हैं जिनकी कविताएं सीधी, सरल और स्पष्ट होने के बावजूद सपाट नहीं हैं। उनमें गहरी बेचैनी व्याप्त है; वे पाठक के सामने प्रश्न उपस्थित करती हैं।

प्रो. विद्यासागर वर्मा के अनुसार, "आत्म-साक्षात्कार और आत्म-दर्शन के बीच भटकते हुए जब उनका व्यक्ति आत्म-अस्वीकारात्मक स्थिति तक पहुंच जाता है तो वह वैचारिकता के कवि हो जाते हैं। अनुभूति का विचार में यह रासायनिक रूपान्तरण ही नयी कविता की रचना-प्रक्रिया है।"

कवि मजीद अहमद ने टिप्पणी की, "एक वैचारिक आधार के साथ इतने लम्बे समय तक उत्कृष्ट काव्य-कर्म जीवन के मायने समझने के प्रयास में अपनी समस्त ऊर्जा झोंक देने के खतरे उठाते हुए भी सक्रिय है तो इसलिए कि इस ऊर्जा का संरक्षण सम्भव नहीं है। जो भी ईमानदारी से जगत के भविष्य को संवारने के उपक्रम में लगा है उसे तो यह जोखिम उठाना है। इसलिए आनन्द अस्थाना लिख पाते हैं।"

अंत में डॉ. आनन्द अस्थाना ने अपने वक्तव्य में कहा, "एक बात मैं पूरी ईमानदारी से कहूंगा कि कविता मेरे लिए जीविकोपार्जन अथवा यश कमाने का साधन नहीं है। चिकित्सक के नाते मैंने आदमी को, उसके परिवेश को, मानसिक और शारीरिक तनावों को, सामाजिक और आर्थिक मूल्यों के बिखराव को, अनिश्चय और संशय को तथा टूटती जिजीविषा को बहुत निकट से देखा और पहचाना है।"

-मजीद अहमद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रख्यात कथाकार महीप सिंह की

तीन खंडों में समग्र कहानियाँ

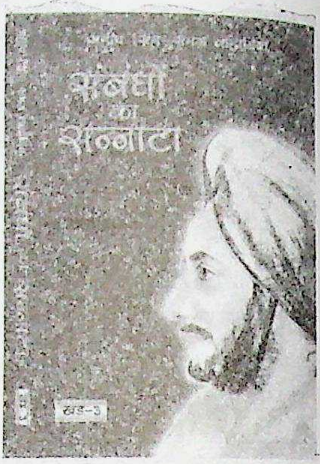

सुबह की महक	300.00
क्षणों का संकट	300.00
संबंधों का सन्नाटा	300.00

महीप सिंह की कहानियाँ महानगरीय मध्य वर्ग के जीवन की धड़कनों को बड़ी गहराई से हमें महसूस कराती हैं। इसका कोई भी पक्ष उनकी कथा-दृष्टि से अछूता नहीं रहा है। समकालीन जीवन में व्याप्त अन्तर्विरोध, तनाव और छद्म भी अपनी समूची विडम्बना के साथ इन कहानियों में मूर्त हो उठे हैं। कथा-शिल्प के भी कितने ही रंग उनके कथा-संसार में उभरे दिखाई देते हैं।

मनुष्य की सोच को सचेतन रखने के प्रस्थान-बिंदु से चले अपनी पीढ़ी के अत्यन्त समर्थ कथाकार के विकास क्रम को दर्शाता उसकी रचना-यात्रा का दस्तावेज़।

विद्यार्थियों, शोधकर्त्ताओं और कथा-रसिकों को

९०० रु. का पूरा सेट केवल 500 रु. में।

अभिव्यंजना

का एक गौरवशाली प्रकाशन

बी-70/72, डी.एस.आई.डी.सी.काम्पलेक्स, लारेंस रोड, दिल्ली-110035,

फोन नं. 7154586, 5191287, 5932888

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी अकादमी, दिल्ली
राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली सरकार
समुदाय भवन, पदमनगर, किशनगंज, दिल्ली-7

आपकी सेवा में
लोकप्रिय योजनाएँ एवं कार्यक्रम

1. पुरस्कार एवं सम्मान :
   1. हिन्दी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में समग्र योगदान के लिए प्रतिवर्ष साहित्यकारों को शलाका एवं साहित्यकार सम्मान, हिन्दी के श्रेष्ठ हास्य व्यंग्य के लिए लेखक/व्यंग्यकार को काका हाथरसी सम्मान।
   2. चुनी हुई श्रेष्ठ एवं स्तरीय कृतियों एवं बाल साहित्य की उत्कृष्ट रचनाओं को साहित्यिक कृति एवं बाल साहित्य सम्मान।
   3. अहिन्दी भाषी, हिन्दी तथा हिन्दी भाषाओं के विद्वानों एवं साहित्यकारों को सम्मान एवं उनका अभिनंदन।

2. संस्थाओं को सहयोग :
   हिन्दी की स्वयंसेवी संस्थाओं, विद्यालय/विद्यालयों, सरकारी, गैर सरकारी संस्थाओं, विभागों को कार्यक्रम सहयोग तथा उनके साथ मिलकर संयुक्त कार्यक्रमों का आयोजन।

3. रोजगारोन्मुखी कार्यक्रम :
   1. दिल्ली के बारहवीं तथा स्नातक उत्तीर्ण बेरोजगार युवाओं (अधिकतम आयु ३० वर्ष) को अलग-अलग एक वर्षीय हिन्दी कम्प्यूटर प्रशिक्षण।
   2. दिल्ली के ऐच्छिक/अनिवार्य हिन्दी विषय सहित स्नातक उत्तीर्ण युवाओं के लिए हिन्दी अनुवाद एवं संपादन कला का एक वर्षीय प्रशिक्षण।
   3. हिन्दी टंकण एवं आशुलिपि का दिल्ली के विभिन्न स्थानों पर प्रशिक्षण।

4. प्रकाशन सहयोग :
   पाण्डुलिपियों पर पुस्तक प्रकाशन के लिए लेखकों को 7500/- रुपये का आर्थिक सहयोग।

5. नवोदित लेखकों को पुरस्कार
   नवोदित लेखकों तथा विद्यालय/महाविद्यालय के विद्यार्थियों के लिए विभिन्न कार्यशालाओं एवं प्रतियोगिताओं का आयोजन एवं पुरस्कार।

6. विविध
   1. महत्त्वपूर्ण अवसरों/साहित्यकारों की जयंतियों के अवसर पर साहित्यिक संगोठियों/सम्मेलनों, कवि-सम्मेलनों एवं सांस्कृतिक कायक्रमों का आयोजन।
   2. दिल्ली के विभिन्न क्षेत्रों में पुस्तकालयों एवं वाचनालयों का संचालन।
   3. महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का प्रकाशन एवं उपयोगी साहित्यक और शैक्षिक महत्त्व की पुस्तकों का अन्य भाषाओं से हिन्दी में अनुवाद और प्रकाशन।

नयी सहस्राब्दी को हिन्दी सहस्राब्दी बनाने के लिए कृतसंकल्प हिन्दी अकादमी के कार्यक्रमों में सहयोगी बनें।

दूरभाष : 3621889, 3533448
फैक्स : 3536897
E-Mail Address hindiacademy_delhi@vsnl.net

(डॉ० रामशरण गौड़)
सचिव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जनसंख्या विस्फोट और राजनीति: लेखकों के संदर्भ में

संचेतना का नया अंक मिला। सभी अंक मुझे मिलते रहते हा। बड़ा अच्छा लगता है पढ़कर। विशेषकर किसी विषय को लेकर जो बहस छिड़ती है वह बड़ी रोचक होती है। इस बार जैसे 'साहित्यिक वातावरण इतना दूषित क्यों हो रहा है?' यह विषय लिया है। उससे मिलते-जुलते विषय पर पहले भी चर्चा हुई है और मैंने भी लिखा है 'मानवीय संवेदना का ह्रास क्यों हो रहा है?' ऐसे विषयों पर लिखते हुए काफी सावधानी बरतनी चाहिए, आवेश में नहीं आना चाहिए। सबसे बड़ा कारण इसका जनसंख्या विस्फोट है। मेरे समय में बहुत थोड़े लेखक थे और उनमें परस्पर स्नेह और सौहार्द का अभाव नहीं था। मेरे जैसे नए लेखकों को उस समय के बड़े लेखकों ने जिस तरह से प्रोत्साहन दिया वह अनुभव करने की चीज है। जैनेन्द्र जैसे लेखक मुझे खोजते हुए हिसार पहुँचे। प्रेमचंद से लेकर चन्द्रगुप्त विद्यालंकार तक सभी ने मुझको स्नेह दिया। मेरी कहानी पढ़कर मुझसे परिचय प्राप्त करने की सफल कोशिश की। तो एक तो यह बात थी जो जनसंख्या विस्फोट के कारण समाप्त हो गई। दूसरा कारण राजनीति द्वारा विनिर्मित वातावरण है। अपने-अपने खेमे अपने-अपने लेखक। खैर आपने अच्छा काम किया। कुछ तो परिणाम निकलेगा ही लेकिन जब तक राजनीति है, बात थोड़ी कठिन है।

विष्णु प्रभाकर
बी-151, महाराणा प्रताप एन्क्लेव,
पीतमपुरा, दिल्ली-34

चरैवेति-चरैवेति

असल बात तो यह है कि रचनाकार जब अपनी लेखकीय शालीनता और गरिमा से गिर जाता है तो वह रचनाकार ही नहीं रह जाता। प्रत्येक लेखक का अपना एक संसार होता है जहाँ उसका पाठक-वर्ग उसके लेखकीय व्यक्तित्व को रचना-दर-रचना उभरता हुआ देखता है। यकदम ही कोई किसी लेखक को कीर्ति के शिखर पर नहीं बिठा देता। जो लेखक अपनी रचनाओं के माध्यम से जितना ऊपर उठता है, वह पाठक-समाज से उतनी ही प्रशंसा अर्जित करता है। इसी अर्थ में उसकी साहित्यिक महानता का अंकन भी होगा। इस नैसर्गिक प्रक्रिया को छोड़कर जब कोई रचनाकार हीन साधनों और तौर-तरीकों से अपने आपको स्थापित करने, बड़ा या महान कहलाने की उठा-पटक में पड़ जाता है तो निश्चय ही वह अपनी साहित्यिक गरिमा से च्युत हो जाता है। उसमें ईर्ष्या-द्वेष, चरित्र-हनन जैसी प्रवृत्तियाँ धीरे-धीरे घर कर जाती हैं और उसके चरित्र का एक अभिन्न अंग बन जाती हैं। परिणामस्वरूप वह अशोभनीय व्यवहार, अशोभनीय भाषा, अपने से कद में बड़े दिखने वाले रचनाकारों का तिरस्कार, कटु आलोचना और हाथापाई तक भी गिर जाता है। (गिरने के भी अपने कई स्टैंडर्ड होते हैं।) साहित्य-जगत को प्रदूषित करने में लेखकों की इस मानसिकता की अहम भूमिका होती है। ऐसे रचनाकारों की बहुल उपस्थिति प्रत्येक साहित्यिक युग में पाई जाती है, यह एक सत्य है। यह भी उतना ही सत्य है कि ऐसा लेखक-समुदाय अपनी हीन हरकतों से विकासोन्मुख श्रेष्ठ साहित्यकारों के मार्ग का रोड़ा नहीं बन सकता। वातावरण को दूषित करके अन्ततोगत्वा वे अपने आपको ही नुकसान पहुँचाते हैं। एकचित्त होकर अपने लेखन-धर्म से जुड़े रहने वाला लेखक ही अपने जीवन-काल में शायद कोई बड़ी रचना (बहुत बड़ी बात है-क्योंकि दोषारोपण करने वाले तो रामचरितमानस जैसे महान और कालजयी ग्रन्थों को भी नहीं बख़्शते) या कोई पंक्ति लिख पाए जो समय के अनन्त फलक पर अपनी पहचान छोड़ने में समर्थ हो पाए। स्मरण रहे कि महाकवि किसी युग में कोई एक होता है। हर तीसरे मकान का दरवाज़ा खटखटाने पर वाल्मीकि, कालिदास या सूर, तुलसी का दीदार नहीं होता। अस्तु, रचनाकारों की आपाधापी, दोषारोपण और गालीगलौज की मानसिकता और लेखकीय मर्यादा का उल्लंघन आदि नकारात्मक शक्तियाँ किसी न किसी रूप में कमोबेश अपनी उपस्थिति दर्ज करती रही हैं। सम्भावित वह लेखक इन सबसे ऊपर होता है। बिलोनी में बिलोई छाछ की सतह पर नवनीत बनकर ऐसे ही रचनाकार उभर कर आते हैं, समय बस उन्हीं को याद रखता है। शेष साहित्यिक-मथानी के इर्द-गिर्द उथल-पुथल मचाकर छाछ-मात्र बनकर रह जाते हैं। साहित्य की इस शाश्वत चर्निंग प्रक्रिया को भूलना नहीं चाहिए। निकृष्ट, साधारण, उत्तम और सर्वोत्तम साहित्य इस चर्निंग प्रक्रिया के विभिन्न सोपान हैं। पारस्परिक आपाधापी, दोषारोपण और गाली-गलौज तक पहुँचने की मानसिकता की प्रवृत्ति साहित्यिक हलकों में पहले भी थी, आज भी है और आगे भी रहेगी। हाँ, आज जब हर तीसरी गली में तीन लेखक, पाँच आलोचक, सात संपादक और यूनिवर्सिटियों द्वारा उत्पादित डाक्टर-विद्वान बसते हैं, इस प्रवृत्ति की मकड़जाल कुछ अधिक व्यापकता, उग्रता के साथ अपना जलवा दिखा रहा है। कंधे से कंधा रगड़ती इस भीड़ में सही कबीर की खोज करने की जहमत उठाने से कुछ हाथ नहीं लग सकता। अगर वह कहीं है तो अपने आप उभरकर सामने आएगा।

पुरानी पीढ़ी और नई पीढ़ी का संघर्ष भी कोई नई बात नहीं है। मुझे अहमदाबाद के एक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक आयोजन की याद आ रही है। कार्यक्रम की समाप्ति के बाद वरिष्ठ एवं बुजुर्ग लेखक, कवि और नई पीढ़ी के कुछ थोड़ी-बहुत अपनी पहचान बना चुके और उभरते हुए साहित्यिक बंधु आपस में बतिया रहे थे कि अचानक एक बुज़ुर्गवार समीक्षक ने सिगरेट पी रहे एक युवा लेखक पर फब्ती कसते हुए अपनी असहिष्णुता का इज़हार करते हुए कहा, देखा ये आजकल के नए लेखक। इनमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी शर्मोहया नहीं। बुजुर्ग और वरिष्ठ लेखकों का ज़रा भी लिहाज़ नहीं करते। युवा लेखक ने यह सुना और ज़ोर का एक कश खींचा और दो क़दम बढ़कर उक्त वरिष्ठ समीक्षक की ओर धुआँ उगला और मुँह फेरकर तीन-चार कदम पीछे हट गया। पूछने पर उसने कहा कि अब उसका ध्यान मेरी रचनाओं की ओर जाएगा। ध्यानाकर्षण करने का यह भी एक लोकतांत्रिक सा तरीका है लेकिन इससे लाभ किसे है और नुकसान किसे है?

एक समय आता है कि विश्वस्तर का बड़े से बड़ा खिलाड़ी भी अनुभव करने लगता है कि अब उसे अपने खेल से संन्यास ले लेना चाहिए। उसकी यह सोच उसकी सेहत के लिए बड़ी मुफ़ीद सिद्ध होती है। राजनेताओं और साहित्यकारों में पता नहीं यह सोच क्यों दिखाई नहीं देती। मेरा ख़याल है कि लेखक को अपनी रचनात्मक ऊर्जा का ग्राफ़ जब नीचे की ओर झुकता नज़र आने लगे तो उसे रिटायर हो जाना चाहिए। यह भी उतना ही सत्य है कि समय की सान पर उम्र बढ़ने के साथ कुछ एक साहित्यकारों की ऊर्जा तेज़-तुर्श होती चली जाती है और जीवन के अन्तिम क्षणों तक उनका ग्राफ़ विकासोन्मुख ही रहता है - रिटायर होने की बात उन पर लागू नहीं होती। हाँ, नई पीढ़ी के अधीर-असहिष्णु साहित्यकार उन्हें खारिज करने का प्रयास करेंगे तो वे एक हंगामा सा तो खड़ा कर देंगे किन्तु मज़बूत और जीवंत साहित्यिक ऊर्जा की नींव पर खड़े उनके भवनों को हिला नहीं पाएँगे। ऐसी शाश्वत प्रतिभाओं से प्रेरणा ही लेनी चाहिए जो समय की तब्दीलियों के साथ सहज रूप से आने वाले बदलाव की नब्ज़ को परखकर अपनी पद्धतियों, सरोकारों और अभिव्यक्ति की नई-नई टेकनीकों के साथ सामंजस्य बिठाते हुए अपनी लेखन शैली को सही दिशा की ओर मोड़ लेती हैं। असहिष्णुता, अधीरता और बौखलाहट जितनी मात्रा में नए साहित्यकारों में पाई जाती है उतनी ही वरिष्ठ साहित्यकारों में भी पाई जाती है। कुंठाग्रस्त तथाकथित वरिष्ठ लेखक, आलोचक और संपादक ही फ़तवों और दोष-दर्शन के रास्तों को अख्तियार करते हैं।

साहित्य-क्षेत्र में भी आगे बढ़ने के लिए संघर्ष तो करना ही पड़ता है। प्रत्येक युग में साहित्योन्नति के नए द्वार खुलते हैं। जिसकी लेखनी में जितना दम-खम होगा वह उतनी ही बारीक, सुस्पष्ट, आकर्षक और सही इबारत लिख पाएगा। ग़लत पूर्णोंवाली तख़्तियों को समय का कम्प्यूटर सिलेक्ट करके डिलिट (डी.लिट् नहीं) की कमांड दे देता है। उभरते नए साहित्यकारों को साधना की राह पर निरन्तर अग्रसर रहना चाहिए। अपनी मस्ती में झूमता-चलता हस्ती इस बात की परवाह कहाँ करता है कि उसके पीछे कौन है और वह क्या कर रहा है। एक वेद-वाक्य है—चरैवेति-चरैवेति अर्थात् चलते चलो, चलते चलो।

बसन्त कुमार परिहार
1/1, पत्रकार कालोनी
अहमदाबाद-380013

कवयित्रियों की बेलाग कविताएँ मर्मस्पर्शी

संचेतना के नए अंक (पूर्णांक 161) में शामा की कविताओं ने मन को छू लिया। इनकी कविताओं का दर्द बहुत गहरा है- भीतर तक उतर जाने वाला। उस पर कवयित्री का सहज स्वीकार भाव तो वेदना की लम्बी यात्रा की उपलब्धि प्रतीत होता है। अनिता रश्मि और रेखा व्यास की कविताएँ भी बहुत अच्छी और उदास करने वाली हैं। इन कवयित्रियों को इसलिए बधाई देने की इच्छा होती है कि ये अपनी उदासी को बिना किसी आवरण से ढके बेलाग ढंग से कविता में ढाल रही हैं।

राजिन्दर कौर
एच-355, डी.डी.ए.फ्लैट्स,
नारायणा विहार, नई दिल्ली

समीक्षा का आदर्श

(समीक्षक द्रोणवीर कोहली के नाम एक ख़त)

संचेतना पूर्णांक 159 में नासिरा शर्मा के कहानी-संग्रह की आपकी समीक्षा इतनी अच्छी लगी कि मैं यह पत्र लिखे बिना नहीं रह सका। ऐसी संतुलित समीक्षा आजकल दुर्लभ है। कहानी-उपन्यास की समीक्षा प्रायः उसके कथ्य तक सीमित रहती है। आपने भाषा के साथ-साथ उसके नामकरण ही नहीं, समर्पण पर भी विचार कर समीक्षा का एक आदर्श प्रस्तुत किया है। आपकी समीक्षा-दृष्टि ने मुझे आकृष्ट और प्रभावित किया। बधाई।

सियाराम तिवारी
एन-2, प्रोफ़ेसर कालोनी, कंकड़बाग, पटना

अच्छी कहानियाँ पढ़वाते रहिए

संचेतना (पूर्णांक 161) की कहानियाँ बहुत अच्छी लगीं। मेराज अहमद की कहानी 'तरक्की' में जीवन भर कठिन परिश्रम कर ईमानदारी से अपने पुत्रों को जीवन में व्यवस्थित करने वाला वृद्ध आखिर में ठगा गया महसूस करता है। पुत्रों के सपने उसके सपने से कहीं मेल नहीं खाते बल्कि उसके सपने के विरोध में हैं। उसकी व्यथा को लेखक ने बहुत अच्छी तरह से शब्द दिए हैं। कमल की कहानी 'कारक के चिह्न' मध्यमवर्गीय व्यक्ति के मन के द्वन्द्व को सामने लाती है। पुत्र का दायित्व और स्वार्थभाव एक साथ मन में उथल-पुथल मचाते हैं। शैली जग्गी ने अपनी कहानी 'रेड' में एक ऐसे परिवार के संत्रास को बखूबी अंकित किया है जिस पर एक ग़लत शिकायत के चलते एन्फोर्समेंट की रेड हो जाती है। परिवार अपने ही घर में, निर्दोष होते हुए भी, मुजरिम जैसा बन जाता है और कैदी की तरह महसूस करता है। ऐसी अच्छी कहानियाँ पढ़वाते रहिए।

[illegible]
[illegible]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सवाल साहित्य अकादमी की प्रासंगिकता का

पिछले दिनों दिल्ली की प्रमुख साहित्यिक संस्था 'संवाद' की ओर से एक गोष्ठी हुई थी। गोष्ठी का विषय था - साहित्य अकादमी की प्रासंगिकता। किसी भी संस्था की प्रासंगिकता पर उस समय तक कोई प्रश्न नहीं उठता, जब तक वह अपने निर्धारित लक्ष्य की ओर गतिशील रहती है और अपनी परिधि में आने वाले व्यक्तियों से अपना जीवंत संबंध और संवाद बनाए रखती है।

किन्तु ऐसा होता नहीं। संसार में बड़े-बड़े आन्दोलनों को जन्म देने वाली संस्थाएँ कुछ समय बाद विचारनिष्ठता से व्यक्तिनिष्ठता की ओर बढ़ने लगती हैं। कुछ व्यक्ति संस्था के बढ़ते महत्व, उसकी उपादेयता, उसकी गरिमा और उसकी अर्थ-सम्पन्नता को अपनी ओर मोड़ना प्रारम्भ कर देते हैं। ऐसे लोग अपने चारो ओर एक जुंडली (Caucus) तैयार कर लेते हैं और उसकी सहायता से संस्था की ऐसी घेराबंदी करते हैं जिसमें अंदर आने या बाहर निकलने के लिए उसका मुखापेक्षी होना पड़ता है।

पिछले अनेक दशकों में साहित्य अकादमी की स्थिति भी लगभग ऐसी ही रही।

साहित्य अकादमी की स्थापना भारतीय साहित्य के उन्नयन और संवर्द्धन के लिए की गई थी। अपेक्षा यह थी कि सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य और साहित्यकारों की सर्जनात्मक उपलब्धियों का यह ऐसा केन्द्र बनेगी जिससे भारतीय साहित्य का एक समन्वित रूप उभर सकेगा। इस प्रयास में सभी भाषाएँ एक-दूसरे के वैशिष्ट्य की पहचान करते हुए आपस में पूरक बनेंगी। साहित्य अकादमी ने ऐसे अनेक महत्वपूर्ण कार्य किए। उसने भारतीय भाषाओं के इतिहास प्रकाशित किए, उनके प्रमुख हस्ताक्षरों पर विभिन्न भाषाओं में उपयोगी पुस्तिकाएँ प्रकाशित कीं, लेखकों के 'हू इज हू' प्रकाशित किए, भारतीय साहित्य का विश्वकोश तैयार करवाया। सबसे बड़ी बात यह कि उसने भारतीय लेखकों के मध्य व्यापक संवाद स्थापित करने का निरन्तर प्रयास किया और 22 भारतीय भाषाओं के लेखकों को उनकी विशिष्ट कृतियों के लिए प्रतिवर्ष पुरस्कृत किया।

संकट भी यहीं से प्रारम्भ हुआ। पुरस्कारों को लेकर होड़ और जोड़-तोड़ की अंधी दौड़ शुरू हो गई। हिन्दी देश की सबसे बड़ी भाषा है। देश की लगभग आधी जनसंख्या की मातृभाषा होने का उसका दावा है। केन्द्र सरकार की वह राजभाषा है और भा[रत] की राष्ट्रभाषा कहलाने की गौरवानुभूति से वह मंडित है। [इसे] दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि साहित्यिक छल-छद्म का जैसा घृ[णित] रूप हिन्दी में दिखता है उतना शायद ही अन्य किसी भाषा में [हो]। इस वर्ष अकादमी का पुरस्कार किसे दिया जाना है इसका नि[र्णय] वह जुंडली करने लग गई जिसके लिए साहित्य-कर्म संस्कृति-क[र्म] न होकर उखाड़-पछाड़ का राजनीतिक कर्म बन गया था। उ[सके] चारो ओर एक ऐसा तंत्र निर्मित हो गया जैसा माफिया व्यव[स्था] के आस-पास होता है।

साहित्य अकादमी की प्रासंगिकता अपने उस मूल स्वरूप [में] है, जिसके लिए उसकी स्थापना की गई थी। यह 'हथिया[ई गई]' संस्कृति का मंच नहीं है, जैसा इसे कुछ लोगों ने बना दिया [था]।

संवाद की ओर से की गई गोष्ठी में साहित्य अकादमी [के] नवनिर्वाचित अध्यक्ष डा. गोपीचंद नारंग मुख्य वक्ता थे। दें[गी] इस्सर, मृदुला गर्ग, सुनीता जैन जैसे साहित्य से गहरा सरोक[ार] महसूस करने वाले लोगों ने भी अपने विचार व्यक्त किए। इस [बात] पर सभी ने आग्रह किया कि अकादमी को उसके अँधेरे कोनों [से] निकालकर उसे खुले आकाश में लाना चाहिए। उसमें उन साहित्य[कारों] की सक्रिय भागीदारी उत्पन्न की जानी चाहिए जिन्हें संकीर्ण [हितों] के कारण निरन्तर उपेक्षित किया गया।

साहित्य अकादमी की अध्यक्ष पद के चुनाव में इस बार [देश] भर के लेखकों ने जैसी जागरूकता और सक्रियता का परि[चय] दिया, वह भी अभूतपूर्व था। संस्कृति-कर्मियों का संसार [अ]न्तर्जगत का संसार होता है, इसलिए बहिर्जगत की [अ]न्य गतिविधियों में न उनकी रुचि होती है, न अधिक सरोकार [ही]। है। किन्तु कोई भी संस्कृतिकर्मी लम्बे समय तक अपने चारो [ओर] फैले भ्रष्ट तन्त्र की ओर आँखें मूँद कर जी नहीं सकता, इस[का] का प्रमाण इस बार अध्यक्ष का चुनाव था।

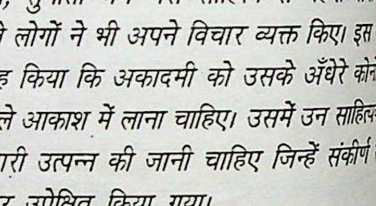

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस बार हमने अपने कुछ प्रबुद्ध लेखकों से यह आग्रह किया कि वे संचेतना के पाठकों को यह बताएँ कि नई शती में उन्होंने कौन-सी एक महत्वपूर्ण पुस्तक पढ़ी है। हमारी ओर से यह भी कहा गया था कि पुस्तक किसी भी भाषा की, कहीं से भी प्रकाशित हो सकती है।

आज जब पुस्तक-पठन की रुचि का निरन्तर ह्रास हो रहा है, हम चाहते हैं कि पाठकों के सम्मुख ऐसी पुस्तकों के नाम आएँ जो लेखकों द्वारा पढ़ी और सराही गई हों। इस सम्बन्ध में हमें अनेक लेखकों का सहयोग प्राप्त हुआ है। स्थानाभाव के कारण हम कुछ लेखकों की पसंद इस अंक में दे रहे हैं, शेष के अभिमत आगामी अंक में प्रकाशित किए जाएँगे।

चर्चित पुस्तकें : पैराडाइम शिफ्ट, रामायण महातीर्थम्, देवदास, कैचर इन द राई, बनजारन हवा, फैमिली मैटर्स, विज़्डम आफ दि एजिज़।

-संपादक

देवेन्द्र इस्सर

पैराडाइम शिफ़्ट : पावरशिफ़्ट : इन्किलाब ज़िंदाबाद

बज़ाहिर इस अटपटे-से शीर्षक के भीतर एक मूल विचार सक्रिय है, यानी परिवर्तन की प्रक्रिया। कई वर्ष पूर्व जब पहली बार पैराडाइम शिफ़्ट के बारे में पढ़ा तो इसकी संपूर्ण अवधारणा को जानने की जिज्ञासा हुई। कुछ अर्से बाद पता चला कि प्रथम बार इसकी व्याख्या थामस एस.कुहन ने की है। और फिर तलाश शुरू हुई उसकी पुस्तक की। आख़िर काफ़ी प्रतीक्षा के बाद प्राप्त हुई, अमेरिकन लाइब्रेरी के सौजन्य से उसकी कलकत्ता शाखा से। पुस्तक थी 'दि स्ट्रक्चर आफ़ साइन्टिफिक रैवलूशन' (1970)। कुहन ने पैराडाइम शिफ़्ट को यूँ परिभाषित किया : "एक पैराडाइम से...दूसरे पैराडाइम में परिवर्तन का अभिप्राय नये मूल तत्वों द्वारा स्थितियों की संरचना है। जब परिवर्तन की प्रक्रिया संपूर्ण हो जाती है तो स्थितियों, कार्य-प्रणालियों तथा लक्ष्यों के प्रति दृष्टि को बदलना पड़ता है।"

तो पहला परेशान करने वाला प्रश्न यह था कि क्या हमें परिस्थितियों के मूल परिवर्तन का बोध है?

और दूसरा प्रश्न जो कम परेशान करने वाला नहीं था, यह था कि क्या हमने स्थितियों, कार्य-प्रणालियों तथा लक्ष्यों के प्रति अपना दृष्टिकोण बदला है? इन दोनों प्रश्नों का उत्तर शायद नहीं में है।

कुहन ने इसमें परिवर्तन प्रक्रिया की थ्योरी निर्मित करने का प्रयास किया है। थ्योरियों के प्रति मेरा हमेशा से मोह रहा है। और इनसे मोहभंग में भी बहुत देर नहीं लगती। लेकिन पैराडाइम शिफ़्ट एक ऐसी थ्योरी है जो सिद्धांत से ज़्यादा 'प्रक्रिया' है। एक ऐसी अवधारणा जो समाज और बंद दिमाग़ को निरंतर 'इंगेज' किए रखती है। इसके अंतर्गत एक विशेष अनुशासन अथवा समाज में ऐसा मूल महत्वपूर्ण परिवर्तन प्रकट होता है कि वह अनुशासन या समाज अपनी पूर्व की संरचनाओं से भिन्न और अलग हो जाता है।

कुहन के कथनानुसार पैराडाइम प्रचलित विश्वदृष्टि है जो किसी विशेष अनुशासन (या समाज) की कार्यप्रणाली या परिस्थिति को परिभाषित करती है। जब उस विश्व-दृष्टि को परिभाषित या चिह्नित करने वाले वाले मूल तत्वों में ऐसी बुनियादी तब्दीली आती है कि उसकी परंपरागत पहचान विलुप्त या ध्वस्त हो जाती है, इसका अभिप्राय है कि पैराडाइम शिफ़्ट हो गया है। परिवर्तन की प्रक्रिया तो निरंतर जारी रहती है लेकिन पुरानी या पूर्व की संरचनाओं के कुछ अवशेष शेष रह जाते हैं। इसके बावजूद उस समाज की मूल संरचना इस प्रकार बदल जाती है कि एक नया परिदृश्य निर्मित हो जाता है। यानी पैराडाइम शिफ़्ट हो जाता है। लेकिन पैराडाइम एकदम या तीव्र गति से शिफ़्ट नहीं होता। इसमें एक प्रकार का 'क्रिटीकल मास' का नियम क्रियान्वित होता है और एक लम्बे अर्से में यह प्रक्रिया सम्पन्न होती है। एक विश्वदृष्टि से दूसरी विश्वदृष्टि तक की यात्रा उस समय शुरू होती है जब एक पैराडाइम में असंगतियाँ प्रकट होना शुरू होने लगती हैं जो प्रचलित विश्वदृष्टि से मेल नहीं खातीं। एक समय के पश्चात् इन असंगतियों की गति में वृद्धि होने लगती है और उसका वेग (मोमेंटम) इतना बढ़ जाता है कि यह अनुभव होने लगता है कि नये मूल तत्वों पर आधारित समाज या अनुशासन की नवरचना हो रही है या हो चुकी है और समाज की दशा एवं दिशा दोनों बदल गई हैं। यानी पैराडाइम शिफ़्ट हो चुका है और इस नये पैराडाइम या समाज की समस्त संरचना को नये तौर पर परिभाषित करने की ज़रूरत है।

इस परिवर्तन-समय को, जब यह असंगतियाँ प्रकट हो रही होती हैं और अपने को पुनर्भाषित करना शुरू करती हैं, 'पूर्व पैराडाइम' कह सकते हैं। पैराडाइम शिफ़्ट अंततः उस समय होता है जब नयी (और प्रायः अपरिचित) कार्य-पद्धतियाँ प्रकट होती हैं जिनको 'पूर्व पैराडाइम' की विश्वदृष्टि के अनुकूल व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। जब ये नयी कार्यपद्धतियाँ अपने प्रभाव तथा क्षेत्र में इतनी प्रभावी हो जाती हैं तो हमें नये समाज तथा बोध का आभास होने लगता है। लेकिन एक दिलचस्प बात यह है कि नये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पैराडाइम्स बहुत कम ही मुख्यधारा के अनुयायियों द्वारा निर्मित होते हैं या उनकी विश्वदृष्टि का अनुसरण करते हैं। रेनेसां के बाद इनलाइटनमेंट से लेकर सूचना क्रांति तक पैराडाइम शिफ़्ट की रफ़्तार तेज़तर होती जा रही है आर अंतराल कम होता जा रहा है। अब हम 'पावर शिफ़्ट' के दौर में दाख़िल हो चुके हैं।

यह महज़ संयोग नहीं कि 1970 में 'दि स्ट्रक्चर आफ़ साइंटिफ़िक रेवलूशन' के प्रकाशन वर्ष में ही आल्विन टाफलर की 'सनसनीख़ेज' पुस्तक 'फ़्यूचर शाक' प्रकाशित हुई। अपनी अगली पुस्तक 'दि थर्ड वेव' (1980) में उसने यह भविष्यवाणी की :

"हमारे जीवन में एक नयी सभ्यता का उदय हो रहा है। दृष्टिहीन लोग हर जगह इसके आगमन को रोकने का प्रयास करते रहे हैं। यह नयी सभ्यता अपने साथ नये परिवारिक सम्बन्ध, कामकाज के नये तौरतरीके , प्यार और जीने के नये अंदाज़, नयी वैज्ञानिक व्यवस्था, नये राजनीतिक संघर्ष और इन सब से बढ़कर एक नयी बदली हुई चेतना ला रही है। लाखों लोग भविष्य की सुरताल से अपने को ट्यून कर रहे हैं। अन्य भविष्य से भयभीत और निराशा की स्थिति में अर्थहीन शरण ले रहे हैं। जिस मरती हुई दुनिया ने उन्हें जन्म दिया है वे फिर से इसको जीवित करने का प्रयत्न कर रहे हैं। नयी सभ्यता का उदय हमारे जीवन की सबसे बड़ी सच्चाई है।"

इस क्रम में इसकी तीसरी पुस्तक 'पावर शिफ़्ट' है जिसका उपशीर्षक है—ज्ञान, धन दौलत तथा हिंसा—इक्कीसवीं सदी के मोड़ पर। यह शीर्षक इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि सामाजिक वर्चस्व के केन्द्रों में ही परिवर्तन नहीं हो रहा बल्कि व्यापार, राजनीति, अर्थव्यवस्था तथा वैश्विक मामलों में भी परिवर्तन हो रहे हैं। टाफ़लर का कथन है कि अब हम वर्चस्व के अंतिम चरण का साक्षात्कार कर रहे हैं। अब हमें इक्कीसवीं शताब्दी में जनतन्त्र को नये तौर पर परिभाषित करना पड़ेगा। ये तीनों पुस्तकें उस ऐतिहासिक परिवर्तन अर्थात् पैराडाइम शिफ़्ट का व्यापक निरीक्षण करती हैं।

इसी वर्ष टाफ़लर इण्डिया टुडे एन्कलेव को सम्बोधित करने के लिए भारत आए थे। उन्होंने कहा : समय थम नहीं जाता। लेकिन राजनीतिक व्यवस्थाएँ जड़ हो जाती हैं। अपनी पुस्तक 'दि थर्ड वेव' का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा कि इसमें उन्होंने यह भविष्यवाणी की थी कि औद्योगिक समाज यानी दूसरी लहर को ज्ञान आधारित अर्थव्यवस्था बदल देगी। "अमेरिका में यह बहस चली कि क्यां ज्ञान अर्थव्यवस्था वास्तव में मौजूद है। एक समूह का यह विचार था कि यह एक बुलबुला है जो जल्दी ही फट जाएगा तो दूसरे ने यह अभिमत प्रकट किया कि इससे पच्चीस वर्षीय 'बूम' की चिंगारी फूट पड़ेगी।" दोनों ग़लत थे। जिन लोगों ने सूचना क्रान्ति और वैश्वीकरण को स्थायी तथा 'बूम' की शक्तियाँ समझा वे इस तथ्य को नहीं सम[illegible] सके कि क्रान्ति 'बूम' या स्थायित्व की पूर्वभूमि नहीं। क्रान्तियाँ अ[illegible] साथ कई प्रकार की अनिश्चितताएँ तथा उतार-चढ़ाव लिए हुए हो[illegible] हैं जिनके बारे में कोई प्रामाणिक भविष्यवाणी संभव नहीं।

प्रत्येक समाज में अधिकतर लोग—राजनेता, बुद्धिजीवी जि[illegible] लेखक तथा आलोचक भी शामिल होते हैं—परिवर्तन का उल्लेख [illegible] बहुत जोर-शोर से करते हैं और इन्किलाब ज़िन्दाबाद का नारा [illegible] लगाते हैं लेकिन दरअसल वे परिवर्तन से भयभीत रहते हैं। उस[illegible] प्रतिरोध करते हैं। या रो-धोकर 'स्वीकार' तो कर लेते हैं लेकि[illegible] उन्हें पैराडाइम शिफ़्ट का प्रायः कोई बोध नहीं होता। अतः [illegible] वर्तमान को अतीत तथा इतिहास के पन्नों के अंतर्गत समझना चा[illegible] हैं। और इस प्रकार के सन्देहात्मक कथन प्रचलित हो जाते हैं [illegible] इतिहास प्रथम बार हास्यक के रूप में प्रकट होता है और दूसरी [illegible] त्रासदी की शक्ल में या यह कि जो लोग इतिहास से नहीं सीख[illegible] वे इतिहास द्वारा दंडित किये जाते हैं। परिणाम यह हुआ कि इति[illegible] बोध का स्थान इतिहासकारों ने ले लिया और हमने परिवर्तन [illegible] प्रकृति, प्रक्रिया, गति तथा दिशा को नज़रअंदाज़ करना शुरू [illegible] दिया। अतः यदि हम वर्तमान स्थितियों को इतिहास के कि[illegible] कालखंड के 'सदृश' समझ कर उनका विश्लेषण करेंगे तो परि[illegible] एवं समाधान दोनों सही नहीं होंगे। जब पैराडाइम शिफ़्ट हो जा[illegible] है तो संदर्भ बिंदु ही नहीं, पैरामीटर्स भी बदल जाते हैं। लिहा[illegible] पुराने पैराडाइम के संदर्भ-बिंदु एवं पैरामीटर्स दृष्टिदोष तथा दिशाभ्र[illegible] उत्पन्न करते हैं।

भारत तीसरी लहर यानी सूचना युग में प्रवेश कर चुका है [illegible] लेकिन उसके संदर्भ-बिंदु प्रथम लहर यानी कृषि युग के हैं [illegible] पैरामीटर्स दूसरी लहर औद्योगिक युग के हैं। इसका परिणाम यह [illegible] रहा है कि वह 'ट्राइसेक्शन आफ़ पावर' में उलझ कर रह गया है [illegible] यही कारण है कि भारत में हम सारी लड़ाइयाँ इतिहास के संद[illegible] में, इतिहास को दुरुस्त करने के लिए इतिहास में लड़ रहे हैं। भवि[illegible] के रोशन हाथ हमारे वर्तमान के दरवाज़े पर न जाने कब से दस्त[illegible] दे रहे हैं। लेकिन हम 'सुरक्षित स्थान, प्रवेश निषेध' का साइनबो[illegible] लगाए बैठे हैं। और बीसवीं सदी के दीमकज़दा कथनों का उल्ले[illegible] कर-कर के इक्कीसवीं सदी में प्रवेश कर रहे हैं।

थामस कुहन का यही विचार है कि एक पैराडाइम से अ[illegible] पैराडाइम की ओर गमन प्रायः प्रतिरोध के साथ (और इस[illegible] बावजूद) होता है। परिवर्तन के प्रति यह विरोध और इसके य[illegible] को स्वीकार करने की अनिच्छा विशेष रूप से उन समाजों [illegible] अधिक होती है जो जड़ रीति-रिवाजों तथा परंपराओं में जकड़े हु[illegible] होते हैं। तो क्या हमें सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक मैक्स प्लांक के कथन [illegible] स्वीकार करना पड़ेगा? उसने आत्मकथा में लिखा है :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

The new paradigm does not triumph by "convincing its oppoents and making them see the light but rather because its opponents eventually die, and a new generation grows up that is familiar with it."

कितनी निराशाजनक स्थिति है। कुछ शेरों की सतरें याद आती हैं। 'दौड़ पीछे की तरफ ऐ गर्दिशे अय्याम (कालचक्र) तू।' लेकिन इसके बरअक्स एक अन्य सतर है 'दौड़ो ज़माना चाल कयामत की चल गया।' अब निर्णय हमें करना है। क्योंकि 'सकत इक तगैयुर को है ज़माने में।' यानी सब कुछ अस्थायी है केवल परिवर्तन को ही स्थायित्व प्राप्त है। आप कहेंगे कि बात एक किताब की थी लेकिन आप दुनिया भर की रामायण ले बैठे। लेकिन जब किसी किताब का ज़िक्र आयेगा तो यह शेर भी याद आएगा ही :

'किताबों के क़रीं जा कर सुकूने दिल न पाओगे
किताबों में समुन्दर बंद है तुम डूब जाओगे।"

बी-3/153, जनकपुरी, नई दिल्ली-58

डॉ. हरदयाल

रामकथा का मर्म

कागज और मुद्रण के सुलभ हो जाने के कारण अब किसी भी विकसित और बड़े जनसमुदाय की भाषा में मौलिक और अनूदित पुस्तकें इतनी अधिक संख्या में प्रकाशित होती हैं कि किसी व्यक्ति के लिए उन सबका पढ़ना तो दूर उनकी सूचना रख पाना भी यदि असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य है। हिन्दी भी विश्व की उन भाषाओं में से एक है, जिनमें प्रति वर्ष बहुत बड़ी संख्या में पुस्तकें प्रकाशित होती हैं। विगत तीन वर्षों (2000-2002) में हिन्दी में कई हजार पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। इन वर्षों में प्रकाशित अनेक पुस्तकें मैंने पढ़ी हैं, कुछ स्वेच्छा से, कुछ प्रयोजन विशेष के आग्रह से। इनमें से ऐसी कई पुस्तकों का नाम मैं ले सकता हूँ जो महत्वपूर्ण और पठनीय कही जा सकती हैं। चूँकि मुझे एक ही पुस्तक पर बात करने की छूट है, अतः मैं स्व. कुबेरनाथ राय की पुस्तक 'रामायण महातीर्थम्' की चर्चा करना चाहूँगा।

इस समय जब भारतीय राजनीति बहुत ओछे ढंग से राम में जनसाधारण की आस्था का दोहन कर रही है यह पुस्तक विशेष प्रासंगिक हो जाती है। आज जन-जन के मन में जो राम भगवान के रूप में विराजमान हैं वे 'अध्यात्म रामायण', 'हनुमान नाटक' और तुलसी-कृत 'रामचरितमानस' की देन हैं। इससे स्पष्ट है कि राम ने हमें नहीं बनाया, हमने (रचनाशील मनुष्य ने) राम को बनाया है। सामी-पैगम्बरी मतावलम्बियों की तरह जो लोग धर्म, अध्यात्म और दर्शन के मामले में अक्ल का दखल स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं, वे इस बात को नहीं मानेंगे। मैं चाहूँगा, ऐसे सब लोग 'रामायण महातीर्थम्' को गम्भीरतापूर्वक नीर-क्षीर विवेकी बुद्धि से पढ़ें और राम का, रामजन्मभूमि का यथार्थ जानें और रामकथा का मर्म समझें।

मैंने यह पुस्तक इस प्रयोजन के लिए नहीं पढ़ी और न ही इस पुस्तक का यह प्रयोजन है। मैंने इस पुस्तक को इसलिए पढ़ा कि कुबेरनाथ राय हिन्दी के उन ललित निबन्धकारों में से एक हैं, जो मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। उनके निबन्धों से स्पष्ट है कि वे भावुक नहीं, भावप्रवण हैं, वे आस्थावान हैं किन्तु अन्ध श्रद्धालु नहीं हैं; किसी विचारधारा विशेष के दलीय अनुयायी नहीं हैं, किन्तु विचारवान हैं। इसलिए उनके निबन्ध भावना को भी तृप्त करते हैं और बुद्धि को भी। किसी रचनाकार में ऐसा संयोग विरल होता है। कुबेरनाथ राय की यह विरलता ही मुझे आकर्षित करती है। 'रामायण महातीर्थम्' में यह विरल संयोग विद्यमान है।

कुबेरनाथ राय की इस पुस्तक में यद्यपि विचार तत्व प्रधान है, किन्तु भावना और लालित्य का अभाव नहीं है। उनका ललित निबन्धकार बीच-बीच में जागता रहता है और हमें ऐसी पंक्तियाँ पढ़ने के लिए मिलती रहती हैं—"दक्षिण की घनी वनानी और पयस्विनी धाराओं की भूमि में रात्रि का रूप बड़ा ही सुन्दर, बड़ा ही मायावी होता है। ज्योत्स्ना और अमा दोनों का अपना-अपना स्वाद है, अपनी-अपनी शोभा है। मायाविनी तो दोनों होती हैं—गोरी हैं या साँवली। जो विवेक-दृष्टि का हरण कर ले वही अन्धकार है। तमिस्रा ही अन्धकार नहीं, रोशनी की चकाचौंध भी अन्धकार है। श्यामवर्ण तो और सहज ही दृष्टि का हरण कर लेता है। खुली आँखें रहने पर भी। भारतीय दृष्टि तो साँवले के साथ ही 'सलोने' को जोड़ती है। 'गोरी' को सलोनी कहने का मुहावरा ठीक से बैठता नहीं है। पर सुन्दर तो दोनों हैं, ज्योत्स्ना और अमा।" (पृष्ठ 306) यह लालित्य गलदश्रु भावुकता का परिणाम नहीं है, अपितु ललित चिन्तन का परिणाम है। यह पुस्तक में यत्र-तत्र-सर्वत्र विद्यमान है। और केवल इसी के लिए इस पुस्तक को बार-बार पढ़ा जा सकता है।

'रामायण महातीर्थम्' में रामकथा और उसके पात्रों के उद्भव और विकास का अवगाहन बड़ी गहराई और विस्तार के साथ किया गया है। इस अवगाहन में कुबेरनाथ राय की अपनी विशिष्ट इतिहास-दृष्टि उभरकर सामने आयी है। यह इतिहास-दृष्टि पूर्णता, समन्वय और शाश्वत की पक्षधर है। उनके इस कथन में उनकी यह दृष्टि उजागर है—"अग्नि और सोम, क्रतु और काम, दिन और रात्रि, प्रकाश और तमस के सामंजस्य पर सृष्टि का प्राण प्रवाहित और पल्लवित हो रहा है। यह सामंजस्य ही जीवन को पूर्णांग बनाता है। हमारी शताब्दी (बीसवीं शताब्दी ईसवी)राजनीतिक सिद्धान्तवाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(आइडियोलोजी) की एकमुखी अतिशयता भोग चुकी है और उसकी यन्त्रणा से परिचित है। मनुष्य के पूर्णांग जीवन प्राप्त करने का एकमात्र पथ यही सामंजस्य है। एक साधारण उदाहरण लें। दाम्पत्य जीवन वही पूर्ण माना जायेगा जिसमें रतिक्रिया और ब्रह्मचर्य का क्रमिक सामंजस्य है। अर्थ का धर्म से, काम का मोक्ष से सामंजस्य और फिर अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष का सामंजस्य ही जीवन का श्रेष्ठ विधान है। ऋषि की यह बात आज भी अकाट्य है।" (पृष्ठ 310) इसीलिए भारतीय इतिहास-दृष्टि आधुनिक इतिहास-दृष्टि से अलग है—"भारतीय इतिहास-दृष्टि 'दार्शनिक' स्वभाव वाली है जबकि आधुनिक इतिहास-दृष्टि 'वैज्ञानिक' प्रकृति की है। प्रथम की पद्धति है समन्वय, दूसरे की विश्लेषण।....भारतीय दृष्टि से इतिहास में काव्य और दर्शन का अनुप्रवेश कोई बेमेल या विसंगत तथ्य नहीं, बल्कि एक अनिवार्य आवश्यकता है।" (पृष्ठ 44) यह भारतीय इतिहास-दृष्टि 'देश' और 'काल' की अपनी अलग अवधारणा को लेकर चलती है, जिसके कारण इतिहास मिथक बन जाता है।

कुबेरनाथ राय ने इसी इतिहास-दृष्टि के आधार पर रामकथा को समझने और विवेचित करने का प्रयास किया है। वे मानते हैं कि रामकथा मूलतः ऐतिहासिक है, किन्तु उसका विकास मिथकीय है और उसमें बहुत-से लाक्षणिक अभिप्राय जुड़ गये हैं—"रामकथा भारतीय मनीषा का एक अत्यन्त विमिश्र उत्पाद है। स्थूल इतिहास के रूप में यह आर्यों की दो सांस्कृतिक धाराओं—आदिम और नव्य की संघर्ष-गाथा है। रावण आदिम आर्यत्व का प्रतिनिधि है। वह प्रजापति और और वैश्वानर अग्नि का उपासक है। रामचन्द्र उत्तर वैदिक संस्कृति के, नव्य आर्यत्व के और किरात-निषाद-द्रविड़ से संयुक्त दीक्षित आर्यत्व के प्रतिनिधि हैं। कथा के स्नायु-मण्डल में उत्तर वैदिक या उस ब्राह्मण-आरण्यक संस्कृति की भाव-रूढ़ियाँ हैं जिसमें विष्णु और इन्द्रादि अन्य आदित्यों का प्राधान्य प्रबलतर हो उठा था। इसके ऊपर भी निषाद-किरात-द्रविड़ लोककथाओं की भाव-रूढ़ियों की परतें चढ़ीं।"(पृष्ठ 32) भारत ही नहीं, भारत के बाहर भी रामकथा की लोकप्रियता का कारण यह है कि वह अपने विकसित रूप में किसी एक प्रजाति की नहीं, अनेक प्रजातियों की कथा बन गयी। उसके विकास में अनेक प्रजातियों ने किसी-न-किसी रूप में अपना योगदान दिया।

रामकथा की विकास-यात्रा और विविध अर्थों की यात्रा का कुबेरनाथ राय ने अपनी पुस्तक में विद्वत्तापूर्ण अैर रोचक विवरण-विवेचन प्रस्तुत किया है।

कथा के साथ-साथ उन्होंने इसके विभिन्न पात्रों के उद्भव और विकास पर भी प्रकाश डाला है। उसके लिए उन्होंने प्राचीन भारतीय साहित्य, पुराणेतिहास और भाषाविज्ञान की विशेष रूप में सहायता ली है। पात्रों के साथ भौगोलिक स्थानों पर भी उन्होंने विचार किया है। जैसे, रावण को वे प्राचीन तमिल 'इरैवण' का संस्कृतकरण मानते हैं, जिसका अर्थ होता है 'ईश्वर' या 'राजा'। उनके अनुसार 'इरैवण' शब्द मूलतः आर्य शब्द 'रयिवान' का अपभ्रंश है। 'रयि' शब्द उपनिषदों में कई बार आया, जिसका अर्थ दैहिक या भौतिक समृद्धि है। इसी 'रयि' से 'रयिवान' और 'रयिवान' से 'रावण' व्युत्पन्न हुआ है। ऐसी ही रोचक व्युत्पत्ति उन्होंने लंका की दी है। वे प्राचीन तमिल का मूल आदिम निषाद मानते हैं जिसके दिव्य प्रारूप 'यक्ष' और 'राक्षस' हैं। "'लंका' इन्हीं की भाषा का शब्द है। प्राचीन तेलुगू में या मध्य भारत में इस शब्द का अर्थ है 'द्वीप'। परन्तु यह भी मूल अर्थ नहीं लगता, बल्कि एक अर्थ-विकास की प्रक्रिया में प्राप्त मूल अर्थ का नया विकास है और इसके पीछे रामायण की कथा का व्यापक प्रभाव है, जिसमें लंका एक द्वीप है। मेरे विचार से लंका का मूल अर्थ 'नग', 'कूट' या 'नगर' है।" उन्होंने अनेक सन्दर्भ देकर इसे विश्वसनीय ढंग से सिद्ध किया है।(पृष्ठ 270-75)

स्पष्ट है कि 'रामायण महातीर्थम्' अत्यन्त रोचक और ज्ञानवर्धक रचना है। यह हमें आनन्दित भी करती है और नये ढंग से रामकथा पर सोचने के लिए प्रेरित भी करती है। लेकिन यह हल्की-फुल्की पुस्तक नहीं है। इसके पाठक का गम्भीर और तीक्ष्ण बौद्धिक होना आवश्यक है। सामान्य पाठकों को यह बोझिल भी लग सकती है।

- एच-50, पश्चिमी ज्योतिनगर, दिल्ली-1100

डॉ.कमल कुमार

देवदास का स्त्रीवादी पाठ

पिछले दिनों भंसाली की फिल्म देवदास रिलीज हुई। बाक्स आफिस पर तो सफल रही, साथ ही तकनीकी और विचार के स्तर पर भी चर्चा के केन्द्र में बनी रही। मैंने यह फिल्म देखी। इससे पहले की बनी दोनों ही फिल्में नहीं देखी थी। शरतचन्द्र का उपन्यास देवदास पढ़ने की इच्छा हुई। अक्सर ऐसा होता भी है। फिल्म देखने के बाद दर्शक मूल कहानी के पाठक बन जाते हैं। अथवा मूलकथा के पाठक फिल्म के बड़े उत्सुक दर्शक हो जाते हैं। यह उपन्यास मैंने पहली ही बार पढ़ा। उपन्यास पढ़ते हुए बार-बार भीतर भूचाल उठ रहा था कि इसका नाम देवदास क्यों है, पारो या पार्वती क्यों नहीं? उपन्यास के अन्त में लेखक का एक वक्तव्य है—'इतने दिन गुजर जाने के बाद पार्वती का क्या हुआ और वह किस हाल में है और क्या करती है, यह कोई नहीं जानता। इसे जानने का मन भी नहीं करता। सिर्फ देवदास के लिए अत्यन्त दुःख होता है....'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसमें स्पष्ट हुआ कि इस उपन्यास का शीर्षक देवदास क्यों है। लेखक के इस कथन ने मेरे मन को झझकोरा और मेरे मन में कई स्त्रियोचित सवाल उठे। कई बातें स्पष्ट से स्पष्टतर हुईं। एक सवाल यह कि क्या इस उपन्यास का कोई स्त्रीपाठ हो सकता है? अगर हाँ तो क्या? लेकिन लेखक और समाज की सहानुभूति देवदास के साथ। वही इस उपन्यास को घोषित नायक भी है। वह प्रेम के लिए मरकर नायक बन जाता है। लेकिन सवाल यह है कि जीवन यथार्थ से पलायन करके, अकर्मण्य, असहाय, निराश-हताश होकर शराब पीने और शराब के नशे में इधर-उधर गिरने-पड़ने में और पी-पीकर मर जाने में भला क्या बड़ाई है। कैसा नायकत्व है? इसके विपरीत पार्वती और चन्द्रमुखी दोनों ही स्त्री पात्र असंगत-विसंगत स्थितियों में जीवन जीती हैं। दोनों स्त्रीपात्र अपने-अपने स्तर पर संघर्ष करती हैं। अपनी दी गई भूमिका को निभाती हैं। अपने कर्तव्य को पूरा करती हैं। अनेक अवरोधों और प्रतिकूलताओं में जीती हुई भी जीवन में हार नहीं मानतीं। न ही अपने प्रेम का त्याग करती हैं। पारिवारिक-सामाजिक प्रतिकूलताओं के बाद भी अपने प्रेम को अंत तक निभाती हैं। पाठक और समाज की प्रेरणा पार्वती और चन्द्रमुखी हो सकती हैं न कि देवदास। फिर सामाजिक न्याय से पाठकों की सहानुभूति देवदास के प्रति क्यों? इसका नायक देवदास क्यों? इस उपन्यास का वस्तु-सत्य चाहे देवदास हो परंतु काव्य-सत्य पार्वती है क्योंकि इस उपन्यास की शक्ति पार्वती है। देवदास की स्थापित छवि के विपरीत पार्वती की शक्ति उपन्यास की कहानी में अंतर्निहित है। फिर इतने वर्षों बाद बनी भंसाली की फिल्म में कथावस्तु में कई परिवर्तन करके उसे स्त्रीविमर्श के साथ जोड़ने का प्रयास भी हुआ हैं। वहाँ इसका नामकरण पार्वती या पारो क्यों नहीं किया गया? हर कलाकृति पाठक और कलाकार को स्वच्छन्द कल्पना का अवसर देती है। भंसाली ने भी इस तथ्य का लाभ उठाया। इसके लिए उसकी आलोचना भी हुई। परन्तु इससे न तो उपन्यास का और न ही फिल्म का महत्व कम होता है। क्योंकि कोई भी रचना रचनाकार का अंतिम सत्य (फिनिश्ड प्रोडक्ट) नहीं होती। न ही रचना अंतिम सत्य की वाहक ही होती है। किसी भी रचना में पाठक और समाज का दखल हमेशा ही रहता है। वे लेखक के विचार से सहमत-असहमत होते हैं। कृति में कहानी और विचार की उनकी व्याख्या लेखक से अलग हो सकती है क्योंकि पाठक और हर समय का समाज अपने संस्कारों, मान्यताओं और मूल्यों से ही कृति का निर्धारण करेगा।

देवदास उपन्यास के संबंध में आज यह प्रश्न और भी विचारणीय हो जाता है। इस उपन्यास का स्त्रीपाठ क्या हो इस पर विचार करना ज़रूरी लगता है। देखा जाए तो उपन्यास के स्त्री पात्र ही अधिक सशक्त, आधुनिक और प्रभावित करने वाले हैं। इस उपन्यास के में दो प्रमुख स्त्री पात्र हैं पार्वती और चन्द्रमुखी। दोनों ही स्त्रियाँ तेजस्वी, स्वाभिमानी, सशक्त, अस्तित्ववान और जुझारू हैं। इसके विपरीत उपन्यास के सभी पुरुष पात्र (देवदास, चुन्नीलाल, पार्वती के पिता नीलकंठ चक्रवर्ती, देवदास के पिता नारायण मुखर्जी, भुवन चौधरी—पार्वती के पति) एकांगी, अहंकारी, आत्मलीन परंतु अशक्त और अस्तित्वहीन हैं। देवदास इस पुरुष सत्तात्मक समाज का ऐपीटोम है। स्वार्थी, अंहकारी, अस्थिर, चंचलचित्त और अनिश्चित। देवदास के विपरीत परन्तु उसके समक्ष है इस उपन्यास की प्रमुख स्त्री पात्र पारो अर्थात् पार्वती। पार्वती इस क्रांतिकारी प्रेमगाथा में स्थापित नैतिक मूल्यों, आचरण संहिताओं, लोक रीतियों, सामाजिक बन्धनों, बाधाओं और अवरोधों को तोड़ती है। पार्वती का व्यक्तित्व दो ध्रुवों के बीच अवस्थित है। एक ध्रुव पर उसका प्रेम है और दूसरे ध्रुव पर उसका स्वाभिमान। प्रेम के लिए वह अपने स्वाभिमान से समझौता नहीं करती।

उपन्यास में पार्वती देवदास के कलकत्ता जाने और आने, शादी से पहले और बाद में देवदास के प्रेम को हर अवरोध में अपने भीतर और बाहर जीवित रखती है। भंसाली की फिल्म में इसे दिए के प्रतीकार्थ द्वारा दिखाया गया है। पार्वती हमेशा यह दीपक जलाए रखती है। शादी के बाद भी उसे अपने साथ ले जाती है। यह दीपक देवदास की मृत्यु के साथ ही बुझता है।

पार्वती में विनय के साथ विरोध का साहस भी है। बचपन की एक घटना में देवदास पारो से पानी लाने के लिए कहता है। वह कहती है। 'अब तो मैं जाती नहीं तुम्हीं जाकर पी आओ।' देवदास के बहुत जिद करने पर वह कहती है, 'मैं हर्गिज नहीं जाऊँगी।'

एक और प्रसंग में पारो की सहेली मनोरमा पूछती है, 'तुम्हारे वर का नाम क्या है?' पार्वती पूरे आत्मविश्वास से कहती है, 'इतने दिनों में तुमने यह भी न जाना, श्री देवदास है।' मनोरमा सोचती है यह रिश्ता अभी पक्का नहीं है, 'क्या कहती है तू, कुछ भी समझ नहीं पाती।' पार्वती कहती है, 'तो देवदास से पूछकर समझा दूँगी।'

यही पूछने के लिए पार्वती काफी रात गये देवदास के घर पहुँच जाती है। देवदास उसे देखकर घबरा जाता है। उपन्यास में यह प्रसंग पढ़ने के योग्य है।

'अरे पारू? इतनी रात को अकेली आई हो?'

'हाँ?'

'रास्ते में डर नहीं लगा?'

'मुझको कोई खास डर नहीं लगता।'

'किसी ने देखा क्या?'

'दरबान ने देखा है।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'और किसी ने?'

'आँगन में नौकर सोए थे हो सकता है किसी ने देखा भी हो।' बिस्तर से कूदकर देवदास ने अंदर से दरवाज़ा बंद कर लिया।

'किसी ने पहचाना तुम्हें?'

पार्वती ने जरा भी उत्कंठा नहीं दिखाई। बड़े सहज ढंग से बोली—

'सभी तो मुझे जानते हैं, किसी ने पहचान लिया हो शायद।'

'तो तुमने ऐसा क्यों किया पारो। इतनी रात को। छिः छिः। कल शक्ल कैसे दिखाओगी।'

'वह हिम्मत मुझमें है।'

भीरु देवदास कहता है—

'माँ बाप को तो कतई नामंजूर है, सुना है। क्या मैं माँ बाप से बाहर हो जाऊँ?'

'हर्ज़ क्या है? हो जाओ।'

रूढ़िग्रस्त और भ्रमित देवदास व्यक्तित्व की अडिगता और तेजस्विता में पार्वती के सामने कहीं नहीं ठहरता। इसी क्रम में एक और प्रसंग को लिया जा सकता है। पार्वती की शादी निश्चित हो जाती है। उपन्यास में पार्वती पोखरे पर पानी भरने आती है और देवदास उससे मिलता है। कहता है—

'मैं आ गया पारू?'

'क्यों?' पार्वती स्थिर पर रूखे स्वरों में पूछती है।

'जैसे भी हो माता-पिता को मैं राजी करूँगा। केवल तुम...।'

पार्वती ने तेज निगाहों से देखा और कहा—

'क्यों तुम्हारे माता-पिता हैं मेरे नहीं? उनकी राय की ज़रूरत नहीं है क्या?'

पार्वती देवदास से यह भी कहती है, 'तुममें मेरी कोई आस्था नहीं। मैं जिनके पास जा रही हूँ वे भी धनवान, बुद्धिमान, शांत और स्थिर व्यक्ति हैं, धार्मिक हैं। मेरे माता-पिता मेरा भला चाहते हैं इसलिए मुझे तुम जैसे अज्ञान, चंचलचित्त, दुर्दांत आदमी के हाथों हर्गिज नहीं सौंपेंगे।'

'इतना अंहकार?'

'क्यों नहीं। तुम कर सकते हो, मैं नहीं कर सकती? तुम्हारा रूप है गुण नहीं। हमारा रूप है और गुण भी।'

पार्वती देवदास से यह भी कहती है, 'जाओ मेरे नाम कलंक लगा दो कि उस रात अकेली मैं तुम्हारे पास आई थी।'

पार्वती के इस व्यंग्य और दुःसाहस को देवदास जैसा अहंकारी व्यक्ति कैसे बर्दाश्त कर सकता था। गुस्से और अपमान से भरकर बंसी की मूठ से पार्वती के माथे पर वार करता है। उसके माथे का एक हिस्सा फट जाता है, चेहरा खून से लाल हो जाता है। देवदा[s] उसे अपनी निजी सम्पत्ति समझता है।

पार्वती स्वाभाविक और सहज रूप से अपनी नियति को स्वीकार करती है। स्थिति के फेर ने पार्वती को उससे ज्यादा परिप[क्व] कर दिया था। शादी के बाद वह ससुराल पहुँती है। साँझ में प[हले] एक खूबसूरत नौजवान आकर उसे प्रणाम करता है—

'माँ मैं तुम्हारा बड़ा लड़का हूँ।'

पार्वती अपने दूसरे बच्चों के बारे में पूछती है। बड़ी लड़[की] यशोदा जो इस विवाह से नाराज़ थी, उसे लिवाने स्वयं उसके [पास] जाने के लिए तैयार हो जाती है। आखिर महेन्द्र उसे लेकर आ[ता] है। पार्वती उसे एक-एक कर अपने गहने उतार कर पहना देती है। उसे कहती है, 'यह तुम्हारा मायका है तुम्हारे पिता का घर।' यशो[दा] अभिभूत होकर उसके पैरों पर सिर झुका देती है—'तुम्हारे पैर पड़ती हूँ माँ।' सदा के लिए यशोदा पार्वती से जुड़ जाती है। एक ओर पार्वती का ग़ुरूर और दूसरी ओर उसकी यह विनम्रता उसके व्यक्तित्व को संपूर्ण बना देते हैं। पार्वती के पति भुवन उसके सामने परास्त दीखते हैं। अपने प्रेमभाव, कौशल, त्याग और ममता से व[ह] भुवन की बिखरी गृहस्थी को बाँध देती है।

पार्वती को जब मनोरमा के पत्र से देवदास की दारुण स्थि[ति] का पता चलता है तो वह पालकी लेकर ताल सोना पहुँच जाती है। मनोरमा पूछती है—'देवदास को देखने आई थी पारू?' 'नहीं अपने साथ लिवा लाने को आई थी। यहाँ उसका अपना तो कोई है नहीं।'

'शर्म नहीं आती पारू?'

'अपनी चीज़ आप ले जाऊँगी-इसमें शर्म किससे?'

पार्वती का यह आत्मविश्वास और अपने प्रेम के प्रति निष्ठा विस्मयकारी है। उपन्यास के सभी पात्र पार्वती के साहसी और स्वाभिमानी होने की बात कहते हैं। लेखक ने स्वयं लिखा : 'पार्वती सदा की स्वाभिमानी थी। उसे जो तकलीफ उठानी पड़ रही थी उसका तिलभर भी किसी को पता न हो, वह उसकी जी जान से कोशिश करती।' शरत नारी मन के अद्भुत चितेरे थे। इसीलिए वे पार्वती के अप्रतिम चरित्र को उजागर कर सके। उसके साहस और स्वाभिमान के साथ ही उसके भीतर की उथलपुथल, चिंता, उद्वेग और अवशता का भी चित्रण किया। उपन्यास में पार्वती को लेखक ने गरीबों की सेवा और बेसहारा अंधे अपाहिजों के लिए काम करते हुए दिखाया है। पार्वती के समर्पण भाव और कौशल से घर में एकात्मकता स्थापित होती है। वह अपनी इच्छाओं की अपेक्षा दूसरों की भावनाओं को आगे रखती है। यह गुण उसे और भी विशिष्ट बना देता है। पार्वती का चरित्र इस उपन्यास का प्राण तत्त्व है। वह अप्रतिम सुन्दरी, स्वाधीनचेता, स्वाभिमानी, साहसी, निष्पाप और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निश्छल तो है ही साथ ही विचारपूर्ण और संघर्षशील भी है। उसकी सहनशीलता, धैर्य, आत्मव्यथा और आत्मलोप अद्भुत है। अपनी भूमिका में वह पूर्ण है।

इस उपन्यास की दूसरी प्रमुख स्त्री पात्र चन्द्रमुखी है जिसकी विषम परिस्थितियों ने उसे तवायफ बनाया। सहनशीलता की प्रतिमूर्ति वह फजीहत, झिड़की, अपमान, अत्याचार और उत्पात सभी सहती है। शराब के नशे में धुत देवदास को जब चन्द्रमुखी उठाती है तो वह कहता है, 'राम राम छूना मत .... तुम्हें मालूम नहीं मैं तुम लोगों से कितनी नफरत करता हूँ।' एक तरफ देवदास, पुरुष-प्रधान समाज का स्वार्थी और दंभी मोहरा। दूसरी तरफ चन्द्रमुखी, अपने यथार्थ से परिचित और अपने दिल से विवश। वह देवदास की नफरत के पीछे छिपी मंशा को समझ जाती है। देवदास के व्यंग्य की चोट और देवदास के प्रति उसका प्रेम उसे बदल देता है। पहले की चन्द्रमुखी वह नहीं रहती। अपना सब कुछ छोड़-छाड़कर कलकत्ता से अपने गाँव चली जाती है। चन्द्रमुखी कहती है कि उसकी इस स्थिति के लिए वही लोग जिम्मेवार भी हैं। बदनाम करने वाले भी वही लोग हैं। औरत अपनी बात कह ही नहीं पाती। औरतों को यह प्यार का अभिनय मजबूरी से करना होता है। जिन्हें वह नफरत करती है उन्हें भी नहीं कह पाती। जब कभी वह दुरूह पीड़ा के क्षण में सही बात कह देती है तो यही लोग शोर करके आसमान सिर पर उठा लेते हैं। और उसे बदचलन कहते हैं। चन्द्रमुखी को जब देवदास की दीन दशा का पता चलता है तो वह कलकत्ता आती है। उसे खोजकर अपने घर ले जाकर उसकी सेवा करती है। देवदास की हालत सुधर जाती है। वह भी चन्द्रमुखी के प्रति अपने प्रेम को प्रकट करता है। चन्द्रमुखी अपनी व्यावहारिक बुद्धि से सोचती है कि उसके साथ रहने में देवदास को सुख और सेवा तो मिलेगी पर सम्मान हर्गिज नहीं मिलेगा। अन्त में वह जाने का निर्णय लेती है। उसके चरणों की धूल धारण कर और उसे प्रणाम करके चली जाती है। 19वीं शताब्दी के अन्त में लिखे गये तीन उपन्यास, गोवर्धन राम जिंदगी का 'सरस्वतीचन्द्र', मिर्ज़ा मुहम्मद हादी रूसवा का 'उमराव जान अदा' और शरतचन्द्र का 'देवदास' तीनों ही स्त्री विमर्श की दृष्टि से महत्वपूर्ण उपन्यास हैं जिनका स्त्री पाठ किया और समझा जाना चाहिए। पुरुष लेखकों द्वारा स्त्री चरित्रों पर लिखे गये ये तीनों ही उपन्यास विलक्षण हैं। उनकी स्त्री संवेदना की अंतरंग पहचान अप्रतिम है। तीनों ही उपन्यास मानवीय संबंधों की जटिलता के मनोविज्ञान को व्यक्त करते हैं। उमराव जान अदा में स्त्री मन की वेदना का चीत्कार है जबकि सरस्वतीचन्द्र और देवदास में स्त्री के अपराधमुक्त पर विफल प्रेम की मार्मिक गाथा है। इन उपन्यासों की स्त्रियाँ समय को लाँघकर वर्तमान में आ खड़ी होती हैं। इनका स्त्रीवादी विमर्श स्त्री मुक्ति की चेतना को सौ वर्ष पीछे ले जाता है। शरतचन्द्र के देवदास का स्त्रीवादी पाठ पार्वती को देवदास से कहीं ऊँचे मुकाम पर स्थापित करता है। इसे स्वीकार करने के लिए रूढ़िवादी और प्रतिगामी पुरुषवादी विमर्श से अलग कर सोचने-समझने और परखने की आवश्यकता है।

डी-35, प्रेस एन्क्लेव, साकेत,
नयी दिल्ली-110017

द्रोणवीर कोहली

खेद है, हिंदी में मैंने ऐसी कोई किताब नहीं पढ़ी!

इतने दिन तो मैं इसी ऊहापोह में रहा कि ऐसी कौन-सी रचना हो सकती है जिसे मैं निस्संकोच भाव से 'विशिष्ट' कृति की संज्ञा दूँ, जिसे पढ़कर मैंने 'रसास्वादन' किया हो या जिस रचना ने मेरी 'संवेदना' का स्पर्श किया हो या मेरी 'मानसिकता को झिंझोड़ा' हो।

निस्संदेह ऐसी तासीर वाली कोई रचना मातृभाषा की ही हो सकती है जिसमें विचार-प्रवाह धाकर गेहूँ की मानिंद होता है। यह मेरा दुर्भाग्य कि मुझे अपनी मातृभाषा का ज्ञान नहीं। इसमें बातचीत तो कर सकता हूँ, लेकिन पढ़-लिख नहीं सकता। इसके लिए मुझे दोष न दें; कसूरवार है तत्कालीन राजनीति, धार्मिक असहिष्णुता और उन महापुरुषों की संकीर्ण मनोवृत्ति जिन्होंने हिंदी-प्रचार की ख़ातिर मातृभाषाओं की बलि चढ़ाई।

ऐसे में यह हिंदी की कोई रचना होनी चाहिए जो विकल्पतः मेरी अभिव्यक्ति की भाषा है, मेरी अर्जित भाषा है।

लेकिन असमंजस में हूँ कि ऐसी किस पुस्तक का नामोल्लेख करूँ? इतना विशाल भंडार है माँ भारती का जिसे इतने धाकड़ लोग भरते रहते हैं, इतने महारथियों की महान रचनाएँ हैं जिन पर लाखों में पुरस्कार मिलते रहते हैं, बड़ी-बड़ी गोष्ठियों-सभाओं में इतने फतवे दिए जाते हैं। फिर भी मुझे ऐसी कोई रचना क्यों नहीं दिखाई पड़ती?

मगर स्थिति स्फटिक की भांति स्पष्ट है। कथा-कहानी ने पाँचवें-छठें दशक में नई ज़मीन तोड़ी थी, लेकिन यह धरती धीरे-धीरे बंजर होती चली गई। जिन पत्र-पत्रिकाओं की बदौलत यह विधा परवान चढ़ी थी,वे काल के गाल में जा चुकी हैं। बाकी रह गए हैं कुकुरमुत्तों की तरह उगने वाले सिपारे जो चुके हुए आत्ममुग्ध लेखकों के रणस्थल हैं और जो इस या उस चेतना को जागृत करने या स्त्री विमर्श (यह शब्द क्या है?) के हीले से अपनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुंदुभि बजाते हुए ब्रह्मसाक्षात्कार की अवस्था में समाधिस्थ हैं। उपन्यास को मैं वैयक्तिक अनुभवों का पक्का दस्तावेज़ मानता हूँ जिसके लिए एकाग्रता एवं एकनिष्ठता अपेक्षित हैं। कितने लेखकों की रचनाएँ इस कसौटी पर खरी उतरती हैं? फिर यह कैसी विडंबना है कि इतने विशाल देश की इतनी समृद्ध और जन-जन की भाषा समझी जाने वाली हिंदी में इतनी लोकप्रिय और पठनीय विधा की कुल मिलाकर मात्र तीन सौ या चार सौ प्रतियाँ छपने लगी हैं और इन्हें भी खपाने में तीन-चार साल लग जाते हैं! काव्य-क्षेत्र अखाड़ा-सा बन गया लगता है। इसमें या तो अपनी धरती से कटे वायवी लंतरानियाँ करने वाले तुकबंदी करने वाले वाहवाही लूट रहे हैं या सूखी घास की मानिंद निस्सार सतरें लिखने और नितांत दुरूह एवं अस्पष्ट वाक्य-रचना करने वाले इतरा रहे हैं। आत्मचरित चूल्हे-चौके के, बनावटी प्रेम-प्रसंगों के, पत्नी विरह के और व्यर्थ के यशोगान और आत्मश्लाघा के वर्णन मात्र तक सीमित हैं। (किसने आत्ममुग्ध होकर लिखा था कि "जवाहरलाल मुझे विदा करने के लिए उठकर दरवाज़े तक आया था?") यात्रा-विवरण ऐसे कि विदेश में कहीं साग परोस दिया जाए, तो उसी की प्रशंसा में पन्ने भर दिए जाते हैं। नाट्य विधा अनुवादों के बल पर किसी तरह जीवित है। बाल-साहित्य के लिए धरती सूखी पड़ी है। आलोचक बंधु उन्हीं ग्रंथों को चीन्हते-पहचानते हैं जो उनके सुहृदयजनों की कलम से निःसृत होते हैं या जो उन तक प्रयत्नपूर्वक पहुँचाए जाते हैं। मैं जानने को उत्सुक हूँ कि ऐसा कोई आलोचक है जो किताब अपनी गिरह से मोल लेकर पढ़ता हो।

ऐसे में संपादक का और पाठकों का अभयदान मिले, तो किसी ऐसी रचना का नाम लूँ जो मेरी दृष्टि में उपर्युक्त कसौटी पर खरी उतरती है और जिसे मैंने हाल ही में फिर पढ़ा है। अभयदान इसलिए कि यह ऐसी भाषा की रचना है जिसके प्रति आम हिंदी वाले में दोनों प्रकार का भाव पाया जाता है—वैर का भी और स्वैर का भी। जहाँ तक मेरा व्यक्तिगत संबंध है, हिंदी मेरी अर्जित भाषा जितनी है, उतनी ही अंग्रेज़ी भी है, और दोनों मेरे लिए सम्मान्य हैं। इसलिए मैंने अंग्रेज़ी की इस कृति को चुना जिसने छपते ही सारी दुनिया की युवा पीढ़ी को और सारे पश्चिमी समाज को, विशेषकर अमेरिकी समाज को आंदोलित किया था, क्योंकि इस एक रचना ने उच्च वर्ग के फरेब, पाखंड और ढोंग का पर्दा चीरकर रख दिया था और ऐसी संस्कृति को जन्म दिया था जो बाद में हिप्पी संस्कृति के नाम से जानी गई।

इस विशिष्ट रचना का नाम है 'कैचर इन द राई' और इसका लेखक है जे डी सैलिंजर। यह पुस्तक 1951 में छपी थी और पहली बार मैंने शायद सन् 53 में इसे पढ़ा। उसके बाद तीन-चार बार इसका पारायण किया, और यह संयोग ही था कि पिछले अक्तूबर-नवंबर में मैंने विदेश-प्रवास के दौरान एक बार फिर पढ़ा और उतना ही अभिभूत हुआ जितना कि पहली बार हुआ था। सैलिंजर की कथन-शैली मुझे इतनी पसंद है कि मनोहर श्याम जोशी ने जब मुझसे सैलिंजर की किसी कहानी का अनुवाद करने को कहा था, तो मैं उछल पड़ा था और बड़े चाव से उसके संग्रह 'नाइन स्टोरीज़' में से एक कहानी का अनुवाद किया था।

'कैचर' मात्र दो सौ पृष्ठों की औपन्यासिक कृति है जिसे पूरा करने में लेखक ने दस बरस लगाए। छोटे-बड़े 26 अध्यायों में विभाजित इस उपन्यास की कथा उत्तम पुरुष में बखान की गई है और इसकी समयावधि मात्र तीन दिन है। कहानी एकदम सीधी-सादी है। प्रमुख पात्र का नाम है कालफील्ड होल्डन, जो सत्रह बरस का किशोर है और उच्च वर्ग के लिए बने विशेष स्कूल का छात्र है। लेकिन पढ़ाई-लिखाई में उचित ध्यान न देने के कारण स्कूल से निष्कासित कर दिया गया है परंतु इस बात की भनक तक वह अपने माता-पिता को नहीं पड़ने देता जो कि न्यूयार्क सिटी के एक पाश अपार्टमेंट में रहते हैं। सो, शनिवार की रात रेलगाड़ी में सवार होकर न्यूयार्क आता है और अपने घर न जाकर होटल के सस्ते-से कमरे में ठहरता है। यहाँ लिफ्टमैन और कालगर्ल के चंगुल में फंस कर पिटता है। होटल से निकल कर वह अपने एक पुराने अध्यापक के घर जाता है लेकिन आधी रात को अचानक नींद खुलने पर पाता है कि यह समलिंगकामी अध्यापक उसके सिरहाने बैठा लार टपका रहा है। होल्डन वहाँ से भाग खड़ा होता है और सेंट्रल स्टेशन की बेंच पर रात व्यतीत करता है। अगले दिन शहर में भटकते हुए अपनी परिचित अनेक लड़कियों से फोन पर संपर्क करने का प्रयास करता है, लेकिन नाकामयाबी ही हासिल होती है। निराश होकर बाद में अपने को बालिग बताकर दारू पीकर अपने अवसाद को दूर करने की कोशिश करता है। फिर रात को किसी वक्त चुपके से अपने माता-पिता की अनुपस्थिति में अपनी दस बरस की बहन के कमरे में घुसता है और बातों ही बातों में उसे बताता है कि उसे स्कूल से क्यों निष्कासित किया गया। यहीं पर वह बहन को बताता है कि उसके जीवन की अभिलाषा क्या है : राई के खेत में दौड़ने-भागने वाले बच्चों को गिरने-लुढ़कने से बचाना। उसके भीतर यह अभिलाषा इसलिए ज़ोर मार रही है, क्योंकि वह प्रत्येक वयस्क को 'फोनी' समझता है।

अब 'फोनी' एक दिलचस्प शब्द है जो कि ग्राम्य प्रयोग कहा जा सकता है जिसका ध्वन्यर्थ शायद फरेबी, पाजी, धूर्त, ढोंगी, ज़मानासाज़ या गुस्ताख है। संभवतः सैलिंजर ने ही पहले-पहल इस शब्द का इस अर्थ में प्रयोग किया जो कि बाज़ारू गुफ्तगू यानी स्लैंग है। उपन्यास में 44 बार लेखक ने इस शब्द का प्रयोग किया है। होल्डन की यह धारणा है कि फ़ोनी वयस्कों की तुलना में बच्चे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निष्कपट होते हैं जो कि झूठ नहीं बोलते, मन की बात किसी से छिपाते नहीं हैं। यही कारण है कि वह बच्चों की रक्षा के लिए हमेशा उत्कंठित-लालायित रहता है। इसी भावना को व्यक्त करने के लिए उपन्यास का नामकरण किया गया है—'कैचर इन द राई'।

होल्डन न केवल समस्त वयस्क लोगों को फ़ोनी कहता है, बल्कि स्वयं भी फ़ोनी है, जो कि उसके आचार-व्यवहार से प्रकट होता है, हालांकि इस दुर्गुण को वह लक्ष्य नहीं कर पाता—शायद अपरिपक्व बुद्धि के कारण। ऐसा इसलिए कि अब वह बाल्यावस्था की देहरी लाँघ कर प्रौढ़ावस्था में प्रवेश करने जा रहा है और वे सब गुण-दुर्गुण उसके भीतर प्रकट होने लगे हैं जो कि वयस्कों में पाए जाते हैं। उसकी दृष्टि में बड़ों में नशाखोरी, सिगरेटनोशी, कामुकता निंदनीय हैं, लेकिन वह स्वयं इनमें लिप्त होता जाता है। संक्षेप में, होल्डन एक ऐसा पात्र है जो बाल्यावस्था के स्वप्नजाल और वयस्कों के दायित्वों के बीच झूलने वाला एक किशोर है।

जैसा कि इस उपन्यास की प्रकाशन तिथि 16 जुलाई 1951 से स्पष्ट है, यह दूसरे विश्वयुद्ध की छाया में लिखा गया। पश्चिम में, विशेषकर अमेरिकी समाज में यह बड़ा अहम समय था। रीति-नीति को, रूढ़िवादिता को, स्थापित परंपराओं-परिपाटियों को अक्षुण्ण रखने की विवशता थी—जैसे, स्कूल में लड़के फौजियों की तरह पोटा-पोटा बाल रखते थे, दूध-सी धुली हुई शर्ट पहनते थे, टाई भी लगाते थे; और लड़कियाँ मोज़े-जुराबें, चुन्नट वाली स्कर्ट और ऊँचे बूट पहनती थीं। और भी कई रीति-रिवाज थे जिनको अक्षुण्ण रखने में भद्रलोक कोई कोताही नहीं करते थे।

लेकिन इससे भी बड़ी बात यह थी कि भद्रलोक सेक्स के बारे में खुलेआम बात करने को अभद्र मानते थे।

लेकिन इस उपन्यास ने इन सारी रूढ़ियों की धज्जियाँ ही उड़ाकर रख दी थीं। हिप्पी बनकर दर-दर घूमने वाले युवक-युवतियों का पहरावा कैसा था, वह शिष्टाचार का कड़ाई से पालन करने वालों को मुँह चिढ़ाता-सा लगता था। फिर उनकी स्वेच्छाचारिता। मगर इस उपन्यास में सेक्स को लेकर जो वर्णन आया है, वह तत्कालीन माहौल में अकल्पनीय था। उपन्यास के तेरहवें-चौदहवें अध्याय में होल्डन तथा होटल के लिफ्टमैन और कालगर्ल के बीच जो सौदेबाज़ी होती है, वह कमाठीपुरा-सोनागाछी की वेश्याओं की बतकही जैसी ही लगती है जिसका सटीक वर्णन 'मुर्दाघर' में दीक्षित ने किया है।

आज से पचास बरस पहले इस प्रकार के प्रसंग को कहानी में लाना और सेक्स का खुला वर्णन इस रूप में करना अकल्पनीय था, क्योंकि आचार-विचार में पश्चिम के लोग तब भी उस दकियानूसी युग में साँस ले रहे थे जिसे 'विक्टोरिन युग' के नाम से अभिहित किया जाता है—'नो सेक्स, वी आर इंग्लिश!' प्रतीत होता है सैलिंजर ने इस स्थल का इस रूप में वर्णन करके यह बतलाना चाहा है कि होल्डन में प्रौढ़ अपना कौमार्य भंग करने को लालायित तो था, लेकिन उसके भीतर का बालक उसे ऐसा करने की अनुमति नहीं देता।

नतीजा वही हुआ जो होना था। उपन्यास निकलते ही चारों तरफ सैलिंजर की थू-थू होने लगी और पत्र-पत्रिकाओं में माँग की जाने लगी कि पुस्तक पर प्रतिबंध लगाया जाए। कहा गया कि उपन्यास का एक-एक पन्ना "गंदगी" में लिबड़ा है, "यह पढ़ने लायक ही नहीं है" और बच्चे इसे पढ़कर "भटक" जाएंगे। सबसे बड़ी बात तो यह कही गई कि जिस लड़के को एक प्रतिष्ठित स्कूल में शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा मिली है, उससे इस प्रकार के अश्लील आचरण की अपेक्षा ही नहीं की जा सकती थी।

वास्तव में सैलिंजर का एक उद्देश्य अमेरिकी शिक्षा पद्धति पर चोट करना भी था। धनी-मानी लोगों ने अपनी संतान की विशेष शिक्षा-दीक्षा के लिए अलग से स्कूल खोल रखे थे। लेकिन सैलिंजर ने होल्डन के स्कूल के लड़कों के उदाहरण दे कर यह सिद्ध करना चाहा कि इन स्कूलों में मिलने वाली शिक्षा कितनी बेकार है। होल्डन का जो रूममेट है, वह सेक्सी है और औरतें उस पर मरती हैं। यही लड़का कभी होल्डन के पड़ोस में रहने वाली छोकरी को पटा लेता है जिसके साथ होल्डन के प्रेम-संबंध थे। उसी स्कूल मे एक लड़का ऐसा है जो हमेशा मैला-कुचैला रहता है, दाँत तक नहीं मांजता। एक लड़के को एक धौंसिया इतना दिक करता है कि वह आत्महत्या कर बैठता है। इसी तरह कई लड़कों के भीतर की खामियाँ दिखाकर सैलिंजर ने प्राइवेट स्कूलों की शिक्षा-पद्धति पर करारा प्रहार किया और यह दिखाया कि इन स्कूलों से कोई लड़का होनहार बनकर नहीं निकलता। यही नहीं, पुराने अध्यापक की लंपटता का दिग्दर्शन करा उसने इस शिक्षा-पद्धति पर प्रश्नचिह्न लगाया। स्वयं होल्डन को भी इस शिक्षा का कोई लाभ नहीं मिलता। वह पढ़ाई से जी चुराता है और विषादग्रस्त रहता है और शहर में भटकता फिरता है। होल्डन के इस भटकाव का एक कारण यह भी था कि उसके छोटे भाई की मृत्यु के उपरांत उसके माता-पिता ने होल्डन की लगभग उपेक्षा ही करनी शुरू कर दी थी। इस बहाने सैलिंजर ने माता-पिता के दकियानूसी रवैए का मखौल उड़ाया। वह अपने माँ-बाप का ध्यान आकर्षित करने के लिए ही इस तरह का व्यवहार करता है और एकदम 'अलगाव' की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और होल्डन मृत्यु, पागलपन, हत्या-आत्महत्या जैसे शब्दों का खुला प्रयोग करने लगता है।

होल्डन सारी दुनिया से कट-सा जाता है और यहीं से अलगाववाद की धारणा का उदय होता है जिसे हिप्पियों ने अपने मूल मंत्र के रूप में ग्रहण किया। 'कैचर' से प्रेरित इन हिप्पियों की फौज दुनिया के कोने-कोने में भटकने लगी। शायद इतिहास में पहली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसमें कोई सचाई हो या न हो, क्या यह अजीब नहीं लगता कि जिस लेखक की एक ही रचना ने युवा पीढ़ी को विद्रोह के लिए तैयार किया, उसी लेखक की अब कोई भी रचना छपने योग्य नहीं समझी जा रही? एक किंवदंती यह भी है कि सैलिंजर अपने विशाल बंगले के कोने में बनी जिस कुटिया में बैठ कर लिखता है, उसमें एक बार आग लगी थी जिसमें उसकी सारी पांडुलिपियां स्वाहा हो गई थीं।

सैलिंजर के विलक्षण व्यवहार के बारे में एक और अद्‌भुत बात मालूम हुई है। जो लेखक पर्दे में छिपकर रहता है, किसी को अपना फोटो नहीं खीचने देता, और यदि कोई घात लगाकर उसका फोटो खींचने का प्रयास करता है और सैलिंजर को भनक पड़ जाती है, तो वह सचमुच उस पर झपट पड़ने में भी गुरेज़ नहीं करता। जो शख़्स अपने जीवन के बारे में किसी को कुछ लिखने की न तो सामग्री देता है, न अनुमति, वही व्यक्ति अपनी रायल्टी वसूल करने और अपने प्रकाशनाधिकार की रक्षा के लिए कितना फिक्रमंद रहता है, उसका किस्सा पिछले दिनों अमेरिका में 'बुक' नामक एक नई साहित्यिक पत्रिका में छपा है। संयोग से उसका अक्तूबर अंक मेरे हाथ लगा जिसमें सैलिंजर के एजेंट की सहायिका ने एक लेख लिख कर यह रहस्योद्‌घाटन किया है कि सैलिंजर समय-समय पर अपनी कुटिया से निकलकर न्यूयार्क आता है और अपनी पुस्तकों की बिक्री, रायल्टी की राशि और अनुबंधों के बारे में गंभीरता से खोजबीन करने में किसी प्रकार की कोताही नहीं करता, हालांकि न्यूयार्क जैसी नगरी से उसे सख्त नफरत है।

एस-22/17, फेज़-3, डी.एल.एफ.सिटी-122002(गुड़गाँव)

मृदुला गर्ग

बदला हुआ रुख

सिर्फ़ हवा बनजारन नहीं होती; लेखन शैली भी होती है और उसी का हमें इन्तज़ार रहता है। जैसे हवा तभी ताज़ा रह सकती है जब रुख बदल-बदलकर बहे, वैसे ही कहानियाँ भी तभी प्रभावशाली हो सकती हैं जब कोई नया रुख उजागर करें। यूँ भी कहानी-संग्रह पढ़ने का मज़ा, हवा पर सवार होकर घूमने की तरह है। ऐसी हवा, जो विभिन्न रूपों-रंगों-तापमानों के दृश्यों पर होकर गुज़रे; उन पर पड़ी धूल की परतें झाड़कर उन्हें पारदर्शी बनाये और पाठक से यह अपेक्षा रखे कि वह उन्हें अपनी नज़र से नहीं, किसी और की खानाबदोश नज़र से देखेगा। उपन्यास की तरह, कहानी-संग्रह के तमाम नज़ारे मिलकर, एक मुकम्मल शहर नहीं बनाते। कोना-कोना करके, वे आपको बहुत कुछ दिखला जाते हैं, गलियाँ, आबादियाँ, वीराने। एक शहर भले न बने, एक मुकम्मल तस्वीर फिर भी बनती है, अन्वेषित यथार्थ की तरह। या बननी चाहिए। कोई कहानी संग्रह तभी सफल माना जा सकता है, जब ऐसी तस्वीर बने। और वह तभी बन सकती है, जब लेखक के पास मौलिक दृष्टि, शिल्प और शब्द-विन्यास हो। या कम-से-कम, इनमें से एक हो, जो तमाम दृश्य-बिम्बों को एक धागे में ऐसे पिरोये कि धागा दिखे तक नहीं। सिम्मी हर्षिता का 'बनजारन हवा' एक ऐसा ही पठनीय कहानी संग्रह है, जिस पर बातचीत की जानी जरूरी है।

संग्रह की दो कहानियाँ, अपने मौलिक कथ्य और भाषा जादूगरी के लिए विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, 'मोरपंखों की दुनिया' और 'तरु को देख आना'। औरतों-मर्दों की सांझी दफ़्तरी दुनिया का नज़ारा पेश करती 'मोरपंखों की दुनिया', यौन शौषण और लिंगभेद से परहेज़ करती हुई, शिक्षा संस्थान और सांस्कृतिक गतिविधियों की जो बखिया उधेड़ती है, वह जितनी दिलचस्प है उतनी ही पीड़ा-पूर्ण। 'तरु को देख आना' कहानी, रिश्तों को, चाकू की उस धार पर चलाकर आंकती है, जिसे आज की गतिशील दुनिया में नित नया रूप लेता आर्थिक-सामाजिक वर्गीकरण सान पर चढ़ाता है। बहुत मारक बनकर उभरती है यह धार। वह काटती है तो इतने आहिस्ता-आहिस्ता कि तुरन्त चोट पहचानी नहीं जाती फिर मालूम पड़ता है कि उसने कलाई की नस ही क़ाट डाली और कुछ शेष नहीं रहा। कहानीकार अपनी तरफ से कोई विश्लेषण किये बग़ैर, कहानी और पाठक को एक दूसरे के रू-ब-रू, अकेला छोड़ देता है, इसलिए यह मारक तत्त्व और तेज़ हो जाता है।

'कब्रगाथा' और 'उस फूल का नाम' हमें एक परित्यक्त बंजर प्रदेश में ले जाती हैं और वहाँ फिंकी दो स्त्रियों की संघर्षगाथा से परिचित कराती हैं। व्यथा की कमी दोनों में नहीं है; 'कब्रगाथा' तो नाम के अनुरूप, पूर्ण हताशा की कहानी हो सकती थी। पर जिजीविषा और व्यंजना के स्पर्श के कारण, वे आशा की कहानियाँ बन गई हैं। हवाई उम्मीद की नहीं, हवा का रुख बदलने की कोशिश की। 'आओ बातें करें' हमें ऐसे झाड़ में ले जाकर गिरा देती है, जहाँ हर मासूम सवाल का जवाब इतने काँटे उगा देता है कि खुद कहानी भी लहूलुहान होने से नहीं बचती। संग्रह की ज़्यादातर कहानियों में ज़िन्दगी को, अपनी अनुभूतियों से अर्जित, बेखौफ़, बेलौस दृष्टि से देखने की आदत को सहज रूप से अभिव्यक्ति मिली है। कहीं-कहीं यह सहजता खंडित भी हुई है, सबसे ज़्यादा 'बनजारन हवा' नामक कहानी में ही, जो संग्रह को उसका नाम ही नहीं, अवधारणा भी देती है। जहाँ पहले की नामित कहानियों में शिल्प और भाषा-विन्यास ने ऐसे जन्म लिया है, जैसे हवा ने अपने ज़ोर से चक्रवात पैदा किया हो; इस कहानी में लेखिका ने तमाम अख्तियार अपने हाथों में ले लिया है। कह सकते हैं कि संग्रह की काफ़ी कहानियाँ, निहायत प्राकृत, पुरअसर और शोख तरीके से हमें यह अहसास करवाती हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बार ऐसा हुआ कि माँ-बाप के 'फोनी' रवैए के प्रति विद्रोह करने वाले युवक इतनी बड़ी संख्या में उठ खड़े हुए थे। अचरज की बात तो यह थी कि इनमें अधिसंख्य वे शहरी श्वेत युवजन थे जिन्हें हर प्रकार की भौतिक सुविधाएं उपलब्ध थीं और जिनका आदर्श 'कैचर' का होल्डन था।

लेकिन इसके परिप्रेक्ष्य को भी नज़रअंदाज नहीं करना होगा। अमेरिका में होल्डन-पूर्व पीढ़ी अवसाद और विषाद से ग्रस्त थी। करीब तीस प्रतिशत बेरोज़गारी के आलम में कोई भी अपने आपको भौतिक सुख-सुविधाओं से वंचित रखने को तैयार नहीं था। इसके विपरीत, होल्डन एक ऐसा किशोर था जो अपने माता-पिता के सुखी जीवन का सहभागी न बनकर उससे भागता है। वह उस स्कूल में पढ़ना ही नहीं चाहता जहाँ धनी-मानी लोगों के लड़के जाते हैं, उस समाज में ही नहीं रहना चाहता जो धनलिप्सु हैं और उजाड़-बियाबान जगह पर बनी किसी कुटिया में जाकर जीवन काट देना चाहता है। इस तरह होल्डन जैसे असुरक्षित पात्र ने अमेरिकी और पश्चिमी समाज को बुरी तरह झकझोरना शुरू किया—यहाँ तक कि होल्डन का रचनाकार स्वयं भी समाज-विमुख हो गया। आज करीब 84 बरस की उम्र में एक संन्यासी की तरह वह एकांतवास में ही सुख प्राप्त करने में लगा है। सन् 1953 में ही, यानी कि 'कैचर' छपने के दो-ढाई बरस बाद ही सैलिंजर ने एक इंटरव्यू में स्वीकार किया था कि उसका बचपन बहुत कुछ होल्डन के बचपन जैसा ही था और स्पष्ट रूप से यह बात भी कही थी : "इस बारे में लोगों को सारा बताकर मुझे बड़ा चैन मिला है।"

फिर यह भी भूलिए मत कि उन दिनों अमेरिका कम्युनिस्ट विचारों वाले लोगों के पीछे हाथ धोकर पड़ा था। यही नहीं, ऐसे हरेक आदमी पर नज़र रखी जा रही थी जो परंपरा-पोषित रूढ़िवादी मूल्यों को चुनौती देने का संकेत भी देता था। ऐसे में 'कैचर' जैसी अनन्य रचना का साहित्यिक मूल्य समझते हुए भी होल्डन की पीढ़ी के हिप्पियों और उनकी जीवन-शैली का सत्ताधारी कैसे समर्थन करते! इससे अलगाववाद को और भी प्रश्रय मिला।

ऐसा विलक्षण लेखक है सैलिंजर और ऐसा अद्भुत है उसका यह उपन्यास।

लेकिन पाठकों को यह जानकर अचरज होगा कि सैलिंजर की अंतिम कहानी 1965 में छपी थी और उसके बाद इसकी कोई रचना प्रकाश में नहीं आई। एक कहानी पर फिल्म भी बनी थी कभी, लेकिन उसे देखकर सैलिंजर इतना नाराज़ हुआ कि अब अपनी किसी भी रचना पर फिल्म बनाने की अनुमति नहीं देता। यही नहीं, फिल्म के धंधे को वह हेय दृष्टि से देखता है। 'कैचर' में होल्डन के एक भाई का ज़िक्र बार-बार आता है जिसका नाम लेखक ने मात्र डी बी दिया है। डी बी हालीवुड में पटकथाएं लिखता है। होल्डन की दृष्टि में फिल्म के लिए लिखने का कर्म वेश्यावृत्ति करने के समान है।

मगर एकांतवास करने और कुछ भी नया प्रकाशित न करने के बावजूद सैलिंजर आज भी प्रसिद्धि के शिखर पर है और आज भी उसके उपन्यास और कहानियों की लाखों प्रतियां बिकती हैं। 'कैचर' के बारे में मुझे 2000 तक के आँकड़े मिले हैं, जिस साल तक उसकी केवल अंग्रेजी संस्करण की ही छह करोड़ प्रतियां बिक चुकी थीं। हिंदी में तो यह उपन्यास आया नहीं, किसी दूसरी भाषा में इसका अनुवाद हुआ हो, इसकी मुझे जानकारी नहीं, क्योंकि लेखक इसकी इजाज़त ही नहीं देता। प्रचार-प्रसार से अपने आपको एकदम दूर रखना चाहता है। 'कैचर' के प्रथम संस्करण पर इसका फोटो और परिचय छपा था। उसके बाद लेखक ने इसरार किया कि दोनों को हटा दिया जाए। कहीं तीसरी आवृत्ति के बाद ऐसा हो पाया। मेरे पास जो जेबी संस्करण है, उसमें लेखक का न फोटो है, न परिचय का एक शब्द। एक समीक्षक ने सच ही कहा है कि "सैलिंजर इसलिए प्रसिद्धि पा गया है, क्योंकि वह प्रसिद्धि पाना नहीं चाहता।"

स्थिति यह है कि सैलिंजर आज यदि कोई नई रचना छपवाए या अपनी रचनाओं पर फ़िल्म बनाने की अनुमति दे, तो प्रकाशक और फिल्म-निर्माता उसके घर तक डालर बिछा दें। परंतु क्या यह सच है कि सैलिंजर ने लिखना ही छोड़ रखा है?

इस बारे में ऐसी कई बातें उड़ रही हैं जो किंवदंती जैसी लगती हैं। एक धारणा यह है कि सैलिंजर लगातार लिख रहा है और उसके पास अप्रकाशित रचनाओं का पुलिंदा रखा है। फिर क्या बात है वह इन्हें छपवाने से परहेज़ करता है?

इसके बारे में एक अद्भुत किस्सा बताया जाता है।

न्यूयार्क से 'न्यूयार्कर' नामक एक साप्ताहिक निकलता है जिसमें छपने को हर लेखक लालायित रहता है। यही नहीं, इसका संपादक पद, विशेषकर कथा विभाग के संपादक का पद बड़ी प्रतिष्ठा का पद समझा जाता है। यह वही पत्रिका है जिसमें पिछले दिनों सलमान रुश्दी ने भारतीय साहित्य पर एक लेख लिखकर यह प्रतिपादित किया था भारतीय भाषाओं में अभी तक कोई मार्के की रचना प्रकाशित नहीं हुई।

बहरहाल, इस पत्रिका ने द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान सैलिंजर की एक रचना को अस्वीकृत किया था, लेकिन उसी रचना को चार साल बाद छाप भी दिया था। कहते हैं कि उसके बाद सैलिंजर लगातार अपनी रचनाएं 'न्यूयार्कर' में भेजता रहता है और 'न्यूयार्कर' उन्हें लगातार अस्वीकृत करता रहता है। ऐसी अस्वीकृत रचनाओं का ढेर लग गया है सैलिंजर के पास और वह बज़िद है कि पहले उसकी कोई रचना इस पत्रिका में छपेगी, उसके बाद ही अन्यत्र।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि हमारे समाज में लड़की के लिए बनजारन फ़ितरत को निभाना कितना मुश्किल है। पर जब 'बनजारन हवा' कहानी इसी अहसास को कथ्य बनाती है तो असर बढ़ता नहीं, कम हो जाता है। कहानी में बनजारन फ़ितरत की एक लड़की है जो शादी के लिए रस्मी तौर पर दिखलाये जाने से बचती फिर रही है। यहाँ-वहाँ भटकती हुई, वह मर्दों को तरह-तरह की उपमाओं से नवाज़ती है। किरदार दिलचस्प है, हमारा जुड़ाव भी उससे बखूबी बनता है। पर बचकाना उपमा-बिम्बों का अत्यधिक प्रयोग, अन्ततः, उसे भी बचकाना बना देता है। वही शब्द-कौशल, जो 'मोरपंखों की दुनिया' को संवारता है, 'बनजारन हवा' को मात्र दिलचस्प बनाकर छोड़ देता है। मेरा ख़्याल है कि इसी कहानी का नाम ज़्यादा लोगों की ज़बान पर आएगा और वह मेरी स्थापना का सबूत होगा। क्योंकि यह कहानी, संग्रह की अन्य कहानियों से पैदा हुए तेज़ हवा के दबाव से हमें मुक्ति दिलाती है, इसलिए उसका नाम, बिना ख़तरा उठाये, आसानी से मुँह पर आ जाता है। संग्रह में लेखकीय कौशल के ऐसे गतिरोध कुछ और भी मिलेंगे पर वे उसकी शोख़ी और मौलिकता भरी रफ़्तार को बहुत ज़्यादा रोके नहीं रख पाते। 'बनजारन हवा' उन कहानी संग्रहों में से है, जिसे पढ़ना ज़रूरी हो जाता है। अपना मनोबल बनाये रखने के लिए भी, कि हमारे पास ऐसे लेखक भी हैं, जो बरसों से चुपचाप लिखते आये हैं और अब तक हवा पर सवार होने का साहस बनाये हुए हैं। रचनात्मकता का प्रयोजन ही यह है कि वह जब-तब, फ़िज़ा पर छाये गर्द-गुबार को फूंकों से उड़ाने का करतब करे और कुछ देर के लिए हमें ताज़ी, बेलौस बहती हवा में साँस दिलवाए।

और सिर्फ़ साँस दिलाकर न छोड़ दे। सोच की नई दिशा भी हमारे सामने खोले। एक बार ख़ुद अपने लिए सोचने की आदत पड़ जाती है तो हर वर्ग से उठाया गया किरदार, हर दूसरे वर्ग के किरदार का हमदर्द बन सकता है।

ई-118, मस्जिद मोठ, जी.के.3,
नई दिल्ली-110048

सरोज वशिष्ठ

झकझोर देने वाली दास्तान

कवि, सुवक्ता, विद्वान, मनीषी, पंडित चाहे कुछ भी कहें लेकिन बुढ़ापा आखिर है तो बुढ़ापा ही। अगर आपको यह समझ आ जाए कि बूढ़े कैसे होना है तो आप स्वयं को बुद्धिमान मान सकते हैं। ज़िन्दगी जीना एक महान कला है और वृद्धावस्था उसका सबसे कठिन अध्याय है। सबसे अरुचिकर नज़ारा वह होता है जब कोई वृद्ध उस संसार को त्यागना नहीं चाहता जिस संसार ने उसे त्याग दिया है।

रोहिण्टन मिस्त्री के उपन्यास 'फैमिली मैटर्स' में हमारी मुलाकात ऐसे ही एक 79 वर्षीय विधुर पारसी वकील नरीमन से होती है। वह जब जवान था तो उसका इश्क एक फिरंगी लूसी ब्रागां से बरसों चला था। इश्कबाज़ी कम और माँ-बाप के डर से शादी न कर पाने के कारण हर भेंट में दोनों में जमकर लड़ाई होती थी। जैसा कि बम्बई में रिवाज है, हर रविवार पारसी अपनी मित्र मंडली में स्काच का आनन्द उठाने के बहाने अनेक पारिवारिक समस्याओं का हल ढूँढ निकालते हैं। उस दिन की गोल मेज़ बैठक में नरीमन वकील की माँ मित्र मंडली को लूसी से छुटकारा पा जाने की खुशखबरी देती है। उम्र की जिस दहलीज़ पर नरीमन खड़ा है उसको दो बच्चों की माँ, विधवा यास्मीन कान्ट्रेक्टर या फिर एक अपंग औरत से शादी करनी होगी। उसका इतिहास ही ऐसा है। आकर्षक व्यक्तित्व के बावजूद, एक पढ़ा-लिखा व्यक्ति मजबूरी में यास्मीन से ब्याह कर लेता है, उसके बच्चों जल और कूमी को औपचारिक रूप से गोद भी ले लेता है। यास्मीन एक बेटी रोक्साना को जनम देकर चल बसती है। उपन्यास के शुरू में ही स्पष्ट हो जाता है कि अधेड़ उम्र पार कर चुके दोनों सौतेलों से नरीमन की जंग चली ही रहती है। रोक्साना अपने पति व दो बेटों के साथ अपने रचे-बसे संसार में खुश है। यह खुशी बहुत जल्दी मिट जाती है। नरीमन पार्किन्सन्स रोग से ग्रस्त तो पहले से ही था। सब कुछ तब गड़बड़ा जाता है जब उसके टखने की हड्डी टूट जाती है। वैसे तो नरीमन हर वक्त गुज़रे ज़माने की घटनाओं से भूताविष्ट रहता था अब तो इस कष्ट ने उसे ज़्यादा दुखी कर दिया। उससे ज़्यादा दुखी हो जाते हैं कूमी और जल। दिन-रात पलस्तर में बंधे नरीमन की सेवा दोनों जी-जान से करते हैं, लेकिन काम वाली फूला तक कहती है—मैं मेहतरानी नहीं, गू-मूत साफ़ करना मेरा काम नहीं, मैं तो बदबूदार गुस्लखाने में भी नहीं जाऊँगी। नरीमन पलंग पर पड़ा-पड़ा धीमे आँसू बहाता रहता हवा में एक भुलाए जा चुके किवाड़ की तरह कराहता रहता है। कूमी व जल जब सह नहीं पाते तो नरीमन को रोक्साना के घर पहुँचा देते हैं। बेटी का घर बहुत छोटा है, पति येज़ाद की माली हालत ठीक नहीं है। तंगहाली के बावजूद पूरा परिवार नरीमन में जुट जाता है। उधर कूमी को यह चिन्ता खाए जाती है कि पलस्तर उतरने के बाद बाप को घर वापस लाना पड़ेगा। नरीमन का यह घर बहुत बड़ा है, एक ज़माने में बहुत सुरुचिपूर्ण सजा-धजा भी था पर धनाभाव के कारण धीरे-धीरे विध्वंस के कगार पर पहुँच चुका है—खासतौर से नरीमन का कमरा। कूमी एक ऐसे मिस्त्री को मरम्मत का काम सौंप देती है जिसका एक बड़ा गुण यह भी है कि हाथ आए काम को वह बरसों में भी पूरा नहीं कर पाता है। अगर किसी के घर में एक बल्ब बदलता है तो पूरे ब्लाक की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिजली गुल हो जाती है। घर की मरम्मत लम्बे अरसे तक होती रहेगी। काम शुरू हुआ, कूमी खुश, जान बची लाखों पाए। एक दिन जब कूमी मिस्त्री के लिए चाय-केक लेकर नरीमन के कमरे में आई तो मिस्त्री सीढ़ी पर चढ़ा शहतीर के नट-बोल्ट खोलने में व्यस्त था। वहीं से उसने कूमी को पूरा किस्सा सुनाया—शहतीर को फिर से लगाना होगा, चार इंच उधर सरकाना है, बस दो मिनट और, फिर मैं नीचे आता हूँ। वह आया ज़रूर लेकिन शहतीर के साथ। शहतीर का एक सिरा कूमी के सिर पर और दूसरा मिस्त्री की छाती पर गिरा। एक साथ हुई इन दो मौतों के बाद का घटना-क्रम ऐसा है कि जल, जिसे जीने की कला आती ही नहीं और अकेलेपन को वह सह नहीं पाता, के आग्रह पर रोक्साना सपरिवार अपने बाप के घर रहने आ जाती है। अपना छोटा-सा घर वे बेच देते हैं। नरीमन ने घर रोक्साना के विवाह में भेंट दिया था। आज दस गुनी—चालीस लाख रुपये—कीमत पर बेचकर उसने अपनी माली हालत तो ठीक कर ली, पर इनकी असली जंग अब शुरू होती है जिसका वर्णन उपन्यास के उपसंहार में बेहद मार्मिक, खौफनाक ढंग से किया गया है। खौफ, हास्य रस और तीक्ष्ण कटुता अनेक स्तरों पर पाठक को दम साधे पाँच सौ पृष्ठों को पढ़ने के लिए मजबूर करते हैं। वह खौफ जो आस्कर वाइल्ड ने अपने एक नाटक के इन शब्दों के माध्यम से फैलाया था, "शुरू में बच्चे अपने माँ-बाप को प्यार करते हैं, फिर वे उनका मूल्यांकन-आलोचना करते हैं पर वे उन्हें कभी क्षमा नहीं करते हैं।" सबसे दर्दनाक दौर तब आता है जब बच्चे यह मानने लगते हैं कि जो उनके बाप के लिए अच्छा था वह उनके लिए ठीक नहीं है। जवान हो चुके रोक्साना के बेटों का अपने बाप के साथ निरन्तर चलता झगड़ा, तर्क-वितर्क सब की ज़िन्दगी में विष घोलने लगता है। नरीमन अपने घर में लौटने के एक वर्ष बाद अपने शरीर से विदा ले लेता है। काम का बोझ नहीं, पैसों की किल्लत नहीं, लेकिन घर में अगर कुछ है तो कलह। बेटों को बाप में हिटलर नज़र आने लगता है। पत्नी और बेटों पर जान छिड़कने वाला येज़ाद पूजा-पाठ में लिप्त एक निष्ठावान शुद्धतावादी में बदल चुका है। पारसियों के रीति-रिवाजों, खंडित हो रही परम्पराओं और बदलते मूल्यों से वह चिन्तित है। पारसी धार्मिक मन्त्रों, उनके धर्मग्रन्थों में दिए गए निर्देशों का पालन वह अक्षरशः करता है। बेटों से वह उम्मीद रखता है कि वे पारसी सभ्यता को ज़िन्दा रखें। नरीमन के बाप के घर में दर्शाई गोलमेज़ बैठकों में भाग लेने वालों की मान्यताएँ भी तो ठीक ऐसी थीं। आज पारसियों की मुख्य चिन्ता है उनकी घटती जनसंख्या और यह मान लेना कि इसके लिए दोषी है युवा पीढ़ी। वे विदेशों में जा बसे हैं, ग़ैर पारसी लड़कियों से ब्याह रचा रहे हैं। उन्हें डर है कि कहीं पारसी डायनासोर की तरह विलुप्त न हो जाएं। इसके वर्णन में 1975 से कनाडा में बसे रोहिण्टन मिस्त्री ने हास्य रस को अपना मुख्य औजार बनाया है। यह हास्य रस भी एक विशेश प्रजाति का है—यह हृदय से निकला रस है। इसमें घृणा का नामो-निशान नहीं है। इसका मूल तत्त्व है प्रेम। इस रस का आस्वादन करते समय ठहाके नहीं लगाए जाते। पाठक के चेहरे पर अगर कुछ दिखता है तो एक ठहरी हुई स्थिर मुस्कान जो पाठक को भीतर तक कचोटती है। वैसे तो इस उपन्यास में बहुत कुछ ऐसा है जो पाठक को झकझोरता है, आन्दोलित करता है पर बम्बई शहर का बातों-बातों में जो चित्र खींचा गया है वह अविस्मरणीय है। पुरानी बम्बई से अपार प्रेम करने वाले येज़ाद और उसका मालिक कपूर मिलकर अक्सर बम्बई को कभी एक बेहद सुन्दर लड़की, कभी एक धर्म, कभी एक जीवन शैली की उपमाओं से सजाते हैं। लेकिन फिर आर.एस.एस. की शाखा वाले आकर उनकी मुम्बई बनाम कपूर जैसों की बम्बई की जो गत बात-बात पर बनाते हैं उसका अन्त कुछ अज्ञात लोगों द्वारा कपूर की निर्मम हत्या से होता है? क्यों हुआ यह खून? सिर्फ़ एक शब्द न बदलने की ज़िद के कारण। शाखा वालों के सुझाव पर कपूर ने बोर्ड पर बम्बई से मुम्बई न लिखने के लिए पार्टी फंड में पैंतीस हजार रुपयों का दान देना भी मंजूर कर लिया था। पैसे दुकान में मौजूद होने के बावजूद कट्टर धर्मान्धता के चलते न तो कपूर की जान बची और न ही येज़ाद की नौकरी।

आज की मुम्बई और पुरानी बम्बई की यह एक ऐसी दास्तान है जो पाठक को झकझोर कर रख देती है। हमारे सामने खड़ी भयावह, शायद कभी न हल होने वाली समस्याओं से दो-चार करवाती, सोचने, कुछ करने की इच्छा जागृत करती है।

सी-13/20, विकास नगर, शिमला-171009

डॉ. कीर्ति केसर

विज़्डम आफ दि ऐजिज़ : जीवन की आंतरिक ऊर्जा की पहचान

इस वर्ष जितनी पुस्तकें मैंने पढ़ीं उनमें से जो मुझे सबसे ज़्यादा अमूल्य रूप से मूल्यवान लगी वह है 'विज़्डम आफ दि एजिज़' (Wisdom of the Ages)। अंग्रेजी में लिखी गई इस पुस्तक के लेखक डा. वेयन डब्ल्यू डायर (Wyne W. Dyer) हैं। जीवन के सफ़र में एक अच्छे गुणी मित्र के साथ होने, निपुण गाइड का मार्गदर्शन, मानसिक द्वन्द्व में सिद्ध काऊंसलर की सलाह और मर्मज्ञ गुरु जैसा सदुपदेश देने की क्षमता इस पुस्तक में है। ज्ञानवर्धन के साथ अच्छा मनोरंजन भी इससे मिला। इससे बौद्धिक तृष्णा तृप्त हुई तो पुस्तक पढ़ने का स्थाई सुख भी मुझे मिला।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विज़्डम आफ दि एजिज़ डा. वेयन डब्ल्यू डायर के साठ निबंधों का संग्रह है। प्रत्येक निबंध किसी न किसी कवि, दार्शनिक, वैज्ञानिक, नाटककार, विचारक, सुधारक या ऐसी ही किसी महान विभूति की कविता, विचार या कथन को आधार बनाकर लिखा गया है जो किसी भी जिज्ञासु पाठक के अंधेरे पलों में रोशनी की किरणें बिखेर सकता है। हतोत्साहित को उत्साहित कर सकता है। निराश को आशा का मार्ग, भटके हुए को संकल्प का मार्ग दिखा सकता है। लोभी को लोभ के रोग से मुक्त करने के लिए उपयोगी नुस्खा दे सकता है। क्रोध पर संयम की लगाम लगा सकता है।

विज़्डम आफ़ दि एजिज़ में पश्चिमी कवियों और विद्वानों के साथ एशिया के चीनी, इराकी, अफ़गान, अरब और भारत के महात्मा बुद्ध, गाँधी, ऋषि पतंजलि, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और मदर टेरेसा की रचनाओं को शामिल किया गया है। भारतीय अध्यात्म दर्शन का गहरा प्रभाव डा.डायर पर स्पष्ट दिखाई देता है। अपने लेख का अंत भी उन्होंने 'नमस्ते' से किया है। खास बात यह कि अध्यात्म को मनोवैज्ञानिक और विज्ञान का आधार देकर उसे सांसारिक जीवन (पदार्थोन्मुख) की प्रयोगशाला में लाने का प्रयास किया गया है।

इस पुस्तक की दूसरी विशेषता इसके विषय हैं जो आज के इस भौतिक सुविधाओं में जीते हुए 'और फिर और' की कामना में 'रेस का घोड़ा' बने, मानवीय संस्कारों से चूकते हुए मनुष्य मात्र की मरती हुई अन्त:चेतना के विकास के लिए, उसे ज़िन्दा रखने के लिए बहुत ज़रूरी हैं। डा.डायर ने वाणी के महासागर में से बड़े मनोयोग से वही मोती चुनकर इस संग्रह में एकत्र किए हैं जिनकी आज के तनावग्रस्त, अनचाही रेस में भागते हुए, थकते-टूटते मनुष्य को सख़्त ज़रूरत है। इन साठ लेखों में से मुख्य विषय जो मुझे भी बहुत ज़्यादा ज़रूरी और प्रासंगिक लगे वे हैं—ध्यान (पाइथागोरस), ज्ञान (बुद्ध), धैर्य (कन्फ्यूशस), वर्तमान (उमर खैयाम), प्रार्थना (संत फ्रांसिस), दु:ख एक आशीर्वाद (जलालुद्दीन रूमी), संतुलन (लियोनार्डो द विंसी), आशा (माइकल ऐंजलो), दया (विलियम शेक्सपियर), समय (जॉन मिल्टन), सत्य/सुन्दरता (जॉन कीट्स), शौक (पी.वी. शैली), आत्मविश्वास(आर.डब्ल्यू.एमर्सन), उत्साह (एच.एल.लौंगफैलो), अमरत्व (ऐमिली डिक्सन), निपुणता (आर.ब्राऊनिंग), खेद(जे.जी. व्हाटीयर), भय और जोखिम (ए.लौर्ड टैनीसन), दयालुता(एल. कारोल), हँसी (ए.एच.स्विनबर्न), परिवार और घर (जे.किल्मर), प्रकृति (वि. वर्ड्सवर्थ), कर्म (खलील ज़िब्रान), प्रेरणा (रुडयार्ड किपलिंग), अपना-प्रतिबिंब (जार्ज बर्नार्ड शा), प्रेम की ऊर्जा (पी.टी. डी.कार्डिन), व्यक्तित्व (ई.ई.कमिंग्स), स्वतंत्रता (राबर्ट फ्रास्ट), प्रशंसा (डोरोथी पार्कर), क्षमादान (लैंगस्टोन हग्स), तुलना (आगडन नैश), कर्म और करना (मदर टैरेसा)।

इस पुस्तक के संपादक डा. वेयेन डब्ल्यू डायर खुद भी काऊंसलिंग साइकालौजी के विशेषज्ञ लेक्चरर हैं और अमेरिका के लोकप्रिय काऊंसलर तथा बेस्ट सैलर लेखक हैं। रेडियो और टेलीविज़न से और व्यक्तिगत रूप से ग्रुप काऊंसलिंग के लिए प्रसिद्ध हैं। अपने इस विषय पर वे 116 पुस्तकें लिख चुके हैं। यह पुस्तक भी उनके इसी कार्यक्रम का हिस्सा है।

यद्यपि इस संग्रह में एकत्र की गई आवाज़ें कई सदियों के समय चक्र के ऐतिहासिक कालों और संस्कृतियों से जन्मी हैं तथापि वे मानव जीवन के अनुभव के सार्वभौमिक सत्यों का उद्घाटन करती हैं। इस तरह लेखों का संग्रह हमें अद्भुत दोहरा अवसर प्रदान करता है—एक अपने महान पूर्वजों से मार्गदर्शन पाने का, दूसरा अपनी निज की गुप्त ऊर्जाओं की ताकत को पहचानने का।

डा. डायर का अपना कथन भी अपनी पुस्तक के उद्देश्य के बारे में महत्वपूर्ण नहीं है। उनका कहना है, "यह पुस्तक कविता व दर्शन की प्रशंसा के लिए नहीं बल्कि इन रचनाकारों के अनुभवों को दैनिक जीवन में अभ्यास करके लाभ उठाने के लिए लिखी गई है। इस संग्रह की सभी रचनाएँ उच्चतम प्रतिभा वाले, संवेदनशील, उत्तम रचनाधर्मी और क्रियाशील उन व्यक्तियों द्वारा रची गई हैं जो किसी समय इस धरती पर उसी तरह जीवित थे जैसे कि मैं और आप। आइए इन ग्रेट मास्टर्स से मार्गदर्शन लें और अपने जीवन में उनकी महानता से मार्गदर्शन लेकर उनकी तरह जीवन को साधने को प्रयत्न करें।

मेरे लिए यहाँ कविता, गद्य पढ़ाने का यही तरीका है, इसे ज़िन्दा होने दो और अपने दिमाग में टिमटिमाने दो, फिर अपनी भीतरी चेतना को जागने दो, फिर उसे कर्म में उतरने दो।"

इस पुस्तक का हर लेख हर्फ़-ब-हर्फ़ लेखक के दावों की पुष्टि करता है। उदाहरण के लिए 580 वर्ष ईसा पूर्व ग्रीक दार्शनिक और गणितज्ञ पाइथागोरस का यह छोटा सा कथन गहरे अर्थों से भरपूर है जिसे आज की बाहर-बाहर भागती हुई और अपनी ही भीतरी चेतना से अनजान ज़िन्दगी को सख़्त ज़रूरत है—

Learn to be silent
Let your
quiet mind
listen & absorb.

यानी खामोश होना सीखो, अपने दिमाग को शांत होने दो, फिर सुनो और उसे अपने भीतर रसने दो।

17वीं सदी के फ्रांसीसी दार्शनिक, वैज्ञानिक और गणितशास्त्री पास्कल ने भी यही कहा—All man's miseries derive from not being able to sit quietly in room alone.

यह सत्य आज भी नहीं बदला बल्कि ज़्यादा भयानक हो गया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। आज के आदमी की हर ज़रूरत, हर काम, हर निर्णय को बाहर का यंत्र सिस्टम तय करता है। वह अपना साक्षात्कार करता ही नहीं, अपने भीतर का संवाद सुनता ही नहीं। उसकी हर तक़लीफ़ उसे बाहर की दुनिया से मिलती है, उसका निदान भी वह बाहर से ही चाहता है। कभी नशों में, कभी सुविधाओं में, कभी अय्याशियों या आत्महत्या जैसी मनोवृत्तियों में। पाइथागोरस मानता है—जब शान्त दिमाग सुनता है और पचाता है तो भ्रम और मिथ्या विचार अपने आप दूर होने लगते हैं। मनुष्य की अन्तःचेतना की रोशनी उसे अपने आप सही रास्ता दिखाने लगती है। पास्कल भी यही कहता है, "यदि तुम अपने निज के ब्रह्मांड को समझना चाहते हो, और अपने काम को गुणवत्ता के साथ करना चाते हो तो शांत होकर अंधेरे कमरे में बैठ जाओ। वहाँ बैठने के डर को झेलना सीखो, तुम अपने दिमाग की अनेक परतों को खोल कर देखना स्वयं सीख जाओगे। फिर मस्तिष्क की शक्ति पर तुम्हारा अधिकार हो जाएगा।" पास्कल यह भी कहता है, "The eternal silence of these infinite spaces terrifies me." इसे पूर्वी दार्शनिक योगियों ने ध्यान कहा है।

'सर्वोत्तम निज' (Highest self) यह निबंध रवीन्द्रनाथ टैगोर की एक कविता पर आधारित है। इस रचना को केन्द्र में रखकर मानव-चेतना के दो रूपों अहं और आत्मा (Ego & Spirit) की पहचान की गई है। ईगो की स्वार्थी, इर्ष्यालु, अहंकारी और लोभी प्रवृत्ति को और आत्मा की शांतिप्रिय, संतुष्ट, तृप्त और स्थिर प्रवृत्ति की श्रेष्ठता को पहचाना गया है। सद्वृत्ति का ज्ञानी व्यक्ति अपनी ईगो पर नियंत्रण रखता है। इससे वह इर्ष्या और लोभ के विकारों तथा द्वंद्व से बच सकता है। कविता है—

I came alone on my way to my tryst.
But who is this in me the dark.
I move aside to avoid his presence
but I escape him not
He makes the dust rise from the Earth
with his swagger
He adds his loud voice to every word I utter
He is my own little self, my lord, he knows no shame
But I am ashamed to come to thy door in his company.

(रवीन्द्रनाथ ठाकुर)

मानवीय चेतना का यह छद्म आज के कथित आधुनिक आदमी की आत्मा पर सवार है। उसे जिधर चाहता है हाँकता है, जैसा चाहता वैसा ही कर्म करवाता है और पढ़ा-लिखा, शिक्षित व्यक्ति भी अपने इस आंतरिक सत्य से अनजान है। यह अज्ञानता ही उसके अनेक अनचाहे कष्टों का कारण बन जाती है। डा. डायर ने इसको पहचानने और इससे मुक्त होने का अभ्यास करने के बहुत सरल सुझाव दिए हैं जो इतने विश्वसनीय लगते हैं कि व्यक्ति अपने चित्त की परतों को खुद टटोलने लगता है।

यह लेख क्वाण्टम फिज़िक्स के नियम के आधार पर रवीन्द्रनाथ टैगोर और महात्मा गाँधी की स्थापना को साबित करता है कि "दृश्यमान जगत या पदार्थ अदृश्य से उत्पन्न होता है।" दृश्य अहं (Ego) है और अदृश्य आत्मा (Spirit) है और रचनाकार की रचनात्मकता का साधन उसकी आत्मा है। अहं से हांका जाता रचनाकार श्रेष्ठता या महानता की रचना नहीं कर सकता।

साहित्य पाठकों से दूर चला गया, शायद अब उसमें अहं की क्रिया-प्रतिक्रिया ज़्यादा है और सार्वभौमिक सत्यों से वह वंचित हो गया है। उसमें रचनाकार की आत्मा की ऊर्जा नहीं रही।

सेल्फ इमेज़ (Self Image) लेख भी मुझे महत्वपूर्ण लगा जो जार्ज बर्नार्ड शा के इस कथन पर आधारित है—

"यह जीवन में सबसे बड़ी प्रसन्नता है कि तुम एक विशेष उद्देश्य के लिए इस्तेमाल किए जा रहे हो जिसे तुम्हारे शक्तिशाली 'निज' ने चुना है।....मेरी यह धारणा है कि मेरा जीवन सारे मनुष्य समाज का है और यह मेरा सौभाग्य है कि मैं जब तक जीऊँ इसके लिए वह करूँ जो मैं कर सकता हूँ।

मरने से पहले मैं अपने जीवन का पूरा उपयोग करना चाहता हूँ—मैं जितनी ज़्यादा मशक्कत करता हूँ उतना ज़्यादा ज़िन्दा महसूस करता हूँ। मेरा जीवन 'छोटी सी मोमबत्ती' (Brief candle) नहीं है, यह प्रकाश फैलाती हुई मशाल है जिसे मैंने इस समय पकड़ रखा है और इसे आने वाली पीढ़ियों को सौंपने से पहले मैं इसको जितना ज़्यादा संभव है उतना बड़ा रोशनी का स्रोत बना देना चाहता हूँ।"

इस लेख में लेखक ने आलोचकों, निंदकों की परवाह न करने की सलाह दी है और कहा है कि तुम महान आत्मा हो तो उसी तरीके से रहो। महान आत्माओं को सदा दूसरे दर्जे के लोगों का हिंसक विरोध सहना पड़ता है। शा के समकालीन एलबर्ट आइंस्टाइन भी ने यही कहा था।

ग्रेट क्लासिक्स पर आधारित यह पुस्तक मेरे लिए 'ज्ञान गंगा' के समान है जिसमें नित्य स्नान करना चाहूँगी; 'शब्द गुरु' की तरह है जिसका प्रवचन मैं रोज़ सुनना चाहूँगी। इससे पहले प्रेमचंद की छोटी-सी पुस्तक 'साहित्य का उद्देश्य' को बार-बार पढ़कर अपनी रचनाओं को वही प्रभाव देने के लिए मार्गदर्शन प्राप्त करती रही हूँ। मैं अपनी कविता को 'आत्मा की' कविता कहती हूँ पर मेरा ही यह आन्तरिक सत्य मुझ पर पहले इतना स्पष्ट, इतना ज़ाहिर कभी नहीं था जितना 'विज़्डम आफ एजिज़' को पढ़कर हो गया है। मैं महसूस करती हूँ—मैं बूढ़ी नहीं, बड़ी हो रही हूँ।

ई-1086, गोबिंद गढ़,
जालन्धर-144001

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिम्मी हर्षिता

लिखना जैसे कोई गंभीर केस लड़ना है

आज रवीन्द्रनाथ टैगोर के इस गीत की याद आ रही है—

"कतो आजानारे जानाइले तुमि।
कितने ही अनजानों से तूने मेरा परिचय कराया है।
कितने ही पराये घरों में तूने मुझे निवास का स्थान दिया है।
बंधु! तू दूरस्थों को निकट और परकीयों को आत्मीय बनाता है।
तुमसे परिचित होकर किससे अपरिचित रहूँगा?
कहाँ जाने का निषेध होगा?
कहाँ जाने से भय लगेगा?"

साहित्य भी ऐसा ही एक बंधु है, एक पुल है जो एक को अनेक से जोड़ता है और उसी नाते से आज हम एक दूसरे के सामने हैं। एक सुखद स्थिति यह भी है कि यह सारा आयोजन छात्राओं के कारण है, छात्राओं के लिए है। इनके रूप में मिलेंगे पुस्तकों को नये प्रबुद्ध पाठक, नयी रचनात्मकता की धारा और टी.वी की अपसंस्कृति से आक्रांत घरों को पुस्तक संस्कृति। मेरी रचना-प्रक्रिया पर यह चर्चा भी तो उन्हीं के निमित्त है। एक अरब की जनसंख्या में जहाँ प्रकाशक किसी पुस्तक की केवल 700 प्रतियाँ ही छापता और उन्हें किसी तरह वर्षों में बेच पाता है, वहाँ इस तरह के नयी पीढ़ी को सक्रिय रूप से शामिल करने वाले कार्यक्रम पुस्तकों पर छाई घनी धूल को पलों में झाड़ सकते हैं।

"एक अंतर्निहित शक्ति मानो लगातार अपने स्वरूप में व्यक्त होने के लिए अविराम चेष्टा कर रही है और बाह्य प्रकृति उसे दबा रही है—इसी चेष्टा का नाम जीवन है।" जीवन के संबंध में विवेकानंद के ये शब्द मुझे बेहद अपने लगते हैं और उतने ही सच लेखन-यात्रा पर भी सिद्ध होते हैं।

धीरे-धीरे डायरी लिखना मेरी आदत बन गई, जिसने मुझे आत्मकथात्मक शैली से जीवंत ढंग से जोड़ा। यही कारण है कि सहृदय पाठकों ने 'चक्रभोग' तथा 'परिधि' आदि शुरुआती कहानियों और उपन्यासों में मेरे होने की परिकल्पना करते हुए मुझे अपार सहानुभूति दी और आलोचकों ने उन्हें रेखांकित किया। जबकि उन पात्रों के जीवन और मेरे जीवन में दो ध्रुवों का अंतर रहा है।

मेरी पहली कहानी 'अपने-अपने दायरे' संचेतना (पूर्णांक-... में प्रकाशित हुई थी, पर वहाँ तक पहुँचने के लिए मुझे लम्बी ... तय करनी पड़ी थी और उस समय मेरी उम्र 28 वर्ष हो चुकी ...

जब लेखन की पगडंडी पर कदम रखना आरम्भ किया ... तो कितने ही प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष अवरोधक, नकारात्मक और ... बातें मन की गंभीरता और सोच को संक्रमित एवं छलनी ... रहतीं। इनसान को सहज भाव से अपने रंग में पूरी तरह से ... की मुहलत बड़ी मुश्किल से मिल पाती है। जहाँ देखो वहाँ ... व्यक्ति अपने रंग में रंगने और दबाने का यत्न करते हैं, कभी ... धराशायी करना चाहते हैं और कभी स्वर्ण-मृग प्रलोभित ... भ्रमित करते हैं।

पर इसके साथ-साथ राह में कुछ मील के पत्थर, ... दिशाबोधक भी मिल जाते हैं, जिससे संतुलन बना रहता है। ... के उन शुरुआती दिनों में लेखन के संदर्भ में किसी पत्रिका में ... बातें पढ़ी थीं। जैसे संगीतकार रोज रियाज़ करता है उसी ... प्रतिदिन लिखने का अभ्यास करना चाहिए। हरिवंशराय बच्चन ... कहा था—"लेखनकार्य तैलधारावत बनाए रखना चाहिए।" ... बात यह कि लेखक को टाइपिंग आनी चाहिए ताकि रचना को ... कराने के लिए बार-बार बाजार न दौड़ना पड़े। आजकल टाइ... की जगह कम्प्यूटर ने ले ली है। मैं उन बेरोजगार और अप्र... दिनों में प्रतिदिन शाम को बिना किसी पूर्व रूपरेखा और कथा... के एक काल्पनिक-सा उपन्यास लिखने बैठ जाती और नियम... कल्पना के घोड़े दौड़ाते हुए पाँच पृष्ठ लिखकर ही उठती। ... टाइपिंग सीखने जाती। वह उपन्यास आज भी अलमारी के ... कोने में पड़ा हुआ है। फिर मैंने अपने पहले वेतन से टाईपरा... खरीदा जो अब तक लेखन-यात्रा में मेरे साथ चल रहा है ... मेहनत से कभी जरा भी नाराज़ नहीं होता। तो यह हुई लेखन ... मोर्चे पर जाने से पहले थोड़ी-सी तैयारी!

कोई रचना-प्रक्रिया अचानक जन्म नहीं लेती। वह धीरे-... विकसित होती है। व्यक्ति कदम-कदम सीखता है और ... अधकचरे अनुभवों से एक परिपक्व रचना को जन्म देने की ... करता है। बिहार में मेरे एक आदरणीय अध्यापक थे। मुझ पर ... गुरु-ऋण है। एक दिन उन्होंने छठी, सातवीं और आठवीं ... विद्यार्थियों को प्रतिदिन के लिए एक काम सौंपा—दिनचर्या लि... समाचारपत्र पढ़कर उसमें से गाँव, शहर, देश और विदेश के ... समाचारों को लिखना और अंत में मौसम। इस काम ने एकाग्र...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामने कई नई खिड़कियाँ खोल दीं। अपने क्रियाकलाप को ध्यान से देखना, दुनिया को देखना, प्रकृति को देखना। यह सब मुझे इतना अच्छा और विस्मित करने वाला लगा कि सबके झटपट छोड़ देने पर भी मैं निरंतर जुड़ी रही। समाचारपत्र के माध्यम से ही हर सप्ताह कविताओं, कहानियों और धारावाहिक उपन्यासों से पहला परिचय हुआ। उन दिनों के समाचारपत्र आजकल की तरह विज्ञापनबाज और ठस्स नहीं हुआ करते थे। वे साहित्य के अग्रदूत थे और कविता भी सचमुच में कविता थी। कविताओं को कभी रजिस्टर में उतारना और कभी काट-काटकर चिपकाना। फिर छुट्टियों में उन्हें बार-बार पढ़कर मग्न होना। नए-नए शब्दों के अर्थ सोचना। धीरे-धीरे डायरी लिखना मेरी आदत बन गई, जिसने मुझे आत्मकथात्मक शैली से जीवंत ढंग से जोड़ा। यही कारण है कि सहृदय पाठकों ने 'चक्रभोग' तथा 'परिधि' आदि शुरुआती कहानियों और उपन्यासों में मेरे होने की परिकल्पना करते हुए मुझे अपार सहानुभूति दी और आलोचकों ने उन्हें रेखांकित किया। जबकि उन पात्रों के जीवन और मेरे जीवन में दो ध्रुवों का अंतर रहा है। उस किशोर उम्र में समाचारपत्र से गहरे जुड़ाव ने व्यक्तिवादिता और स्वरति से रचनाओं को मुक्त रखने में मेरी सहायता की।

शिक्षा के दौरान गलत विषयों के चुनाव के कारण और श्रम के अनुकूल परिणाम न आने के कारण मैं बहुत आहत और व्यथित हुई। वर्षों तक मैंने कुछ और चाहा, पर वक्त और नियति ने कुछ और दिया। इस घटना ने मुझ पर गहरी छाप छोड़ी। मैंने निराशा, असफलता, दुःख और अपमान को जाना-झेला। मेरी महत्वाकांक्षा और व्यवसाय भी इससे बाधित हुए और विश्वास खंडित। इस तरह से वर्ष दर वर्ष घटनाएँ और परिस्थितियाँ अकसर ऐसी बनती चली गईं कि मुझे पीछे और अपने अंदर धकेलती रहीं—किसी अंधेरे तल में, और मैं बाहर आने का रास्ता तलाशती रही। अंततः लेखन वह रास्ता बना। जहाँ अनाज के लिए खाद-पानी बाहर से खरीदा जाता है वहाँ इनसान के लिए अपना ही जीवन खाद-पानी बनता है। उसके अपने आँसू उसकी रूखी-सूखी मिट्टी को सींचकर नम करते हैं। एक दिन ग्यारहवीं कक्षा में आधी छुट्टी के समय मैंने कापी में लिखा—मन होता है कुछ लिखूँ, पर क्या?

वर्षों कविताओं में इस 'क्या' का उत्तर ढूंढती रही, उनमें अपनी व्यथा उड़ेलती रही। और फिर उस सबको वहीं छोड़कर मैं कहानियाँ-उपन्यासों के माध्यम से विभिन्न चरित्रों के अन्तर्मन के विस्तृत संसार, मानवीय संबंधों के उलझाव, उनके मूल्यों में आया क्षरण, नवमूल्यों की स्थापना, शिक्षा, व्यवस्था, साम्प्रदायिकता, नारी अस्मिता तथा परिवार से जुड़े प्रश्नों की ओर मुड़ गई। एक बार जब नन्हें बच्चे ने मुझसे पूछा—बूई, लोग एक दूसरे को क्यों मार रहे हैं? तो इस का उत्तर देना मेरे लिए असंभव की हद तक कठिन हो गया। उस प्रकार से ही 'आओ बातें करें' कहानी का जन्म हुआ था और उसी के दौरान मुझे एहसास हुआ कि उत्तरों से भी अधिक जरूरी हैं सवाल। इस दुनिया को उत्तरों की उतरती सीढ़ियाँ नहीं, सवालों की उठती सूलियों की जरूरत है, सवालों के आइने में अपना बदरंग चेहरा देखने की जरूरत है, जरूरत है इस दुनिया को सवालों से झाड़ने-बुहारने की। और इन प्रश्नों के बीच कविता की लयात्मकता गद्य की भाषा में समा गई। कई कहानियों-उपन्यासों में कविता भी अभिव्यक्ति का माध्यम बनी है, पर उससे अलग वह अब मेरी पकड़ में नहीं आती।

मेरे लिए हर कहानी-उपन्यास लिखना लगन से एक नया और कठिन पाठ सीखना है, पानी के अंदर ही अंदर तैरकर नदी पार करना है, जमीन वहाँ तक खोदना है जहाँ से पानी फूटने लगे। लिखना मुझे ऐसा लगता है जैसे कोई गंभीर केस लड़ना हो। केस की अपील पंचायत, कचहरी, उच्च न्यायालय, उच्चतम न्यायालय तक दायर करनी पड़ती है और तब जाकर किसी सार्थक अर्थवत्ता का न्याय मिल पाता है।

जीवन है पारे जैसा तरल महाकाव्य। इसकी कभी कोई एक चौंध, कोई एक आकार, कोई रंग, कोई एक लहर जब-तब मन-ध्यान को खींच-बाँध लेती है और वह किसी अनाड़ी तैराक की तरह उसमें डूबने-उतराने लगता है वर्षों के किनारे से घिरा हुआ। फिर भी क्या कभी वह उसे पूरा-पूरा और ठीक-ठीक पकड़ सका है, पढ़ सका है, समझ सका है या कहो कि जी सका है?

कई बार हम किसी व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन को, उसके समग्र घटनाचक्र को, उसके हर स्पंदन को वर्षों से वर्षों तक जानते हैं, पर वह ढेरों जानना रचना में नहीं ढल पाता, उस पर कोई बाँध नहीं बन पाता, उसमें से विद्युत की तरंगें नहीं निकल पातीं। बस वह जानना बिना किनारों की नदी के पानी की तरह इधर-उधर फैला रहता है। कई बार हम किसी अपरिचित का केवल एक चित्र-सा

कहानी या उपन्यास में पात्रों और घटनाओं का जमघट, बाहरी चीजों का विस्तृत विवरण मेरे कथानक की एकाग्रता, लक्ष्य और सुगठन को भंग करते हैं अतः मैं उनसे बचती हूँ। मैं बाहर की भीड़भाड़ और तामझाम से निकलकर व्यक्ति के अंदर प्रवेश करने का प्रयत्न करती हूँ क्योंकि वहीं छिपा रहता है असली गुप्त धन। इसीलिए अधिकांश कहानियाँ चरित्रप्रधान और मनोविश्लेषण-प्रधान बन गई हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूक चेहरा जानते हैं, जिसमें असंख्य द्वंद्वमय अर्थ झिलमिलाते रहते हैं, छोटी-सी अवधि की बातों में उसके मुख से बिना किसी नाटकीयता के मंद-मंथर स्वर में निकले हुए गिनती के कुछ दस-पंद्रह वाक्यों के रूप में उसे जानते हैं और यह जानना ही एक यातना बन जाती है और रचना में ढालने को विवश कर जाती है। 'यातना शिविर' उपन्यास का जन्म इसी रूप में हुआ था। पंद्रह वाक्यों की सीमा से मुक्त होकर जितनी बार उस कहानी को लिखा उसका कलेवर बढ़ता चला गया और अंततः वह पंद्रह अध्यायों के उपन्यास में ढलकर ही माना। पहली बार अनुभव हुआ—कथ्य की माँग के आगे लेखक की विधा-चुनाव की विवशता। उस चेहरे के मुख से निकले गिनती के कुछ वाक्यों का जैसे मुझ पर कोई गंभीर ऋण था, जिसका सूद निरंतर बढ़ता जा रहा था। इस प्रकार यह उपन्यास उस कर्ज की अदायगी भर है, और कुछ नहीं। लिखने से पहले वह अपने आप में एक अलग चेहरा था, एक निश्चित चेहरा। लिखते-लिखते कब वह आधी दुनिया बन गया, पता ही न चला।

इसके विपरीत 'संबंधों के किनारे' उपन्यास की अक्खड़ और बेलौस पात्र को मैं निकट से जानती थी और यह सोचकर उस पर लिखा कि ऐसा धाकड़ और दमदार चरित्र हिन्दी साहित्य में अवश्य आना चाहिए।

कुछ भी रचना अपनी सीमाओं से पार जाना है, अपने आप को समग्रता में देना है, नट की तरह तनी हुई रस्सी पर एकाग्रता, तल्लीनता और संभाल से संतुलन साधकर चलना है बिना यह सोचे कि दूसरे ताली बजा रहे हैं या नहीं। जब मृदुला गर्ग ने 'बनजारन हवा' कहानी संग्रह पर लिखा तो उसमें सबसे खूबसूरत यह वाक्य था—"बनजारन हवा उन कहानी-संग्रहों में से है, जिसे पढ़ना जरूरी हो जाता है। अपना मनोबल बनाए रखने के लिए भी कि हमारे पास ऐसे लेखक भी हैं जो बरसों से चुपचाप लिखते आए हैं और अब तक हवा पर सवार होने का साहस बनाए हुए हैं।" यह वाक्य मेरे लिए किसी बड़े पुरस्कार की तरह था। इस तरह रचना-प्रक्रिया केवल लिखने की विधि ही नहीं, अपने लिखे हुए के प्रति संपादक, प्रकाशक, पाठक, समीक्षक तथा मठाधीश के व्यवहार के प्रति हमारी प्रतिक्रिया भी है क्योंकि उससे भी हमारी लेखन-क्रिया प्रभावित होती है, आहत या उत्साहित होती हैं, आत्मसंतुष्ट या भ्रमित होती है, चलती रहती है या बैठ जाती है।

कहानी या उपन्यास में पात्रों और घटनाओं का जमघट, बाहरी चीजों का विस्तृत विवरण मेरे कथानक की एकाग्रता, लक्ष्य और सुगठन को भंग करते हैं अतः मैं उनसे बचती हूँ। मैं बाहर की भीड़भाड़ और तामझाम से निकलकर व्यक्ति के अंदर प्रवेश करने का प्रयत्न करती हूँ क्योंकि वहीं छिपा रहता है असली गुप्त धन। इसीलिए अधिकांश कहानियाँ चरित्रप्रधान और मनोविश्लेषण-प्रधान बन गई हैं।

भाषा मेरे लिए अपने कथ्य तक पहुँचने का एक प्रमु[ख] साधन है। जब तक सही शब्द और वाक्य की बुनावट तक मैं [न] पहुँच जाऊँ और भाषा में एकतानता और लयात्मकता पैदा न [हो] जाए, मेरी कोशिश जारी रहती है। अंतिम प्रारूप से पहले मैं कित[नी] ही बार लिखती, बदलती, सुधारती और टंकित करती हूँ। कथ[्य] और कहनी का समतोल।

इधर तीन सालों से मैं टूटी टाँग और उसको जोड़ने के लि[ए] हुए तीन आपरेशनों के साथ जी रही थी। कहीं भी बाहर आना-जा[ना] सब ख़त्म। यह पहली बार है कि किसी साहित्यिक मकसद से मैं घर से बाहर कदम रखा है। एक बार फिर पीछे और अपने अं[दर] धकेलती परिस्थितियाँ और बाहर जाने का संकरा रास्ता, जो केवल डाक्टर तक जाता है। फिर वही तर्क कि समय भी है, किताबों का ढेर भी है जिन्हें खरीदा था, पर पढ़ नहीं पाई और वह लिखना जो लिख नहीं पाई। तो क्यों न वह सब कर लिया जाए? कितना आनंददायी है न यह वाक्य शेष सब कुछ भुला देने और टाँग के खटराग तथा खरराग की ऐसी की तैसी कर देने के लिए! कहीं और नहीं जा सकती, पर अपनी मेज़ तक तो जा ही सकती हूँ न। यह क्या कम है? 'रंगशाला' उपन्यास इन्हीं परिस्थितियों से निकलकर बाहर आया है।

कवि 'पाश' ने कहा था—
"सबसे खतरनाक होता है
मुर्दा शांति से भर जाना
न होना तड़प का
सब सहन कर जाना
घर से निकलना काम पर
और काम से लौटकर घर जाना
सब से खतरनाक होता है
हमारे सपनों का मर जाना।"

अपने सपने को सदा याद रखना किसी भी रचना-प्रक्रिया की नींव का पहला पत्थर है।

और अंत में जब रचना को आप जैसे सहृदय पाठक मिलते हैं, चक्र पूरा होता है और लेखक अस्तित्व में आता है। ये पाठक ही हैं जो लेखक को लेखक होने का एहसास दिलाते हैं और पुस्तक की कीमत निर्धारित करते हैं। जब ऐसा नहीं हो पाता—जब यह चक्र पूरा नहीं हो पाता तो सब कुछ पंचतत्व में विलीन हो जाता है—न पुस्तक नज़र आती है और न लेखक।

(जयपुर के कानोडिया कालेज में आयोजित कार्यशाला में 4-12-2002 को पढ़ा गया आलेख)

के-24, लाजपत नगर-3, नयी दिल्ली-110024

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ. वामन वी. आहिरे

गुजराती दलित कविता : सामाजिक अन्तःक्रिया का यथार्थवादी संवेद्य दस्तावेज

गुजराती में आठवें दशक के उत्तरार्ध में दलित समाज के सर्जकों द्वारा दलित साहित्य का श्रीगणेश होता है। यह दलित साहित्य दो प्रकार का है-एक वे सर्जक जो सचमुच ही पूरी ईमानदारी से सर्जन के लिए दलित वर्ग में से अग्रसर हुए हैं और जुड़े हैं अर्थात् जो दलित साहित्य से प्रतिबद्ध हैं और दूसरे वे सर्जक हैं जो दलितों की महज सहानुभूति मात्र के लिए लिखते हैं। पहले प्रकार के दलित विचारधारा से प्रतिबद्ध सर्जकों की रचनाओं में जनवादी संवेदना प्रचुर मात्रा में दृष्टिगत होती है और इन्हीं सर्जकों की रचनाओं में "समाज को बदल डालो" का अर्थात् विप्लव का स्वर पूरी ईमानदारी के साथ जनवादी चेतनात्मक स्तर पर उभरा है। इसके अतिरिक्त, जो महज अप्रतिबद्ध अर्थात् दलितों की सहानुभूति के लिए रचनाओं का सर्जन कर रहे हैं ऐसे सर्जकों की रचनाओं में यह जन-संवेदना की जोशीली अनुगूंज पर्याप्त मात्रा में दृष्टिगत नहीं है।

गुजरात प्रान्त की दलित कविता पढ़ने के उपरांत ऐसा महसूस होता है कि गुजराती भाषा में भी उच्च-दर्जे का साहित्य निर्मित हो रहा है। गुजराती में से हिन्दी में कई अनुवाद हो चुके हैं। उनसे पता चलता है कि भारतीय भाषाओं में भी गुजराती भाषा ने अपनी अलग-सी पहचान बना ली है। गुजराती कविता दलित सर्जकों के सामाजिक दायित्व की कसौटी को स्पष्ट करने वाली कविता है। सामाजिक अन्तःक्रिया के अन्तर्गत इन कवियों के विचार अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं कि दलितों की समूची व्यथा के लिए रात-दिन चेहरे बदलने वाले राजनेताओं के चरित्र जिम्मेदार हैं। इसलिए इन कवियों ने जो कुछ यथार्थ स्तर पर भोगा है, उसकी शोक-संवेद्य अभिव्यक्ति गुजराती की प्रस्तुत दलित कविता है। एक लम्बे अरसे से इन कवियों ने अपना दर्द सीने में दबाये रखा है, पर क्या कहा जाये कि अन्त में मर्यादा-मौन टूटा है, मन के भीतर दबी लाचारी और विवशता विद्रोह, वेदना एवं प्रतिशोध के रूप में सामाजिक परिवेश में आक्रोश के साथ फूट पड़ी है।

उपरोक्त गुजराती कवियों की रचनाओं को पढ़ने के पश्चात् ऐसा प्रतीत होता है कि गुजरात प्रान्त का कवि सचमुच ही अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए जाग उठा है। उसके भीतर नई संघर्ष की प्रामाणिक चेतना का उद्रेक हो चुका है। उसे यह पता चल चुका है कि हमारे वैयक्तिक जीवन के घर्षण का खास कोई अर्थ नहीं है परन्तु मानवीय समानता के अधिकारों के लिए सामूहिक ढंग से लड़ना अब प्रसंगवश अनिवार्य है और समानता के लिए यह लड़ाई पीढ़ी-दर-पीढ़ी हो सकती है। इस तथ्य को प्रमाणित करने वाले दलित विचारधारा से प्रतिबद्ध कवियों में शंकर पेन्टर, पथिक परमार, हरीश मंगलम्, राजू सोलंकी, विपीन गोहिल, दलपत चौहान, साहिल परमार, मंगल राठोड, नीरव पटेल, गोविन्द परमार, चन्दु मेहरिया, जयन्त मकवाना, प्रवीण गढ़वी, मधुकान्त कल्पित, प्रियंका कल्पित, किसन सीसोदिया, कु. मीना कामते, बलदेव पटेल, कान्तिलाल मकवाना "कातिल", हरजीवन दाफडा, जीवन ठाकोर, प्रा. यशवन्त वाघेला, दान वाघेला आदि महत्वपूर्ण हैं। कहना होगा कि गुजराती दलित कविता साधारण लोगों की कविता नहीं है बल्कि वह सदियों पुरानी निद्रा में से जगे संघर्षोन्मुख आम जनता के अनुभव की कविता है।

गुजराती दलित कविता के सर्जकों ने सामाजिक विषमता, अत्याचार, साम्प्रदायिकता, आक्रोश, विद्रोह, कौमवाद, प्रान्तवाद, जातिवाद, धर्मवाद आदि विषयों को विशेष प्राधान्य दिया।

उपरिनिर्दिष्ट गुजराती प्रतिबद्ध कविता की केन्द्रीय विचारों की भाव-धारा को देखते हुए हम इस नतीजे पर पहुँच जाते हैं कि उक्त कवि अपने पुराने विचारों, रस्म-रिवाजों, जातीय अस्तित्व,अन्धश्रद्धा, वर्ण-व्यवस्था, दरिद्रता, अज्ञान, संताप, नकार, विद्वेष, अपमान, हताशा आदि से प्रेरित मानसिक यन्त्रणा में से हर सूरत में मुक्ति के आकांक्षी हैं। गुजरात के काठियावाड़ के दलित कवि सिद्धदेव कहते हैं कि फिलहाल हमें समझाने की आवश्यकता नहीं है, हम लोग स्वयं समझ चुके हैं कि हमें सबसे पहले हमारे आत्मीय संस्कारों में तब्दीली लानी पड़ेगी और तभी कहीं जाकर समाज में नये सांस्कृतिक विप्लव की बात करने के हम सही मायने में हकदार कहे जाएँगे। इससे पता चलता है कि गुजरात के दलित कवियों को सामाजिक अन्तःक्रिया की दिशा का ठोस संवेद्य ज्ञान अभिप्रेत है।

गुजरात के प्रसिद्ध कवि चन्द्रकान्त मेहुरिया कहते हैं कि "निरन्तर मरण पंथ" का सीधा रास्ता मेरे लिए साफ नहीं था। कविता लिखने के पहले मैंने अपने दिमाग में स्थित सदियों वर्ष पुराने संस्कारों की दीवार को शीघ्र ही गिरा दिया और अब मैं सच्चे अर्थ में खुद को परिवर्तन का राही समझता हूँ। इस प्रकार दलित कवियों के उद्गार सामाजिक परिप्रेक्ष्य में रचनात्मक अधिक प्रतीत होते हैं,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नकारवादी कम। समाज को तोड़ने-फोड़ने की अपेक्षा समाज को नये ढर्रे से बसाने में गुजरात का दलित कवि संयत भाव से अधिक विश्वास करता है। मराठी दलित कवियों की तुलना में वह विद्रोही एवं आक्रामक कम है। इसका ही दूरवर्ती परिणाम है कि उसकी रचना-धर्मिता में प्रामाणिकता और उसकी निजी जनवादी संवेदना एवं सामाजाभिमुख चिन्तन प्रधान है।

गुजराती दलित कविता के सर्जकों ने सामाजिक विषमता, अत्याचार, साम्प्रदायिकता, आक्रोश, विद्रोह, कौमवाद, प्रान्तवाद, जातिवाद, धर्मवाद आदि विषयों को विशेष प्राधान्य दिया है और गुजरात प्रान्त की जनता की दुर्दशा के ज़ीवन्त चित्र प्रस्तुत किये हैं।

गुजरात की दुर्दशा के काव्यमय शब्दचित्रों, बिम्बों और प्रतीकों से पता चलता है कि समाज में कहीं न कहीं खामियाँ हैं जिससे स्वातंत्र्योत्तर गुजरात राज्य में समाज और व्यक्ति-व्यक्ति के बीच अलगाव पाया जा रहा है और अविश्वास की परिधि में व्यक्ति कहीं अकेलेपन की अनुभूतियाँ लेकर जीने लगा है। उसका ही परिणाम है कि आत्म-निर्वासन की यातना से ग्रस्त व्यक्ति उक्त समस्याओं का शिकार हुआ है। इसका ही सटीक प्रतिबिम्ब गुजरात के भावप्रधान दलित काव्यों में उपलब्ध है।

उक्त परिवर्तित स्थिति का ही परिणाम है कि गुजरात का प्रतिबद्ध दलित कवि कुंठाग्रस्त अर्थात् कुछ "खोये" की बात करता है और नये "बदलाव" के लिए शोधरत पाया जा रहा है। समाज में व्यक्ति को 'इच्छाओं' का हनन अथवा तमाम रोजमर्रा की प्रासंगिक 'अनिवार्यता' की पूर्णता का न होना आदि के काव्यमय शब्द-चित्र दलित काव्य की विचारधारा से प्रतिबद्ध होकर आधुनिक राजनीतिकरण की दुविधात्मक चेतना से संश्लिष्ट हो जाते हैं। इतिहास में भी ऐसे ही स्थित्यन्तर प्रायः देखे गए हैं जिसका प्रतिबिम्ब हम गुजराती दलित कवि में बराबर देखते हैं। यहाँ पर विचारणीय बात यह है कि जब आधुनिक राजनीतिकरण दुविधात्मक स्थिति में से गुजरने लगता है तब तो डॉ. जान डब्लू ब्रोसियर का मानना है कि यह स्थिति रक्तरंजित क्रान्ति की दिशा की तरफ निर्देश करने वाली होती है।

अन्त में गुजरात प्रान्त की दलित विचारधारा से प्रतिबद्ध कविता पढ़ने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह कविता कहीं-कहीं अछूतोद्धार के नेता म.गाँधी से प्रभावित है तो कहीं-कहीं डॉ. अम्बेडकर के जीवन-दर्शन से प्रभावित मालूम होती है। इन दोनों दलितोद्धारक नेताओं को याद किये बगैर यह दलित कविता अपना निजी सुदृढ़ कलेवर वरण कर ही नहीं पाती है।

प्रिंसिपल
एम.के.अमीन आर्ट्स साइंस कालेज
एण्ड कॉलेज ऑफ कॉमर्स, पादरा-341440

अनेक वर्षों से अप्राप्त

साहित्य और दलित चेतना

अब नए संस्करण में उपलब्ध

संपादक :
डॉ. महीप सिंह,
डॉ. चंद्रकान्त बांदिवडेकर

मूल्य
सजिल्द 200 रु., पेपर बैक 120 रु.

अभिव्यंजना
बी–70/72, डी.एस.आई.डी.सी. काम्प्लेक्स,
लारेंस रोड, दिल्ली–110035

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूरजपाल चौहान

मैं तेरी बुआ....

उन दिनों गाँव के प्रभु दादाजी ने बुढ़ापे में रात-दिन एक करके 'अम्बेडकर-सदन' बनवाने के लिए डेढ़ लाख रुपए उत्तर प्रदेश सरकार से मंजूर कराए थे। दूसरी ओर गाँव के भंगी और चमारों में इसी बात को लेकर ठन गई कि अम्बेडकर-सदन कहाँ बने? चमार मोहल्ले के अधिकतर लोग चाहते थे कि अम्बेडकर-सदन उनके मोहल्ले में लगी डॉ. अम्बेडकर साहब की प्रतिमा के पास ही बने। लेकिन प्रभु दादाजी चाहते थे सदन ऐसी जगह बने जहाँ इसका उपयोग गाँव के भंगी भी कर सकें। इसके लिए प्रभु अपनी तीस हजार रुपए कीमत की जगह संस्था को दान में देने को तैयार थे। लेकिन चमार मोहल्ले के कुछ लोग इस बात के लिए सहमत नहीं थे। वे बार-बार यही दलील दे रहे थे कि अम्बेडकर-सदन चमार मोहल्ले में स्थापित डॉ.अम्बेडकर साहब की मूर्ति के पास ही बने।

गाँव के भंगी समुदाय के लोगों की शिकायत थी कि चमार मोहल्ले में सदन के बन जाने पर वे उसका सदुपयोग नहीं कर सकेंगे। दलितों की इस आपस की तनातनी के कारण स्वीकृत फंड वापिस होने ही वाला था कि प्रभु दादाजी ने मुझे तुरंत गाँव आने का संदेशा भेजा। सूचना पाते ही मैं 23 दिसम्बर 2001 को गाँव आ गया था। उस दिन बनवारी चाचा ने रोष व्यक्त करते हुए मुझसे कहा था–

"लल्ला, तोय पतौ नायँ, तू तो दिल्ली मो रहतुए (रहता है), गाम के जे चमार अम्बेडकर जयंती के मोके पर हमें बाबा साहेब की मूर्ति पर फूलउ (फूल भी) नायँ चढ़ान देत... अम्बेडकर-सदन बन जाने पर ये वामें हमें अन्दरउ (अन्दर भी) नायँ जान दिंगे।"

बनवारी चाचा के तर्क में दम था। गाँव में आज मैं जो एक विशेष बात नोट कर रहा था वह यह कि गाँव के चमार भी दूसरे गैर-दलितों की तरह भंगियों को 'हरिजन' कहकर पुकारने लगे हैं। इस बात का विरोध मैंने प्रभु दादाजी से पहले भी किया था। करीब डेढ़-दो महीने पहले प्रभु दादा से नाराजगी प्रकट करते हुए मैंने कहा था कि गाँव में रहकर आप लोग तो शिक्षा के क्षेत्र में आगे बढ़ते जा रहे हो, तुम्हारे मोहल्ले के सभी बच्चे स्कूल और कॉलिज भी जाते हैं...लगभग सभी ने बौद्ध-धम्म भी स्वीकार कर लिया है, जब आपस में मिलते हो तो 'जय भीम' कहकर हाल-चाल पूछते हो...आपने अपने मोहल्ले में तो चेतना जाग्रत कर दी, इन भंगियों को साथ लेकर क्यों नहीं चलते? मेरी बात सुनकर वह तुनक गए थे। अपनी नाक से ढलक आई ऐनक को ऊपर चढ़ाते हुए बोले–

"ओ भइया, तू इनकी बात मत कर... इन हरिजनों को चाहे कितनौ ही समझा लो, ये सुधरने वारे नायँ।" बात करते-करते प्रभु दादा झुँझला गए थे। भंगियों के लिए उनके मुख से 'हरिजन' शब्द सुनकर मैं हतप्रभ रह गया। दिल्ली से मेरे साथ आए युवा दलित साहित्यकार सुदेश तनवर भी पास खड़े थे। उन दिनों मेरे मझले चाचा बाबूलाल का देहांत हुआ था, सुदेश जी दिल्ली से मेरे साथ अपनी संवेदनाएँ प्रकट करने आए थे। प्रभु दादा के मुख से भंगियों के लिए कहा हरिजन शब्द सुनकर वह भी मंद-मंद मुस्करा कर रह गए। मैंने और सुदेश ने उस समय इस शब्द को लेकर प्रभु दादा से चर्चा करना उचित नहीं समझा, क्योंकि इस शब्द का अर्थ वह भी जानते थे। भंगियों को हरिजन कह कर पुकारना मात्र उनकी झुंझलाहट थी।

Central Library
Gurukul Kangri University
Hardwar-249404 (U.A.)

उस दिन मैं और सुदेश तनवर रात को ग्यारह बजे तक दिवंगत चाचा के दोनों बेटों राजेश और राकेश से तेरहवीं को लेकर चर्चा करते रहे थे। वे दोनों चाहते थे कि वर्षों से चली आ रही परम्परा को ही निभाया जाए। मैंने और सुदेश ने उन दोनों को प्यार से समझाया कि इन सड़ी-गली परम्पराओं को अब त्याग देना चाहिए। तेरहवीं में दस-दस हजार रुपया खर्च करना और आसपास के गाँवों के लोगों को दावत में बुलाना उचित नहीं है। हम दोनों ने उन्हें समझाते हुए बौद्ध-धम्म की रीति से संस्कार करने की बात कही। छोटे राकेश के चेहरे पर आते-जाते भावों से स्पष्ट पता चल रहा था कि उसके ऊपर हमारी बातों का असर पड़ रहा है। व अपना मुँह खोले कि बड़ा राजेश मेरी ओर देखते हुए बोला–

"भइया, गाम के लोग और नाते-रिश्तेदार सब हमारे जन्म में थूकते हुए कहेंगे–दो-दो बेटा शहर में नौकरी करते हैं और तेरहवीं भी ठीक से नहीं की।"

"नाते-रिश्तेदार और मोहल्ले के लोगों का काम बातें बनाना ही है, सब खा-पीकर चले जाएँगे अपने-अपने घर.... रुपया-पैसा तो हमारा ही खर्च होगा, भैया जो कह रहे हैं वैसा ही करेंगे।" छोटे राकेश ने राजेश की बात को काटते हुए मेरी बात का समर्थन किया।

घंटे-भर की जद्दोजहद के बाद मेरी और सुदेश की बात को मान लिया गया। दूसरे दिन प्रभु दादा ने ही बौद्ध रीति से संस्कार कराया था। पूरे गाँव में इस घटना को लेकर तरह-तरह की प्रतिक्रियाएँ हुई थीं। गाँव के समझदार और पढ़े-लिखे गैर-दलितों ने भी खुशी प्रकट करते हुए कहा था–

"हमारे देखते हुए गाँव में भंगियों ने आज पहली बार तेरहवीं में शाकाहारी भोजन का आयोजन किया... यह एक अजूबा ही है कि सूअर नहीं मारा गया।"

कुँवरसिंह लोधे ने मेरे कंधे पर हाथ रखते हुए कहा–

"लल्ला, महीना-दो महीना में गाम आकर अपने मोहल्ले के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोगों को अच्छी-अच्छी बातें बताया कर, तेरी बातों का इन पर कितनो अच्छौ असर पड़ौ है—तूने तो पढ़-लिखकर इनसे नाता ही तोड़ लियौ।" कुँवरसिंह एक रौ में अपनी बात कह गए थे। उनकी बातें सुनकर उस समय मेरे ऊपर घड़ों पानी पड़ गया। मैं खड़ा-खड़ा सोच रहा था कि इस समाज में मेरे जैसे पढ़े-लिखे लोग इनसे नाता ही तोड़ लेते हैं। सरकारी नौकरी लगते ही अपने और अपने बाल-बच्चों के भले के बारे में ही सोचते रहते हैं। गाँव में रह रहे परिवार के अन्य सदस्यों के कल्याण या उनकी भलाई के बारे में सोचने की जैसे हमें फुर्सत ही नहीं रहती।

उधर, दूसरी ओर गाँव के बामनों ने प्रभु का उपहास करते हुए कहा था—

"क्यों रे प्रभुआ, सुनो है तूने भंगियों में तेरहवीं पढ़वाने कौ काम शुरू कर दियौ है!"

इस प्रकरण से एक बात तो स्पष्ट है कि भंगी जाति के लोगों को यदि उचित सलाह और प्यार से समझाया जाए तो उनमें भी बदलाव आ सकता है। दरअसल इस समाज के अन्दर काम ही कहाँ हुआ है? दलित समाज के नेता, साहित्यकार, अपने आपको समाज के सुधारक कहलाने वाले अपना-अपना उल्लू सीधा करने में लगे हैं। दलित समाज के कई तथाकथित समाज़ सुधारकों को मैंने गाल बजाते और कहते हुए सुना है—

"सारी दुनिया सुधर जाएगी, लेकिन ये भंगी नहीं सुधरने वाले!"

मैं ऐसे दलित समाज के नेताओं और समाज सुधारकों से पूछना चाहता हूँ कि इन्होंने आज तक भंगी समाज के सुधार के लिए कौन-सा कार्य किया या कोई बड़ा आंदोलन ही शुरू किया? ये सब के सब इस समाज के लोगों के वोटों पर राजनैतिक रोटियाँ सेंकने में लगे हैं। (भटक गया न समाज-सुधार की भाषणबाजी के चक्कर में मुख्य मुद्दे से!)

मैंने बात शुरू की थी 23 दिसम्बर 2001 को अपने गाँव पहुँचने की। इस बार सुदेश तनवर के साथ-साथ मेरे संग कर्मशील भारती भी थे। इन दोनों दलित साहित्यकारों को मैं अपने साथ जान-बूझकर गाँव लेकर जा रहा था। मैंने सोचा हो सकता है मेरी बातों से ज्यादा असर दलित बस्तियों पर इन दोनों की बातों का हो जाए और अम्बेडकर-सदन उसी जगह बने जहाँ प्रभु दादा चाहते हैं। एक कहावत भी है—"घर का जोगी जोगड़ा, आन-गाम का सिद्ध।" और हुआ भी ऐसा ही—बैठक में इन दोनों की बातों का लोगों पर इतना असर पड़ा कि सभी एक स्वर में उसी स्थान पर सदन बनाने के लिए सहमत हो गए जहाँ गाँव के भंगी और प्रभु दादा चाहते थे।

मुख्य सड़क से गाँव की ओर जाने वाली तीन किलोमीटर की एक रोती हुई शक्ल की सड़क है। जैसे ही मैंने गाड़ी का मुख उस ओर किया, वहीं तिराहे पर एक ओर को एक महिला अपनी पाँच-छः साल की बच्ची के साथ खड़ी थी। उसने हाथ के संकेत से गाड़ी रोक देने को कहा। गाड़ी रोकते हुए मैंने पूछा—

"हाँ, क्या बात है?"

"फुसावली तक मुझे और मेरी बेटी को भी बैठा लो।" महिला ने लड़की के सिर पर हाथ फेरते हुए कहा था।

सुदेश मेरे साथ आगे वाली सीट पर बैठे हुए थे और कर्मशील भारती पीछे वाली सीट पर पसरे हुए थे। भारती जी ने "हाँ-हाँ, आ जाओ" कहते हुए गाड़ी का पीछे का दरवाजा खोल दिया। वह महिला और उसकी बेटी उनके साथ बैठ गईं। गाँव तक जाने वाली सड़क की हालत खराब थी। ईंटों से लदे ट्रकों के आने-जाने से सड़क जगह-जगह से उखड़ गई थी और उसमें गहरे गड्ढे बन गए थे। बस, मैं किसी तरह से धीमी गति से गाड़ी चलाए जा रहा था। फिर भी गाड़ी हिचकोले पर हिचकोले खा रही थी। कुछ क्षणों की चुप्पी के बाद और एक गहरे गड्ढे से गाड़ी को बचाते हुए मैंने उस महिला से पूछा—

"फुसावली तुम्हारी ससुराल है या मायका?"

"मायका है, भइया से मिलबे गाम जा रही हूँ।" महिला ने चेहरे पर मंद-मंद मुस्कान बिखेरते हुए कहा।

"अच्छा, फिर तो तुम गाँव-रिश्ते से मेरी बहन या बुआ लगीं... मैं भी फुसावली का हूँ।" मैंने भी उससे हँसते हुए कहा था।

"हाँ भइया हाँ, मैं तेरी बहन-बुआ ही लगी।"

चिड़िया की तरह चहकते हुए और मेरे सिर पर स्नेह से हाथ फेरते हुए उसने कहा था। उसकी चहक और वाणी से साफ झलक रहा था कि वह गाड़ी में बैठकर खुश थी। मैंने बात आगे बढ़ाते हुए उससे फिर पूछा—"बुआ, ससुराल कहाँ है?"

"अलीगढ़, अलीगढ़ से ही आ रही हूँ, बस से उतरकर इंतजार कर रही थी कि कोई इक्का-गाड़ी (तांगा) या ट्रैक्टर-ट्राली गाँव तक मिल जाए... इतने में तुम्हारी गाड़ी इधर को आती दिखाई दी।"

उस महिला ने मेरी गोल-मटोल काया को निहारते हुए अपनी बात जारी रखी—

"गुप्ता या अग्रवाल हो, मैं भी अग्रवाल हूँ।" मैं उसकी बात सुनकर पहले मंद-मंद मुस्काया, फिर बारी-बारी से सुदेश तनवर और भारती जी के चेहरों को निहारते हुए मैंने महिला से पूछा—

"अच्छा बनियों में से हो, गेंदा लाला आपके क्या लगते थे?"

"वह मेरे ताऊ लगते थे, मैं उनकी भतीजी हूँ।" महिला तपाक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से बोली।

मैं पैंतीस वर्ष पुरानी स्मृतियों में खो गया। अब मेरे गले से आवाज नहीं निकल पा रही थी। लाला द्वारा मुझे संटी से मारना और फिर दुअन्नी को तसले में भरे पानी से धोकर अपनी गुल्लक में डालना। एक-एक घटना चलचित्र की भाँति मेरी नजरों के सामने से गुजर गई। महिला की बातें सुनकर सुदेश और कर्मशील भारती ने चुप्पी साध ली। बस्स, वे दोनों मेरे चेहरे पर आते-जाते भावों को पढ़ने का प्रयास कर रहे थे। मैंने गाड़ी को पहले गियर से दूसरे गियर में डालते हुए महिला से कहा—

"मैं न अग्रवाल हूँ और न गुप्ता, मैं....।"

"....तो लोधे राजपूतों में से होगे।" उसने मेरी बात पूरी सुने बिना कहा।

"नहीं, मैं लोधा राजपूत भी नहीं हूँ, मैं भंगी बस्ती का हूँ।" मेरे सीधे और सपाट उत्तर से वह महिला अवाक् रह गई। फक्क् पड़ गया था उसका चेहरा। कुछ देर पहले वह चिड़िया-सी चहक रही थी, अब मेरी जाति के बारे में जानकर उसे साँप सूँघ गया। उसके हाव-भाव से ऐसा लग रहा था मानो कार में बैठे उसका दम घुटा जा रहा हो। वह शीघ्र उतर जाना चाहती थी, लेकिन चलती गाड़ी से भला कैसे उतरे? सर्दी के मौसम में भी पसीने की बूँदे उसके मुख पर स्पष्ट दिखाई दे रही थी। उसकी बेटी जो कर्मशील से सटकर बैठी थी, उसे अपनी ओर खींचते हुए वह बोली—

"अब तो दुनिया बदल गई है, कहाँ रह गई है छुआछूत... पता ही नहीं चलता कि कौन किस जाति का है।"

मेरा मोहल्ला समीप आ चुका था, रामकली चाची धूप में बैठी सिर सुखा रही थी। मुझे देखते ही उसके मुख से निकला—"दिल्ली से सुजपाल बेटा आ गए।" मोहल्ले के लोग भी गाड़ी के समीप आकर खड़े हो गए थे। मैंने उस महिला से कहा—

"बुआ, यहीं से अपने घर चली जाओगी या घर तक छोड़कर आऊँ।"

"यहीं से चली जाऊँगी।" उसने गाड़ी से उतरते हुए कहा और गर्दन लटकाए हमारे मोहल्ले में से जाने लगी। जाते-जाते मैंने उससे मुस्कुराते हुए पूछा—

"बुआ, शाम को हम तीनों तुम्हारे घर आ रहे हैं, चाय पिलाओगी?" उसने बिना मेरी ओर देखे मुँह बिचकाते हुए कहा—

"यह गाँव है, भला यहाँ मैं घर में बैठाकर तुझे कैसे चाय पिला सकती हूँ?"

डी-20, एस.टी.सी.कालोनी,
महरौली रोड,
दिल्ली-110017

प्रतिष्ठित कथाकार

महीप सिंह

के कथा-मानस पर

विभिन्न कोणों से प्रकाश

डालती आलोचनात्मक कृति

महीप सिंह का कथा-संसार

डॉ. कमलेश सचदेव

पृष्ठ : 208 मूल्य : 200 रुपये

अभिव्यंजना

बी-70/72, डी.एस.आई.डी.सी. काम्प्लेक्स,
लारेंस रोड, दिल्ली-110035

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंजाबी कहानी

खालिद हुसैन

एक कैदी की डायरी

अनुवाद : डा. कीर्त्ति केसर

मैं एक बंदी हूँ, काल-कोठरी में क़ैद...क़ैद के ये लम्बे दिन अलग-अलग दायरों में धीरे-धीरे धूल उड़ाते रहते हैं। नफ़सियाती परेशानियाँ...कभी उदासी, कभी दर्द...कभी उलझनें...और कभी-कभी मन बहुत उदास हो जाता है। एक इन्तज़ार बड़ी व्यग्रता से शुरू हो जाता है कि अब कोई आए—अपना या पराया, दुश्मन या दोस्त। कोई बातचीत हो पर बातचीत किसके साथ? इस काल-कोठरी की दीवारों के साथ या अपने साथी बंदियों के साथ, जो मेरी तरह इस जेल में बंद कर दिए गए हैं...बल्कि ठूँस दिए गए हैं, जानवरों की तरह।

हम, औलाद भी तो पशुओं की हैं। हमारे पुरखे इनसानों के रूप में भेड़-बकरियों की तरह बेचे और खरीदे जाते थे। यह बात तो बहुत पुरानी, सदियों-सदियों पुरानी है...पर उससे क्या...हमारी ख़सलत (मूल प्रवृत्ति) तो अभी भी नहीं बदली। यह जेल किसी बेदर्द हाकिम का मातम कर रही है। सामने ऊँची पहाड़ी पर बना किला तलवार के जमाने का मुहाफ़िज है...आज के ज़माने पर रो रहा है। यह जेल भी एक अजीब दुनिया है। यहाँ न ज़िन्दगी का अहसास है...न मौत का। ज़िन्दगी का कोई सपना नहीं है-आकांक्षा नहीं है तो मौत का डर भी नहीं है। ठहरी हुई ज़िन्दगी अपने बीते कल को दोहराती रहती है। यहाँ आकर जीते-जागते इनसान जो हँसते हैं, रोते हैं...प्यार करते हैं...लड़ते-झगड़ते हैं...सब अलिफ लैला का किस्सा बन जाते हैं। इन में से एक किस्सा मैं भी हूँ।

मैं हत्या का अपराधी हूँ। मुझ पर हत्या का अभियोग है। वे कहते हैं, मैंने हत्या की है। अगर मैंने हत्या की है तो वह लाश कहाँ गई जिसकी हत्या मेरे हाथों हुई है? पर जो खुद ही गली-सड़ी लाश हो वह हत्या को प्रमाणित कैसे कर सकता है। मेरे ऊपर क़त्ल का मुकद्दमा चल रहा है। एक साल हो गया है। क्या होता है एक साल, फौजदारी और दीवानी के मुकद्दमे तो कई-कई साल तक चलते हैं, निपटारा होते-होते बच्चे जवान और जवान बूढ़े हो जाते हैं। अभी तक तो इस्तगासे की फरियाद ही पूरी नहीं हुई, अभियोग तय नहीं हुआ। अभी तो यह भी तय नहीं कि मेरा बयान कब लिया जाएगा। ऐसा लगता है कि समय की तो यहाँ कोई कीमत ही नहीं। अभियोग में निर्दोष आदमी भी कैद काट रहा हो तो किसी का कुछ नहीं बिगड़ता। समय मेरे लिए तो एक ही जगह ठहर गया है। एक ही दिन, एक ही रात ग्लोब पर घूमते रहते हैं। अगर समय अपना रुख बदल दे तो सब कुछ समाप्त हो जाएगा।

> कल मेरा वकील आया था। मुकद्दमे की छानबीन करता रहा था। कुछ कागज़ों पर दस्तख़त करवाकर ले गया...और जाते-जाते कान में धीरे से कह गया, "हवाओं का चलना बंद कर दिया गया है। नदियों के बहने, फूलों के खिलने और पक्षियों के उड़ने पर भी पाबंदी लगा दी गई है।"

वक़्त हक़ीक़त नहीं बदलता, अपना सच नहीं छोड़ता। वह मीठी और कड़वी हक़ीक़तों का न ख़त्म होने वाला सफ़र है। काँटों और फूलों से भरा सफ़र...पर मेरी राहों में तो सदा काँटे ही उगे हैं...शायद यहाँ फूल कभी नहीं उगेंगे। शायद कभी उग आएँ...लाला के फूल (पोस्त के लाल फूल)—कटोरे जैसे बड़े-बड़े ईरानी शायरों के मनपसंद फूल, लालाऊ के फूल।

शेक्सपियर की जूलियट कहती है, "हमारे सारे ग़म आने वाले समय में मधुर वार्तालाप के सामान बनेंगे, इसलिए जो दिन, जो रात बीत जाती है वह अतीत की क़ब्र में दफ़न हो जाती है। सिर्फ आने वाला दिन ही ज़िन्दा होता है। इसकी उम्मीद ज़िन्दा होती है, इसका गीत जैसी इमेज ज़िन्दा होती है। उस आने वाले दिन का जश्न मनाओ...दोस्ती और मुहब्बत का सरमाया खर्च करके। वह दिन, वह घड़ी जब रूहों की हत्या नहीं होगी...।" और मुझ पर आरोप है हत्या का, पर मैं हत्यारा नहीं हूँ। मैंने किसी की हत्या नहीं की। इस्तगासे का आरोप है कि मैंने एक लाश की हत्या की है। उसका सिर काट कर उसमें कीड़े भर दिए हैं। इसको साबित करने के लिए सबूत के तौर पर उन्होंने कई गवाहियाँ पेश की हैं। आप ही सोचिए, एक लाश की हत्या कैसे हो सकती है...क्यों हो सकती है? यह सब झूठ है...पर यह भी सच है कि यहाँ सच झूठ बन जाते हैं और झूठ सच बन जाते हैं। इसीलिए मैं बहुत दुखी हूँ। एक दर्द में, भयानक पीड़ा में जी रहा हूँ। हैवानी दर्द का इलाज मौत होता है क्योंकि बेज़ुबान प्राणी अपना दर्द बयान नहीं कर सकते पर मनुष्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्द को लेकर भी ज़िन्दा रह लेता है। कई सालों तक...कई-कई सदियों तक, पीढ़ी दर पीढ़ी। उसके दर्द का इलाज मौत नहीं होता, ज़िन्दगी होती है।

ज़िंदगी संघर्ष का नाम है पर संघर्ष हमारे लिए कोई और करे...हम नहीं कर सकते...हम मस्जिद के खंडहरों के नमाज़ी हैं-गूँगे की तरह सपने देखकर मन ही मन पछताने वाले। इस जेल में ज़िंदा हूँ पर ज़िंदगी का संघर्ष नहीं है। इसलिए जिन्दगी बड़ी बोर, बड़ी उबाऊ लगती है। इस बोरियत से छुटकारा पाने के लिए चेखोव, फ्रायड, मोपासां, गोगल और सामरसेट माम और न जाने किस-किस को पढ़ता हूँ। काफ़्का की डायरी पढ़कर बहुत कुछ याद आ जाता है। मुगल बागों में खिले फूल...वे शामें जो अमीरा कदल से लेकर काफी हाऊस तक बिखरी होती हैं...बादाम बारी के शगूफ़े, डल झील के रंग-बिरंगे शिकारे और बूलीवाड़े की सड़क पर चलते-चलते जीवन को सुन्दर से सुन्दरतम बनाने के हसीन मनसूबे। ब्राडवे में देखी फिल्में, जेहलम का बंध, गुलमर्ग की हरियाली, फिरोज़पुर नाले का पानी, यूसमर्ग के जंगल और शेक्सपियर की शायरी। किसी पुराने पापी की सफ़ेद दाढ़ी की तरह चमकती हुई ऊँची पहाड़ी चोटियों पर पड़ी बर्फ-इन सबकी याद एक साँप बनकर मेरे दिल-दिमाग़ में डंक मारती रहती है।

इसके बाद सब कुछ बदल जाता है। दुपहर का सूरज परेशान...गर्दभरा मैला-सा...एकदम फिजूल लगता है। कड़ी गर्मी की चिपचिपाहट...पर हवा जब सरसराती हुई निकलती है तो जेल के ढाई पेड़ उसके सुर पर ठुमक-ठुमक नाचने लगते हैं। हवा में लहराते पेड़ धीरे-धीरे लुप्त हो जाते हैं और फिर हर दृश्य जेल बन जाता है। वह जेल जिसमें मैं क़ैद हूँ—एक लाश की हत्या के अपराध में। कहते हैं कि मैंने उसका सिर धड़ से अलग किया है, उसका प्लास्टिक का दिल तोड़ा है।

यहाँ आने से पहले भी मुझ पर दोष लगते रहे हैं। गलियों-बाजारों में, खेतों की फ़सलों में, मशीनी पुर्ज़ों में धुआँ फैलाने के दोष। कभी-कभी यह दोष बेड़ियों की झनकार बनकर अपने वजूद का अहसास दिलाते रहते थे पर मैं हर बार दोषों के सैलाब से बच निकलता था। पर अब तो दोष हत्या का है तो इसकी सज़ा मौत है। मौत फाँसी से या फिर फ्लाइंग स्क्वैड की गोली से। और क़त्ल का यह दोष रात-दिन मेरे सिर में गूँजता रहता है, टीसता रहता है। इस उलझे हुए माहौल में जब कभी मैं अपने आप को स्थिर कर पाता हूँ तो मन का मौसम सुहावना भी हो जाता है। तब रात का चाँद, आसमान की रेशमी चादर पर अंग-अंग लहराती चाँदनी और कोयल का कूकना बड़ा अच्छा लगता है। फिर कीट्स का कथन याद आता है, "सत्य सुन्दरता है और सुन्दरता साहित्य है।" उस समय सुन्दरता का सत्य मन को जेल की चारदीवारी से चीड़ और देवदारों के वृक्षों की सुगंध के बीच, नदियों-झरनों के मीठे संगीत के बीच ले जाता है। तब दिल नहीं मानता कि मैं जेल में हूँ क़त्ल के आरोप में...काल-कोठरी की सलाखों के अन्दर...क़ैद...अनिश्चित काल तक।

काश! मेरी काल-कोठरी पर बिजली गिर पड़े। एक खौफ़नाक आवाज़ आए...हज़रत याकूब के बेटों की आवाज़ से भी भयानक आवाज़...जिससे पहाड़ों की चट्टानें और बर्फ के तोदे गिर पड़ें और पहाड़ों की बुनियादें हिल जाएँ पर हमारे दिमाग़ तो शायद ज़्यादा वज़नी हैं। इन्हें कोई एटम बम भी नहीं हिला सकता।

मैं हर रोज़ भोर से पहले उठता हूँ। चिड़ियों का चहकना और फूलों के साथ छेड़छाड़ करती हवा, फिर सूरज पहाड़ी पर किले की ऊँची दीवारें फाँदकर बाहर निकल आता है...क़ैदखाना जाग उठता है और मेरा मन फिर उदासी में डूब जाता है। किसी अपने की याद बहुत सताती है...यदि वह कोई अपना मिलने आ जाए तो बड़ी खुशी होती है। फिर उसके बाद अकेलेपन का अहसास गहराने लगता है। आँखें कुछ ढूँढने लगती हैं और खालीपन में भटकती रहती हैं और लम्बी बेरंग रातें; सूने, उजड़े-वीरान-उदास दिन काटे नहीं कटते।

कल मेरा वकील आया था। मुकद्दमे की छानबीन करता रहा था। कुछ कागज़ों पर दस्तख़त करवाकर ले गया...और जाते-जाते कान में धीरे से कह गया, "हवाओं का चलना बंद कर दिया गया है। नदियों के बहने, फूलों के खिलने और पक्षियों के उड़ने पर भी पाबंदी लगा दी गई है।" मेरे दिमाग़ में देर तक क़त्ल गूँजता रहा। कुदरत के दिए हुए अधिकारों का क़त्ल।

जेल में उदासियाँ और बदनसीबियाँ काफ़ी हैं पर जीने के लिए, हँसने के लिए और दिल लगाने के लिए कभी-कभी लता, तलत और मुकेश के पुराने गाने, मेंहदी हसन और गुलाम अली की ग़ज़लें, शौकत और यूनुस की आवाज़ों में सैफ़-उलमलूक और सस्सी हाशिम के दोहरे सुनने को मिल जाते हैं। कल ताहिरा सैयद बच्चों के लिए लोरी गा रही थी, "अल्ला-अल्ला करया करो...खाली दामन भरया करो"। मुझे लगा, मैं एक बच्चा हूँ-लहरों की तरह चंचल

"मुझ पर इल्ज़ाम है कि मैंने एक लाश की हत्या की है। भला लाश की हत्या कैसे हो सकती है। कभी कोई मरी हुई चीज़ की हत्या करता है? मैं हत्यारा नहीं। मैं लाशों का व्यापारी नहीं। मैं तो ज़िन्दगी को चाहता हूँ। उसी के गीत गाता हूँ, अफसाने लिखता हूँ।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और फूलों की तरह नाजुक...और ताहिरा सैयद की गोदी में बैठा, लोरी की आवाज़ में डूबा सो रहा हूँ। उस सोते हुए बच्चे को रेशमा की आवाज़ ने जगा दिया, "हाय ओ रब्बा! नहियों लगदा दिल मेरा।" कभी-कभी अच्छा ड्रामा भी सुनने को मिल जाता है।

कुछ दिन हुए, फिलिस्तीनी मुजाहिदों के संघर्ष पर आधारित एक ड्रामा था। कहानी, संवाद, आवाज़ें सभी तरह से ड्रामा अच्छा था। फिलिस्तीनियों के कत्लेआम की दास्तान और यहूदियों की बर्बरता की कहानी।

कल एक बड़ा साया हमारी जेल में दाखिल हुआ, कई छोटी-छोटी परछाइयों को साथ लेकर। उसने सारी जेल का परीक्षण किया। वह कहने लगा, "मैं इस कोठरी में चार साल तक क़ैद रहा था।" फिर वह बड़ा साया जेल के क़ैदियों के साथ बातचीत करने लगा। ठीक उसी तरह जिस तरह वहाँ के बड़े सायों ने उसके साथ की होगी। कहने लगा, "आप लोगों को कोई तकलीफ तो नहीं?" भला अब जेल में...क्या तकलीफ़ हो सकती है। जेल तो आराम के लिए ही बनाई जाती है। फिर वह क़ैदियों से अलग-अलग पूछने लगा-

"तुम! यहाँ किस अपराध के लिए आए हो?"

"चोरी के जुर्म में।"

"तुम.......?"

"दफ़ा तीन सौ सात के जुर्म में...."

"और तुम्हारा क्या जुर्म है?" उसने मुझसे पूछा

"मेरा कोई जुर्म नहीं, मैंने कोई जुर्म नहीं किया।"

"फिर तुम यहाँ कैसे...?"

"मुझ पर इल्ज़ाम है कि मैंने एक लाश की हत्या की है। भला लाश की हत्या कैसे हो सकती है। कभी कोई मरी हुई चीज़ की हत्या करता है? मैं हत्यारा नहीं। मैं लाशों का व्यापारी नहीं। मैं तो ज़िन्दगी को चाहता हूँ। उसी के गीत गाता हूँ, अफ़साने लिखता हूँ। तुम भी तो इस काल-कोठरी में चार साल तक रहे हो! तुम्हारा क्या जुर्म था? क्या तुमने कोई हत्या की थी...?"

बात सुनते ही वह छोटी परछाइयों की तरफ देखने लगा जो मुझे खा जाने वाली नज़रों से घूर रहीं थीं। फिर जेल का बड़ा फाटक खुला और वह बड़ा साया तेज़-तेज़ कदमों से बाहर चला गया...मेरे सवाल का जवाब दिए बगैर...। उसके जाने के बाद सिपाहियों ने फाटक बंद कर दिया। पर मेरा सवाल!...मेरा मन कहता है वह उसका पीछा करता रहेगा...एक दायरा बनकर मेरा सवाल उसके आगे-पीछे घूमता रहेगा...उसे उत्तर देना ही होगा...।

1086/ई, गोविन्द गढ़
जालंधर-144001

डॉ. राज बुद्धिराजा

परशादा

मेरे पड़ोस में एक बावला-सा लड़का रहा करता था। 'था' इसलिए कह रही हूँ कि बात कुछ पुरानी हो गई है। उसका मन न पढ़ाई-लिखाई में लगता, न घर के काम में। वह दिन-भर एक से दूसरी, दूसरी से तीसरी, तीसरी से चौथी और चौथी से पाँचवीं गली में भटकता रहता। माँ के बुलाने पर किसी तरह घर आता, आधा खाना खाता और आधा चिड़ियों को चुगा देता। पास-पड़ोस भी उसे बावला कहता था। खजूर के पेड़ की तरह लंबा हो गया था लेकिन अक्ल के नाम पर 'इल्ले-इल्ले'।

एक दिन भगवाधारी साधु उस गली में आया और उस बावले को अपने साथ ले गया। रोती, पीटती, चीखती, चिल्लाती, ढूँढती-ढाँढती माँ उस भगवाधारी साधु के पास जा पहुँची। उसने खूब हाय-तौबा मचाई कि मेरे बेटे को तुम क्यों पकड़ लाये। "तुम्हारा बेटा कहाँ है? वो तो मोहल्ले भर का है। यहाँ हम सबकी सेवा करेगा और खाना खाएगा।" और हट्टे-कट्टे संतों ने माँ को भगा दिया। बावले जैसे कई दूसरे लड़के भी वहाँ पर थे। मोहल्ले वालों ने कहा कि चलो, वहाँ रहकर कुछ काम करना सीख जाएगा। उधर उन संतों की नज़र बावले जैसे लड़कों और लड़कियों पर थी ताकि मुफ्त में काम कराया जा सके। साधु के डेरे पर बढ़ती भीड़ देखकर दूसरी औरतें भी वहाँ पहुँचने लगीं। किसी को दवा-दारू चाहिए थी और किसी को पैसा, किसी को बेटे की ज़रूरत थी और किसी को मोटरगाड़ी की।

एक दिन की बात है कि एक औरत के साथ चौदह-पंद्रह साल की लड़की भी चली आई। साधु की नज़र उस पर भी पड़ गई। नज़र का जो भी परिणाम होता है वह सभी को मालूम है। आश्रम में खलबली मच गई कि लड़की माँ बनने वाली है। उस साधु के हाथों के तोते उड़ गये। कैसे किया जाए कि साँप भी मर जाये और लाठी भी न टूटे। सबकी नजर उस बावले पर थी। उसे बुलाकर उसने कहा, "आ बेटा, बैठ। प्रसाद खायेगा।" और बावले के हाथों में लड्डू और पेड़े थमा दिए। वह गपगप खाने लगा। फिर साधु ने एक नारियल भी उसके हाथ में थमाया और उससे कहा, "ये भी प्रशाद है। घर ले जा, माँ को भी खिलाना।" बावला उठने को ही था कि साधू ने कहा कि एक और भी प्रसाद है तुम्हारे लिए। उस लड़की को बुलाया गया और कहा, "ये ले, इसे भी अपने साथ ले जा। तेरे और तेरी माँ के लिए ये बहुत काम करेगी। दो रोटी दे देना बस और मन हो तो इसके साथ सो भी जाना। और हाँ, अंधेरा होने के बाद जाना।"

जी-233, प्रीत विहार, दिल्ली-92

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मीरा सीकरी

लुका-छिपी

"ममा प्लीज, जाने देना न...मैं अकेली ही नहीं जा रही...हमारा सारा ग्रुप तो होगा वहाँ...।"

अनन्या माँ को मनाने की कोशिश कर रही थी।

"देखो बेटा, पार्टी अभिषेक के घर पर होती तो मैं तुम्हें मना न करती...पर उसने तो मेरीडियन पर बुलाया है न? ऐसे में रात को दे......."

अभी उन्होंने वाक्य पूरा भी नहीं किया था कि अनन्या बोल पड़ी—

"इसका मतलब यह हुआ कि आपसे झूठ बोल दिया जाता कि पार्टी घर पर है...।"

"मुझे इतना बेवकूफ समझ रखा है कि मैं तुम्हारे झूठ-सच को न समझ पाती?"

"अभी झूठ बोला ही कहाँ है मैंने।"

इसी बीच फोन की घंटी बज उठी और उसे उठा "आपका फोन" कहते हुए अनन्या ने रिसीवर माँ को पकड़ा दिया। रिसीवर पकड़ माँ इशारे से पूछ रही थीं—'किसका फोन है?' और अनन्या हाथ हिलाकर कह रही थी कि उसे पता नहीं।

'हलो' कहने के साथ, माँ दूसरी तरफ की आवाज को पहचानने की कोशिश कर रही थी। जैसे ही माँ ने "ओह पुष्पा जी आप" कहा तो अनन्या को लगा कि यह तो माँ की किसी दोस्त का फोन है और अब बातचीत लम्बी चलेगी, पर वह वहाँ से हटी नहीं।

"पुष्पा जी, सच कहूँ इस वक्त निकलना बहुत मुश्किल लग रहा है...बात एक घंटे की नहीं है...दरअसल अभी घर का कुछ भी काम निपटाया नहीं है...फिर शाम भाई के घर भतीजे के ब्याह पूर्व का कीर्तन है...वहाँ जाना ही पड़ेगा...यूँ कीर्तनों में, मैं जाती नहीं, पर घर का आयोजन है।"

दूसरी तरफ से माँ की मित्र शायद बहुत मिन्नत कर रही थी क्योंकि अब माँ कह रही थीं—

"पर देखिये लंच के लिए ज़िद नहीं कीजिएगा...स्वामी जी द्वारा आपकी किताब का विमोचन हो जाने के एकदम बाद मैं लौट आऊँगी...देखिए लंच को प्रसाद में बदल, आप मेरा मुँह बन्द कर रही हो...ओ.के. तो फिर मिलते हैं।"

माँ ने फोन बन्द कर दिया था। और वह सोच रही थीं कि साऊथ एक्सटेन्शन साड़ी एक्सचेंज करने के लिए उन्हें निकलना ही है...घर से थोड़ा जल्दी निकल लेंगी...वहाँ से 'आनन्द आश्रम' है ही कितनी दूर...डिफेन्स कालोनी फ्लाईओवर पार करते ही...पुष्पा जी को मना भी तो नहीं किया जा सकता था पर अपने आप का क्या करें वह...न अपने को आस्तिकों की श्रेणी में रख पाती हैं, न नास्तिकों की श्रेणी में...धर्म के प्रति अनादर का भाव भले ही उनके मन में न हो पर मन्दिरों क्या, गुरुद्वारों, गिरज़ाघरों और मस्जिदों में भी तभी जाना हुआ है जब यात्रा के दौरान किसी प्रसिद्धिवश उन्हें देखने का अवसर मिला हो।

'ममा प्लीज, हाँ बोल दो न... वन्दना घर छोड़ जाएगी मुझे।" अनन्या का राग फिर चालू हो गया था।

"हाँ चली जाना ताकि दिन भर के थकने के बाद रात बारह-एक बजे तक खिड़की में झाँकती रहूँ...कल मेरा फर्स्ट पीरियड है...कुछ नींद की जरूरत मुझे भी है या नहीं?" खीझते हुए उन्होंने कहा।

"आप सो जाना न...वन्दना और मैं जल्दी लौट आएँगे।"

"मैं जानती नहीं हूँ तुम लोगों को? अभी थोड़ी देर के लिए मेरे सामने से हट जाओ।"

"पर वन्दना को क्या जवाब दूँ?"

"कह दो शाम छः-सात तक फोन कर दूँगी—अभी मेरे दिमाग पर बहुत बोझ है...सबसे पहले कल के लेक्चर के लिए थोड़ा-सा देख लूँ...एक कप चाय तो मेरे लिए बना दे।"

अनन्या बुड़-बुड़ करती हुई चाय बनाने चली गई और उन्होंने कविता की किताब खोल ली।

फर्स्ट ईयर पास कोर्स के बच्चों के पाठ्यक्रम में 'मध्यकालीन कविता'...ब्रज-अवधी से अपरिचित आज के बच्चे सूर-तुलसी की भक्ति क्या समझें...बिहारी का शब्दों का खिलवाड़ और उनके आकर्षक रोमानी बिम्ब उन्हें अच्छे लगते हैं पर कल तो देव को शुरू करना है...भक्ति के आवरण में शृंगार 'राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है"...ढोंगी समाज...उन्हें लगा आज की दुनिया कहीं ज्यादा अच्छी है पर यह भी अपने मन को बहलाने वाली बात है...दोहरे मूल्यों से व्यक्ति कब छूटा है...अपने आप को ही लें...दिखावे की पूजा-उपासना में उनकी आस्था नहीं पर कीर्तन में जाना होगा...आश्रमों में जाना रुचिकर नही पर मित्रता के दायित्व को पूरा करने के लिए जाना ही होगा...धार्मिक साहित्य को पहले मन में पचाकर फिर बच्चों तक पहुँचाना होगा...इस बीच अनन्या चाय का मग सामने पटक गई थी...उन्होंने समय देखा, पौने ग्यारह बज रहे थे। उन्होंने किताब बन्द की, जल्दी से तैयार हुईं, साड़ी का पैकेट पकड़ा और अनन्या से कहा-

"तुम और पापा खाना खा लेना...मैं घर पर खाना नहीं खाऊँगी...मेरे आने में अगर देर हो जाए तो तुम लोग तैयार हो जाना, शाम चार बजे मामा जी के घर पर पहुँचना है।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साड़ी एक्सचेंज करने में समय नहीं लगा था इसलिए 'आनन्द आश्रम' वह बहुत जल्दी पहुँच गई थीं। वहाँ पहुँच उन्हें शक हुआ कहीं वह इंडिया इंटरनेशनल सेन्टर तो नहीं आ गई। अपने सन्देह को मिटाने के लिए वह बाहर आई। 'आनन्द आश्रम' पढ़कर अपने को विश्वास दिलाया और फिर भीतर आ गई। पुष्पा का कहीं नाम-निशान नहीं था। वह पीछे की तरफ सारा घूम आईं। पीछे नया नया सरोवर बना लगता था। उसके बीचोंबीच किन्हीं स्वामी जी की प्रतिमा प्रतिष्ठित थी। गेंदे के फूलों और हरी पत्तियों से सरोवर और रास्ते को अलंकृत किया गया था। संगमरमरी सफेद धुले-पछे पत्थर चमक रहे थे। उनका मन हुआ था वहीं पानी में पाव डालकर थोड़ी देर बैठ जाएँ। पर आसपास कुछ लोग खड़े थे और कुछ लोग आ जा रहे थे। ऐसे में कोई मनमानी हरकत वह कैसे कर सकती थीं। वहाँ से लौटकर वह फिर मुख्य द्वार के लॉन पर आ गई थीं। एक जवान जोड़ा वहाँ सीढ़ियों में बैठा हुआ था। उनका मन हुआ कि किताब के विमोचन के बारे में उनसे पूछें, पर जिस इन्टीमेट ढंग से वे बैठे हुए थे, वैसे में उनके पास जाना उन्हें अनुचित हस्तक्षेप लगा था। 'आश्रम है या क्लब?' बुदबुदाते हुए उन्होंने घड़ी पर नज़र डाली थी। साढ़े बारह हो चुके थे, उन्हें अपने पर गुस्सा आया था। इतनी जल्दी आने की क्या जरूरत थी? फिर उन्होंने सोचा भीतर रिसेशन या आफिस में जाकर पता करना चाहिए।

हाल में पहुँचाने वाली सीढ़ियों पर चढ़ती दो सोफिस्टिकेटिड सी महिलाओं पर उनकी नज़र रुकी। सफेद साड़ी पहने वृद्धा का हाथ पकड़ उसे ऊपर चढ़ने में मदद करती युवती बेटी या बहू (क्यों जोड़ने लगती हैं सम्बन्ध दो साथ-साथ बैठे-चलते व्यक्तियों में वह...अपनी पिछड़ी मानसिकता के लिए उन्होंने अपने को झिड़का) से उन्होंने पुष्पा जी की किताब के विमोचन के बारे में प्रश्न कर ही दिया। जवाब दिया वृद्धा महिला ने अंग्रेजी में—

"मुझे यह तो मालूम नहीं कि किताब की 'रिलीज़' है पर आप अन्दर बैठ जाइए।"

हाल में छोटे-छोटे खंडों में कुर्सियाँ लगी हुई थीं। बीच में ज़मीन पर चौकियाँ और आसन बिछे थे। भगवे कपड़ों में दो-चार जन 'पुस्तकालय' लिखे कक्ष में आ-जा रहे थे और तभी उनकी नज़र दरवाजे से अन्दर आती पुष्पा जी पर पड़ी।

"आई एम सारी" उन्होंने धीमी पर स्पष्ट आवाज में पास आकर उनसे मिलते हुए कहा, "इस विजया (अपनी कज़न से मिलवाते) को साथ लाना था... बस अभी हुआ जाता है।"

"कोई बात नहीं" कहते हुए वह फिर कुर्सी पर बैठ गईं और पहले की तरह से खो गईं इधर-उधर देखने में। भगवे और सफेद कपड़ों के आस-पास होने के अलावा आश्रम जैसी कोई और विशेषता सामने नहीं आ रही थी...हाँ बीच-बीच में किसी 'भगवा धारी' स्वामी के पाँव छूते, किसी महिला-पुरुष से उन्हें समझ आती थी कि वह किसी रेस्तराँ या क्लब में नहीं हैं। अंग्रेजी में आती बातचीत की धीमी ध्वनियाँ सभ्य और अभिजात वातावरण बना रही थीं। इसी बीच उन्होंने महसूस किया कि कुछ हलचल शुरू हो गई है। चौकियों और आसनों को ठीक करते, आसपास खड़े लोगों ने बैठना शुरू कर दिया था। उन्होंने अपनी कुर्सी का मुँह बाहर के लान की तरफ खुलती खिड़की की तरफ मोड़ लिया था। तभी पुष्पा जी की आवाज़ ने उनका ध्यान खींचा—

'आइए पहले भोजन कर लेते हैं...अभी स्वामी जी तो मिल नही रहे इसलिए विमोचन तो बाद में होगा...यहाँ आ जाइये हमारे पास।"

पुष्पा जी ने उन दोनों का परिचय स्वामी जी से करवाया। उनकी कज़न ने स्वामी जी के पाँव छुए पर उनके भीतर बैठी नास्तिक महिला की रीढ़ की हड्डी तन गई।

पुष्पा जी बार-बार अपने पास आने का संकेत कर रही थीं पर बीच में लोगों को काट कर उनके पास पहुँचने से उन्होंने अपने को रोक लिया था और वहीं अपनी कुर्सी के पास वाली चौकी पर ही बैठ गईं थीं। बहुत ही सुन्दर, साफ-सुथरी थालियों में सजा भोजन लेकर कुछ महिलाएँ (संभवतः वहाँ की सदस्याएँ) परोस रही थीं। पूरा खाना खा सकना उनके लिए संभव नहीं था इसलिए उन्होंनेअनुरोध किया कि उसे कम कर दें...खाना स्वादिष्ट और साफ सफाई की वजह से संतोष देने वाला था।

अभी भोजन समाप्त ही किया था कि पुष्पा जी की आन्टी ने अपने पर्स में से दो सौ रुपये निकाल पुष्पा जी की तरफ बढ़ाते हुए कहा—

"ये मेरे और मेरी बेटी के पैसे..." जिसके उत्तर में पुष्पा जी कहने लगीं—

"न न आन्टी, आप सबके पैसे तो मैं दूँगी—।"

"नहीं पुष्पा, ऐसी पवित्र जगहों का भोजन तो अपने दिए पैसों से ही लगता है।"

उनकी देखा-देखी उन्होंने और पुष्पा की कज़न ने भी पैसे निकाल उन्हें दे दिए।

सबका भोजन समाप्त होते ही पुस्तकालय कक्ष के बाहर लगी टेबल पर एक भगवाधारी संन्यासी जी आकर बैठ गए थे। उनके पाँव छूने के लिए बहुत-सी सम्भ्रान्त महिलाओं ने उन्हें घेर लिया था। पुष्पा जी स्वामी जी की कुर्सी के पास, जमीन पर ही बैठ गई थीं। वह बार-बार स्वामी जी के पाँवों के पास वाली भूमि पर हाथ लगा,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन हाथों को आँखों और माथे पर लगा रहीं थीं। यह देख उनके होंठों पर मुस्कान खिंच आई थी और उसको छिपाने के लिए वह पुष्पा जी की कज़न को हाथ के इशारे से संकेत कर, उसी खिड़की के पास वाली कुर्सी का मुँह लॉन की तरफ मोड़, फिर से वहाँ बैठ गई थीं।

बाहर की हरियाली और भीतर का भगवा-सफेद वातावरण...एक सुन्दर विसदृशता की सृष्टि कर रहा था।

अपने कंधे पर पुष्पा जी की कज़न के हाथ रखने से वह चौंकी थीं। पता चला पुष्पा जी उन्हें बुला रही थीं। पुष्पा जी ने उन दोनों का परिचय स्वामी जी से करवाया। उनकी कज़न ने स्वामी जी के पाँव छुए पर उनके भीतर बैठी नास्तिक महिला की रीढ़ की हड्डी तन गई और स्वामी जी ने गेरुए कागज में लिपटी पुष्पा जी की किताब का फीता काटा और पुष्पा जी ने फिर से स्वामी जी के पाँवों और पाँवों के पास की धरती पर हाथ लगा अपने माथे और आँखों को पवित्र करना शुरू कर दिया। फिर कुछ पुस्तकों पर स्वामी जी के हस्ताक्षर करवा उन्हें एक तरफ रखने लगीं।

एक बार फिर वह पुष्पा जी की कज़न को साथ ले खिड़की के पास की कुर्सी पर आ गई थीं।

पुष्पा जी अपने में विभोर, आनन्दमय लोक में थीं और वह इस इन्तज़ार में थी कि पुष्पा जी उन्हें इजाज़त दें...वे घर लौटें...वातावरण अच्छा ही था, शान्त-सा। क्लबों वाली गासिप या घरेलू किट्टियों से अलग। पर था तो आश्रम! यह अलग बात है कि आश्रम जैसी मनोभूमि, बावजूद सात्विक तामझाम के वहाँ नहीं थी। यूँ एक सुरुचिसम्पन्न वर्ग जो क्लबों और रेस्तराँओं में सुख नहीं बटोर सकता, यहाँ अपना समय बिता सकता है—बशर्ते कि वह यहाँ का सदस्य हो।

पुष्पा जी अपनी आन्टी उनकी बेटी के साथ किताबों को पकड़े, उनके पास आ गई थीं। उन्होंने एक-एक किताब हमारे हाथों में रख दी थी। किताब पकड़ते ही उनकी आन्टी ने पाँच सौ रुपये निकाल पुष्पा के हाथ में पकड़ाये। उनके न-नुकर करने पर आन्टी ने उनकी पीठ थपथपाते हुए कहा—

"यह तेरी बोहनी है, पुष्पा..."

उनकी देखा-देखी उन्होंने भी पर्स में हाथ डाला था...पर किताब के लिए पैसे देने को उनका मन नहीं हो रहा था।

उनका ध्यान घर में पहुँच गया था, जहाँ उन्हें अनन्या का सामना करना होगा। रात को उसे मेरिडियन जाने के लिए मना करना चाहते हुए भी क्या वे अपनी जेब में से 'हाँ' निकाल सकेंगी?

'हे आश्रम के (पवित्र) परिवेश, मुझे कोई अचूक अमोघ बहाना सुझाओ।'

वह आँखें बन्द कर प्रार्थना मग्न थीं।

ई-230, अमर कालोनी, लाजपत नगर-4, नई दिल्ली

अभिव्यंजना द्वारा प्रकाशित कुछ नए कविता-संग्रह

मुझे आवाज़ देना

(कीर्ति केसर)

कीर्ति केसर की कविओं के सम्बन्ध में वरिष्ठ कवि/आलोचक डॉ. नरेन्द्र मोहन लिखते हैं-इन कविताओं के भीतर झाँके तो पाएँगे कि कविताएँ जितनी बाहरी हैं उससे कई गुना अधिक बाहर के संदर्भ में आंतरिक द्वन्द्वों और संतापों की कविताएँ है।

मूल्य : 100 रुपये

ख़त्म नहीं होतीं यात्राएँ

(मधु शर्मा)

विविध अनुभवों से भरी जीवन की अनंत यात्राओं को स्वर देने वाली कविताएँ

मूल्य : 100 रुपये

सबूत क्यों चाहिए

(इंदु जैन)

समय-चेतना को उजागर करती प्रख्यात कवयित्री इंदु जैन की नई कविताएँ

मूल्य : 80 रुपये

मेरा होना

(कुसुम अंसल)

गहरी संवेदनशीलता के कारण मन को छू जाने वाली कुसुम अंसल की नई कविताएँ

मूल्य : 70 रुपये

आरंभ से हाशिये तक

(अनिता वर्मा)

संवेदनाओं को आत्मसात करती और कविता में जीती अनिता वर्मा की नई कविताएँ

मूल्य : 60 रुपये

अभिव्यंजना

बी–70/72, डी.एस.आई.डी.सी. काम्प्लेक्स, लारेंस रोड, दिल्ली–110035

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुश्री शरद सिंह

शत्रु ही तो...!

मैं न जाने कब से उसे अपना शत्रु मान बैठी हूँ। विश्वास कीजिए, वह मेरा शत्रु है। शत्रु ही नहीं अपितु परले दर्जे का शोषक। उसने मुझसे मेरा सब कुछ छीन लिया है और बदले में मुझे उस बंधन में बाँध दिया है जिससे मैं चाहकर भी छुटकारा नहीं पा सकती हूँ। यदि मैं कायर नहीं होती तो संभवतः किसी दिन उससे सारे बंधन तोड़कर कहीं भाग चुकी होती या फिर कम से कम मार-पीट तो लेती ही जैसा कि वह मेरे साथ कभी-कभार कर बैठता है। मगर मैं कायर हूँ। एक कायर अपने शोषक को कोस ही सकता है, साथ ही अपने हतभाग्य को। सो, मैं बिलानागा करती रहती हूँ। उसे कोसूँ न तो क्या करूँ? वह भी तो मुझे चौबीस घंटे कोल्हू के बैल के समान काम में जोते रखता है—ये करो, वो करो, ये नहीं किया, वो नहीं किया। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि उसे आदेश देने के अलावा और कुछ आता ही नहीं है। उसकी चेतना के शब्दकोश में बड़े ही गिने-चुने शब्द हैं जिन्हें वह अपना मतलब हल करने के लिए प्रयोग में लाना जानता है। उन चुनीन्दा शब्दों की मदद से वह मात्र आदेशात्मक वाक्य बनाना ही जानता है और किसी तरह का वाक्य बनाना उसे नहीं आता है। यदि आता भी हो तो या तो वह बनाना नहीं चाहता या फिर बनाना भूल चुका है। शायद उसे अब किसी और तरह के वाक्य की आवश्यकता ही महसूस न होती हो?

उस दिन राधिका ने समोसे के साथ इमली की चटनी के चटखारे लेते हुए बताया था कि उसका पति अपने तबादले को लेकर बेहद परेशान है। उसके पति का तबादला विशाखापत्तनम हो गया है जहाँ उसे आलादर्जे का फर्नीचर सहित मकान मिलेगा। नौकर-चाकर भी वहाँ होंगे। बावर्ची से लेकर अर्दली तक। उसका पति फिर भी परेशान है। कारण यह कि राधिका गर्भवती है और इस हालत में वह उसे अपने साथ नहीं ले जा पा रहा है। वह तो उसे साथ ले जाने का मन बना भी चुका था किन्तु राधिका की सास ने मना कर दिया। राधिका इस बात पर फूली नहीं समाती है कि उसका पति उसके बिना रह नहीं पा रहा है, कितना चाहता है वह उसे।

काश! मैं भी ऐसी कोई खुशी मना पाती। मगर मेरे ऐसे भाग कहाँ...मैं तो पाँच बजे सुबह उठती हूँ, पानी की टंकी भरने के लिए मोटर का स्विच दबाकर यह जाँचने के लिए दौड़ती हूँ कि कमोड गंदा तो नहीं है। मेरा छोटा बेटा अगर रात को किसी समय शौच के लिए उठता है तो उसे फ्लश चलाने का ध्यान नहीं रहता है जबकि मुझे गंदे कमोड को देखना भी सज़ा जैसा लगता है। मैं उसे टोकती हूँ तो वह अनसुना कर देता है और मेरा शत्रु इसे उसका बचपना करार दे देता है। यदि मैं छुटके की उम्र को लेकर कोई दलील देना भी चाहूँ तो मेरा शत्रु मुझे स्मरण कराने से नहीं चूकता है कि मैंने छुटके के पोतड़े भी तो धोये हैं। अरे भई, उस समय वह नन्हा शिशु था, बच्चा था, अपना काम खुद नहीं कर सकता था। मगर इसका मतलब यह थोड़े ही है कि अब मैं बारह साल के होने आए छुटके का कमोड साफ करती रहूँ। खैर, माँ होने का लेबल लगा हुआ है इसलिए अधिक जिरह नहीं कर सकती हूँ किन्तु यह क्या बात हुई कि मैं अड़तालीस की अधेड़ उम्र के अपने शत्रु के अंडरवियर्स भी धोती रहूँ? वह नहाता है। तौलिए से अपनी अधोनग्नता को छिपाता हुआ, अपने गीले अधोवस्त्र को स्नानघर के फर्श पर छोड़कर बड़ी शान से निकल जाता है गोया दुनिया भर के सारे ज़रूरी काम उसकी प्रतीक्षा में व्याकुल हुए जा रहे हों। वह शयनकक्ष में जाकर अपने गीले बालों में बड़े जतन से कंघी फेरता है और फिर अधोवस्त्र धारण कर गीला तौलिया अपने कंधों पर डालकर टी.वी. पर समाचार देखने बैठ जाता है। मुझे ही खयाल आता है कहीं उसे सर्दी न लग जाए, इसलिए मैं उसके कंधों से तौलिए को उतारकर सूखने के लिए हैंगर में लटकाती फिरती हूँ।

मेरा शत्रु राधिका के पति से कम नहीं है। वह भी मुझे छोड़ कर अकेला नहीं रहना चाहता है। अभी पिछले साल की ही बात लीजिए। मुझे अपने भाई के घर पहुँचे दो ही दिन हुए थे कि मेरे शत्रु का फोन आ गया-"सुनो, जल्दी वापस आ जाओ। तुम्हारे बिना यहाँ सब गड़बड़ हुआ जा रहा है। नौकरानी भी छुट्टी पर चली गई है और आज सुबह मुझे भूखे ही दफ़्तर जाना पड़ा...और हाँ तुम मेरी जुराबें कहाँ रख गई हो? मुझे तो मिल ही नहीं रही हैं...और वो कागजात कहाँ पर रखे हैं जो मैंने तुम्हें पिछले शनिवार को दिए थे...सम्हाल कर रखने को...।"

फोन पर बात करते-करते ही मुझे क्रोध आने लगा था। इस इंसान को अपनी निर्जीव वस्तुओं की सार-सम्हाल की इतनी चिन्ता है कि इसे मेरा सुख-चैन भी दिखाई नहीं दे रहा है। मैंने उसी समय तय कर लिया था कि मैं अपने शत्रु के पास जल्दी नहीं लौटूँगी। वापसी का आरक्षण तक तो करवा रखा था उसने। लेकिन ऐन मौके में मैंने भी बहाना बना दिया कि मेरी तबीयत ठीक नहीं है, मुझे चक्कर आ रहे हैं, मैं यात्रा नहीं कर पाऊँगी। और इस प्रकार पूरा एक सप्ताह और व्यतीत कर लिया भाई के घर पर। इस दौरान मेरे शत्रु ने मुझसे फोन पर प्रार्थना भी की थी कि—"तुम अगर वापस आ जाओ तो अच्छा रहे...यहाँ तुम आराम भी कर लोगी और घर का भी ध्यान रख सकोगी...मुझे तुम्हारी बेहद चिन्ता हो रही है।"

चिन्ता वाला वाक्य तो मेरा मन रखने को, मुझे भुलावा देने को जोड़ा गया था। यह मैं भली-भाँति जानती थी। मैं अब किसी भुलावे में आने वाली नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब मैं वापस आई तो मेरे शत्रु ने रात ग्यारह बजे अपनी बाँहों में भरते हुए मनुहार-भरे स्वर में कहा-"सुनो, तुम मुझे छोड़ कर कहीं मत जाया करो..."

(हाँ-हाँ, मैं तो नौकरानी से भी गई-बीती हूँ जो छुट्टी भी नहीं मना सकती हूँ...)

"...मैं तुम्हारे बिना एक पल भी नहीं रह पाता हूँ..."

(रह भी कैसे सकते हो, एक गिलास पानी भी तो खुद उठाकर पीने में कष्ट महसूस होता है...)

"...तुम समझ रही हो न..."

(अच्छी तरह समझ रही हूँ ओर यही तो दुख की बात है कि मैं तुम्हें अच्छी तरह समझ चुकी हूँ...)

"...मेरी बाँहें कसमसा रही थीं तुम्हें पाने को..."

(या जुबान कसमसा रही थी आदेश देने को...)

"...कोई रात ऐसी नहीं गुजरी जब मैं चैन से सोया होऊँ..."

(गुजरती भी कैसे? मच्छर भगाने की टिकिया भी तो मुझे ही लगानी पड़ती है वरना तुम तो मच्छरों को शरीर चीथने दे सकते हो मगर टिकिया नहीं लगा सकते हो...)

"...बस तुम्हारी याद में करवटें बदलता रहा..."

(मेरी याद में या सुबह उठकर पीने का पानी भरने की चिन्ता में?)

"...आई लव यू, जानू।..."

(लव? माई फुट! प्यार ही तो नदारद है हम दोनों के बीच से...)

"...जरा हाथ बढ़ा कर बत्ती तो बुझा देना..."

(अब आ गए न अपनी असलियत पर...बत्ती भी मैं ही बुझाऊँ...)

उसकी और मेरी शत्रुता की शुरुआत कब हुई, मुझे ठीक-ठीक पता भी नहीं चल पाया। कोई और मन की बात सुन ले तो उसे लगेगा कि मैं आजकल की कोई नारीवादी या नारी-स्वातंत्र्य की अंधसमर्थक हूँ। लेकिन ऐसी कोई बात नहीं है। जब मेरी शादी तय हुई थी तब अपने भावी पति को लेकर मेरे मन में गुदगुदी होने लगती थी, मेरे गाल लज्जा से लाल हो जाया करते थे। उन दिनों यही लगता था कि जल्दी से जल्दी मेरी शादी हो जाए और मैं अपने पति के घर पहुँच जाऊँ ताकि चार दिन ससुराल में बिता कर "अपने असली घर" जाने को मिले जहाँ वह और मैं, बस हम दोनों ही रहेंगे। जब हम दोनों एक ही छत के नीचे रहने आए उस समय उसके सारे दुख-सुख मेरे थे और मेरे सारे दुख-सुख उसके। वह मेरा प्यारा-सा पति था और मैं उसकी प्यारी-सी वह पत्नी जिसे वह अपनी हथेली पर रखकर सहलाते रहना चाहता था। धीरे-धीरे वह मेरी आकांक्षाओं, इच्छाओं एवं आशाओं का केन्द्रबिन्दु बन गया। मुझे उसका सब काम करना अच्छा लगता। उसके अंतःवस्त्र धोने से लेकर उसके माथे का पसीना पोंछने तक। उस समय मुझे क्या मालूम था कि मेरा यही समर्पण मुझे उसकी बंदिनी बना देगा। अब मैं विवश हूँ उसका हर आदेश मानने के लिए। वह भी आदेश देते-देते मुझ पर इतना आश्रित हो चुका है कि मेरे अभाव में उसकी दशा एक बच्चे से भी गई-बीती हो जाती है। वह कमाकर लाने के बदले घर का मालिक होने के झूठे गुमान में भले ही रहे किन्तु वस्तुतः वह एक लाचार प्राणी है, कुछ हद तक विकलांग भी। उसने अपनी विकलांगता को स्वयं ही जन्म दिया है। उस पर ढिठाई यह कि वह अपनी इस विकलांगता पर गर्व भी कर लेता है।

"ये खाना-वाना बनाना मर्दों का काम नहीं है, मैं तो होटल में जाकर कुछ भी कच्चा-पक्का खा लूँगा लेकिन अपने हाथ से चूल्हा जलाने वाला नहीं हूँ। मुझसे ये सब नहीं हो सकता।" वह अक्सर कहता है।

वैसे उससे नहीं हो सकने वाले कामों की फेहरिस्त बड़ी लम्बी है। मसलन वह बिजली का बिल भरने नहीं जा सकता है, बच्चों की फीस भरने नहीं जा सकता है, धोबी के न आने पर कपड़े इस्त्री करने नहीं ले जा सकता है, बस अड्डे या रेलवे स्टेशन या सिनेमाहाल की टिकट खिड़की पर लगी लाइन में सम्मिलित नहीं हो सकता है। ऐसे किसी भी काम के समय उसकी दृष्टि में मेरा महत्व बढ़ जाता है।

"महिला हो, महिलाओं की लाइन में लग जाओ...काम जल्दी हो जाएगा। पुरुषों वाली खिड़की पर देखो, कितनी लम्बी लाईन है...मुझे तो घंटों लग जाएँगे लाइन में खड़े-खड़े।" यही तर्क रहता है उसका।

उसके इस प्रकार के परजीवी आचरण से त्रस्त होकर मैंने कई बार सोचा कि उसे छोड़कर मैं किसी दिन चुपचाप भाग जाऊँ। किसी ऐसी जगह में जाकर छिप जाऊँ कि वह मुझे ढूँढ न सके। लेकिन मैं अपने हृदय के हाथों विवश हूँ जो मुझसे पूछने लगता है कि यदि तुम इसे छोड़कर चली गईं तो यह किसके सहारे जियेगा? इसे तुम नहीं तो तुम्हारी जैसी कोई तो चाहिए जिस पर आश्रित होकर यह जी सके। फिर तुम ही क्यों नहीं रुकी रहतीं? और मैं रुक जाया करती हूँ। इसीलिए तो मैं और मेरा शत्रु एक ही छत के नीचे, एक ही स्नानागार प्रयोग में लाते हुए, एक शैया पर सोते हुए, एक ही संबंध को जीते हुए साथ-साथ रह रहे हैं। परिणामतः मैं अपने शत्रु के साथ रहूँगी हमेशा...मगर इसी तरह...।

एम-111, शांति विहार, रजाखेड़ी,
सागर, मध्यप्रदेश-470004

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुरेन्द्र तिवारी

'दिन के साथ' अर्थात् अनुभवों के साथ

'दिन के साथ' रामदरश मिश्र की कहानियों का नया संग्रह है किंतु इसमें नई कहानियाँ नहीं हैं, यह लेखक ने अपनी भूमिका में ही स्पष्ट कर दिया है। पिछले पचास वर्षों में लिखी गई एक सौ से अधिक कहानियों में से लेखक ने अपनी पसंद की 56 कहानियों को यहाँ पुनः संकलित किया है। प्रायः हर लेखक को अपनी हर रचना प्रिय लगती है परन्तु कुछ समयांतर के बाद जब वह पुनः अपनी रचनाओं की तटस्थता से परख करता है तो उसे अपनी ही बहुत-सी रचनाएँ समयानुकूल नहीं लगतीं, मनोनुकूल नहीं लगतीं। तभी कोई भी लेखक अपनी 'प्रिय' कहानियों या कविताओं का पुनः पुनः चयन करता है। 'दिन के साथ' में भी लेखक इसी चयन प्रक्रिया से गुजरा है और यही कारण है कि इस संग्रह की कहानियाँ रामदरशजी की कथा-भूमि को, कथा-संरचना को समझने में विशेष सहायक सिद्ध होती हैं।

रामदरशजी अपनी कहानियों में जीवन की किसी मामूली घटना, विचार या प्रसंग को उठाकर उसे अपने अनुभव-जगत से जोड़कर ऐसी विराटता प्रदान करते हैं कि वह पाठक के निजी अनुभवों का संसार बन जाता है। 'माँ, सन्नाटा और बजता हुआ रेडियो', 'खाली घर', 'मिसफिट', 'दिनचर्या' 'सूर्यदंश', रोटी', 'डर', 'दिन के साथ' आदि अनेक कहानियाँ हैं जो साधारण कथ्य के बावजूद लेखकीय अनुभवों से जुड़कर महत्वपूर्ण बन जाती हैं। इसका एक कारण यह भी है कि मिश्रजी की कहानियों में मानवीय पीड़ा, दुख, व्यथा अपनी सम्पूर्णता में विद्यमान है। साथ ही यह भी स्मरणीय है कि रामदरशजी की अधिकांश कहानियाँ सिर्फ यथार्थ जगत की ही नहीं, अनुभव जगत की भी कहानियाँ हैं। स्वयं मिश्रजी का कथन है—"मैं अपनी कहानियाँ अपने आसपास घटित किसी दृश्य, प्रसंग या समाज में स्थित यथार्थ के किसी टुकड़े से या अपने अनुभव से लगातार उभरते परिवेश के किसी यथार्थ चरित्र से या लगातार टकराती किसी संवेदना से उठाता हूँ। मैं किसी नई या पुरानी समस्या को मूर्तिमान करने के लिए कथानक का विन्यास नहीं करता बल्कि आसपास अधबनी कथा को ही अपने ढंग से बनाकर उसे समस्या तक ले जाता हूँ।" (मेरी कहानियाँ)

जैसा कि मैंने कहा, पीड़ाबोध रामदरशजी की कहानियों का मूलमंत्र है। उनकी कहानी में हम किसी न किसी पात्र को पीड़ाग्रस्त पाते हैं। यह पीड़ा कहीं अर्थ की है, कहीं संबंधों की, कहीं मानसिक, कहीं शारीरिक। किंतु अधिकांश कहानियों में आर्थिक तंगी से उपजी पीड़ा ही है जो कहीं-कहीं पाठक को अभिभूत कर देती है। 'रोटी' में एक शिक्षित युवक भूख से लाचार होकर एक फैक्ट्री में मजदूरी करता है किंतु वहाँ उसे पूरे पैसे नहीं मिलते। 'गीतू' कहानी में छोटी बालिका गीतू की आर्थिक कारणों से हुई मौत हमें हिला देती है। 'मुर्दा मैदान' में दो छोटे बच्चों के सामने जीवन यापन की इतनी विकट समस्या आ खड़ी होती है कि पढ़ाई-लिखाई छोड़कर गंदे मैदान, जिसे मुर्दा मैदान भी कहते हैं क्योंकि वहाँ मरे जानवरों को फेंक दिया जाता है जिन्हें खाने के लिए दिन-रात गिद्ध मंडराते रहते हैं, के कूड़े में से लोहा-प्लास्टिक चुनने के लिए मजबूर हो जाते हैं। इसी तरह 'दिनचर्या' में रोटी के लिए आदमी बैल का काम करता है। आर्थिक विसंगतियों को उभारती ये और इन जैसी कई अन्य कहानियाँ उन साधारण लोगों की कहानियाँ हैं जिनके लिए सामान्य मानवीय सुविधाओं को प्राप्त करना भी स्वप्नवत है।

अपने समाज, अपने परिवेश, अपने लोग, अपनी मिट्टी की मोहक सुगंध जहाँ रामदरशजी की कहानियों में मिलती है वहीं सामयिक समस्याओं से भी वे अपने को अछूते नहीं रखते। साम्प्रदायिकता, दंगे, जातिवाद आदि समस्याओं पर भी उनकी दृष्टि रही है। हालांकि इस तरह की कहानियाँ इस संग्रह में बहुत कम हैं किंतु जो हैं वे महत्वपूर्ण हैं। 'रहमत मियाँ' इसी तरह की एक कहानी है जिसमें धर्म के ऊपर मानवीयता को स्थापित किया गया है। रहमत मियाँ एक हिन्दू बालक को पालते-पोसते हैं और उसका नाम मोहन अली रखते हैं। मुस्लिम समाज को यह स्वीकार नहीं होता और दंगे का बहाना लेकर उन्हें मार दिया जाता है। ऐसी ही दूसरी कहानी है 'चक्र' जिसमें अपने ही सम्प्रदाय के व्यक्ति के ऊपर आदमी का विश्वास नहीं जमता, वह ज्यादा खतरनाक लगता है। कहानी बताती है कि मानवीय दुर्बलताएँ किसी भी समाज या सम्प्रदाय को छोटा कर देती हैं। ये कहानियाँ इस बात को भी प्रमाणित करती हैं कि रामदरशजी उन कथाकारों में से हैं जिन्होंने अपने कथा साहित्य में मानवीय पीड़ा और करुणा को व्यापक स्तर पर चित्रित किया है।

रामदरशजी की कहानियों में एक और चीज की तरफ भी ध्यान देना जरूरी है। उनकी अधिकांश कहानियों—'खंडहर की आवाज', 'माँ, सन्नाटा और बजता हुआ रेडियो', 'लाल हथेलियाँ', 'खाली घर', 'बसंत का एक दिन' आदि—में एक शहरी पात्र गाँव में जाता है और वहाँ की घटनाओं को, अनुभवों को हमारे सामने रखता है। इस कारण ऐसा लगता है जैसे एक ही व्यक्ति कई-कई अनुभवों से गुजरा हो और अलग-अलग नामों से हमारे सामने खड़ा हो। संभवतः ऐसा इसलिए हुआ कि कथाकार स्वयं शहर में रहता है और अपने गाँव के अनुभवों को अपनी कहानियों में उतारता है। इस संदर्भ में लेखक की स्वीकारोक्ति है कि 'मेरी जीवन-यात्रा में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने गाँव के साथ कस्बे और नगर, महानगर सभी आये हैं और सबसे मैंने अनुभव ग्रहण किए हैं, किंतु गाँव के अनुभवों के जितने सघन बिंब मेरे भीतर रहे हैं उतने कस्बे या शहर के अनुभवों के नहीं। शहर और गाँव दोनों से जुड़ा होने के कारण ही प्रायः मैंने अपनी कहानियों में एक ऐसे पात्र की सृष्टि की है जो शहर में नौकरी करता है और विशेष अवसरों पर गाँव लौटता है और गाँव में आये बदलाव को देखता है।"

मिश्रजी की कहानियों में सबसे महत्वपूर्ण बात है जीवन के प्रति आस्था। उनके पात्र कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी जीवन के प्रति निराश नहीं होते, हारते नहीं, बल्कि संघर्ष की एक नई जमीन की तलाश करते हैं। 'मनोज जी' में मनोज जी कभी भी किसी स्थिति से घबड़ाते नहीं, मंजिल पर पहुँचने के लिए चलते ही रहते हैं। 'हद से हद तक' में एक लड़की को, जो मजबूरी में वेश्या बनती है, लोग बेसहारा कर देते हैं, तो उसे एक बुढ़िया सहारा देती है। बुढ़िया कहती है—"चल बेटी, ये जितने तमाशा देखने वाले हैं न, ये औरत का दुख नहीं समझते। ये केवल मजा लेते हैं। अभी तू अकेले में मिल जाए तो तेरे पांव चाटने लगेंगे लेकिन खुलेआम कुलटा कहेंगे।" वह आगे कहती है, "देख बेटी, मैं जानती हूँ, औरत बुरी नहीं होती, उसे बुरा बनाया जाता है। तू जो भी रही हो, अपनी मर्जी से नहीं रही होगी। लेकिन अब तू अपने हाथों के काम पर जीना सीख। तुझे चौका बरतन के कुछ काम दिला दूंगी। थोड़ा ही मिलेगा लेकिन उससे मन को चैन मिलेगा।" 'आखिरी चिट्ठी' का अंत भी इसी तरह आस्था और विश्वास से भरा हुआ है।

इस संग्रह में रामदरशजी की कुछ ऐसी कहानियाँ हैं, और जो इधर के कुछ वर्षों में ही छपी हैं, जिन्हें हम नितांत निजी जीवन की कहानियाँ कह सकते हैं। वैसे तो हर कहानी लेखक के निजी अनुभवों से कहीं न कहीं जुड़ी होती है परन्तु कुछ कहानियाँ ऐसी होती हैं जिनका जुड़ाव लेखक या उसके परिवार से होता है। कहा जा सकता है कि कुछ लोगों या घटनाओं की स्मृतियों को संस्मरण के रूप में न लिखकर लेखक ने उन्हें कहानी का रूप दिया है, जिससे कथात्मकता को एक नया रूप प्राप्त हुआ है। 'दिन के साथ', 'फिर कब आयेंगे', 'आज का दिन भी', 'गोहत्या' आदि इसी तरह की कहानियाँ हैं जो लेखक की आन्तरिक और बहुत हद तक घरेलू जिंदगी से भी हमारा परिचय करवाती हैं।

वास्तव में 'दिन के साथ' में लेखक की वे विविधरंगी कहानियाँ हैं जो दशकों से पाठकों के मन पर छाई रही हैं और जिन्हें बार-बार पढ़ने की ललक मन में बनी रहती है।

दिन के साथ (कहानी संग्रह): रामदरश मिश्र; वाणी प्रकाशन, 21 ए, दरियागंज, नई दिल्ली; मूल्य: 500 रुपये।

बी-3/76, सेक्टर-16,
रोहिणी, दिल्ली-85

बहुचर्चित गीतकार शैलेन्द्र के जीवन और कृतित्व पर आधारित महत्वपूर्ण प्रकाशन

जनकवि शैलेन्द्र

संपादक
डॉ. इंद्रजीत सिंह

भीष्म साहनी, फणीश्वर नाथ 'रेणु', बाबा नागार्जुन, राजकपूर, अरविन्द कुमार, डॉ. राजेन्द्र अवस्थी, कमलेश्वर, डॉ. महीप सिंह, डॉ. गोपाल दास 'नीरज', कैफ़ी आज़मी, डॉ. कन्हैयालाल नंदन, आचार्य डॉ. विष्णुदत्त राकेश, गुलज़ार, निदा फाज़ली, योगेश, मन्ना डे, विजय आनंद, डॉ. बुद्धिनाथ मिश्र, डॉ. धनंजय सिंह, प्रो. प्रहलाद अग्रवाल, प्रो. हरिमोहन, डॉ. गिरिजाशंकर त्रिवेदी, शारदा पाठक, आलोक भट्टाचार्य, डॉ. एस.सी. सक्सेना, डॉ. ब्रजवल्लभ मिश्र, डॉ. पद्मनाभ जोशी, संतोष ठाकुर, पूरन पंकज

की रचनाओं सहित

मूल्य – सजिल्द : 175.00 रुपये
पेपर बैक : 100 रुपये

प्रकाशक
अमृत पब्लिशिंग हाउस
बी-70/72, लारेन्स रोड,
इंडस्ट्रियल एरिया, दिल्ली-110035

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ. चंद्रकांत बांदिवडेकर

एक सुलगती खामोशी

सृजन प्रक्रिया में बाहर के हस्तक्षेप का संवेदन

नरेन्द्र मोहन का कविता संकलन 'एक सुलगती खामोशी' उनकी रचनाओं के बीच ही नहीं, सामयिक काव्य धारा के परिप्रेक्ष्य में एक महत्वपूर्ण घटना है। आधुनिकता, समसामयिकता, संसार का यथार्थ, रोमांटिकता, संरचनावाद, विखंडन, प्रगतिशील इत्यादि शब्दों ने समीक्षक को कहीं सम्मोहित किया है, कहीं प्रतिरोध भावना से आतंकित भी किया है और कविता के मर्म को आत्मगत करने में बाधाएँ भी पहुँची हैं। नरेन्द्र मोहन की कविता भी कभी इस प्रक्रिया की शिकार बनी ह—उनके रचनात्मक धरातल पर भी और समीक्षात्मक प्रतिक्रिया के संबंध में भी। 'एक सुलगती खामोशी' में शायद पहली बार नरेन्द्र मोहन कविता की सृजन प्रक्रिया के रू-ब-रू हो गये हैं और एक अच्छे कवि का यह साक्षात्कार स्वरूप अनुभव तथाकथित समीक्षा के पारिभाषिक शब्दों एवं संकल्पनाओं के अधूरापन और एकांगिता को उजागर करता है। यहाँ कवि ने अपने को सभी आग्रहों, विशिष्ट विचारधाराओं, बौद्धिक संकल्पनाओं से मुक्त किया है और सृजन-प्रक्रिया की मूल अस्तित्वावस्था से साक्षात्कार करने का सफल प्रयास किया है। परिणामतः मूल काव्यानुभव से भिड़ने और व्यक्त करने के बीच उसकी विशिष्ट दृष्टि, उसकी विचारधारा, उसकी वैयक्तिक काव्यरूढ़ियाँ बीच में नहीं आयी हैं। सृजन प्रक्रिया की पड़ताल कवि को मूल काव्यानुभव पर कला-दृष्टि केंद्रित करने की सुविधा देती है। इस समूची प्रक्रिया में कलाकार का व्यक्तित्व तो परिमार्जित होता है, काव्य-संस्कृति भी कुछ समृद्ध होती है। परिमार्जित इस अर्थ में होता है कि काव्येतर सम्मोहनों से दूर हटकर रचनारत होने की प्रवृत्ति विकसित होने लगती है।

इन बातों का थोड़ा और स्पष्ट करना आवश्यक है। सृजन-प्रक्रिया यह एहसास पैदा करती है कि रचना बाह्य, लक्ष्यों, उद्देश्यों, हेतुओं, प्रयोजनों से जुड़कर कभी सम्पन्न नहीं होती, विशिष्ट विचारधारा या दृष्टि का झंडा उठाकर भी अपना खास प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकती। इसका अर्थ यह नहीं कि दृष्टि और विचारधारा न होना बहुत ज़रूरी है। लेकिन रचना की शर्त यह होती है कि दृष्टि या विचारधारा भी सृजनशील धर्म के अनुगत हो, उस पर हावी न हो। क्योंकि दृष्टि या विचारधारा में तर्क और चेतन मानस का, मुख्यतः बुद्धि का, प्रभाव अत्यधिक होता है जबकि रचना की सृजन-प्रक्रिया अधिक मूलभूत ज़मीन पर अपनी क्रीड़ा करती रहती है। वह अवचेतन की अधिक वशवर्ती होती है और प्रतिभा की ताकत कभी दृष्टि और विचारधारा को लाँघने में कार्यान्वित होती है। कवि को सही सहारा इस अवचेतन और तर्कातीत प्रतिभा का ही होता है। संकलन की पहली ही कविता 'शब्द-स्मृति' इस मन्तव्य को सशक्त रूप में व्यक्त करती है। लम्बी सुरंग का अंधेरा बाँसुरी की शक्ल में ढलने लगता है तभी जब इस समूची प्रक्रिया को अपने में लौटकर देखा जाता है। "अंधेरे में लिपटा/शब्द/उचककर देख रहा/अंधेरे से बाहर/अंधेरे का समुद्र/...शेष है अभी शब्द में स्फोट की स्मृति/बिंधे हैं जिसमें अर्थ एक हरारत में।" यहाँ 'हरारत' शब्द तार्किकता, बौद्धिक प्रक्रिया, चेतन मानस की धज्जियाँ उड़ा देता है। जब तक अपने में लौटकर यह प्रक्रिया संपन्न नहीं होती तब तक उस उजली लकीर और लय का अनुभव असंभव है। यहीं पर शब्द में कुआँ, समुद्र, आसमान नहीं दिखते। यहाँ इतनी तल्लीनता अपेक्षित है—"झाँकना और उतरना और उड़ना क्रियाएँ नहीं हैं मेरे लिए/अपने होने को पाना है अनन्त में।" और यह अपने होने की प्रक्रिया महसूस करती है—"किसी के लिए हो न हो/मेरे लिए कोई रास्ता नहीं है मुक्ति का/शब्द के सिवा।" यहाँ शब्द हथियार, औजार, साधन नहीं होते—अस्तित्वानुभूति के पर्याय होते हैं। यह अस्तित्वानुभूति विचार और दृष्टि को अतिक्रांत भी करती है। अवचेतन और आकस्मिकता का 'स्फोट' रूप स्वीकार कवि को विचारों का संवाहक नहीं बनाता, आत्मानुभूति के रूप का द्रष्टा बनाता है। शब्द के प्रति सम्पूर्ण और पूज्यभाव भी है और आवश्यकता/विवशतावश तोड़-फोड़ भी है लेकिन अधिक गहरी अभिव्यक्ति के लिए। सृजन की यह क्रीड़ा कवि 'दम तोड़ता अभिनेता' कविता में व्यक्त करता है। यहाँ सर्जनशील कवि अपनी प्रक्रिया के अनियंत्रित होने की ओर सशक्त काव्यात्मक संकेत करता है—"चेतन, अवचेतन से/उमड़ते हुए चित्रों को थामना/मुश्किल है मेरे लिए।" फिर उनके कल्पना के रंगों में गति के वात्याचक्र में घुलने, घूमने की प्रक्रिया का चित्रण है। कवि की विवशता और अवशता का चित्रधर्मी अंकन है। इस अवचेतन की भी एक खास चित्राकृति का कवि प्रयास करता है। 'पहाड़ियों पर चिनार के झुरमुट हैं, जलते हुए, एक दूसरे पर चट्टानें हैं, झुलसी हुई/और नदियों में आग है/हो सकता है अवचेतन ऐसे ही प्रकट होता हो।"

यद्यपि कवि शब्दों का सहारा लेता है, रंग, रेखा, लय इत्यादि का माध्यम चुनने वाली कलाओं की सृजन-प्रक्रिया अलग है, ऐसा वह नहीं मानता। कवि नरेन्द्र मोहन सभी कलाओं के मूल में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेषतः चित्र, नृत्य और काव्य में पारस्परिक घुलाव और संवाद देखते हैं। इसका प्रभावपूर्ण अंकन दीर्घ कविता 'खरगोश-चित्र और नीला घोड़ा' में हुआ है। लेकिन ऐसी अनेक अन्य कविताएँ हैं जिनमें यह एकमेकता का उत्कट साहचर्य दीखता है—रंगसंग, रंग-लय, रंगभाषा, चित्र के सामने, रंग बनती चट्टानें, रंग-आलाप, समुद्र जैसा, खामोशी-एक, खामोशी-दो, रंग-समुद्र।

असल में रंग और रेखाओं के साथ कविता के शब्दों का, लय का उत्कट संवादपूर्ण नर्तन इस विपुल मात्रा में पहली बार हिंदी में पूरी संपन्नता में व्यक्त हुआ है। इसमें कलात्मक अनुभव की विवशता है—देखिए कविता 'रंग स्वप्न'। 'एक लय' में यह अनुभव अधिक आवेग में प्रस्तुत हुआ है : 'शब्द से रंग तक आया हूँ/या रंग से शब्द तक/रंगों के रंग/शब्दों में घुल गये हैं/या शब्द खुलने लगे हैं/रंगों में/तेज़ी से उमड़ते-घुमड़ते/बाहरी भीतरी तनावों के लिए क्या कहूँ/दे रहे हैं जो मुझे/रंग-भाषा/और मेरी नस-नस/फड़कने लगी है/मेरी धमनियों में बजती/एक लय है/रंग और नृत्य और अभिनय के बीच।'

यह चित्र और कविता, रंग और लय, रेखा और शब्द का नृत्य अनेक कविताओं में दृश्यमान होता जाता है: 'हद-बेहद', 'क्या नाम दूँ', 'स्पन्दन'। कवि का यह अनुभव इस समूची क्रीड़ा के पार्श्व में है : 'रेखाओं रंगों में/कुछ धड़कता सा है/जो महसूस होता मुझे पोरों में/एक लहराती हुई दीप्ति है/सलेटी परतों में/जो विद्युत तरंग सी/झकझोर देती है मुझे/देह से आत्मा तक/एक ही तार में स्पंदित/रेखाएँ, रंग और मैं/शोर है पर/खामोशी के रास्ते/खत्म कहाँ हुए हैं?'

यह सही है कि कवि दुनिया के शोर से पूरी तरह किनारा नहीं काटता लेकिन उसकी अंतरात्मा खामोशी के रास्ते तलाशती रहती है और संभवतः इस संकलन की अधिकांश कविताएँ इस तथ्य को रेखांकित तथा उदाहृत करती हैं। यह भी सही है कि आज के हालातों में खामोशी के रास्तों की तलाश कवि पर पलायन का दोषारोपण करे लेकिन समूचे शोर के साथ जीना भी तो असंभव है। कहीं खामोशी के रास्तों की ललक नहीं होगी तो शोर दबोच लेगा पूरी तरह से। इसी बात को बड़े कलात्मक तेवर में कवि ने कहा है अंतिम कविता 'जैसे हम पाते हैं प्रेम' में—'एक भरोसा हो/अपने पूरे वजूद के साथ, जी जान से/कला को नये सिरे से पाने का/जैसे हम पाते-हैं प्रेम।'

आखिर दुनिया की गंदगी और मलिनता से निपटने के लिए भी अंदर से चाहिए भरोसा—यह केवल हवाई आदर्शवाद नहीं है, यह मनुष्य की आत्मा का संकल्प है और यह संकल्प इस संकलन में प्रचुर रूप से व्यक्त हुआ है।

कविता पाठकों में यह भरोसा पैदा करती है तो तभी जब कवि का व्यक्तित्व महान मूल्यों के प्रति निश्छल रूप में समर्पित हो और आज की तारीख में इन महान मूल्यों का केंद्र है—प्रेम। यह जीवनेच्छा का भी एक रूप है और महान मानवीय मूल्यों का स्रोत भी। नरेन्द्र मोहन की कविताओं को पढ़ते समय यह सतत एहसास होता रहता है कि यह एक प्रेमिल कलाकार है। 'प्यार भरे एक लम्हे के लिए' जैसी इस सत्य को पूरी शक्ति के साथ प्रकट करने वाली कविता यहाँ उद्धृत करने का मोह संवरण नहीं होता—'पूरा दिन भागता हूँ—/प्यार भरे एक लम्हे के लिए/बूँद-सा पाने के लिए उसे होंठों पर/और आते-जाते लम्हे एक के बाद एक/उंगलियों में से रेत की तरह/ठिठकता हूँ भागते-भागते/रेत के दहकते जर्रों के आर-पार/खोज के आखिरी सिरे पर चमकता वह लम्हा/स्वर्ण सा झिलमिलाता/लुभाता/और मैं उसके आकर्षण में बिंधा/जिंदगी बिताता/खुद उस में तब्दील होने लगता/उफनने लगता लावा-सा कुछ/छत-दीवारें हिलती दीखतीं/भूचाल से जैसे/भीतर-बाहर/प्रकंपित सा मैं/तर्क से परे/बंधन-मुक्त/थम जाती काल गति/रुक जाते सूरज के घोड़े/प्यार भरे एक लम्हे में/लीन होती दिशाएँ/झुकता दीखता आकाश/अर्थ देता मुझे/उजला जाता पोर-पोर आसपास/वक्त की शिला को तिनके सा उठाए/उड़ती जाती एक चिड़िया!'

नरेन्द्र मोहन जैसे कवियों की जन-जीवन संपृक्ति ढोल बजाकर और झंडे हाथ में लेकर मारने और मरने के जोर-शोर से नहीं व्यक्त होती है—वह गहरे प्यार से उमड़ती रहती है—कभी माँ की याद में, कभी अस्पताल में पड़े कराहते पिता की व्याकुल याद में, कभी विदा होने वाली लड़की के संमिश्र भाव से, कभी स्त्रियों के साथ होने बलात्कारों और अन्यायों के प्रतिनिधिक/प्रतीकात्मक चित्रण में अपनी और समाज की विवशता, नामर्दगी और भय के एहसास में। कभी यह करुणा से ओत-प्रोत भाव व्यक्त होता है कुछ व्यंग्यात्मक तेवर लिए 'जंग से कौन आया होगा' जैसी कविता में। कभी सत्ताधीशों के अन्यायों की दहशत भरी याद में। इस प्रकार से जन-जीवन से गहरे सरोकार रखने वाली कविताओं की संख्या महत्त्वपूर्ण नहीं है, न आक्रोश की भाषा और बड़बोलेपन से उत्पन्न शब्दों के ढोल का आतंक। नरेन्द्र मोहन जैसे कवि व्यक्तित्व का दुख और सुख प्रकट होता है गहरी पीड़ा से द्रवित शब्दों की शोरहीन विवश अभिव्यक्ति से। करीब से देखे लहूलुहान खरगोशों की चिन्ता प्रतीकात्मक ढंग से सभी अन्याय पीड़ित जन की चिन्ता होती है—"ये खरगोश यों ही पड़े रहेंगे क्या/उड़ेंगे नहीं क्या परिंदों की तरह/तोड़ कर फ्रेम/हद से बेहद होकर पायेंगे नहीं पहचान....क्या?" यह निरीह निष्पाप, दलित और पीड़ित के प्रति व्याकुल सरोकार है। यह कबीर और तुकाराम की परंपरा है।

एक सुलगती खामोशी : नरेन्द्र मोहन; आस्था प्रकाशन, विकास पुरी, नई दिल्ली-110018, पृष्ठ : 87, मूल्य : 95-00

सी-2/7, स्टेट बैंक नगर, पंचवटी, पाषाण, पुणे-411008

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ. दीपचन्द

प्रेमचन्द सूक्ति कोश

सूक्तियों की परम्परा साहित्य में सतत अक्षुण्ण है। जीवन-यात्रा से परिश्रान्त मानव सूक्ति-तरु की चेतनामयी छाया में एक विशेष स्फूर्ति अनुभव कर जीवन की कठिनाइयों से संघर्ष करने की शक्ति प्राप्त करता है। सूक्ति एक विशेष प्रकार के सम्बल का कार्य करती है। हिन्दी के कथा साहित्य में प्रेमचन्द का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनके साहित्य में सूक्ति रत्न विपुल मात्रा में विद्यमान हैं। ये सूक्तियाँ जीवन के सभी क्षेत्रों से सम्बन्धित हैं। जीवन का कोई भी क्षेत्र इनसे असम्पृक्त नहीं है।

प्रेम और वासना में अन्तर मनुष्य को प्रेम की वास्तविकता का स्वरूप स्पष्ट करता है। इस सन्दर्भ में यह सूक्ति प्रेम की स्वच्छता को प्रकट कर वासना से दूर रहने की प्रेरणा देती है—

'प्रेम और वासना में उतना ही अन्तर है, जितना कंचन और काँच में, प्रेम की सीमा भक्ति से मिलती है और उनमें केवल मात्रा का भेद है। भक्ति में सम्मान और प्रेम में सेवाभाव का आधिक्य होता है। प्रेम के लिए धर्म की विभिन्नता कोई बंधन नहीं है।'—रंगभूमि, भाग-1, पृष्ठ 81

मान का जीवन में विशेष महत्त्व है। किन्तु वह मान-सम्मान अपनी सीमा के अन्तर्गत है। प्रेमचन्द की निम्न सूक्ति इस तथ्य को उजागर करती है—

'मान-सम्मान उसी वक्त तक है जब तक किसी के सामने मदद के लिए हाथ नहीं फैलता।'—प्रेमचन्द सम्पूर्ण, भाग-3, गबन, पृष्ठ 18

नीति और सदाचार का अपना विशेष मानदंड है, वह परिवर्तनशील है। विशेष परिस्थिति में मनुष्य के साथ किस प्रकार का व्यवहार करना उचित हे इससे सम्बन्धित सूक्ति दृष्टव्य है

'नीति और सदाचार का मानदंड प्रत्येक युद्ध में बदलता रहता है।'—कलम, तलवार और त्याग रंजीतसिंह, पृ.21

माता के लिए अपनी सन्तान समान होती है। वह किसी भी बालक के साथ भेदभाव करना नहीं चाहेगी, किन्तु दुर्बल और बुद्धिहीन बालक के प्रति उसका प्यार अधिक होता है इस भाव की अभिव्यक्ति प्रेमचन्द ने इस सूक्ति में इस प्रकार की है—

'माता उस बालक से अधिक से अधिक स्नेह करती है, जो दुर्बल है, बुद्धिहीन है, सरल है।'

—प्रेमचन्द के विचार, भाग-2, साहित्य की प्रगति, पृ.118

मातृहीन बालक संसार का सबसे करुणाजनक प्राणी है। मातृत्व के विषय में प्रेमचन्द ने गोदान में कहा है—

'मातृत्व संसार की सबसे बड़ी साधना है, सबसे बड़ी तपस्या, सबसे बड़ा त्याग और सबसे महान विजय है।'—गोदान पृ. 167

'मातृत्व दीर्घ तपस्या है।'

प्रेमचन्द की सम्पूर्ण कहानियाँ, भाग-1, बेटों वाली विधवा, पृ. 45

मादक वस्तुओं का सेवन व्यक्ति और समाज के हित को ध्यान में रखते हुए व्यक्ति के लिए किसी भी प्रकार कल्याणप्रद नहीं है—

'मादक वस्तुएँ सभी हानिकर हैं और हमारा कर्त्तव्य है कि उनहें स्वयं छोड़ें और यथाशक्ति दूसरों से छुड़वाएं।'

—प्रेमचंद के विचार, भाग-1, स्वराज्य के फायदे, पृ. 217

आधुनिक काल में भारतीय महिलाओं ने जीवन के सभी क्षेत्रों में प्रवेश किया है। वे पुरुषों से कंधे से कंधा मिलाकर संघर्षशील हैं। दोनों जीवन रूपी गाड़ी के दो पहिए हैं। जीवन को सम्यक् गति देने के लिए दोनों का समान महत्त्व है। महिलाओं के विशेष गुणों के प्रति अपनी सम्मति प्रकट करते हुए प्रेमचंद कहते हैं—

'भारतीय महिलाओं ने घर की चारदीवारी के अन्दर जिस तरह अपनी दक्षता प्रमाणित की है उसी तरह राष्ट्र के विस्तृत क्षेत्र में वो पुरुषों से आगे रहेंगी।'

—प्रेमचन्द के विचार, भाग-2, भारतीय महिलाओं में नवीन जागृति, पृ. 275; दिसम्बर, 1932

मनुष्य अनेक प्रकार की इच्छाएँ मन में पालता है। वह इस रहस्य से भी भली प्रकार परिचित है कि जीवन क्षणभंगुर है। नश्वरता का भाव उसे कभी भी अभिलाषाओं का महल बनाने से नहीं रोकता है—

'साँस का भरोसा ही क्या और इसी नश्वरता पर हम अभिलाषाओं के कितने विशाल भवन बनाते हैं?'—प्रेमचन्द सम्पूर्ण, द्वितीय भाग, निर्मला, पृष्ठ 348

पंच के आसन पर आसीन होकर मनुष्य अपनी निष्ठा को प्रकट करता है। उसे इस बात का पूर्णतया ध्यान रहता है कि वह किसी भी अवस्था में पक्षपात न करे। 'पंच परमेश्वर' कहानी इस तथ्य को प्रकट करती हैं—

'पंच के पद पर बैठकर न कोई किसी का दोस्त होता है, न दुश्मन। न्याय के सिवा उसे कुछ नहीं सूझता। पंच की जुबान से खुदा बोलता है।'—प्रेम द्वादशी, पंच परमेश्वर, पृ. 137

'दोस्ती के लिए कोई अपना ईमान नहीं बेचता। पंच के दिल में खुदा बसता है। पंचों के मुँह से जो बात निकलती है, वह खुदा की तरफ से निकलती है।'—प्रेम द्वादशी, पंच परमेश्वर, पृ. 131

प्रस्तुत प्रेमचन्द सूक्ति कोश में समग्र प्रेमचन्द साहित्य की सूक्तियों का संग्रह है। अनिल कुमार का यह प्रयास सराहनीय है। विद्वानों, शोधार्थियों तथा साहित्य अनुरागियों को यह सूक्ति कोश रुचिकर प्रतीत होगा, ऐसी आशा है।

संकलन, संपादन : अनिल कुमार; नमन प्रकाशन 4378 4बी अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

एच-3/72, विकासपुरी, नई दिल्ली-18

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ. कमलेश सचदेव

कितनी संभावनाएँ है 'सागर' की शायरी में

डॉ. चरनजीत सिंह 'सागर' के बहुत आकर्षक ढंग से छपे हुए ग़ज़ल-संग्रहों-'जमा ज़र्ब तक़्सीम' और 'तल्ख़ तुर्श शीरीं' में कुछ समान विशेषताएँ हैं- दोनों में चालीस-चालीस ग़ज़लें हैं, हर ग़ज़ल में पाँच-पाँच शे'र हैं, दोनों संग्रहों में हर ग़ज़ल दायीं ओर देवनागरी तथा बायीं ओर फारसी लिपि में छपी है और दोनों संग्रहों में पृष्ठ संख्या नहीं दी गई है। इसका कारण शायद यह रहा है कि संग्रह को उर्दू मानकर चला जाए तो दायीं ओर से और हिन्दी मानकर चला जाए तो बायीं ओर से गिनती शुरू करनी पड़ती। इस समस्या से बचने के लिए इसे संख्यारहित ही छोड़ दिया गया। इसलिए हिन्दी और उर्दू वाले दोनों ही इन्हें अपना मान सकते हैं।

पहले ग़ज़ल-संग्रह के शीर्षक का स्रोत है यह शे'र-

करके जमा-ओ-ज़र्ब-ओ-तक़्सीम एक दिन
पाया कि हाथ आए हैं दो-चार हादिसे

अगर शायर के हाथ दो-चार हादिसे आए हैं तो यह शायरी के लिए अच्छा सगुन कहा जाना चाहिए क्योंकि बड़े-से-बड़े शायर ने भी अपने साथ गुज़रे अनुभवों और हादिसों को ही अपनी शायरी में ढालकर लौटाया है-

दुनियां ने तजुर्बात-ओ-हवादिस की शक्ल में,
जो मुझको दिया था वो लौटा रहा हूँ मैं।
(साहिर लुधियानवी)

पहले संग्रह से ही स्पष्ट होने लगता है कि 'सागर' के पास गहरी दृष्टि भी है आर अभिव्यक्ति-सामर्थ्य भी। 'जमा ज़र्ब तक़्सीम' के कुछ शे'र तो बहुत दूर तक और देर तक असर छोड़ते हैं। निम्नोद्धृत शे'रों के अर्थ-गाम्भीर्य को देखें-

वो, जिससे दुनिया डरती थी
उसके अन्दर भी डर निकला

ऐसे चुप्पी तान गया है
जैसे वो सब जान गया है

पैराहन पर दाग़ नहीं है, सबके भेस फ़रिश्तों जैसे
इस बस्ती में सभी फ़रिश्ते, कोई भी इन्सान नहीं है

'सागर' ने अपने पहले संग्रह में ही व्यंग्य, सांकेतिकता, चित्रात्मकता और प्रतीक-विधान का सफल प्रयोग किया है। इस दृष्टि से कुछ शे'र देखें-

बाहर से साँकल चढ़वा दो
मन्दिर में भगवान गया है

वैसे तो हमें क़ैद में आराम बहुत है
ज़ख़्मों में मगर टीस सुबह-शाम बहुत है

पोखरों, दरियाओं, 'सागर' से गपच
सबने झोलों में छिपा लीं मछलियाँ

इसके बावजूद 'जमा ज़र्ब तक़्सीम' की बहुत-सी ग़ज़लें हुस्नो-इश्क़, जफ़ा-वफ़ा और धोखे आदि के चालू मुहावरे में क़ैद हैं जबकि दूसरा ग़ज़ल-संग्रह 'तल्ख़ तुर्श शीरीं' इससे काफी हद तक मुक्त है। इस संग्रह में शायर अपेक्षाकृत परिपक्व दिखाई देता है। भावना और चिन्तन की गहराई एवं विषयों की व्यापकता कहीं अधिक दिखाई देती है। चिन्तन एवं भावना की गहराई को चित्रित करते कुछ शे'र प्रस्तुत हैं-

सोच के समन्दर में शब अजीब मंज़र था
जो हमें डुबोती थी हम वही लहर ढूँढें

मैं तुझसे खुलकर मिल लूँ
बख़्तरबन्द उतार ज़रा

जिन घरों में पल रही हों बेटियाँ
काँच की होती हैं उनकी खिड़कियाँ

'तल्ख़ तुर्श शीरीं' में शायर शब्द की अनेकार्थकता, चित्रात्मकता और अथसाहचर्यों के प्रति अधिक सतर्क हुआ है। निम्नोद्धृत शे'रों का शब्द-चयन अपने साथ विशिष्ट संदर्भ लिए हुए है जो शे'र को एक गहराई देता है-

ईमान मेरा वक़्त के क़दमों में पड़ा है
कह पाए 'अनलहक़' मैं वो मन्सूर नहीं हूँ

दूर कहीं कोयल कूकी
लगी मुझे 'गुरबानी'-सी

सागर के भी दिल में थी
इक 'मितरो मरजानी'-सी

इन शे'रों में 'अनलहक़', 'मन्सूर', 'गुरबानी' और 'मितरो मरजानी' शब्द अपने सन्दर्भों से शे'र के अर्थ को विस्तार देने के साथ-साथ बिम्बात्मकता भी प्रदान कर रहे हैं।

'सागर' ने इस संग्रह में नए-नए उपमानों से विशिष्टता और चमत्कार उत्पन्न करने का प्रयास किया है जिसमें वे अधिकांशतः सफल रहे हैं। कुछ उदाहरण देखें-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भीतर से है बोनसई
जो बरगद सा लगता है

मज़दूरों-सा यह जीवन
आँसू-सा बह जाना है

'सागर' की एक ख़ास आदत या विशेषता इन ग़ज़लों में यह दिखाई देती है कि वह अपने तख़ल्लुस का प्रयोग अक्सर बड़े सार्थक ढंग से करते हैं, सिर्फ आखिरी शे'र में अपनी छाप लगाने के लिए नहीं। कछ उदाहरण-

उन्हें जानता ही कहाँ है तू 'सागर'
वो कितने ही सागर खँगाते हुए हैं

गया थाह लेने 'सागर' की
डूब गया माटी का ढेला

वो कितने ही दरिया हों है शोर बहुत उनमें
'सागर' हैं मगर हम तो खुद्दार से बैठें हैं

इस संग्रह में कुछ ऐसे भी खूबसूरत शे'र 'सागर' ने कहे हैं जिनकी खूबसूरती उनकी सादगी में निहित है, जो सीधी दिल से निकलते हैं और दिल पर असर करते हैं। कुछ श'र देखें-

तन से मन के रिश्ते हैं सब, मन की बातें कौन करे
जिस्म मरें तो मर जाती हैं जिस्मों की परछाई भी

मिरा ज़िक्र आया तो वो हँसके बोले
बहुत बार के देखे-भाले हुए हैं

फिरते हैं अपने आप से बचते हुए यहाँ
औरों की ज़िन्दगी में उतरने लगे हैं लोग

तू मिलने को आए तो न मिल पाऊँ तुझे मैं
इतना तो अभी दोस्त में मशहूर नहीं हूँ

डा. चरनजीत सिंह 'सागर' के ये ग़ज़ल-संग्रह कुछ बहुत अच्छी ग़ज़लों और ज़बान पर चढ़ जाने वाले शे'रों के साथ-साथ एक अत्यन्त संभावनापूर्ण शायर की सूचना भी देते हैं।

जमा ज़र्ब तक़्सीम : डॉ. चरनजीत सिंह 'सागर'; अमृत प्रकाशन, 1/5170, लेन नं. 8, बलबीर नगर, शाहदरा, दिल्ली-110032, प्रथम संस्करण : 2002; मूल्य : 100 रुपये।

तल्ख़ तुर्श शीरीं : डॉ. चरनजीत सिंह 'सागर'; अमृत प्रकाशन; प्रथम संस्करण : 2003, मूल्य : 100 रुपये।

बलात्कार तथा अन्य कहानियाँ

मीरा सीकरी

मीरा सीकरी की ये कहानियाँ आज की दुनिया में फैली हिंसा और आतंक के विविध रूपों को पाठक के समक्ष रखती हैं। यह आतंक विश्व के लगभग सभी भागों में मनुष्य की चेतना को त्रस्त किए हुए है। विश्व के अनेक देशों का भ्रमण कर चुकी लेखिका हिंसा के आतंक में जीते मनुष्य की मनःस्थितियों के साथ ही उसके कारणों की भी पड़ताल करती चलती है।

मूल्य : 90 रुपये

अभिव्यंजना
बी-70/72, डी.एस.आई.डी.सी.
काम्प्लेक्स, लारेंस रोड,
दिल्ली-110035

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यवस्था के प्रति आक्रोश की अभिव्यक्ति

'मेरा नालायक बाप' श्रवण कुमार पीपल का पहला कविता-संग्रह है। कविता-संग्रह के शीर्षक और कवि के नाम में एक विरोधाभास है। भारतीय मिथक परम्परा के अनुसार श्रवण कुमार मातृ-पितृभक्ति का आदर्श माना जाता है और यह कवि श्रवण कुमार अपने बाप को 'नालायक' कह रहा है लेकिन इस कविता को पढ़ने के बाद इस विरोधाभास का शमन हो जाता है क्योंकि कवि की दृष्टि में दलितों की वह पूरी पढ़ी-लिखी पीढ़ी 'नालायक' है जिसने 14 अक्टूबर 1956 को धर्म-परिवर्तन में डा. अम्बेडकर का साथ नहीं दिया।

इस संग्रह की कविताओं में ब्राह्मणवादी व्यवस्था के प्रति आक्रोश-आरक्षण का लाभ उठाकर उच्च पदों पर पहुँचकर अपने लोगों से दूरी बना लेने वाले दलितों के प्रति क्रोध, स्त्री की स्थिति के प्रति करुणा, दलित होने के नाते होने वाले अपमान की व्यथा के साथ ही इस सबको बदलने का, और न सहने का संकल्प भी उपस्थित है। ब्राह्मणवाद की वास्तविक शक्ति का स्रोत पहचानते हुए कवि कहता है - "ब्राह्मणवाद जिन्दा है/कारण हमारे अज्ञान के/न कि उसके ज्ञान के/उठ जायेगा जिस पल/अज्ञान रूपी पर्दा/हमारी आँखों से/ढह जायेगी उसकी/ब्राह्मणवाद रूपी इमारत भी/उसी पल'। दलित जीवन की व्यथा को एक पालिश करने वाले बच्चे की करुण स्थिति के माध्यम से कवि ने अत्यन्त मार्मिक अभिव्यक्ति दी है। उस बच्चे को ऐसे-ऐसे ग्राहक मिलते हैं जो - "रगड़वा कर जूता/एक घंटे तक/कहता देते हुए अठन्नी/जा ऐश कर/जैसे की हो खैरात उसने/उस बच्चे को देकर अठन्नी'। जिस ब्राह्मणवादी व्यवस्था ने उन्हें यह सब झेलने पर मजबूर किया है, उसके कर्मकांडों का मखौल इस संग्रह की अनेक कविताओं में उड़ाया गया है। 'पुरखों का सम्मान' कविता में कवि श्राद्ध की प्रथा और 'सात जन्म के बाद' में करवाचौथ के कर्मकांड के खोखलेपन को हास्यप्रद ढंग से उजागर करता है।

कवि श्रवण कुमार पीपल का सर्वाधिक आक्रोश दलित जातियों के ऐसे लोगों के प्रति उमड़ा है जो आरक्षण की सुविधा का लाभ उठाकर आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हो जाने के बाद अपने लोगों के साथ मेलजोल रखने से कतराते हैं तथा शोषक जातियों की चाटुकारिता करते हैं। यह उसे विवेहीनता की हद लगती है - "हमने पढ़ना-लिखना आरम्भ किया/ढेर सारी उपाधियाँ हासिल कीं/पर बजाय बनने के विवेकशील/हो गये विवेकहीन/निकल गया दिवाला दिमाग का/लेट गए जाकर गुलाम की तरह/चरणों में दुश्मन के/चाटने लगे कुत्ते की तरह तलवे उस दुश्मन के/जो घूम रहा है लगाकर/मुखौटे तरह-तरह के/सन्तों, महात्माओं, महाराजों, स्वामियों, आचार्यों, गुरुओं/और देवियों के भेष में'।

कवि इन सारी स्थितियों को पहचानते हुए इन्हें बदलने के लिए कृतसंकल्प है। वह स्वयं तो अब और न सहने का संकल्प ले ही चुका है, अपने साथियों को भी उठ खड़े होने के लिए ललकारता है। दलित माँ-बहनों के साथ होते अत्याचार देखकर दलित युवकों को प्रतिक्रिया न करते देख वह उन्हें कुछ करने को प्रेरित करता है - "वरना आयेगा एक दिन ऐसा/जब किया जाएगा/तेरी अपनी बहन के साथ भी/सामूहिक बलात्कार/घुमाया जायेगा निर्वस्त्र उसे भी/गलियों में गाँव की'। इसके लिए वह बाबासाहब डा. अम्बेडकर के बताए 'एजूकेट, ऑरगेनाइज, एजीटेट' के रास्ते पर चलकर संघर्ष करना चाहता है।

इस संघर्ष के लिए उसके पास दो हथियार हैं - आरक्षण और बौद्ध धर्म। डा. अम्बेडकर द्वारा संविधान में दिए गए आरक्षण के प्रावधान को वह हथियारों का भण्डार मानता है - "आरक्षण, आरक्षण नहीं/भण्डार है हथियारों का/जो दे गया है मसीहा हमारा/लड़ने को सम्मान की लड़ाई'। इसीलिए वह संविधान-समीक्षा को अपने विरुद्ध साज़िश मानता है और दलित नेताओं तथा अफसरों को फटकारते हुए कहता है - "अरे ओ बेशर्म, बेगैरत व नालायक/राजनैतिक नेताओं (अनु.जाति/जनजाति)/चुकाई है आज तक और/चुका रहा है आज भी समाज/एक बहुत बड़ी कीमत/तुम्हारी बेशर्मी, बेगैरती व नालायकी की/बस करो-बस करो-बस करो/त्याग दो बेशर्मी, बेगैरती व नालायकी/बचा लो बाबा साहेब अम्बेडकर द्वारा रचित/'भारतीय संविधान'/वर्ना हम तो मिटेंगे ही/नामोनिशान तुम्हारा भी नहीं रहेगा'। बौद्ध धर्म को वह समाज की बुराइयों के समाधान के रूप में देखता है। वह बाबा साहब के दिए आरक्षण को स्वीकारने और उनके द्वारा अपनाए गए बौद्ध धर्म को न स्वीकारने को बेईमानी, धोखा और अहसान-फरामोशी मानता है। उसे लगता है-"बौद्ध धम्म को स्वीकार न कर/हम खोद रह हैं कब्र अपने लिए/अपने बच्चों के लिए/और खोद रहे हैं कब्र अपनी आने वाली पीढ़ियों के लिए"। ब्राह्मणवाद के अंतर्गत नारी की स्थिति भी दयनीय है। कवि उसकी दुर्दशा से उद्वेलित है और नारी का आह्वान करता है कि वह बौद्ध धर्म अपना ले। इससे वह मानव की तरह जी सकेगी-"आ जा शरण में भीम और बुद्ध की/झाँक कर देख/विचारों और दर्शन में उनके/आएगा नज़र तुझे साफ-साफ/तेरी मुक्ति का रास्ता"।

कवि की वैचारिकता तो इन कविताओं में स्पष्ट दिखाई दे रही है, उसमें कहीं कोई द्वन्द्व या उलझाव नहीं है लेकिन इतने भर से कविता की रचना नहीं होती। सृजनात्मकता के लिए जिस आवेग की आवश्यकता होती है वह तो इन कविताओं में मौजूद है लेकिन विचार और अनुभव को कविता में ढालने के लिए आवश्यक कलात्मक धैर्य एवं कौशल सिरे से अनुपस्थित है। केवल 'सफेद वर्दी' तथा 'वो मासूम बच्चा' कविताओं में सृजनात्मकता की झलक दिखाई देती है। आशा है, आगामी कविता-संग्रह में यह झलक प्रमुखता से मौजूद होगी।

मेरा नालायक बाप : श्रवण कुमार पीपल 'श्रमण कुमार'; डेमोक्रेटिक इण्डिया पब्लिकेशन्ज़, ए-65, पॉकेट-00, सैक्टर-?, रोहिणी-110085; प्रथम संस्करण : 2001; मूल्य : 50 रुपये।

डॉ.कमलेश सचदेव

सी-25, शिवाजी पार्क, नई दिल्ली-110026

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आनन्द अस्थाना

वृक्ष-गाथा

एक

पति की अनुपस्थिति में
तुम्हारे सात फेरे लेकर
व्रत तोड़ती है
करवाचौथ का-पत्नी

रक्षाबंधन में भाई न आये
तो पीले धागे से
तुम्हारे तने को राखी बाँधती है-बहन

परदेस गये बेटे की
मान-मनौती के लिए
तुम पर अर्घ्य चढ़ाती है
बेटा मानकर तुमसे बतियाती है-बूढ़ी माँ

वृक्ष जी! सच-सच बतलाइए
अन्य कितने रूप हैं
ओ बहुरूपिये?

दो

उनसे ही आती हैं घनघोर घटाएँ
ऊदे-ऊदे भरे-भरे
पानी वाले बादल
झूम-झूम कर मानो
स्वागत करते हों पागल।
अनावृत धरती की लज्जा को ढाँपते
अंतहीन हरियाली से झाँपते
वृक्ष ये
धरती के कृष्ण ये

तीन

अच्छे समय में
उसने फल दिए-फूल दिए
श्लथ पथिक को क्षण भर की राहत
चिड़ियों की चहचहाहट

पतझड़ में रह गया
निस्पंद-मौन-निराश
क्लांत-मलिन-हताश

नंगई
गुणों को स्खलित करती है
भलमनसई को विस्मृत करती है

चार

एक ख़ास मौसम में
निःसंग-निस्पृह भाव से
मान-प्रतिष्ठा छोड़ कर
एक-एक कर
उतर जाती हैं पत्तियाँ डाल से
परिवर्तन की भूमिका निभाती हैं
डरतीं नहीं काल से—

आगामी पीढ़ी की राह में
कभी रोड़ा नहीं बनतीं-पत्तियाँ
त्याग और ममता की ज्वलंत परिभाषा हैं
पत्तियाँ

पाँच

मृत्योपरांत भी
हमारे काम आते हैं
घर की सुरक्षा में खप जाते हैं
दधीचि की अस्थियाँ हैं पेड़
देवता की प्रार्थना हैं पेड़

छः

दादा जी ने बीज बोया
पौधा रोपा
पिता ने फल खाये
गमलों में फूल सजाये
पोते ने
कुल्हाड़ी से काटकर बनाई
मेज, कुर्सी और चारपाई
पेड़ की इतनी ही कथा है भाई।

सात

तुम रोते हो-ये रोते हैं
तुम हँसते हो-ये हँसते हैं
तुम गाते हो-ये गाते हैं
तुम्हारी संवेदनाओं का दर्पण हैं ये
पुरखों का तर्पण हैं ये

इनकी जड़ों में मट्ठा मत डालो भइया।
काटो मत इन्हें
सगे-सहोदर हैं तुम्हारे भइया।

गाँधी मार्ग, हरदोई (उ.प्र.) 241001

बसन्त कुमार परिहार

गाढ़ा होता ख़ून का रंग

आसमान के चेहरे पर
फैल रही है
आज फिर
एक चालाक मुस्कान।
मुझे डर है
कि धरती पर
आज फिर
लोगों को अपने ख़ून से
लिखनी होगी अपनी पहचान।

झील में गिरा
ख़ून का वह एक क़तरा
फैलता जा रहा है
और आसमान की आँख
लाल हो उठी है।

चालाक चेहरे में जड़ी
एक जोड़ी आँखों में
जब तिर आती है
झील की रक्ताभ तरलता
तब जंगल को
अनिवार्यतः
लहूलुहान होना पड़ता है...

समय की खोह में हवा
दम साधे
दुबकी बैठी है भयभीत—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुल्हाड़े पर सिर रखे
सुस्ता रहा है लकड़हारा
और
आकाश की आँख में
ख़ून का रंग
गाढ़ा
और गाढ़ा
होता जा रहा है।

दाग़ न लग जाए

इस ख़ूबसूरत शहर की
तमाम गंदगी वहन करने वाले
गंदे नालों को
सूरज ने
अपनी रोशनी से महरूम कर दिया है।

शहर की आँखों की सड़ांध में तैरते
असंख्य रक्तसने अपराधों,
समय-असमय हुई
जायज़-नाजायज़ प्रसूतियों के ख़ून-सने
हादसों
और
दिन-दहाड़े लुटी
कमसिन अस्मतों के धब्बों को
धोने की ग़रज़ से
जल की पावन धारा
उन्हें
उस निर्जन घाट पर लिए जा रही है
जहाँ
दुनिया भर के नाजायज़ सौदों पर
जायज़ होने की मुहर लगाई जाती है।

शहर की सड़कों पर बहका जुलूस
वातावरण में
अनवरत
उछाले जा रहा है नारे
जो आसमान से टकराकर
ठण्डी वादियों में डूब जाते हैं।

बौनापन जब बढ़ जाता है इस क़दर
कि मनुष्य
अपने पैरों को ख़ुद चाटने लगे
तब
धरती से आकाश की बुलन्दी नापने की
तुक
पागल के ठहाकों से ज़्यादा
अहमियत नहीं रखती...

धरती से उखड़कर
मनुष्य के पाँव
जब आसमान से चिपक जाते हैं
तब
पेड़ों पर
औंधे लटके चमगादड़ों को भी
हँसी आने लगती है...
शीर्षासन का मतलब
यह कतई नहीं होता
कि पाँव
आसमान की परिक्रमा कर रहे हों...

कमर तक
गंदे पानी में धँसा धोबी
फटके जा रहा है मैले वस्त्र
किनारे की सिल पर
जबकि
नदी का पानी
इतना गंदा हो चुका है
कि कपड़ों पर मैल की परतें
और ज़्यादा चढ़ती जा रही हैं।

गुमसुम मौसम से
पूछ रहे हैं तटवर्ती वृक्ष
कि नदी का पानी
क्यों हो जाता है इतना गंदा कभी-कभी
कि जतन से ओढ़ी कबीर की चदरिया
भी
ज़रा-ज़रा सी मैली दिखने लगती है....

इससे पहले
कि सिर खुजाता मौसम
सोच पाए कोई उत्तर
असंख्य भूखे राहू
चारों तरफ़ से रोटी की तरह
सूरज को कुतरने लगते हैं
और सूरज के लहूलुहान होते ही
माहौल की पाकीज़गी में
स्याह पाप घुलने लगते हैं... ...

धोबी/अभी भी
अनवरत किए जा रहा है छियोराम...
छियोराम....
और मैल है कि छूटने का नाम नहीं लेता
और/उधर
वह लहूलुहान सूरज
इस चिन्ता में बुझा जा रहा है
कि उसके उजले दुपट्टे पर
कहीं कोई दाग़ न लग जाए।

1/1, पत्रकार कालोनी, अहमदाबाद-13

अलका सिन्हा

मैं कलम की रोशनाई होना चाहती हूँ

मैं लौट आना चाहती हूँ
शब्दों की उन गलियों में
जहाँ से कहानियाँ गुज़रती हैं
कविताओं की गलबहियाँ डाले
गूँजता है जहाँ अकथ पीड़ा का
विदीर्ण राग
फूटते हैं जहाँ से संघर्ष के स्वर
मैं उन्हीं गलियों में खोकर
खुद को पाना चाहती हूँ।
मेरी तमाम बेचैनियों, खामोशियों
नाकामियों के विष को कंठस्थ कर लेने
वाली
नीलकंठ कलम!
मुझे रचने की ताकत दे,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गढ़ने का सौंदर्य दे
कि मैं स्याही से रच सकूँ
उजली दुनिया के सफेद अक्षर
मैं कलम की रोशनाई होना चाहती हूँ
हर तकलीफ, हर पीड़ा को
जज़्ब कर लेने वाले पृष्ठ!
मैं तेरी देह पर गोदने की तरह
उभर आना चाहती हूँ
और बताना चाहती हूँ
कि कागज़ की संगमरमरी देह पर लिखी
शब्दों की इबारत
ताजमहल से बढ़कर खूबसूरत होती है।
मैंने किए न्योछावर
दुनिया के तमाम दुःख-सुख तुझ पर
कि रचने का सुख है सबसे बढ़कर
हे ब्रह्म! मुझे अंगीकार कर
मैं संगतराश होना चाहती हूँ
अपनी इच्छा और माँग से परे
अपने मान-अपमान से परे
अपनी तलाश, अपनी पहचान से परे
शब्द से फूटकर निकलता
अर्थ का नाद होना चाहती हूँ।
अनादि से अनंत तक जीवंत
अ-क्षर होना चाहती हूँ।
मुझे अंगीकार कर हे कंठ!
मैं गुंजरित गीत होना चाहती हूँ।

10-बी, डी.डी.ए.फ्लैट्स,
मंगलापुरी (पालम), नई दिल्ली-110045

सुशान्त सुप्रिय

लौटना

जब समय
हमें बिता लेता है
तब हम सभी
लौट जाते हैं
अपनी-अपनी
जड़ों की ओर
फल लौट जाते हैं
बीज में
नदी लौट जाती है
बूँद में
जो पाते हैं
इक्कीस तोपों की सलामी
वे भी लौट जाते हैं
मिट्टी में ही
आखिरकार

जे-845, मंदिर मार्ग, नई दिल्ली-110001

चन्द्रकान्त

मेरे गाँव का घर उदास है

मेरे गाँव का घर उदास है
सब चले गये है लोग शहर की ओर
उजाले नही हैं मेरे घर में
रात का सन्नाटा है भूत-प्रेतों सा
दादा-परदादा ने सींचा था अपने लहू से
आज खण्डहर पड़ा है मिट्टी का घर
यही घर कल था
सूर्य जैसा चमकता था
दादी माँ के हाथों से
मेरे घर के सामने वह नदी भी नहीं है
जिस पर खाते-पीते रहते थे
बैलों की जोड़ी, भैंसों की कतार,
गायों की भरमार
सूख गये हैं सब पेड़
वसंत के मौसम में कोयल भी है फरार
मैं नहीं सुनता चिड़ियों का चहचहाना
हरिया काका की आवाज
शाम के वक्त मेरे दलान पर होती थी
बैठक
महफिल सजती थी बुज़ुर्गों के गीतों से
मैं जाता हूँ आज भी अपने गाँव
घर देखने के बाद रोता हूँ
खेत खलिहान सब पड़े हैं वीरान
कल यही महकते थे कलियों से
आज रौंदे गए हैं अपने ही
भाई-भतीजेवाद से।

रोड न.-15, क्वाटर न.-55,आदित्यपुर-2,
जिला सरायकेला, खरसांवा, झारखण्ड-831013

दो ग़ज़लें

कुमार नयन

तबाही कोई फिर मचाएँगे क्या?
वो ताक़त का डंका बजाएँगे क्या?

ग़बन, क़त्ल, अग़वा और डाकाज़नी
खबर है यही तो सुनाएँगे क्या?

इशारों के मकतब में पढ़ते हैं हम
ज़ुबाँ पे वो बन्दिश लगाएँगे क्या?

लगे बेचने रहनुमा इन्क़लाब
बग़ावत का परचम उड़ाएँगे क्या?

खुदा की क़सम क्यों वो खाने लगे
कहीं आदमीयत चबाएँगे क्या?

यहाँ रहमतों का हुआ क्यों ऐलान
यहाँ लोग अब मुस्कुराएँगे क्या?

ज्योतिप्रकाश मेमोरियल लायब्रेरी
स्टेशन रोड,
बक्सर-802101

कृष्ण सुकुमार

तेरी खुशबू पाने तक
पहुँचा मैं वीराने तक

पत्थर हो जाएगा तू
पत्थर के मुस्काने तक

खुद को कैसे पहुँचा दूँ
इस खुदगर्ज़ ज़माने तक

बहुत सरल था मन मेरा
ख़्वाबों के बहकाने तक

वो बेशक मेरा ही है
बस यादों में आने तक

क्यों इतना मुस्काते हो
मुस्कानें सड़ जाने तक

194/10, सोलानी कुंज
आई.आई.टी.कैम्पस,
रुड़की-247667

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुरेन्द्र तिवारी

बिहार/झारखंड से प्रकाशित पत्रिकाएँ

अखंडित बिहार से लेकर खंडित द्विराज्य—बिहार और झारखंड—तक हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन का एक लंबा इतिहास यहाँ रहा है। यह एक विस्मित करने वाला सच है कि जिस राज्य को सर्वाधिक निर्धन और पिछड़ा हुआ माना जाता रहा है और माना जाता है, उसी बिहार के लोगों में पढ़ने-लिखने का शौक अन्य हिन्दी भाषी क्षेत्रों से सदैव अधिक रहा है। आज भी है। संभवतः लघु पत्रिकाओं के प्रकाशन के इतिहास में राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह द्वारा शुरू की गई 'नई धारा' सबसे पुरानी पत्रिका है जिसके 53 वर्ष पूरे होने पर पिछले दिनों पटना में एक भव्य समारोह का आयोजन किया गया था। 'ज्योत्सना' भी पुरानी पत्रिका है जिसका प्रकाशन संभवतः स्थगित हो गया है। 'नई धारा' की परंपरा को आगे बढ़ाते हुए आज बिहार और झारखंड से ढेरों लघु पत्रिकाएं प्रकाशित हो रही हैं जिनमें से अधिकांश की जानकारी इन राज्यों से बाहर कम ही लोगों को है। प्रचार-प्रसार के साधनों की कमी के कारण लघु पत्रिकाएँ हमेशा एक घेरे में कैद रह जाती हैं। यह दुखद स्थिति है जिसकी तरफ अब ध्यान देना बहुत जरूरी है।

यहाँ मैं इन दोनों राज्यों से आजकल प्रकाशित होने वाली कुछ पत्रिकाओं की परिचयात्मक चर्चा विशेष रूप से कर रहा हूँ ताकि इनके बारे में बाहरी लोगों को भी कुछ ज्ञान हो।

बिहार से सद्यः प्रकाशित 'मित्र' (सं. मिथिलेश्वर, महाराजा हाता, कतिरा आरा) का साहित्यिक जगत अवश्य स्वागत करेगा। मिथिलेश्वर के पास लेखन का लंबा अनुभव तो है ही, उनमें संपादकीय चेतना और सजगता भी तीव्र है, इसको 'मित्र' का पहला अंक ही प्रमाणित करता है। सम्पादकीय दावा है कि 'मित्र' साहित्य की सामाजिकता का एक रचनात्मक अभियान है। और साथ ही यह भी कि 'साहित्य की समग्र एवं प्रभावी भूमिका (लोकशिक्षण, लोकमंगल एवं लोकरंजन) को ध्यान में रखकर ही 'मित्र' का संपादन-संयोजन हो रहा है।' इस संपादकीय सदिच्छा को पत्रिका पूर्ण करती है। रचनाओं के चयन में जो विविधता है, सामयिकता पर जो दृष्टि है, वह उल्लेखनीय है। तत्काल यहाँ अधिक विश्लेषण करने का अवसर नहीं है परंतु इतना तो कहा ही जा सकता है कि जिस किसी पत्रिका के पहले अंक में ही भीष्म साहनी, निर्मल वर्मा, रमेशचन्द्र शाह, शंभुनाथ, अशोक वाजपेयी, विजेन्द्र नारायण सिंह, भवदेव पांडेय, रमेश दवे, ज्ञानेन्द्र पति, जयनन्दन आदि ढेरों चर्चित लेखक-चिंतक विद्यमान हों, उस पत्रिका की महत्ता अपने आप बढ़ जाती है।

'सनद' (सं.मंजु मल्लिक मनु, दल्लूचक खगौल, पटना) यो तो एक अनियतकालीन पत्रिका है परंतु अब तक इसके जितने अंक आये हैं, लोगों का ध्यान उनकी तरफ आकृष्ट हुआ है। मेरे समक्ष इसका आठवां अंक है जिसमें गुजरात पर विशेष सामग्री है। कमलेश्वर, हर्ष मंदर, प्रकाश मनु, अनिल चमड़िया, प्रेम सिंह, फजल इमाम मल्लिक आदि के लेख हमें गुजरात पर कई दृष्टियों से सोचने पर विवश करते हैं। फ़ज़ल का लेख 'हे राम' विशेष रूप से पठनीय है जिसमें दो संप्रदायों के बीच बनते-बिगड़ते मानवीय संबंधों का तथ्यात्मक चित्रण है। नामवर सिंह का साक्षात्कार भी कहीं न कहीं इसी समस्या को छूता है। कहानियों, कविताओं के साथ ही रंगमंच, संस्मरण, समीक्षा आदि से भरपूर यह अंक उम्मीद जगाता है कि बहुत शीघ्र ही कुछ श्रेष्ठ लघु पत्रिकाओं के बीच यह पत्रिका भी अपना स्थान बना लेगी।

कथाकार मधुकर सिंह के संपादन में 'इस बार' (धरहरा, आरा) का बारहवाँ अंक आया जिसमें जितेन्द्र कुमार की कहानी 'देवाशीष चौधरी को किसने मारा' विशेष रूप से पठनीय है। कमलेश्वर का वैचारिक लेख 'शैतान के मुँह में वेद' आज की राजनीति पर एक तीखा प्रहार है। संजय कुंदन अपनी कविताओं के माध्यम से अपनी पहचान बना चुके हैं। इस अंक में उनकी सात कविताएँ सवक्तव्य छपी हैं। सिर्फ 36 पृष्ठों में मधुकर सिंह ने इस पत्रिका को निश्चित रूप से एक सृजनात्मक मंच दिया है।

संजय कुमार सिंह के संपादन में प्रकाशित 'वर्तिका' (मधुबनी, पूर्णिया, बिहार) भी एक नई पत्रिका है जिसके प्रथम वर्ष का चतुर्थ अंक अभी आया है। इस पत्रिका में रचनात्मकता पर ज्यादा जोर है चिंतन पर नहीं, इसी कारण चित्रकला, साक्षात्कार, व्यंग्य, निबंध, कहानियाँ, कविताएँ, गज़ल, लघुकथाएँ आदि सब कुछ का यहाँ समावेश है। परंतु पत्रिका में संपादकीय लापरवाही है, अर्थात् कोई चयन-दृष्टि नहीं है। जो कुछ मिला है सब छाप दिया गया है। संभवतः अगले अंकों से पत्रिका के स्वरूप में और निखार आये, यह विश्वास किया जा सकता है।

बिहार एवं झारखंड से प्रकाशित होने वाली ज्यादातर पत्रिकाओं की स्तरीयता प्रशंसनीय नहीं है, परंतु इस स्तर को प्राप्त करने के लिए कुछ पत्रिकाएँ प्रयासरत भी हैं। इस अर्थ में 'वर्तमान संदर्भ' (सं. संगीता आनन्द, टैगोर हिल रोड, मोराबादी, राँची) को देखा जा सकता है। पिछले दो वर्षों से प्रकाशित हो रही इस पत्रिका का अक्टूबर-दिसम्बर 2002 का अंक ही अभी प्राप्त है। लघु पत्रिकाओं के लिए अच्छी रचनाएं प्राप्त करना एक कठिन कार्य है किंतु इस पत्रिका में कुछ महत्वपूर्ण रचनाएं हैं। श्रीराम दवे का आलेख 'समकालीन कविता और नई सदी की सर्जनात्मक चुनौतियाँ', विद्याभूषण का धर्मवीर भारती पर लिखा 'शतदली सृजनशीलता का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पारिजात' लेख अनिवार्यतः पठनीय है। अंक में चार कहानियाँ हैं जिनमें कनकलता ओर निर्मला पुतुल की कहानियाँ आज के व्यक्ति की मानसिक स्थितियों को पूर्णतया उजागर करती हैं। 'बोल्ड लेखन' पर आयोजित परिचर्चा भी सोद्देश्य और सार्थक है।

'नया हस्तक्षेप' (सं. आभा पूर्वे, शरतचन्द पथ, मशाकचक, भागलपुर) दस वर्षों से प्रकाशित होने वाली एक महत्वपूर्ण पत्रिका है। उपलब्ध अंक बिहार के चर्चित लेखक डा. अमरेन्द्र पर केन्द्रित है जिसका विशेष संपादन प्रसिद्ध पंजाबी लेखक जसवंत सिंह विरदी ने किया है। अमरेन्द्र ने सभी विधाओं में लेखन के साथ ही अंगिका भाषा को बिहार तथा राष्ट्रीय जीवन में आदर-सम्मान का स्थान दिलाने के लिए बहुत संघर्ष किया है किंतु इस विशेषांक में उनके व्यक्तित्व और कृतित्व पर ही ध्यान दिया गया है।

यहीं डा. अमरेन्द्र द्वारा संपादित 'आंगीप्रभा' (लाल खाँ दरगाह लेन, सराय, भागलपुर) की चर्चा भी सामयिक होगी। 'अंगिका' भाषा को प्रतिष्ठित करने तथा इस भाषा में लिखने वालों को सामने लाने की दृष्टि से इस पत्रिका का प्रकाशन चार वर्ष पूर्व शुरू हुआ था और तब से त्रैमासिक रूप से इसको प्रकाशित किया जा रहा है। क्षेत्रीय भाषाओं की अपनी एक सीमा होती है, रचनाकार भी सीमित होते हैं, फिर भी पत्रिका में कई स्तरीय रचनाएँ हैं। संपादक ने हिन्दी भाषा की रचनाओं को स्थान दिया है यह भी महत्वपूर्ण है। दोनों भाषाओं का यह सम्मिलन अवश्य ही भविष्य में उपयोगी सिद्ध होगा।

मुजफ्फरपुर से इधर एक बहुत ही महत्वपूर्ण पत्रिका का प्रकाशन शुरू हुआ है। वीरेश चन्द्र के संपादन में 'आवर्त' (रसूलपुर जिलानी, मझौलिया, मुजफ्फरपुर) एक गंभीर वैचारिक पत्रिका के रूप में अपने को स्थापित कर रही है। इसका अंक 11-12 अभी प्रकाशित हुआ है जिसमें उपन्यासों पर बच्चन सिंह का लेख महत्वपूर्ण रचना है। ब्रजनन्दन किशोर का 'विचारधारा और विचारात्मक अध्ययन की संभावनाएँ' एक गंभीर अध्ययन है। खगेन्द्र ठाकुर से वीरेशचन्द्र की बातचीत में आज की आलोचना-पद्धति को तटस्थता से व्याख्यायित किया गया है। गंभीर पाठकों के लिए नंदकिशोर नवल द्वारा संपादित 'कसौटी' (303, पवनपुत्र अपार्टमेन्ट्स, फ्रेजर रोड, पटना) भी एक महत्वपूर्ण आलोचना त्रैमासिक है। दिल्ली से प्रकाशित 'आलोचना' के बाद संभवतः 'कसौटी' ही विशुद्ध रूप से आलोचना प्रधान पत्रिका है।

'कथा सागर' (सं. तारिक असलम तस्नीम, 6/2, हारून नगर कालोनी, फुलवारीशरीफ, पटना) प्रमुखतः लघु-कथाओं की पत्रिका है जो तीन वर्षों से लगातार प्रकाशित हो रही है। तीसरे वर्ष का चौथा अंक प्रमुख लघु कथाकार कृष्ण कमलेश पर केन्द्रित है। कृष्ण कमलेश के देहावसान के पश्चात, उनके प्रति श्रद्धांजलि स्वरूप ही इस अंक को निकाला गया है जिसमें उनकी लघुकथाएँ, उनके साक्षात्कार, उनके व्यक्तित्व और कृतित्व का लेखा-जोखा है। लघुकथा को प्रोत्साहित करने में 'कथा सागर' का विशेष योगदान है।

पिछले पाँच वर्षों से प्रकाशित 'लक्ष्य' (सं. यमुना प्रसाद बसाक, अमला रोला, मधुबनी, पूर्णिया) का स्वरूप स्थानीय ही ज्यादा है। साहित्य की हर विधा की कोई न कोई रचना (नाटक छोड़कर) यहाँ विद्यमान है। ज्यादातर नये उभरते लेखकों की रचनाएँ हैं। हाँ, 'धरोहर' स्तम्भ के अन्तर्गत राजकमल चौधरी का आलेख 'सोचने की आजादी का मौसम' तथा फणीश्वरनाथ रेणु की कहानी 'बटबाबा' से कुछ सांत्वना मिलती है। अरुण अभिषेक का लेख 'आता बाजार : खोता बचपन' आज की एक ज्वलंत समस्या की ओर संकेत करता है। पत्रिका की छपाई में भी सफाई नहीं है जिससे इसकी सुरुचिता नष्ट होती है।

साहित्य-संस्कृति के जगत में झारखंड की दस्तक देने वाली त्रैमासिक पत्रिका 'काँची' (सं. रणेन्द्र, सर्वोदय नगर, कांके रोड, राँची) का तीसरा अंक अभी प्रकाशित हुआ है जो कुछ उत्कृष्ट रचनाओं के कारण हमें आकृष्ट करता है। विसेश्वर प्रसाद केशरी का आलेख 'विद्यापति और घासीराम' इस अंक की विशेष सामग्री है। हिन्दी जगत के बहुत कम लोग इस तथ्य से परिचित होंगे कि जिस तरह मैथिली भाषा-भाषी क्षेत्र में विद्यापति की ख्याति है उसी तरह नागपुरी भाषा-भाषी क्षेत्र में घासीराम की। इन दोनों के काव्य-जगत का यह तुलनात्मक अध्ययन बहुत उपयोगी है। अमित कुमार राजा, लालदीप और दिनेशचन्द्र झा की कहानियाँ, स्नेहमयी चौधरी, राजकुमार कुंभज, विष्णु सक्सेना, सरिता सिंह आदि की कविताएँ प्रभावशाली है।

'अक्षरगंधा' (सं. हरिवंश तरुण, आनन्द भवन, बहादुरपुर, समस्तीपुर) नई पीढ़ी के रचनाकारों को प्रमुखता देने वाली एक त्रैमासिक पत्रिका है जिसका ग्यारहवां अंक सामने है। इस पत्रिका में पहली बार नजर आया कि चार-चार संपादकीय लिखे गए हैं। संपादक का संपादकीय तो है ही, तीन सह-संपादकों के भी संपादकीय हैं। यह किसी विवशता में हुआ होगा, इसे आसानी से समझा जा सकता है। परंतु अच्छा होता कि सहयोगी संपादक अपनी भावनाओं को किसी लेखादि के माध्यम से प्रकट करते, संपादक के अधिकार में हिस्सा न बंटाते। पत्रिका में ज्यादातर समस्तीपुर या आसपास के शहरों के ही कवि-लेखक संकलित हैं। अपरिचित, नवागन्तुक रचनाकारों को सामने लाने का प्रयास प्रशंसनीय है परंतु किसी घेरे में ही बंधकर पत्रिका और साथ ही साहित्य का भी भला नहीं होता, इसलिए आवश्यक है कि पत्रिका का विस्तार चतुर्दिक हो, बाहरी रचनाकारों को भी पत्रिका से जोड़ा जाए। विवेकी राय और संजीव कुमार संजय को तत्काल अपवाद ही माना जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आकर्षक मुखपृष्ठ वाली यह पत्रिका गीत, ग़ज़ल, कविता, कहानी, व्यंग्य, संस्मरण, समीक्षा, निबंध सब कुछ से सजी हुई है और इस तरह साहित्य से भी जुड़ी हुई है।

'शब्द कारखाना' (सं. रमेश नीलकमल, अक्षर विहार, अवन्तिका मार्ग, जमालपुर) प्रगतिशील सृजनशीलता के नये आयाम की त्रैमासिकी है। अपने लघु आकार में भी पत्रिका गंभीर रचनाओं के कारण आकर्षित करती है। अब तक उसके चौंतीस अंक प्रकाशित हो चुके हैं। किसी भी लघु पत्रिका के लिए यह महत्व की बात है, अगर वह अपनी सजग और पैनी दृष्टि के साथ, साहित्य को दिशा देने वाली रचनाओं के साथ लगातार प्रकाशित होती है। अंक चौंतीस में मुक्तेश्वर नाथ तिवारी, प्रतिभा राजहंस, रामाश्रय प्रसाद सिंह और राजेन्द्र प्रसाद गुप्त के वैचारिक लेख कई मुद्दों पर विचार करने के लिए बाध्य करते हैं। पत्रिका का प्रकाशन पक्ष भी स्तरीय है।

रमेश नीलकमल के संपादन में ही एक दूसरी पत्रिका 'वैश्य दर्पण' (अवन्तिका मार्ग, जमालपुर) निकलती है जिसका अंक 24-25 झारखंड राज्य पर केन्द्रित है। यह प्रशंसनीय बात है कि पत्रिका का नाम भले ही 'वैश्य दर्पण' है, इसमें जातीयता की कहीं बू नहीं है। झारखंड के गठन के बाद से वहाँ के साहित्य, संस्कृति और समाज से परिचित कराने वाला यह विशेषांक अब तक अकेला है। इस अंक में शिक्षाविद डा.गैंझू के व्यक्तित्व की झलक, संथाली साहित्य के जनक डा. डोमन साहू 'समीर' की कविता, छोटा नागपुर के पर्व-त्यौहारों की विस्तृत जानकारी के साथ ही विभिन्न शिक्षण संस्थाओं, सामाजिक संगठनों एवं शिक्षकों का परिचय भी प्राप्त होता है।

बिहार एवं झारखंड से प्रकाशित पत्रिकाओं की यों तो एक लंबी सूची है परंतु उनमें से अधिकांश पत्रिकाएं ऐसी हैं जो एक-दो अंकों के बाद ही बंद हो गईं या जिनका कोई नया अंक पिछले एक-दो वर्षों में नहीं आया है। 'शैली' (सं. कमला प्रसाद बेखबर, प्रोफेसर कालोनी फरबिसगंज) का पिछला अंक जुलाई-दिसम्बर 2001 में कथा-विशेषांक के रूप में आया था जो अब तक अन्तिम है। विनोदपुर कटिहार से अकिंचन ने 'गीतांजलि सरोवर' के दो-तीन अंक निकाले। कुछ समय तक बंद रहने के पश्चात् अकिंचन के संपादन में ही यह अब दिल्ली से निकल रही है। इसी तरह डा. गोपाल राय ने पटना से 'समीक्षा' का प्रकाशन करीब तीन दशकों तक किया और अब यह पत्रिका भी दिल्ली स्थानान्तरित हो गई है। मधुकर गंगाधर 'नया' का प्रकाशन बंद कर दिल्ली आ गए हैं। सतीशचंद्र शशि द्वारा संपादित 'समाधान' (बरियारपुर, मुंगेर) के अंक भी साल में एक-दो छप जाते हैं। वैसे 12 पृष्ठों की इस पत्रिका का अभी तक कोई खास स्वरूप नहीं बन पाया है। हाँ, बिहार से ही प्रकाशित 'युद्धरत आम आदमी' (सं. रमणिका गुप्ता, मेन रोड, हजारीबाग) हर तरह से एक विशिष्ट पत्रिका है जिसके कई विशेषांकों ने अखिल भारतीय ख्याति अर्जित की है। 'युद्धरत आम आदमी' और 'झंकृति' (सं. शशिप्रभा सिंहा, राजेन्द्र पथ, धनबाद) के बारे में 'संचेतना' के पिछले अंकों में विस्तार से लिख चुका हूँ, पुनः दुहराव उचित नहीं लगता।

कुछ अन्य पत्रिकाएँ जो संभवतः नियमित प्रकाशित हो रही हैं। परंतु जिनके अंक उपलब्ध नहीं हुए, उनकी तरफ भी पाठकों का ध्यान अवश्य जाना चाहिए। 'परिधि से बाहर' (सं.नरेन्द्र प्रसाद, पीयूष प्रकाशन, महेन्द्रु, पटना), 'अंग ज्योति' (सं. श्रीकांत व्या, नीलांचल कार्यालय, दक्षिणी मंदिर, पटना), 'पनघट' (सं. जवाहर लाल बेकस, नौखा, रोहतास), 'अवसर' (सं. सिद्धेश्वर पो.बा.205, करबिगिया, पटना) 'समय' (सं. अनिरुद्ध प्रसाद विमल, समय साहित्य सम्मेलन, पुनसिया, बांका, बिहार), 'हुड़दंग' (सं. चन्द्रशेखर झा 'इन्दु', कस्तूरबा गाँधी नगर, लखी सराय), 'स्वाति पथ' (सं. कृष्ण मनु, बी-111/35, मुनीडीह, धनबाद), 'समीहा' (सं. शेखर सावंत, प्रोफेसर कालोनी, बेगूसराय), 'शम्बूक' (सं. रवींन्द्र प्रसाद, आर्य कुमार रोड, पटना), 'विपक्ष' (भारत यायावर, कदमा, हजारीबाग), 'पुरुष' (सं. विजयकांत, निराला नगर, गोशाला रोड, मुजफ्फरपुर), 'दस्तक' (सं. राघव आलोक, सारा ज़हाँ, मकदमपुर, जमशेदपुर), 'अब' (सं. शंकर, 74ई, गोरक्षिणी पथ, सासाराम, बिहार), 'बेला' (जानकीवल्लभ शास्त्री, निराला निकेतन, मुजफ्फरपुर), 'कतार' (सं. बृजबिहारी शर्मा, प्रोफेसर्स कालोनी, चीरागोड़ा, धनबाद), 'उत्तरशती' (सं.खगेन्द्र ठाकुर, 17 विधायक क्लब, पटना), 'प्रसंग' (सं. शंभु बादल, सरौनी खुर्द, जगन्नाथ धाम, हजारीबाग), 'समकालीन परिभाषा' (सं. ऋषिकेश, धर्म भवन, शंकर चौक, डूमरा, सीतामढ़ी), 'संवेद' (सं. किशन कालजयी, 403 नया गाँव, जमालपुर), 'जनपथ' (सं. अनंत कुमार सिंह, चरपोखरी, भोजपुर), 'साहित्य सेतु' (सं. महेश अंजुम, सेक्टर 8डी/1123/46 बोकारो स्टील सिटी), 'कला' (सं. कलाधर, आदर्शनगर, नयाटोला, लाइन बाजार, पूर्णिया), 'आहट' (सं. ब्रह्मदेव प्रसाद, शांभवी सदन, गाँधी नगर, दरभंगा) 'नई लहर' (सं. दयानंद बरोही, चन्द्रपुरा, गिरीडीह), 'प्रतिबद्ध' (सं. नीरज जनवेणु, चूनापुर रोड़ मधुबनी, पूर्णिया), 'ऋतुगंध' (सं. अशोक गुप्त, राजेन्द्रपुरी, मुजफ्फरपुर), 'आयाम' (सं. अरविन्द गुप्त, 11 शिवगंज, डेहरी आन सोन) आदि। संभव है और निश्चित रूप से संभव है कि अभी अनेक पत्रिकाओं की जानकारी मुझ तक नहीं पहुँची है इस कारण यहाँ उनका उल्लेख नहीं हो पाया। परन्तु जो कुछ उपलब्ध है वह अपनी समग्रता में हमें अचंभित करता है कि क्या एक-दो राज्यों से इतनी पत्रिकाओं का प्रकाशन संभव है? पर यह संभव है यह तो इस लेख से ही प्रमाणित है।

बी-3/76, सेक्टर-16, रोहिणी, नई दिल्ली-110085

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चक्राचक्र

एक धांसू विज्ञापन की रूपरेखा

जब यह तय हो गया कि पंडित बिहारी लाल ज्योतिष का अपना धंधा—'जय काल भैरव ज्योतिष संसार' के नाम से प्रारम्भ करेंगे तो उन्होंने ज्योतिष का रोजगार चलाने वाले तान्त्रिकों, बाबाओं, सिद्धांत, राज-ज्योतिषियों के बहुत से छपे पर्चे मेरे सामने फैला दिए जो उन्होंने अनेक समाचार पत्रों से निकाले थे।

वह बोले-"पहले तुम इन सब पर्चों को देखो। इस ओर ध्यान दो कि ये सभी धंधेबाज लोग, आम बंदों को फुसलाने के लिए कौन सी लुभावनी गोटें इनके सामने फेंकते हैं। इस सबका अध्ययन करने के बाद तुम मुझे एक ऐसा धांसू विज्ञापन बना दो जो सबसे अलग हो, सबको मात देने वाला हो और चमत्कारी हो...बस पढ़कर मज़ा आ जाए।"

मुझे पान खाने का अधिक शौक नहीं है। मेरा मानना है कि दिन भर पान चबाने वाले लोग इस वहम के बुरी तरह शिकार होते हैं कि वे बड़े महत्वपूर्ण हैं और पान खाते-खाते किसी गंभीर समस्या पर विचार कर रहे हैं, हालांकि उन्हें यह बिल्कुल पता नहीं होता कि आखिर समस्या है क्या?

लेकिन उस दिन मेरा मन भी पान खाने को करता है, जब मैं बहुत बोर महसूस करता हूँ। आज पंडित जी की उपस्थिति मुझे बहुत बोर कर रही थी। आज मैं टेलीविजन पर एक हॉरर फिल्म देखना चाहता था। मेरा खयाल है कि बड़ी भयानक, डरावनी, एकदम चीख निकाल देने वाली फिल्म स्वास्थ्य के लिए अच्छी होती है। इसे देखने के बाद दिल की धड़कन बढ़ जाती है। डाक्टर कहते हैं कि इससे दिल मजबूत होता है, खास तौर से उनका जिनका बहुत कमजोर हो चुका है।

मैंने कहा-"पंडित जी, पहले मुझे एक गिलौरी खिलाइए।"

उन्होंने मुझे घूरकर देखा। फिर अपनी डिबिया से मगही पान का जोड़ा निकालकर मेरी तरफ बढ़ाते हुए कहा-"आज तुम बहुत भाव खा रहे हो। बात क्या है?"

"पंडित जी, इन ज्योतिषियों, तांत्रिकों के जितने भी पर्चे आपने मेरे सामने रखे हैं, ये सभी झूठ और मक्कारी से भरे हुए हैं। इन्हें देखकर मैं इतना बोर हो गया हूँ कि मुझे पान खाने की जरूरत महसूस हो रही है।"

"देखो...।" वे मुझे धीरज बँधाते हुए बोले-"इतना गुस्सा मत खाओ। मेरा काम कर दो, मैं तुम्हें इमरती खिलाऊँगा।"

एकाएक उनके अंदर का भाषावैज्ञानिक बोध कुलबुलाने लगा। बोले-"तुम इमरती का शुद्ध रूप जानते हो...अमृतमयी। जो अमृत सा स्वाद दे वह इमरती। मुझे मालूम है तुम्हें यह अच्छी लगती है।"

मैं सामने पड़े पर्चों को देखने लगा।

"देखिए यह बाबा अपने आपको 'काली सिद्ध' कहता है और दावा करता है जो उसकी बनाई ताबीज़ को काट देगा उसे दस हज़ार रुपये का इनाम दिया जाएगा।"

पंडित जी ने इसे तुरन्त नोट कर लिया। बोले-"ताबीज़ वाली जुगत बहुत पुरानी हो गई है। मैं लोगों को लोहे की अँगूठी दिया करूँगा। तुम विज्ञापन में यह दावा करो कि जो इसकी काट करेगा उसे पचास हज़ार रुपया दिया जाएगा।"

मैंने चौंक कर देखा-"पंडित जी, आप यह कैसा दावा कर रहे हैं?"

"तुम इसकी चिंता न करो। ज्योतिषियों और नेताओं के वायदों और दावों पर सवालिया निशान लगाने की आदत हमारी जनता को नहीं है। वह बहुत सहनशील है। मुँह पर पड़े थप्पड़ को वह आधे घंटे में भूल जाती है। वायदों और दावों को याद रखने की फुर्सत किसे है।...आगे बढ़ो।"

"यह दूसरा पर्चा किसी महर्षि अमर का है। ये अपने आपको इंटरनेशनल ज्योतिषी कहते हैं। इनका दावा है कि इनके पास गिद्दड़ सिंगी है जो पलक झपकते हर समस्या का निदान कर देती है।"

पंडित जी सोचने लगे-"यार, यह गिद्दड़ सिंगी क्या बला है?"

मुझे हँसी आ गई-"आप ज्योतिष का धंधा करने जा रहे हैं और गिद्दड़ सिंगी को नहीं जानते? आपने अलादीन और जादुई चिराग वाली कहानी सुनी है न? अलादीन अपने चिराग को रगड़कर जिन्न निकाल लिया करता था, जो उसके सभी काम कर दिया करता था। गिद्दड़ सिंगी गुठलीनुमा एक चीज़ होती है। लोगों का विश्वास है कि वह जिसके पास होती है, उसे सभी कष्ट दूर हो जाते हैं और सभी बिगड़े काम बन जाते हैं।"

पंडित जी सोचने लगे।

"सुनो...।" वह बड़े उत्साहित होकर बोले-"तुम अपने विज्ञापन में यह दावा करो कि तांत्रिक सम्राट पं. बिहारी लाल के पास एक जादुई छड़ी है। जिस किसी के सिर से वह छड़ी छुआ देते हैं, उसके सभी काम पूरे हो जाते हैं....सभी कष्ट दूर हो जाते हैं।"

मैं लिखते-लिखते रुक गया-"जादुई छड़ी कुछ-कुछ अलादीन के जादुई चिराग जैसी लगती है। इसे कोई सांस्कृतिक नाम देना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहिए,...इसे यदि चमत्कारी दंड कहा जाए तो कैसा रहे?"

पंडित जी प्रफुल्ल हो गए।

बहुत देर तक हम सभी विज्ञापनों को देखते-परखते रहे। मैंने कहा-"पंडित जी, सभी पर्चों को देखने के बाद ऐसा लगता है कि कुछ खास किस्म की बीमारियों के लिए ये सभी ज्योतिषी अपने-अपने आसव लोगों के सामने परोस रहे हैं। व्यापार में लाभ-हानि, शादी-विवाह, प्रेतबाधा, वशीकरण, गृह-क्लेश, जादू-टोना, विदेश यात्रा, कालसर्प योग, पितृदोष, कोर्ट-कचहरी के मामले जैसी बातों का समाधान करने का दावा हर तान्त्रिक-ज्योतिषी करता है। सभी एक-दूसरे को झूठा और अपने आपको खास दैवी मिट्टी से बना हुआ ईश-दूत घोषित करते हैं। कोई अपने आपको गोल्ड मैडलिस्ट कहता है, कोई सुपर गोल्ड मैडलिस्ट होने का दावा करता है। ऐसी हालत में आपका किस ढंग का विज्ञापन तैयार किया जाए जो आपके शब्दों में धांसू हो?"

पंडित जी खीझ उठे। बोले-"तुम्हीं बताओ, कोई ऐसा व्यक्ति जिसका काम-धंधा ठीक चल रहा हो, स्वास्थ्य भी अच्छा हो, बीवी भी सुगृहणी हो, विदेश की यात्रा कर आया हो, जिस पर जादू-टोने, किसी दोष का असर न होता हो, किसी ढोंगी तान्त्रिक या ज्योतिषी के पास क्यों जाएगा? जिसे कोई संकट न हो, वह तो भगवान के मंदिर में भी नहीं जाता है। तुम ऐसा करो, इन सब विज्ञापनों को पछाड़ देता हुआ एक विज्ञापन मेरे लिए तैयार कर दो...बस...।"

बहुत सोच-विचारकर मैंने उनके लिए जो विज्ञापन बनाया, उसकी कुछ खास बातें ये थीं-इसमें पं.बिहारी लाल को विश्व ज्योतिष महासंघ द्वारा सम्मानित घोषित किया था। जब उन्होंने पूछा कि यह संस्था कहाँ है तो मैंने कहा, आप इसकी चिंता न करें। यह आज नहीं है तो कल बन जाएगी। दूसरी बात यह कि मैंने उन्हें ब्रह्मज्ञानी पं.बिहारी लाल लिखा था। एक विशेष बात यह थी कि संतानहीन बहनों को संतान देने का वायदा तो सभी ज्योतिषी करते हैं, इस विज्ञापन में यह कहा गया था कि जिन महिलाओं को बार-बार लड़की को जन्म देने की आदत पड़ गई है, वे आएँ और खुशी-खुशी लड़का लेकर जाएँ। हर विज्ञापन में लिखा होता है-फीस श्रद्धानुसार। हमारे विज्ञापन में बड़े मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा गया था-हम यह सारा कार्य सेवाभाव से प्रेरित होकर करते हैं। इसके लिए किसी प्रकार की फीस नहीं ली जाती।

मेरी लिखी इस पंक्ति को पढ़कर एक बार तो पंडित बिहारी लाल जी बुरी तरह चौंके। फिर धीरे-धीरे प्रातः उगते हुए सूर्य के प्रकाश की भाँति उनके चेहरे पर मुस्कुराहट की लाली दौड़ने लगी-"तुम सचमुच बहुत सयाने हो। कामयाब धंधे के सभी गुर तुम्हें आते हैं।"

महीप सिंह की तीन नई रचनाएँ

ऐसा ही है

लेखक की अद्यतन कहानियों का संग्रह
मूल्य - 125/- रुपये
प्रकाशक
इंद्रप्रस्थ प्रकाशन
के-71, कृष्ण नगर, दिल्ली-110051

कुछ सोचा : कुछ समझा

गंभीर साहित्यिक एवं साहित्य से जुड़े अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों पर लिखे गए निबंधों का संग्रह
मूल्य - 150/- रुपये
प्रकाशक
भारत पुस्तक भंडार
343-ई ब्लाक, सोनिया विहार, दिल्ली-110094

एक नये भगवान का जन्म

धर्म, राजनीति, शिक्षा तथा अन्य अनेक प्रकार विसंगतियों पर समय-समय पर लिखे गये व्यंग्यों का संग्रह
मूल्य - 100 रुपये
प्रकाशक
नवराज प्रकाशन
भजनपुरा, दिल्ली-110053

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हाइडी व डॉ. सम्राट् को संचेतना सम्मान

वर्ष-2000 का 'संचेतना सम्मान' जर्मनी की हिन्दी सेवी श्रीमती हाइडी पांडेय तथा रुड़की के युवा साहित्यकार डॉ.सम्राट् सुधा को दिया गया है। संचेतना मंच रुड़की द्वारा के.एल.डी.ए.वी. डिग्री कॉलेज में आयोजित एक भव्य समारोह में दोनों साहित्यकारों को क्रमशः डॉ. योगेन्द्र नाथ शर्मा 'अरुण' एवं डॉ. इन्दु प्रकाश पांडेय द्वारा यह सम्मान प्रदान किया गया।

इस अवसर पर आयोजित संगोष्ठी में बोलते हुए जर्मनी में हिन्दी सेवा के लिए प्रख्यात डॉ. इन्दु प्रकाश पांडेय ने कहा कि हिन्दी से जुड़े लोग यदि आत्मविश्वास और विनम्रता से कार्य करें, तो हिन्दी का समुचित विकास सुनिश्चित है। हाइडी पांडेय ने जर्मनी में हिन्दी की दशा पर कहा कि अन्य भाषाओं में हिन्दी की पुस्तकों का अनुवाद परमावश्यक है। प्राध्यापक एवं पत्रकार कमलकांत बुधकर ने प्रचार की अपेक्षा ठोस कार्यनीति बनाकर हिन्दी के लिए कार्य करने पर बल दिया। डॉ. वेदज्ञ आर्य ने कहा कि धन-लाभ लेने की प्रवृत्ति ने हिन्दी का सर्वाधिक नुकसान किया है। डॉ. योगेन्द्र नाथ शर्मा 'अरुण' ने कहा कि हिन्दी का भविष्य उज्ज्वल है।

इस अवसर पर डॉ.सम्राट् सुधा ने पद्मश्री डा.श्याम सिंह शशि के काव्य में उत्तर आधुनिकता तथा भूमंडलीकरण विषयक अपने विशिष्ट शोधकार्य की जानकारी विद्वज्जनों को दी।

प्रस्तुति : डॉ. इन्द्रजीत सिंह

डॉ. इन्द्रजीत सिंह और कृष्ण लाल दीवान को वाणी सम्मान

रुड़की के प्रख्यात साहित्यकार डॉ. इन्द्रजीत सिंह तथा हरिद्वार के वरिष्ठ कवि कृष्ण लाल दीवान को वर्ष-2002 के 'वाणी सम्मान' से नवाजा गया। कनखल में आयोजित एक भव्य समारोह में डॉ. महीप सिंह द्वारा यह सम्मान प्रदान किया गया। हरिद्वार की प्रमुख कला-साहित्य प्रसारिका संस्था 'वाणी' के अध्यक्ष कमलकांत बुधकर ने बताया कि गीतकार स्वर्गीय शैलेन्द्र पर उत्कृष्ट शोधपरक कार्य करने व रुड़की में शैलेन्द्र सम्मान समारोह की संस्थापना करने हेतु डॉ. इन्द्रजीत सिंह को वाणी सम्मान का पात्र स्वीकृत किया गया। कृष्ण लाल दीवान अर्से से साहित्य सेवा में समर्पित हैं, अतः उन्हें वाणी सम्मान का हकदार समझा गया।

सम्मान समारोह में डॉ. महीप सिंह, डॉ. विष्णु दत्त 'राकेश', डॉ. प्रभा शास्त्री, प्रो. स्वतन्त्र कुमार, डॉ. सुरेन्द्र कुमार शर्मा, शान अहमद, डॉ. सम्राट सुधा, नरेश राजवंशी, डॉ. वी.के.माहेश्वरी, डा. मधुराका सक्सेना, श्रीमती रीता इन्द्रजीत आदि की उपस्थिति उल्लेखनीय रही।

प्रस्तुति : जयन्ती अड़जरिया

'अपूर्व-जनगाथा' के 'प्रो. नित्यानन्द तिवारी विशेषांक' का लोकार्पण

पिछले दिनों दिल्ली विश्वविद्यालय के दक्षिण परिसर में 'अपूर्व जनगाथा' त्रैमासिक हिन्दी पत्रिका के 'प्रो.नित्यानंद तिवारी विशेषांक' का लोकार्पण सुप्रसिद्ध हिन्दी आलोचक प्रो. नामवर सिंह के द्वारा किया गया। लोकार्पण के बाद पत्रिका के सम्पादक डा. किरन चन्द्र शर्मा ने इस विशेषांक को निकालने का कारण बताते हुए कहा कि इसके पीछे मूल रूप से मेरे गुरुदेव के प्रति मेरी निष्ठा और आस्था का भाव है।

सुप्रसिद्ध हिन्दी कवि और कथाकार प्रोफेसर 'रामदरश मिश्र' ने इस विशेषांक पर बोलते हुए कहा कि डा. किरन चन्द्र शर्मा ने डा. तिवारी पर विशेषांक निकाल कर सचमुच में हिन्दी साहित्य का गौरव बढ़ाया है। नित्यानन्द जी जैसे बड़े व्यक्ति और महान आलोचक पर जो काम हुआ है वह उनके सर्वथा अनुरूप है। इसी क्रम में बोलते हुए सुप्रसिद्ध आलोचक प्रोफेसर निर्मला जैन ने कहा कि उनसे भी इस अंक में लिखने के लिए कहा गया था, किन्तु मैंने सोचा कि लोग कहते तो रहते हैं, पर करते कुछ नहीं हैं, इसलिए जब दुबारा कहा जायेगा सोचेंगे, यही सोचकर मैं नहीं लिख पाई। हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि और आलोचक डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने नित्यानन्द तिवारी को अपना एक ऐसा हमदर्द बताया जिनके साथ वे सुख में साथ हँसे ही नहीं, दुख में साथ-साथ रोये भी हैं।

अंग्रेजी के प्रोफेसर तथा हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक आनन्द प्रकाश, डॉ. नित्यानन्द तिवारी की शिष्य परम्परा में डॉ. द्वारिका प्रसाद चारुमित्र तथा डॉ. वलीसिंह ने डॉ. नित्यानन्द तिवारी के अध्यापन की विशिष्टताओं को रेखांकित करते हुए विशेषांक की सराहना की।

मुख्य अतिथि प्रो. नामवर सिंह ने पत्रिका के सम्पादक डा. किरनचन्द्र शर्मा के सुरुचिपूर्ण संपादन की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा कि किसी भी शिष्य का अपने गुरु को गुरु दक्षिणा देने का यह अपूर्व तरीका है जिससे विशिष्ट तरीका कोई नहीं हो सकता।

आयोजन का संचालन हिन्दी विभाग के वरिष्ठ प्राध्यापक डॉ हरिमोहन शर्मा ने किया। अन्त में डा. कृष्णदत्त शर्मा ने अध्यक्ष पद से बोलते हुए विशेषांक के अनेक पहलुओं पर प्रकाश डाला और सम्पादक को बधाई देते हुए धन्यवाद ज्ञापन किया।

प्रस्तुति : श्रीमती किरण शुक्ला

संकीर्तन : पठनीय और मननीय

" 'संकीर्तन' के व्यंग्य कथ्य और भाषा की दृष्टि से बड़े परिपक्व एवं प्रासंगिक हैं। इनमें जहाँ नवीन दृष्टि के साथ डॉ.पाल ने राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय राजनीति, विश्वव्यापी समस्याओं एवं सामाजिक विडम्बनाओं और कुरूपताओं को उजागर किया है वहीं उन्हें ऐसी सुबोध एवं सुग्राह्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषा में प्रस्तुत किया है कि पाठक से सीधा तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं।" ये शब्द थे हास्य रसावतार पं.गोपाल प्रसाद व्यास के, जो उन्होंने चर्चित रचनाकार डॉ.हरिसिंह पाल के व्यंग्य संग्रह 'संकीर्तन' का लोकर्पण करते हुए कहे।

दिल्ली के हिन्दी भवन में, हिन्दी भवन और अनंग प्रकाशन, दिल्ली के संयुक्त तत्वावधान डॉ.पाल के सद्यः प्रकाशित व्यंग्य संग्रह 'संकीर्तन' का लोकार्पण किया गया। इसकी अध्यक्षता प्रख्यात व्यंग्य व कथाकार डॉ.नरेन्द्र कोहली ने की। मुख्य अतिथि के रूप में पूर्व राज्यपाल एवं केन्द्रीय मंत्री श्री भीष्म नारायण सिंह उपस्थित थे। संचालन सुप्रसिद्ध व्यंग्यकार डॉ. हरीश नवल ने किया। समारोह का शुभारम्भ प्रख्यात गीतकार श्री मधुर शास्त्री की सुमधुर सरस्वती वंदना से हुआ।

अपने सम्बोधन में पूर्व राज्यपाल श्री भीष्म नारायण सिंह ने कहा कि सामाजिक कुरीतियों के निवारण और बिखरते जीवन मूल्यों को बचाने में व्यंग्य के माध्यम से साहित्यकारों की महती भूमिका है और डॉ. पाल अपने व्यंग्य के माध्यम से इसमें खरे उतरे हैं। साहित्यकार डॉ. हीरालाल बाछौतिया ने कहा कि डॉ.पाल ने ग्रामीण परिवेश के लोक जीवन को केन्द्र में रखकर पात्रों, स्थितियों, अनुभवों के माध्यम से व्यंग्य को उभारा है। डॉ. रामशरण गौड़ ने समीक्षा में कहा कि डॉ. पाल के व्यंग्य संग्रह 'संकीर्तन' में सामाजिक विडम्बनाओं और राजनैतिक कुरूपताओं पर करारा व्यंग्य है। प्रख्यात व्यंग्यकार डॉ. अलका पाठक तथा व्यंग्यकार सुभाष चन्दर ने भी व्यंग्य-संग्रह के बारे में अपने विचार व्यक्त किए

इस अवसर पर पद्मश्री वीरेन्द्र प्रभाकर, डॉ.शरदेन्दु शर्मा, डॉ. रवि शर्मा, डॉ.हरेन्द्र कुमार त्यागी, डॉ. अनिल कुमार मिश्र आदि अनेक साहित्यकार, पत्रकार और मीडियाकर्मी बड़ी संख्या में उपस्थित थे।

धन्यवाद ज्ञापन 'संकीर्तन' के प्रकाशक श्री अनंगपाल सिंह चौहान ने किया।

प्रस्तुति : डॉ. हरिसिंह पाल

दलित काव्यशास्त्र की संभावना

पिछले दिनों अनिरुद्ध यादगारी ट्रस्ट (रजि.) के तत्वावधान में, विचारधारा मंच, जालंधर तथा जनश्री नकोदर की ओर से रमेन्द्र जाखू 'साहिल' के काव्य संकलन 'समय से संवाद' पर लायलपुर खालसा कॉलेज जालन्धर के लायब्रेरी हॉल में विचार गोष्ठी का आयोजन किया गया।

तरसेम गुजराल में अपने प्रपत्र में कहा कि 'समय से संवाद' की कविताएँ वक्त के बियाबान में एक विशेष साजिश के साथ जातिगत तक्सीम, उपेक्षा और लम्बी शोषण प्रक्रिया के सामने सवालिया निशान ही नहीं लगातीं, सामाजिक ढाँचे को झकझोरने वाली एवं मजहब के सामंती अनुशासन को आधारहीन बताती हुई प्रतीत होती हैं।

डा. विनोद शाही का आलेख यकम ने प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा कि 'समय से संवाद' की कविताएँ दलित सौंदर्य-शास्त्र के एक अलग व्याकरण के वजूद की ओर इशारा करने वाली कविताएँ हैं।

डा. हुक्मचन्द राजपाल ने 'साहिल' को सामाजिक सरोकारों और अर्थ-गाम्भीर्य का कवि कहा।

प्रो. गुलशन ने 'साहिल' को जन-जन का कवि बताया। अध्यक्ष पद से बोलते हुए पंजाबी के प्रख्यात आलोचक प्यारा सिंह भोगल ने कहा कि आजकल लोगों पर जो कुछ भी थोपा जा रहा है, वे उसे स्वीकार करने के आदी होते जा रहे हैं जबकि रमेन्द्र जाखू की कविताएँ तीखी प्रतिक्रिया को स्वर देने की तमीज़ सिखाती हैं। आकाशवाणी के केन्द्र निदेशक श्रीवर्धन कपिल, कवि मोहन सपरा तथा प्रो. गुलशन ने भी इस अवसर पर अपने विचार व्यक्त किए।

मंच-संचालन का दायित्व युवा समीक्षक अनिल धीमान ने निभाया। गोष्ठी में प्रो. किरण वालिया, अहिंसा पाठक, गुरबचन सिंह, पराग वैद्य, मक्खन मान, वलविंदर विक्की, जीत सिंह मिगलानी, संदीपका सपरा, शकुंतला जाखू भी उपस्थित थीं।

प्रस्तुति : यकम

हिंदी में संपन्न शोधकार्यों की अनुक्रमणिका का प्रकाशन

भारत में हिंदी विषय में सबसे पहला शोधकार्य डा.पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ने सन् 1934 में हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी से किया था। उसके बाद निरंतर यह क्रम चलता रहा और अब भारतीय विश्वविद्यालयों में केवल हिंदी विषय में ही 18 हज़ार से अधिक शोधछात्रों को शोध-उपाधियाँ (पी-एच.डी. एवं डी.लिट्.) प्राप्त हो चुकी हैं।

इन विषयों की वर्गीकृत अनुक्रमणिकाओं को प्रकाशित करने का महत्त्वपूर्ण दायित्व हिंदी साहित्य निकेतन ने निभाया और सन् 1990 तक स्वीकृत शोध-प्रबंधों की सूचनाएँ 'शोध संदर्भ' के तीन भागों में प्रकाशित कीं।

सन् 1991 से अब तक स्वीकृत शोध-प्रबंधों की सूचनाएँ शोध संदर्भ के चौथे भाग में प्रकाशित करने की योजना है। इसमें निम्नलिखित सूचनाएँ प्रकाशित होंगी-शोधकर्ता का नाम, जन्मतिथि, शोध का विषय, विश्वविद्यालय का नाम, उपाधि वर्ष, शोध निदेशक का नाम व पता, प्रकाशन का विवरण (प्रकाशक का नाम, पृ.स, प्रकाशन वर्ष, मूल्य), शोधकर्ता का पता।

शोध संदर्भ के संपादक डॉ. गिरिराजशरण अग्रवाल ने अपनी विज्ञप्ति में आग्रह किया है कि शोधकर्ता और शोध निदेशक अपना विवरण यथाशीघ्र हिंदी साहित्य निकेतन, 16 साहित्य विहार, बिजनौर के पते पर प्रेषित करें ताकि उसे शोध संदर्भ-4 में प्रकाशित किया जा सके।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिव्यंजना द्वारा प्रकाशित महत्वपूर्ण आलोचना ग्रंथ

- **महीप सिंह का कथा-संसार**

डॉ. कमलेश सचदेव द्वारा प्रख्यात कथाकार महीप सिंह के कथा-संसार के सृजन का समग्र मूल्यांकन (पृष्ठ 208 मूल्य 200 रु.)

- **कथाकार महीप सिंह**

डॉ. गुरचरण सिंह द्वारा संपादित महीप सिंह के कथा साहित्य के समग्र मूल्यांकन पर 26 सुधी लेखकों/आलोचकों के महत्वपूर्ण लेख (पृष्ठ 232 मूल्य 150 रु.)

3

- **आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में महानगर**

डॉ. कुसुम अंसल द्वारा रचित महत्वपूर्ण आलोचना ग्रंथ जिसमें देश के महानगरों की पृष्ठभूमि पर लिखे गये आधुनिक उपन्यासों का विविध पक्षों से मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है। (पृष्ठ 240 मूल्य 200 रु.)

- **कुसुम अंसल का कथा साहित्य**

प्रख्यात लेखिका कुसुम अंसल के सम्पूर्ण कथा साहित्य, विशेष रूप से उनके बहुचर्चित उपन्यास 'एक और पंचवटी' के कथ्य और शिल्प की सूक्ष्म परख प्रस्तुत करने वाली प्रो. नग़मा जावेद मलिक की विशिष्ट कृति (पृष्ठ 116 मूल्य 90 रु.)

- **हिन्दी उपन्यासों में प्रशासन**

डॉ. सुधाकर अदीब द्वारा रचित आलोचनात्मक कृति जिसमें हिन्दी उपन्यासों में चित्रित प्रशासन तन्त्र का प्रामाणिक चित्रण प्रस्तुत किया गया है। (पृष्ठ 288 मूल्य 250 रु.)

- **कबीर ग्रंथावली में प्रेम भक्ति**

संत कबीर के काव्य में चित्रित प्रेम भक्ति-तत्व पर डॉ. कुसुम श्रीवास्तव का महत्वपूर्ण शोध ग्रंथ (पृष्ठ 300 मूल्य 150 रु.)

- **सुदर्शन मजीठिया : सृजन के धरातल**

डॉ. गुरचरण सिंह द्वारा संपादित डॉ. सुदर्शन मजीठिया के समग्र साहित्य एवं व्यक्तित्व का मूल्यांकन करने वाली महत्वपूर्ण कृति (पृष्ठ 200 मूल्य 200 रु.)

- **समकालीन हिन्दी कहानी : स्त्री पुरुष सम्बन्ध**

समकालीन हिन्दी कहानी में स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को विविध कोणों से चित्रित करती डॉ. सुनन्त कौर ने इस पुस्तक में हिन्दी कहानी के इस पक्ष का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। (पृष्ठ 178 मूल्य 80 रु.)

- **साहित्य और दलित चेतना**

डॉ. महीप सिंह और डॉ. चंद्रकांत बांदिवडेकर द्वारा संपादित दलित साहित्य की पृष्ठ-भूमि और कुछ प्रतिनिधि रचनाओं का संग्रह जिसने हिन्दी में दलित साहित्य की विषद चर्चा को जन्म दिया।(पृष्ठ 216 मूल्य 200 रु.)

- **हिन्दी कहानी समकालीन परिदृश्य**

हिन्दी के सुप्रसिद्ध कहानीकारों के अवदान पर डॉ. सुखबीर सिंह द्वारा संपादित महत्वपूर्ण पुस्तक (पृष्ठ 142 मूल्य 80 रु.)

- **लेखक और अभिव्यक्ति की स्वाधीनता**

लेखक के सम्मुख अभिव्यक्ति की स्वाधीनता का प्रश्न सदैव महत्वपूर्ण रहा है। इस प्रश्न पर विविध कोणों से लिखे गये सुधी लेखकों के विचारों पर हिन्दी में अपने ढंग की अनूठी पुस्तक।संपादक डॉ. महीप सिंह (पृष्ठ 144 मूल्य 60 रु.)

संचेतना के साहित्य रसिक पाठकों के लिए सभी पुस्तकें आधे मूल्य पर।

अभिव्यंजना

बी-70/72, लारेंस रोड, दिल्ली-110035

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Entered in Database

Signature with Date 19/4/08

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri